वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 231

भगवान महावीर देशना

लेखिका-

जैनसमाज की सर्वोच्च साध्वी, तीर्थोद्धारिका, सैकड़ों ग्रंथों की लेखिका

पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

भगवान महावीर स्वामी जन्मभूमि कुण्डलपुर विकास के अवसर पर प्रकाशित

प्रकाशक:-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप—हस्तिनापुर मेरठ (उ.प्र.) 250404

फोन-(01233) 280184, 280236

वीर निर्वाण संवत् 2529

प्रथम संस्करण 1100 प्रतियां	8 फरवरी, 2003 माघ शुक्ला 7	मूल्य 150/-

३३. स्व. श्री विमल चन्द जैन, रखबचन्द दसरथ सा, सनावद (म.प्र.)।
३४. श्री आजाद कुमार जैन शाह (सनावद वाले), इन्दौर (म.प्र.)।
३५. श्रीमती सुषमा देवी ध.प. श्री राकेश कुमार जैन, मवाना (मेरठ) उ.प्र.।
३६. श्रीमती कुसुम जैन ध.प. श्री रमेशचन्द जैन, किशनपुरी, बागपत रोड, मेरठ।
३७. श्रीमती किरण जैन ध.प. श्री पदम प्रसाद जैन एडवोकेट, मेरठ (उ.प्र.)।
३८. श्रीमती विमलादेवी ध.प. श्री जिनेन्द्रप्रसाद जैन ठेकेदार, टोडरमल रोड, नई दिल्ली।
३९. श्रीमती क्षमादेवी जैन, मधुबन दिल्ली।
४०. श्रीमती कमलादेवी ध.प. श्री राजेन्द्र कुमार जैन टोडरका, ठाणे (महा.)।
४१. श्री अजित प्रसाद जैन बब्बेजी, श्री राजकुमार श्रवण कुमार जैन, लखनऊ।
४२. श्री प्रभा चन्द गोधा, ४५ भगत वाटिका, सिविल लाइन, जयपुर-६ (राज.)।
४३. श्री गोपीचन्द विपिन कुमार जैन, सरधना टैन्ट हाउस, गंजमंडी, सरधना।
४४. श्रीमती रतनसुन्दरी देवी ध.प. श्री वीरचन्द जैन (चिकन वाले), चूड़ीवाली गली, चौक बाजार, लखनऊ।
४५. डॉ. सुभाषचन्द जैन, रातानाड़ा क्लीनिक, रातानाड़ा बाजार, जोधपुर (राज.)।
४६. श्री प्रमोद कुमार जैन (मुजफ्फरनगर वाले) ३५ एच.वी.रोड, न्यू मार्केट, थरपकना, रांची (बिहार)।
४७. श्री विजेन्द्र कुमार जैन, के.-१/२० मॉडल **III**, टाउन दिल्ली।
४८. श्री कैलाश चंद जैन, ४५ भगत वाटिका, सिविल लाइन, जयपुर (राज.)।
४९. श्री सुभाषचंद जैन, श्री दि. जैन पार्श्वनाथ चैत्यालय, ४०५ डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली।
५०. श्री सुभाष चन्द जैन सर्राफ, टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.।
५१. श्री चन्द्रसेन जैन, द्वारा-सुमेरचन्द, चन्द्रसेन जैन, सब्जी मण्डी, नहटौर (बिजनौर)।
५२. श्री सुधीर कुमार जैन जे.ई., नन्द किशोर जैन, शारदा नहर खण्ड, शाहजहाँपुर।
५३. श्री सुकुमाल जैन, मोती ट्रेडिंग कम्पनी, टी.आर. फुकन रोड, फैन्सी बाजार, गौहाटी।
५४. श्री अनिल कुमार सेठी, १३/४४२९ पहाड़ी धीरज, दिल्ली-११०००६।
५५. श्री चन्द्रमोहन बंसल, ११, पूसा रोड, करोलबाग, नई दिल्ली-५।
५६. श्री गिरधर प्रसाद आमोद प्रसाद जैन, जैन वस्त्रालय, काली मार्केट, सिवान (बिहार)।
५७. श्री सतीश चन्द जैन, ३१ सिविल लाइन, म.नं.-१०, सेक्टर-२, टाइप-५ झांसी।
५८. श्री स्वरूप चन्द कासलीवाल, नया बाजार, अजमेर (राज.)।
५९. श्री हुलास चन्द सेठी, अयोध्या शुगर मिल्स, राजा का सहसपुर, बिलारी (उ.प्र.)।
६०. श्रीमती किरण देवी जैन ध.प. श्री नरेन्द्र कुमार जैन, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
६१. श्रीमती संतोष जैन ध.प. श्री प्रवीण कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
६२. श्री सूरजमल पुत्र श्री विनीत कुमार जैन, मोहल्ला गंजकटरा पूरणटरा पूरणजाट, जैन विला मुरादाबाद (उ.प्र.)।
६३. श्री शिखर चन्द जैन, 'टिम्बर कमीशन एजेन्ट', शंकरगंज, हापुड़ (उ.प्र.)।
६४. श्रीमती राजेश्वरी जैन मातेश्वरी श्री राकेश जैन ३१, सिविल लाईन, सीतापुर।

ग्रंथ की रचयित्री पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त परिचय

जहाँ लेखनी लिख सकती है, माता की स्वर्णिम गाथा

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती

जैनशासन के वर्तमान व्योम पर छिटके नक्षत्रों में दैदीप्यमान सूर्य की भाँति अपनी प्रकाश-रश्मियों को प्रकीर्णित कर रहीं **पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी** के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर उठी लेखनी की अपूर्णता यद्यपि अवश्यंभावी है, तथापि आत्मकल्याण की भावना से पूज्य माताजी के श्रीचरणों में उनके त्यागमयी जीवन के पचास स्वर्णिम वर्षों की पूर्णता पर मेरा यह विनीत प्रयास है।

१. जन्म, वैराग्य और दीक्षा— २२ अक्टूबर सन् १९३४, शरदपूर्णिमा के दिन टिकैतनगर ग्राम (जि. बाराबंकी, उ.प्र.) के श्रेष्ठी श्री छोटेलाल जैन की धर्मपत्नी श्रीमती मोहिनी देवी के दांपत्य जीवन के प्रथम पुष्प के रूप में "मैना" का जन्म परिवार में नवीन खुशियाँ लेकर आया था। माँ को दहेज में प्राप्त 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' ग्रन्थ के नियमित स्वाध्याय एवं पूर्वजन्म से प्राप्त दृढ़ वैराग्य संस्कारों के बल पर मात्र १८ वर्ष की अल्प आयु में ही शरद पूर्णिमा के दिन मैना ने आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से सन् १९५२ में आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत रूप सप्तम प्रतिमा एवं गृहत्याग के नियमों को धारण कर लिया। जैनेश्वरी दीक्षा की कामना को अपनी हर साँस में संजोये ब्र. मैना सन् १९५३ में आचार्य श्री देशभूषण जी से ही चैत्र कृष्णा एकम् को श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र में 'क्षुल्लिका वीरमती' के रूप में दीक्षित हो गईं। सन् १९५५ में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की समाधि के समय कुंथलगिरी पर एक माह तक प्राप्त उनके सान्निध्य एवं आज्ञा द्वारा 'क्षुल्लिका वीरमती' जी ने आचार्य श्री के प्रथम पट्टाचार्य शिष्य-वीरसागर जी महाराज से सन् १९५६ में 'वैशाख कृष्णा दूज' को माधोराजपुरा (राज.) में आर्यिका दीक्षा धारण करके "आर्यिका ज्ञानमती" नाम प्राप्त किया।

२. अध्ययन और अध्यापन— ज्ञानप्राप्ति की पिपासा माता ज्ञानमती जी के रोम-रोम में प्रारंभ से ही कूट-कूट कर भरी थी। दीक्षा लेते ही स्वाध्याय-मनन-चिंतन की धारा में ही उन्होंने स्वयं को निबद्ध कर लिया। ज्ञान प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ स्रोत बना-संघस्थ मुनियों, आर्यिकाओं एवं संघस्थ शिष्य-शिष्याओं को जैनागम का तलस्पर्शी अध्यापन। 'कातंत्र रूपमाला' रुपी बीज से पूज्य माताजी की ज्ञानसाधनारूप वृक्ष प्रस्फुटित हुआ, जिस पर जो पत्ते, फूल-फल इत्यादि लगे, उन्होंने समस्त संसार को सुवासित कर दिया। गोम्मटसार, परीक्षामुख, न्याय दीपिका, प्रमेयकमल मार्तण्ड, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, अनगारधर्मामृत, मूलाचार, त्रिलोकसार आदि अनेक

विषय-दर्पण

क्रम.	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	**प्रथम अधिकार** मंगलाचरण- णमोकार महामंत्र, श्री महावीर स्तवन भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर, गर्भ, जन्म, तप कल्याणक	१-४६
२.	**द्वितीय अधिकार** केवलज्ञान कल्याणक, भगवान महावीर का समवसरण, प्रथम दिव्यध्वनि, द्वादशांग, गौतमस्वामी परिचय उनकी रचनाएं आदि।	५०-१२६
३.	**तृतीय अधिकार** चौबीस तीर्थंकर	१२७-२०४
४.	**चतुर्थ अधिकार** सुदं मे आउस्संतो! दिगम्बर जैन मुनिचर्या, मुनियों के भेद प्रभेद, वर्षायोग	२०५-२६६
५.	**पंचम अधिकार** आर्यिका चर्या-२४ तीर्थंकरों के गणधरों की संख्या, चतुर्विध संघ संख्या आर्यिका संयमिनी हैं।	२७०-३२४
६.	**छठा अधिकार** सुदं मे आउस्संतो!-श्रावकचर्या, ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन	३२५-३५०
७.	**सप्तम अधिकार** सोलहकारण भावना	३५१-४२३
८.	**आष्टम अधिकार** दशलक्षण धर्म, दशलक्षण व्रत, विधि सहित	४२४-४६०
९.	**नवम अधिकार** **भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर-** आगम के दर्पण में कुंडलपुर और वैशाली। जन्मभूमि कुण्डलपुर एक वास्तविक तथ्य। बजी कुण्डलपुर में बधाई, वैशाली कहां से आई? भगवान महावीर की पहचान कुण्डलपुर से करें न कि वैशाली से। वैशाली भी तो असली वैशाली नहीं है। भगवान महावीर के समय गणतंत्र शासन नहीं था। दया के देवताा का अवतरण। भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर थी, है और रहेगी। कुण्डलपुर या वैशाली एक अनुचिंतन। मानचित्र में परिवर्तन एक बचकाना प्रयास। दिगम्बर जैनों की श्रद्धा का केन्द्र कुण्डलपुर है, वैशाली नहीं। भगवान महावीर के जन्मस्थान का निर्णय दिगंबरमतानुसार हो। मनोकामना सिद्धिकारक भगवान महावीर व्रत विधि।	४६१-५६८



भगवान महावीर देशना

(गणिनी ज्ञानमती विरचित)

प्रथम अधिकार

मंगलाचरण

जैनधर्म का अनादि मूलमंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो। यहां 'लोए' और 'सव्व' पद अन्त्यदीपक हैं अतः पांचों परमेष्ठियों के साथ इन्हें लगाना चाहिए।

श्री महावीर स्तवन

स्रग्धरा छन्द

श्रीमान् वीरोऽतिवीरः त्रिभुवनमहितः सौख्यराशिर्जिनेन्द्रः।
यो जातः कुण्डलाख्ये भुवि प्रथितपुरे सोऽस्ति सिद्धार्थपुत्रः।।
आषाढे शुक्लषष्ठ्यां सुरनरविनुतो गर्भमायात् जनन्यां।
पित्रोः पूजां विदध्युः किल दिविजगणाः रत्नधारा ववर्षुः।।१।।

चैत्रे शुक्ले जिनेशः त्रययुतदशमे पावने जायतेस्म।
हृद्यैः संगीतवाद्यैः सुरगिरिशिखरे सोऽभिषिक्तः सुराद्यैः।।
मार्गे कृष्णे दशम्यां व्रतगुणमणिभिर्भूषितो जातरूपः।
ध्याने लीनः कदाचित् समदभवकृतस्तूपसर्गस्य जेता।।२।।
राधे शुक्लादशम्यां ग्रसितकलितमाः उद्ययौ ज्ञानसूर्यः।
लोकालोकप्रकाशी ह्यनवधिकिरणैः ध्वस्तमोहांधकारः।।
कृष्णस्याद्ये दिने ते किल नभसि महावीर!दिव्यध्वनिः स्यात्।
त्वत्स्याद्वादामृतं भोः भवगदहरणं देव! अद्यावधीह।।३।।
ऊर्जे कृष्णे निशांते चतुरधिदशमे वासरे मुक्तिमाप्नोत्।
पावापुर्यां च वीरः सहजसुखमयः सप्तहस्तोच्छ्रितोऽसौ।।
कौमार्ये ध्वस्तमारः भुवि किल चरमस्तीर्थकृन्नाथवंशी।
स्वर्णाभो वर्धमानो हतदुरितरविः सिंहचिन्हेन ज्ञातः।।४।।
मातंगो यक्षदेवो जिनवचनरता सात्र सिद्धायिनी च।
ताभ्यां ते पादपद्मं विजितभव! सदा पूजितं विश्ववंद्यं।।
त्रैलोक्येशं जिनं त्वामहमपि सततं सन्मते! वीर! वंदे।
याचेऽहं तत्फलं भोः! जिनवरगुणभृत् संपदं देहि मह्यं।।५।।

(अनुष्टुप् छन्द)

वर्ष-द्वासप्ततेरायुः, त्रिशलानंदनो जिनः।
भक्त्यानिशं स्तवीमि त्वां, ज्ञानमत्यै श्रियै त्वरं।।६।।

अर्थ– श्री अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी से सहित वीर, अतिवीर जिनेन्द्र सम्पूर्ण सुखों की राशिस्वरूप तीनों लोकों में पूज्य हैं। पृथ्वीतल पर "कुंडलपुर" नाम से प्रसिद्ध नगरी में भव्यरूपी कमल को विकसित करने वाले सूर्य, महाराज सिद्धार्थ के पुत्र वे वीर जिनेन्द्र हैं। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी तिथि के दिन माता त्रिशला के गर्भ में तीर्थंकर वीर के अवतरित होने पर स्वर्ग से देवताओं ने वहाँ आकर माता-पिता की पूजा करके रत्नों की धारा बरसाई थी।।१।।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के पवित्र दिवस जब भगवान ने जन्म लिया तब गीत-संगीत आदि के द्वारा खुशियाँ मनाते हुए इन्द्र एवं देवताओं ने सुमेरु पर्वत के शिखर—पाण्डुकशिला पर उनका जन्माभिषेक महोत्सव किया था पुनः मगशिर कृष्णा दशमी के दिन वे महाव्रतरूप

गुणमणियों से विभूषित होकर जातरूप—नग्न दिगम्बर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ध्यान में लीन हो गये और किसी समय ध्यान में विघ्न डालने के निमित्त से भव नामक एक रुद्र ने उन पर घोर उपसर्ग किया किन्तु अपने अविचल ध्यान एवं कठोर तपस्या से वीर प्रभु ने उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर लिया।

भावार्थ — जन्माभिषेक के बाद इन्द्र ने भगवान के वीर और वर्द्धमान दो नाम रखे थे। संजय-विजय महामुनियों ने 'सन्मति' एवं संगम देव ने 'महावीर' नाम रखा था। रुद्र ने उपसर्ग विजय के बाद 'अतिवीर' (महतिमहावीर) नाम रखा था।।२।।

उपसर्ग विजेता बनकर प्रभु ने वैशाख शुक्ला दशमी तिथि में समस्त पापान्धकार को नष्ट कर असीमित किरणों से समन्वित केवलज्ञान सूर्य को प्रगट कर लिया, जिससे सम्पूर्ण मोहरूपी अंधेरा ध्वस्त हो गया और पूरा लोक-अलोक चराचर दिखाई देने लगा। हे महावीर स्वामी! केवलज्ञान होने के छ्यासठ दिनों बाद श्रावण कृष्णा एकम के दिन आपकी दिव्यध्वनि खिरी थी, तब हे देव! भव्यों के संदेह को हरण करने वाली आपकी जो स्याद्वाद अमृतरूपी वाणी निकली, वह आज तक भी पृथ्वीतल पर प्रवाहित हो रही है अर्थात् आज तक आपका अनेकान्त शासन चल रहा है।। ३।।

सात हाथ ऊँचे शरीर वाले, स्वर्ण वर्ण की कांति के धारक, सिंह चिन्ह से ज्ञात, नाथवंशी, चरम–अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर कुमारावस्था में ही कामदेव को ध्वस्त करके कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में तथा अमावस के प्रभात में पावापुरी नगरी से मोक्ष धाम को प्राप्त कर सहज सुख में लीन हो गये।। ४।।

हे संसारचक्र के विजेता महावीर भगवन्! आपके जिनवचनों में अनुरक्त रहने वाले आपके शासनदेवता मातंग यक्ष एवं सिद्धायिनी यक्षी सदैव आपके चरणकमलों की पूजा करते हैं, इसलिए हे विश्ववंद्य त्रिलोकीनाथ सन्मति जिनेन्द्र! वीर प्रभो! मैं भी आपसे सतत याचना करता हूँ कि हे नाथ! जिनगुणसम्पत्ति की प्राप्ति का फल प्रदान कीजिए।। ५।।

बहत्तर वर्ष की आयु वाले हे त्रिशलामाता के पुत्र महावीर जिनेन्द्र! मैं ज्ञानमती लक्ष्मी की शीघ्र प्राप्ति हेतु आपका भक्तिपूर्वक सदा स्तवन करता हूँ।

अर्थात् मुझ गणिनी ज्ञानमती ने पूर्ण ज्ञान सहित संपत्ति को प्राप्त करने के लिये भगवान महावीर का यह स्तवन किया है।। ६।।

भगवान महावीर

जन्मभूमि कुण्डलपुर

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में आर्यखण्ड है। इस आर्यखण्ड में "विदेह" नाम से एक प्रसिद्ध देश माना गया है। कभी यह देश खेट, खर्वट, मटंब, पुटभेदन, द्रोणामुख, आकर—सुवर्ण, चाँदी आदि की खान, खेत, ग्राम और घोषों से विभूषित था। जैसा कि वर्णन है-

सखेटखर्वटाटोपिमटंबपुटभेदनैः। द्रोणामुखाकरक्षेत्रग्रामघोषैर्विभूषितः[1]।।३।।

जो देश नगर, नदी और पर्वत से घिरा हो वह "खेट" है। जो केवल पर्वतों से घिरा हो वह "खर्वट" है। जो पाँच सौ गाँवों से घिरा हो वह "मटम्ब" है। जो समुद्र के किनारे हो तथा जहाँ पर लोग नाव से उतरते हों वह "पत्तन" या "पुटभेदन" कहलाता है। जो नदी के किनारे बसा हो उसे "द्रोणामुख" कहते हैं। जहाँ सोना, चाँदी आदि निकलते हैं उसे "खान" कहते हैं। अन्न उत्पन्न होने की भूमि क्षेत्र—"खेत" है। जिसमें बाढ़ से घिरे हुए घर हों, जिसमें अधिकतर किसान लोग निवास करते हों, जो बाग-बगीचा और मकानों से सहित हों उन्हें "ग्राम" कहते हैं और जहाँ अहीर लोग रहते हों उसे "घोष" कहते हैं। ये सब शास्त्रीय प्राचीन परिभाषाएँ हैं। इन सभी से सहित वह "विदेह" देश था।

इस देश की राजधानी कुण्डपुर या कुण्डलपुर प्रसिद्ध थी। यह परकोटा एवं खाई आदि से विभूषित बहुत ही वैभवपूर्ण नगरी थी। इसका वर्णन बहुत ही सुन्दर किया गया है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि-

एतावतैव पर्याप्तं, पुरस्य गुणवर्णनम्। स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम्[2]।।१२।।

इस नगर के गुणों का वर्णन तो इतने से ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्ग से अवतार लेते समय भगवान महावीर का आधार हुआ था अर्थात् साक्षात् महावीर स्वामी जहाँ अवतीर्ण हुए थे।

राजा सिद्धार्थ के माता-पिता का नाम हरिवंशपुराण में वर्णित है-

सर्वार्थश्रीमतीजन्मा, तस्मिन् सर्वार्थदर्शनः। सिद्धार्थोऽभवदर्काभो, भूपः सिद्धार्थपौरुषः[3]।।३।।

यहाँ के राजा "सर्वार्थ" महाराज थे और उनकी महारानी का नाम "श्रीमती" था। इनके

१-२-३. हरिवंशपुराण-सर्ग २।

पुत्र का नाम "सिद्धार्थ" था। इनकी रानी महाराजा चेटक की पुत्री "प्रियकारिणी" थीं जिनका दूसरा नाम "त्रिशला" था। जो राजा सिद्धार्थ वर्तमान में भगवान वर्द्धमान के पिता के पद को प्राप्त हुए थे भला उनके उत्कृष्ट गुणों का वर्णन कौन कर सकता है? तथा अपने पुण्य से तीर्थंकर महावीर को जन्म देने वाली उन त्रिशला के गुणों का वर्णन भी कोई मनुष्य नहीं कर सकता है।

महावीर प्रभु का जन्म कुण्डलपुर में हुआ ऐसा वर्णन तिलोयपण्णत्ति एवं षट्खण्डागम में भी आया है। यथा-

सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं, णयरम्मि कुंडले वीरो। उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसिया तेरसीए उप्पण्णे।।।।५४६।।

अब भगवान महावीर के नाना के कुल का संक्षिप्त वर्णन आपके लिए प्रस्तुत है-

सिंध्वाख्ये विषये भूभृद्वैशाली नगरेऽभवत्। चेटकाख्योऽतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः[1]।।३।।

सिंधुदेश के वैशालीनगर में चेटक नाम के प्रसिद्ध राजा थे, इनकी रानी का नाम भद्रा-सुभद्रा था। इनके दश पुत्र थे जिनके नाम धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, शिवदत्त, हरिदत्त, कम्बोज, कम्पन, प्रयंग, प्रभंजन और प्रभास थे ये दशों पुत्र दशधर्मों के समान निर्मल गुणों से विभूषित थे। इन्हीं राजा चेटक की महारानी ने सात ऋद्धियों के समान ही सात पुत्रियों को जन्म दिया था जो क्रमशः प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चन्दना इन नाम को धारण करने वाली थीं।

विदेहदेश की कुण्डपुरी-कुण्डलपुरी नगरी में "नाथवंश" के राजा सिद्धार्थ के साथ राजा चेटक ने अपनी बड़ी पुत्री प्रियकारिणी-"त्रिशला" का विवाह किया था। वत्सदेश में कौशाम्बी नगरी के चंद्रवंशी राजा शतानीक के साथ दूसरी पुत्री मृगावती का विवाह हुआ था। दशार्ण देश के हेरकच्छनगर में सूर्यवंशी राजा दशरथ राज्य करते थे, राजा चेटक की तृतीय पुत्री सुप्रभा इन दशरथ की पट्टरानी हुई थीं। कच्छदेश के "रोरुकनगर" में राजा उदयन राज्य करते थे, चतुर्थ पुत्री प्रभावती उनकी महारानी हुई थीं। पांचवी पुत्री चेलिनी राजगृही के राजा श्रेणिक की पट्टरानी हुई थीं[2] तथा ज्येष्ठा और चन्दना कुमारिका ने आर्यिका दीक्षा से अपना जीवन विभूषित किया था।

यही प्रकरण "वीरजिणिंदचरिउ" ग्रंथ में भी आया है-

जम्बूद्वीप के विदेहप्रदेश में कुण्डपुर-कुण्डलपुर में राजा सिद्धार्थ की महारानी प्रियकारिणी से भगवान महावीर जन्में हैं[3]।

१-२. उत्तरपुराण-पर्व ७५। ३. वीरजिणिंदचरिउ-पृ. ११।

इसी ग्रन्थ में राजा चेटक की राजधानी वैशाली का वर्णन आया है इसे सिंधुदेश में माना है। इन राजा के दश पुत्र और प्रियकारिणी आदि सात पुत्रियाँ थीं। जिनमें से बड़ी पुत्री प्रियकारिणी को कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ की महारानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था[1]।

गर्भकल्याणक

गर्भावतरण — भगवान महावीर होने वाले महापुरुष सोलहवें स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में थे। जब उनकी आयु मात्र छह महिने की शेष रही तब सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने विदेहदेश की राजधानी कुण्डलपुरी में राजा सिद्धार्थ के आँगन में रत्नों की वृष्टि करना शुरू कर दी। ये रत्न प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ बरसते थे।

जैसा कि उत्तरपुराण में लिखा है-

तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति। भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे।।२५१।।
राज्ञः कुंडपुरेशस्य, वसुधाराप तत्पृथु। सप्तकोटीमणीः सार्द्धाः, सिद्धार्थस्य दिनं प्रति।।२५२।।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना है कि राजा सिद्धार्थ वैशाली के राजा नहीं थे और न ही वे वैशाली के अन्तर्गत छोटे से कुण्डग्राम के छोटे-मोटे राजा थे किन्तु वे तत्कालीन वैशाली के राजा चेटक जो कि उनके श्वसुर थे, ये सिद्धार्थ इनसे भी श्रेष्ठ तथा इन्द्रों से भी पूज्य महान राजा थे।

इन राजा के महल का नाम "नंद्यावर्त" था। यह सात खन का बहुत ही सुन्दर था। एक दिन महारानी त्रिशला अपने "नंद्यावर्त" महल में रत्ननिर्मित सुंदर पलंग पर सोई हुई थीं, रात्रि में रत्नों के दीपों का प्रकाश फैला हुआ था। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन पिछली रात्रि में रानी ने सोलह स्वप्न देखे। प्रातः पतिदेव से उनका फल पूछने पर "आप तीर्थंकर पुत्र को जन्म देंगी" ऐसा सुनकर प्रसन्नता को प्राप्त हुईं। तभी इन्द्रादिदेवगण ने आकर "गर्भकल्याणक" उत्सव मनाया।

आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित "श्री महावीर पुराण" में भी कहा है –

जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में 'विदेह' नाम का एक विस्तृत देश है। धार्मिक पुरुषों का निवास स्थान होने के कारण वह विदेहक्षेत्र तीर्थ तुल्य ही शोभायमान है। इस स्थान से कितने ही मुनियों ने मोक्ष को प्राप्त किया है अतः नाम के अनुसार इसका गुण भी सार्थक है। यहाँ के निवासी कोई-कोई सोलहकारण आदि भावनाओं को भाकर तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया

---

१. वीरजिणिंदचरिउ, पृ. ६०।

करते हैं। यहाँ के वन पर्वत भी ध्यानस्थ योगियों से विशेषरूप से शोभायमान हैं एवं भव्य उत्तुंग जिनमंदिरों को देखकर किसी महान धार्मिक स्थान का बोध होता है। विदेह प्रदेश के ग्राम-मुहल्ले सभी जिनालयों से सुशोभित हैं। यहाँ पर मुनिसमूह चारों प्रकार के संघ के साथ धर्म प्रवृत्ति के लिये सदा विहार किया करता है।

इसी विदेह देश—जनपद के ठीक मध्य में 'कुण्डलपुर' एक अत्यंत रमणीय नगर है। यहाँ के कोट द्वार एवं अलंघ्य खाइयों को देखकर अपराजिता—अयोध्या नगरी का भान होता है। देवगणों के आवागमन से इस नगर में सदा कोलाहल सा मचा रहता था। यहाँ के ऊँचे-ऊँचे जैन मंदिरों को देखकर लोगों को कुण्डलपुर के प्रति अपार श्रद्धा होती थी। वह नगर धर्म का समुद्र जैसा प्रतीत होता था। वहाँ के जिनालय 'जय-जय' शब्द, स्तुति, नृत्य, गीत आदि से सर्वदा मुखरित रहते थे। स्वर्ग के दिव्य उपकरणों सहित रत्नमयी प्रतिमाओं का दर्शन कर वहाँ के लोग कृतार्थ हो जाया करते थे। उस नगर के ऊँचे परकोटे को देखकर यह भान होता था कि वे उच्च स्थान देने के लिये स्वर्ग के देवों को बुला रहे हैं। उस नगर के निवासी दाता, धर्मात्मा, शूरवीर, व्रत-शीलादि से युक्त संयमी होते थे। वे पुरुष जिनेन्द्रदेव की भक्ति, निर्ग्रन्थ गुरु भक्ति, सेवा एवं पूजा में सदा तत्पर रहा करते थे।

उस नगरी—राजधानी के राजा का नाम 'सिद्धार्थ' था। वे नाथवंशरूपी गगन को सुशोभित करने वाले साक्षात् सूर्य थे। वे महाराज मति, श्रुत, अवधि– तीनों ज्ञान को धारण करने वाले थे। उन्होंने सदा नीतिमार्ग को प्रश्रय दिया था। वे जिनदेव के भक्त, महादानी एवं दिव्य ज्ञान के धारक थे। उनके चरणों की सेवा बड़े-बड़े विद्याधर, भूमिगोचरी एवं देव किया करते थे। वे समस्त राजाओं में इन्द्र के समान शोभायमान थे।

उनकी त्रिशला नाम की अत्यन्त रूपवती महारानी थी। वे पति-परायणा सरस्वती के समान एवं सर्वगुण संपन्न थीं।

एक दिन सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने कुबेर से कहा–

हे धनपते! तुम भरतक्षेत्र के कुण्डलपुर में राजा सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला के आंगन में दिव्य रत्नों की वर्षा करना प्रारम्भ कर दो। उस समय यह रत्न-सुवर्णमयी वर्षा आकाश से गिरती हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानों प्रकाशरूपी माला श्रीजिनेन्द्र के माता-पिता की सेवा करने को आ रही हो। गर्भाधान के छह माह पूर्व से ही कल्पवृक्ष के पुष्प, सुगंधित जल, सुवर्ण एवं रत्नों के ढेर से राजमहल जगमगा उठा।

सोलह स्वप्न

एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में कोमल शय्या पर सोती हुई महारानी त्रिशला ने सोलह स्वप्न देखे जो सर्वथा कल्याणकारी एवं सौभाग्य सूचक थे।

सोलह स्वप्नों में उन्होंने सर्वप्रथम मदोन्मत्त गजराज को देखा। बाद में चन्द्रमा के सदृश शुभ कांतियुक्त, ऊँचे कन्धेवाला बैल गम्भीर शब्द करता हुआ दिखलाई दिया। तीसरा स्वप्न अपूर्व कान्तिवान वृहद्काय लाल कन्धेवाला सिंह था। चौथे स्वप्न में कमलरूपी सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी देवी को उन्होंने देव-हस्तियों द्वारा अभिषेक करते हुए देखा। पाँचवें में दो सुगन्धित मालायें थीं। छट्ठे में ताराओं से घिरे हुए चन्द्रमा को देखा, जिससे सारा संसार आलोकित हो रहा था। सातवें स्वप्न में देवी ने अन्धकार का विनाश करने वाले सूर्य को उदयाचल पर्वत से निकलते हुए देखा। आठवें स्वप्न में कमल के पत्तों से आच्छादित मुखवाले सुवर्ण के दो कलश देखे। नवमें स्वप्न में तालाब में क्रीड़ा करती हुई मछलियाँ देखीं। वह तालाब खिली हुई कुमुदिनी एवं कमलिनी से शोभायमान हो रहा था। दशवें स्वप्न में उन्होंने एक भरपूर तालाब देखा, जिसमें कमल पुष्पों की पीत रज तैर रही थी। ग्यारहवें स्वप्न में गम्भीर गर्जन करता हुआ चंचल तरंगों से युक्त समुद्र दिखलाई दिया। बारहवें स्वप्न में उन्होंने दैदीप्यमान मणि से युक्त ऊँचा सिंहासन देखा। तेरहवाँ स्वप्न बहुमूल्य रत्नों से प्रकाशित स्वर्ग का विमान था। चौदहवें स्वप्न में पृथ्वी को भेद कर ऊपर की ओर जाता हुआ फणीन्द्र (भवनवासी देव) का ऊँचा भवन दिखलाई दिया। पन्द्रहवें स्वप्न में उन्होंने रत्नों की विशाल राशि देखी, जिसकी किरणों से आकाश तक दैदीप्यमान हो रहा था। सोलहवें स्वप्न में माता ने निर्धूम अग्नि देखी।

उपरोक्त सोलह स्वप्नों को देखने के पश्चात् महारानी त्रिशला ने पुत्र के आगमनसूचक ऊँचे शरीरवाले उत्तम गजराज को मुख-कमल में प्रवेश करते हुए देखा। माता के स्वप्न देखने के थोड़ी देर बाद ही प्रातःकाल हुआ। महारानी त्रिशला को जगाने के लिए राजमहल में सुमधुर वाद्य बजने लगे। बन्दी जनों ने कहना आरम्भ किया– 'हे महादेवी! अब जागने का समय हो गया है। अतएव आप को अपनी शैय्या त्याग कर अपने योग्य शुभ कार्यों को आरम्भ कर देना चाहिये, जिससे कल्याणकारी वस्तुएँ आप को बड़ी सरलता से प्राप्त हों।

कुछ समय तक इसी प्रकार वाद्यों के शब्द एवं बन्दीजनों द्वारा मंगल गान होते रहे। महारानी त्रिशला एकाएक जाग उठीं। उन्हें प्रातःकाल के देखे हुए स्वप्नों से अतीव प्रसन्नता हुई। शैय्या त्याग कर उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से स्तवन, सामायिक आदि उत्तम नित्य-कर्म करना आरम्भ किया। इस प्रकार की नित्य क्रिया सर्वथा कल्याणकारिणी है एवं सब प्रकार

से मंगल करने वाली है।

तत्पश्चात् महारानी ने स्नान समाप्त कर अपना श्रृंगार किया। वे आभूषणों से सुसज्जित हो सेवकों को साथ लेकर राज्य सभा में गयीं। महाराज अपनी प्राणप्रिया को अपनी ओर आती हुई देख कर बड़े प्रसन्न हुए। बैठने के लिए उन्होंने रानी को अपना आधा आसन समर्पित कर दिया। महारानी प्रसन्नचित्त होकर उक्त आसन पर बैठ गयीं। उन्होंने बड़े मधुर शब्दों में महाराज से निवेदन किया— 'हे देव! आज रात्रि के तीसरे प्रहर में मैंने अत्यन्त आश्चर्यजनक स्वप्न देखे हैं। मेरी अभिलाषा है कि गजराज इत्यादि इन सोलह स्वप्नों का फल आप मुझे अलग-अलग सुनायें।'

महारानी के मुख से स्वप्न की बातें सुनकर मति-श्रुति-अवधि तीनों ज्ञान के धारक महाराज सिद्धार्थ ने कहा— 'हे सुन्दरी! मैं इन स्वप्नों के शुभ फलों का शीघ्र ही वर्णन कर रहा हूँ। तुम सावधान होकर श्रवण करो।' महाराज ने कहना आरम्भ किया—हे कान्ते!

१. गजराज देखने का फल यह हुआ कि तेरा पुत्र तीर्थंकर होगा।

२. बैल देखने से फल यह हुआ कि वह धर्मचक्र का संचालक होगा।

३. सिंह के दर्शन से वह पुत्र कर्मरूपी गजराजों को विनष्ट करनेवाला अत्यन्त बलवान होगा।

४. लक्ष्मी का अभिषेक देखने का फल यह है कि सुमेरु पर्वत पर इन्द्रादि देवों के द्वारा इस बालक का स्नान कराया जायेगा।

५. स्वप्न में मालाओं के देखने से सुगन्धित शरीरवाला एवं श्रेष्ठ ज्ञानी होगा।

६. पूर्ण चन्द्रमा के दर्शन से वह पुत्र अपने धर्मरूपी अमृत-वर्षण से भव्य जीवों को प्रसन्न करनेवाला होगा।

७. सूर्य के देखने से वह अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाशक तथा उन्हीं के समान कान्तिवाला होगा।

८. जल से परिपूर्ण घड़ों के देखने का फल यह है कि वह अनेक निधियों का स्वामी तथा ज्ञान- ध्यानरूपी अमृत का घट होगा।

९. मछली की जोड़ी देखने से सब के लिए कल्याणकारी तथा स्वयं महान सुखी होगा।

१०. सरोवर देखने से शुभ लक्षण तथा व्यंजनों से सुशोभित शरीरधारी होगा।

११. समुद्र के देखने से नौ केवल-लब्धियों वाला केवलज्ञानी होगा।

१२. सिंहासन के देखने से महाराज पद से वाच्य जगत् का स्वामी होगा।

१३. स्वर्ग का विमान देखने का फल यह हुआ कि वह पुत्र स्वर्ग से आकर अवतार धारण करेगा।

१४. नागेन्द्र भवन के अवलोकन से अवधिज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाला होगा।
१५. रत्नों का ढेर देखने से वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि रत्नों की खानि होगा।
१६. निर्धूम अग्नि के दर्शन से वह कर्मरूपी ईंधन को भस्म करने वाला होगा।

अन्त में गजेन्द्र के दर्शन का फल यह हुआ कि वह अन्तिम तीर्थंकर स्वर्ग से आकर तुम्हारे निर्मल पवित्र गर्भ में प्रवेश कर चुका है।

महाराज के मुख-कमल से सोलहों स्वप्नों का फल सुनकर पतिव्रता महारानी का हृदय प्रफुल्लित हो उठा। उन्हें ऐसा लगा कि जैसे उन्हें पुत्र की प्राप्ति ही हो गई हो। वे बड़ी प्रसन्न हुईं।

देवियों द्वारा माता की सेवा

उसी समय सौधर्म इन्द्र का आदेश पाकर पद्म आदि सरोवरों में निवास करने वाली श्री, ह्री आदि छः देवियाँ राजमहल में आ गयीं। उन्होंने तीर्थंकर के गर्भाधान के लिए स्वर्ग से लाई हुई पवित्र वस्तुओं से माता के गर्भ का शोधन किया, जिससे उन्हें पुण्य की प्राप्ति हो पुनः वे अपने-अपने शुभ गुणों को माता में स्थापित कर उनकी सेवा में संलग्न हो गयीं।

श्री देवी ने शोभा, ह्री देवी ने लज्जा, धृति देवी ने धैर्य, कीर्ति देवी ने स्तुति, बुद्धि देवी ने श्रेष्ठ बुद्धि तथा लक्ष्मी देवी ने भाग्य ऐसे इन गुणों की वृद्धि की। वे जिनमाता बड़ी गुणवती हुईं। यों तो महारानी पूर्व में ही स्वभाव से पवित्र थीं, पर जब देवियों ने शुद्ध वस्तुओं से उन्हें शुद्ध किया, तब तो वे मानों स्फटिक मणि से ही बनाई गई हों ऐसी शोभायमान प्रतीत होने लगीं। आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की शुद्ध तिथि षष्ठी को आषाढ़ नक्षत्र में एवं शुभ लग्न में वह देव (अच्युतेन्द्र) स्वर्ग से चय कर माता के शुद्ध गर्भ में आया। महावीर प्रभु के गर्भ में आते ही स्वर्ग के कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टे की ध्वनि होने लगी एवं इन्द्र का आसन काँप उठा।

ज्योतिषी देवों के यहाँ स्वयं सिंहनाद होने लगा। भवनवासी देवों के यहाँ शंख की प्रचण्ड ध्वनि हुई। साथ ही व्यन्तर देवों के महलों में भेरी की विशेष ध्वनि हुई। केवल यही नहीं अन्य भी अनेक आश्चर्यजनक घटनायें घटीं। उक्त आश्चर्यजनक घटनाओं को घटते देखकर चारों निकायों के देवों को यह ज्ञात हो गया कि महावीर प्रभु का गर्भावतरण हो गया है। तत्पश्चात् वे देवगण भगवान् का गर्भ-कल्याणक उत्सव मनाने के उद्देश्य से नगर में पधारे। उस समय देवों के समूह को देखते ही बनता था। वे सर्वोत्तम सम्पदाओं से सुशोभित थे, अपनी-अपनी सवारियों पर आरूढ़ थे, उत्तम धर्म का पालन करने वाले उद्यमी

थे। वे अपने अंग के आभूषणों एवं तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले थे। उन्होंने अपने ध्वजा-छत्र-विमानादिकों से आकाश को मानो ढँक दिया था। वे देव अपनी देवियों के साथ 'जय-जय' शब्द कर रहे थे।

उस समय नगर का वातावरण देखने योग्य ही था। विमानों, अप्सराओं एवं देवों की सेनाओं से घिरा हुआ वह नगर स्वर्ग जैसा सर्वोत्तम प्रतीत होने लगा। देवों के साथ इन्द्र ने भगवान के माता-पिता को सिंहासन पर बिठाकर सोने के कलशों से स्नान कराया तथा उन्हें दिव्य आभूषण--वस्त्र पहिनाये। माता के गर्भस्थ शिशु (भगवान) की सभी ने तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें प्रणाम किया अर्थात् माता की तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें प्रणाम किया।

इस प्रकार सौधर्म इन्द्र भगवान का गर्भकल्याणक सम्पन्न कर जिनमाता की सेवा में उपयुक्त देवियों को नियुक्त कर देवों के साथ पुण्य उपार्जन कर बड़ी प्रसन्नता के साथ पुनः स्वर्ग को वापस चले गये।

स्वर्ग से आई हुई देवियों में से कोई तो जिन-माता के समक्ष मंगल द्रव्य रखती थीं, कई देवियों ने महादेवी की शय्या को सुसज्जित करने का भार अपने ऊपर लिया, किसी ने दिव्य आभूषण पहिनाने का भार लिया तथा किसी ने माला तथा रत्नों के गहने देने का। कई देवियाँ माता की अंग-रक्षा के लिए खुले खड्गों से सज्जित होकर पहरा देती थीं एवं कई उनके लिए भोग्य सामग्रियों को एकत्रित करने में संलग्न थीं। कई एक देवियाँ पुष्प-रज से आच्छादित राज्य—प्रांगण की सफाई में लगी थीं एवं चन्दन-जल का छिड़काव करती जाती थीं।

उक्त देवियों ने रत्नों के चूर्ण से स्वस्तिक आदि की रचना की एवं महल को कल्पवृक्ष के पुष्पों से सजाया। किसी ने महलों के ऊँचे शिखरों पर रत्नों के दीप जलाये, जो अन्धकार को विनष्ट करनेवाले थे। वस्त्र पहिनाना, आसन बिछाना आदि समस्त कार्य देवियाँ ही करती थीं। महादेवी की वन-क्रीड़ा के समय मधुर गीत, सुन्दर नृत्य एवं धार्मिक कथायें सुनाकर वे माता को सुख पहुँचाया करती थीं। इस प्रकार जिनदेव की माता महादेवी त्रिशला की सेवा देवियों द्वारा होती रही एवं उनकी शोभा अनुपम थी।

जब नवम मास निकट आया, तो गर्भवती महादेवी की बुद्धि अति प्रखर होती गई। उन्हें प्रसन्न रखने के उद्देश्य से देवियाँ मनोहर प्रहसन किया करतीं एवं तरह-तरह की कवितायें सुनाया करती थीं। देवियाँ कुछ गूढ़ अर्थपूर्ण पहेलियाँ महादेवी से पूछा करती थीं एवं महादेवी उनका समुचित उत्तर दे दिया करती थीं। उदाहरण के रूप में निम्न पहेली एवं उसका उत्तर मनन करने योग्य है—

विरक्ता नित्यकामिन्या, कामुकोऽकामुको महान्।
सस्पृहो निःस्पृहो लोके, परात्मान्यश्च यः स कः।।१।।

अर्थात् जो वैरागी होने पर भी सर्वदा कामिनी की इच्छा रखता है एवं निस्पृही होने पर भी इच्छा किया करता है, वह विलक्षण पुरुष इस संसार में कौन है? यह तो हुई पहेली। महादेवी ने पहेली का श्लोक में ही उत्तर दिया। महादेवी का उत्तर था– 'परमात्मा'। कारण, 'परमात्मा' का एक अर्थ तो विलक्षण पुरुष होता है एवं दूसरा अर्थ परमात्मा भी होता है। परमात्मा नित्य—कामिनी अर्थात् अविनाशी मोक्षरूपी स्त्री में अनुरागी है एवं उसी की इच्छा रखनेवाला होता है। दूसरी एक पहेली भी सुनिये–

दृश्योऽदृश्योऽस्ति चिद्भूपः, प्रकृत्या निर्मलोऽव्ययः।
हन्ता देहविधेर्देवो, नाऽयं को वर्ततेऽद्य सः ।।२।।

अर्थात् जो अदृश्य है, फिर भी देखने योग्य है; स्वभाव से निर्मल होने पर भी देह की रचना का नाशक है, पर महादेव नहीं है, ऐसा वह कौन है? इस श्लोक का महादेवी ने 'देवोना' शब्द से उत्तर दिया। 'देवोना' का अर्थ है– देवरूपी मनुष्य श्री अर्हन्त देव।

इस प्रकार उन देवियों ने प्रश्नोत्तर के रूप में महादेवी से अनेक पहेलियाँ पूछीं। वे भिन्न प्रकार की हैं– 'हे सुन्दरी! असंख्यात मनुष्य एवं देवों द्वारा पूज्य तीनों जगत् का गुरु तेरा पुत्र अनेक उत्तम गुणों से युक्त तथा विजयी हो। जिसने दूसरी स्त्रियों से प्रेम करना त्याग दिया है, पर फिर भी अविनाशी मोक्ष-सुख में अनुरागी है, ऐसा गुणों का समुद्र तेरा पुत्र हमारी रक्षा करे। हे जगत् का कल्याण करनेवाली, तीन लोकों के स्वामी को गर्भ में धारण करनेवाली! हरिहरादि के मन की रक्षा कर।

जगत् के कल्याण के लिए अपने गर्भ में तीर्थंकर को धारण करनेवाली, हे महादेवी! धर्म-तीर्थ स्थापित करनेवाले की उत्पत्ति में देव-विद्याधर-भूमिगोचरी जीवों का तीर्थ-स्थान बन। (इसमें 'अठ' क्रिया गुप्त है)

देवी का प्रश्न– हे देवी महारानी! इहलोक एवं परलोक में कल्याण करने वाला कौन है?
माता का उत्तर–जो धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक हैं, वे ही श्री अर्हन्त देव तीनों जगत् का कल्याण करने वाले हैं।
देवी का प्रश्न– गुरुओं में सबसे महान कौन है?
माता का उत्तर–जो तीन जगत् का गुरु एवं सब अतिशयों से तथा दिव्य अनन्त गुणों से सुशोभित है, ऐसे श्री जिनेन्द्र देव ही महान् गुरु हैं।

देवी का प्रश्न– इस जगत् में किसके वचन श्रेष्ठ एवं प्रामाणिक हैं?

माता का उत्तर– जो सबको जानने वाले, दुनिया का हित करने वाले, अठारह दोषरहित एवं वीतरागी हैं, ऐसे श्री अर्हन्त भगवान के वचन ही श्रेष्ठ एवं मानने योग्य हैं। इसके सिवा दूसरे मिथ्यामतियों के नहीं।

देवी का प्रश्न– जन्म-मरणरूपी विष को दूर करनेवाला अमृत के समान क्या पीना चाहिये?

माता का उत्तर– श्री जिनेन्द्र के मुख-कमल से निकला हुआ 'ज्ञानामृत' पीना चाहिये। दूसरे मिथ्या-ज्ञानियों के विषरूपी वचन नहीं मानने चाहिये।

देवी का प्रश्न– इहलोक में बुद्धिमानों को किसका ध्यान करना चाहिये?

माता का उत्तर– पंच-परमेष्ठी का, जैन शास्त्र का एवं आत्म-तत्त्व का ध्यान करना चाहिये, दूसरा आर्त-रौद्र रूप खोटा ध्यान कभी नहीं करना चाहिये।

देवी का प्रश्न– शीघ्र कौन-सा काम करना चाहिए?

माता का उत्तर– जिससे संसार के भोगों का नाश हो, ऐसे अनन्त ज्ञान-चारित्र का पालन करना चाहिए, मिथ्यात्वादिकों का नहीं।

देवी का प्रश्न– इस संसार में सज्जनों के साथ में जानेवाला कौन है?

माता का उत्तर– दयामय धर्म ही सहायता करनेवाला बन्धु है, जो सब दुःखों से रक्षा करनेवाला है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई सहगामी नहीं है।

देवी का प्रश्न– धर्म के क्या-क्या लक्षण हैं एवं कार्य क्या हैं?

माता का उत्तर– बारह तप, रत्नत्रय, महाव्रत, अणुव्रत, शील एवं उत्तम क्षमा आदि दश लक्षण धर्म– ये सब धर्म के कार्य एवं लक्षण हैं।

देवी का प्रश्न– इहलोक में धर्म का फल क्या है?

माता का उत्तर– तीन लोक के स्वामियों की इन्द्र-धरणेन्द्र-चक्रवर्ती पद-रूप सम्पदायें, श्री जिनेन्द्र का अनन्त सुख, ये सब धर्म के ही उत्तम फल हैं।

देवी का प्रश्न– धर्मात्माओं के चिन्ह क्या हैं?

माता का उत्तर– शान्त स्वभाव, अभिमान का न होना एवं रात-दिन शुद्ध आचरणों का पालन-ये ही धर्मात्माओं की पहिचान है।

देवी का प्रश्न– पाप के चिन्ह क्या-क्या हैं?

माता का उत्तर– मिथ्यात्वादि, क्रोधादि कषाय, खोटी संगति एवं छः तरह के अनायतन–ये पाप के चिन्ह हैं।

देवी का प्रश्न– पाप का फल क्या है?

माता का उत्तर– जो अपने को अप्रिय है, दुःख का कारण एवं दुर्गति करानेवाला, अन्य रोग-क्लेशादि देने वाला है– ऐसे सभी निन्दनीय कार्य पाप के फल हैं।

देवी का प्रश्न– पापी जीवों की पहिचान क्या है?

माता का उत्तर– क्रोध आदि कषायों का बहुत होना, दूसरों की निन्दा, अपनी प्रशंसा एवं रौद्रादि खोटे ध्यान का होना– ये सब पापियों के चिन्ह हैं।

देवी का प्रश्न– असली लोभी कौन है?

माता का उत्तर– बुद्धिमान, मोक्ष का चाहनेवाला भव्य जीव निर्मल आचरण से तथा कठिन तप से केवल धर्म का सेवन करनेवाला ही असली लोभी है।

देवी का प्रश्न– इहलोक में विचारशील कौन है?

माता का उत्तर– जो मन में निर्दोष देव-शास्त्र-गुरु का एवं उत्तम धर्म का विचार करता है, दूसरे का नहीं।

देवी का प्रश्न– धर्मात्मा कौन है?

माता का उत्तर– जो श्रेष्ठ उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण युक्त धर्म का पालन करता है। श्री जिनेन्द्र देव की आज्ञा का पालन करनेवाला ही बुद्धिमान, ज्ञानी एवं व्रती है– वही धर्मात्मा है, दूसरा कोई नहीं।

देवी का प्रश्न– परलोक जाते समय मार्ग का भोजन क्या है?

माता का उत्तर– दान, पूजा, उपवास, व्रत, शील एवं संयमादि से उपार्जन किया गया जो निर्मल पुण्य है, वही परलोक के मार्ग का उत्तम भोजन है।

देवी का प्रश्न– इहलोक में किसका जन्म सफल है?

माता का उत्तर– जिसने मोक्ष-लक्ष्मी के सुख के प्रदाता उत्तम भेद-विज्ञान को पा लिया, उसी का जन्म सफल है, दूसरे का नहीं।

देवी का प्रश्न– संसार में सुखी कौन है?

माता का उत्तर– जो सब परिग्रह की उपाधियों से रहित एवं ध्यानरूपी अमृत का पान करनेवाला वन में रहता है अर्थात् योगी है, वही सुखी है, अन्य कोई नहीं।

देवी का प्रश्न– इस संसार में चिन्ता किस वस्तु की करनी चाहिए?

माता का उत्तर– कर्मरूपी शत्रुओं के नाश करने की एवं मोक्ष-लक्ष्मी पाने की चिन्ता करनी चाहिये, दूसरे इन्द्रियादिक विषय-सुखों की नहीं।

देवी का प्रश्न– महान उद्योग किस कार्य में करना चाहिये?

माता का उत्तर–मोक्ष देनेवाले रत्नत्रय, तप, शुभ योग, सुज्ञानादिकों के पालने में महान यत्न करना चाहिये, धन एकत्रित करने में नहीं। कारण, धन तो धर्म से प्राप्त होगा ही।

देवी का प्रश्न– मनुष्यों का परम मित्र कौन है?

माता का उत्तर–जो तप-दान-व्रतादिरूप धर्म को आग्रहपूर्वक समझा कर पालन करावे एवं पाप कर्मों को छुड़ावे।

देवी का प्रश्न– इस संसार में जीवों का शत्रु कौन है?

माता का उत्तर–जो हित करनेवाले तप-दीक्षा-व्रतादिकों का नहीं पालन करने दे, वह दुर्बुद्धि अपना एवं दूसरे का– दोनों का शत्रु है।

देवी का प्रश्न– प्रशंसा करने योग्य क्या है?

माता का उत्तर–थोड़ा धन होने पर भी सुपात्र को दान देना, निर्बल शरीर होने पर भी निष्पाप तप करना, यही प्रशंसनीय है।

देवी का प्रश्न– हे महादेवी! आप के समान महारानी कौन है?

माता का उत्तर–जो धर्म के प्रवर्तक, जगत् के गुरु, ऐसे तीर्थंकर देवाधिदेव को उत्पन्न करे, वही मेरे समान है, दूसरी कोई नहीं।

देवी का प्रश्न– पण्डिताई क्या है?

माता का उत्तर–शास्त्रों को जानकर खोटा आचरण, खोटा अभिमान जरा भी नहीं करना एवं अन्य पाप की क्रियायें भी नहीं करना, यही पण्डिताई है।

देवी का प्रश्न– मूर्खता किसे कहते हैं?

माता का उत्तर–ज्ञान के हित का कारण, निर्दोष तप, धर्म की क्रिया को जानकर आचरण नहीं करना।

देवी का प्रश्न– बड़े भारी चोर कौन हैं?

माता का उत्तर–जो मनुष्यों के धर्मरत्न को चुरानेवाले, पाप के कर्ता एवं अनर्थ करनेवाले हैं। ऐसे पाँच इन्द्रियरूपी चोर हैं।

देवी का प्रश्न– इस संसार में शूरवीर कौन हैं?

माता का उत्तर–जो धैर्यरूपी खड्ग से परिषहरूपी महायोद्धाओं को, कषायरूपी शत्रुओं को तथा काम-मोह आदि शत्रुओं को जीतनेवाले हों।

देवी का प्रश्न– देव कौन हैं?

माता का उत्तर– जो सबको जाननेवाल, क्षुधादि अठारह दोषों से रहित, अनन्त गुणों के समुद्र, धर्म के प्रवर्तक हों, ऐसे अर्हन्त प्रभु ही देव हैं।

देवी का प्रश्न– महान गुरु कौन हैं?

माता का उत्तर– जो इस संसार में बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित हों। जगत् के भव्य जीवों के हित-साधन में उद्यत हों एवं स्वयं भी मोक्ष के लिए इच्छुक हों, वही महान गुरु हैं। दूसरा मिथ्यामती धर्मगुरु नहीं हो सकता।

इस प्रकार देवियों द्वारा किये गए प्रश्नों का उत्तर माता ने गर्भस्थ तीर्थंकर शिशु के प्रभाव से दिया। प्रथम तो महारानी की बुद्धि स्वभाव से ही निर्मल थी पुनः अपने उदर में तीन ज्ञान के धारक प्रकाशमान तीर्थंकर देव को धारण करने से वे अत्यधिक पवित्र हो गई थीं। महारानी के गर्भ में स्थित तीर्थंकर बालक को कोई कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि सीप में रहनेवाली जल-बिन्दु में कभी विकार उत्पन्न नहीं हो सकता है। उस महादेवी के उदर की त्रिवली भी भंग नहीं हुई। उदर पूर्व जैसा ही रहा, पर गर्भ की क्रमशः वृद्धि होती गई– यह सब प्रभु का ही प्रभाव था।

गर्भ में स्थित प्रभु के प्रभाव से महारानी की मुखाकृति बड़ी ही शोभायमान हो गई। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वे असंख्य रत्नों को धारण करनेवाली पृथ्वी ही हों। अप्सराओं के साथ इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी ही जिनकी सेवा कर रही हो, उनकी कान्ति एवं उनके मुख का वर्णन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार लगातार नौ महीने तक महान उत्सव सम्पन्न होते रहे।

जन्मकल्याणक

देखते-देखते नवमा महीना पूर्ण हो गया। शुभ चैत्र मास की शुक्ला त्रयोदशी के दिन अर्यमा नाम के शुभ योग में एवं शुभ लग्न में त्रिशला महादेवी ने अलौकिक पुत्र को जन्म दिया है। वह पुत्र अपने उज्ज्वल शरीर की कान्ति से अन्धकार को विनष्ट करने वाला, जगत् का हित करने वाला मति-श्रुत-अवधि–तीनों ज्ञान को धारण करने वाला, महा दैदीप्यमान एवं धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक तीर्थंकर हुआ।

भगवान महावीर का जन्म तेरस की रात्रि में हुआ है ऐसा जयधवला में वर्णित है-

"आसाढ़ जोण्हपक्खछट्ठीए कुंडलपुरणगराहिव-णाहवंस-सिद्धत्थणरिंदस तिसिला-देवीए गब्भमागंतूण तत्थ अट्ठदिवसाहियणवमासे अच्छिय चइत्तसुक्कपक्ख-तेरसीए रत्तीएउत्तरफग्गुणीणक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो वड्ढमाणजिणिंदो।"

आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन कुंडलपुर नगर के स्वामी नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की रानी त्रिशला देवी के गर्भ में आकर और वहाँ नवमास आठ दिन रहकर चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुये वर्द्धमान जिनेंद्र ने जन्म लिया।

उनके जन्म के साथ-साथ सभी दिशायें निर्मल हो गयीं। आकाश में निर्मल वायु बहने लगी। स्वर्ग से कल्प-वृक्षों के पुष्पों की वर्षा हुई एवं चारों निकायों के देवों के आसन कम्पायमान हो गये। स्वर्ग में बिना बजाये ही वाद्यों की ध्वनि होने लगी, मानो वे भी भगवान का जन्मोत्सव मना रहे हों। इसके अतिरिक्त अन्य तीनों जातियों (निकायों) के देवों के महलों में शंख-भेरी आदि के शब्द होने लगे।

कल्पेषु घण्टा भवनेषु शंखो, ज्योतिर्विमानेषु च सिंहनादः।
दध्वान भेरी वनजालयेषु, यज्जन्मनि ख्यात जिनः स एषः।।

कल्पवासी देवों के यहाँ घंटे बजने लगे, भवनवासी देवों के यहाँ शंखध्वनि होने लगी, ज्योतिष्क देवों के यहाँ सिंहनाद होने लगा और व्यंतर देवों के यहाँ भेरी बजने लगी। जिनके जन्म के समय ऐसा हुआ ये जिन भगवान् वे ही हैं।

जैसे कि आज टेलीविजन या रेडियो का बटन दबाते ही हजारों किलोमीटर दूर के भी दृश्य और संगीत सामने आ जाते हैं किंतु वहाँ तो बटन दबाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी प्रत्युत् तीर्थंकर प्रकृति का पुण्यरूपी बटन अपने आप ही दब गया और ४० करोड़ मील से अधिक ऊँचाई पर स्थित स्वर्गलोक में अतिशय फैल गया। तत्क्षण ही सौधर्म इंद्र असंख्य देव परिवारों के साथ मध्यलोक में आये और जन्मजात शिशु को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर १००८ कलशों से उनका जन्माभिषेक संपन्न किया।

कुछ विद्वान सहज ही कह देते हैं कि वे तीर्थंकर हम आप जैसे साधारण मानव थे लेकिन ऐसा नहीं है वे तीर्थंकर प्रकृति नाम कर्म के बंध करने तक तो साधारण कहे जा सकते हैं किन्तु तीर्थंकर प्रकृति को बांध लेने के बाद उनमें कुछ विशेष ही अतिशय प्रगट हो जाते हैं इसीलिए तो श्रीसमन्तभद्रस्वामी ने कहा है–

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्, देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ! परमासि देवता, श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः।।

हे नाथ! आपने मनुष्य योनि में जन्म तो लिया है किंतु आप मानुषी प्रकृति का उलंघन कर चुके हैं इसलिए आप देवताओं के भी देवता हैं यही कारण है कि आप परमदेवता हैं।

हे जिनधर्म तीर्थंकर! आप हमारे कल्याण के लिए हम पर प्रसन्न होइये।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र भगवान के जन्म का समाचार पाकर उनका जन्मकल्याणक मनाने का विचार करने लगा। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से देवों की सेनायें 'जय-जयकार' करती हुई स्वर्ग से उतरीं। उनकी विशाल सेनायें समुद्र से उठती हुई प्रचण्ड लहरों के समान प्रतीत होती थीं। गजराज, अश्व, रथ, गन्धर्व, नर्तकी, पैदल एवं बैल आदि से युक्त सात प्रकार की सेनायें निकलीं। तत्पश्चात् सौधर्म स्वर्ग का स्वामी इन्द्र अपनी इन्द्राणी सहित ऐरावत हाथी पर आरूढ़ होकर चला। उसके चारों ओर देवों की सेनायें फैली हुईं थीं।

इन्द्र के पीछे-पीछे बड़ी विभूतियों के साथ सामानिक देव आदि चल रहे थे। उस समय दुन्दुभी आदि वाद्यों की ध्वनि एवं देवों की 'जय-जयकार' से सारा आकाश गूँजने लगा। मार्ग में कितने ही देव गाते हुए चल रहे थे। कोई नृत्य करता जाता था एवं कोई प्रसन्नता के कारण दौड़ लगा रहा था। उनके छत्र-चमर एवं ध्वजाओं से समस्त आकाश-मण्डल आच्छादित हो गया था। वे चारों निकाय के देव बड़ी विभूति के साथ क्रम-क्रम से कुण्डलपुर जा पहुँचे। उस समय आकाश में ऊपर एवं बीच का भाग देव-देवियों से घिर गया था। राजमहल का आँगन इन्द्रादिक देवों से बिलकुल भर गया था।

इन्द्राणी ने तत्काल प्रसूतिग्रह में जाकर दिव्यशरीरधारी कुमार एवं जिनमाता का दर्शन किया। वे बारम्बार उन्हें प्रणाम कर जिनमाता के आगे खड़ी होकर उनके गुणों की प्रशंसा करने लगीं। इन्द्राणी ने कहा– 'हे महादेवी! आप तीनों जगत् के स्वामी को उत्पन्न करने के कारण समग्र विश्व की माता हो एवं आप ही महादेवी भी हो। महान देव उत्पन्न कर आपने अपना नाम सार्थक कर लिया है। संसार में आपकी तुलना की अन्य कोई स्त्री नहीं है।'

इस प्रकार महादेवी की स्तुति कर इन्द्राणी ने उन्हें निद्रित कर दिया। जब जिनमाता सो गयीं, तो इन्द्राणी ने उनके आगे एक माया का बालक बना कर सुला दिया एवं स्वयं अपने हाथों से शिशु भगवान को उठाकर उनके शरीर का स्पर्श किया। वे बारम्बार उनके मुख का चुम्बन करने लगीं। भगवान के शरीर से निकलती हुई उज्ज्वल ज्योति को देखकर उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। तत्पश्चात् वह उस बालक भगवान को लेकर आकाश-मार्ग की ओर चलीं। वे भगवान आकाश में ठीक सूर्य की तरह जान पड़ते थे। समस्त दिक्कुमारियाँ छत्र, ध्वजा, कलश, चमर एवं स्वस्तिक आदि आठ मांगलिक द्रव्यों को लेकर इन्द्राणी के आगे-आगे चल रही थीं।

उस समय इन्द्राणी ने जगत् को आनन्द प्रदान करनेवाले जिनदेव को लाकर बड़ी प्रसन्नता से इन्द्र को सौंप दिया। भगवान की अपूर्व सुन्दरता व उनकी तेजोमय दीप्ति देखकर देवों का स्वामी इन्द्र उनकी स्तुति करने लगा– 'हे देव! आप हमें परम आनन्द प्रदान करने के

लिए बाल-चन्द्रमा की भांति लोक को प्रकाश देने के लिए प्रगट हुए हो। हे ज्ञानी! आप विश्व के स्वामी इन्द्र-धरणेन्द्र-चक्रवर्ती के भी स्वामी हो। धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक होने के कारण आप ही ब्रह्मा भी हो।'

'हे देव! योगीराज आपको ज्ञानरूपी सूर्य का उदयाचल मानते हैं। आप भव्य पुरुषों के रक्षक एवं मोक्षरूपी स्त्री के पति हो। आप मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकूप में पड़े हुए अनेक भव्य जीवों को धर्मरूपी हाथ का सहारा देकर उद्धार करने वाले हो। संसार के सभी विचारशील व्यक्ति आपकी अलौकिक वाणी सुनकर अपने कर्मों को नष्ट कर परम पवित्र मोक्ष प्राप्त करेंगे एवं अनेक भव्य जीवों को स्वर्ग की प्राप्ति होगी। आज आपके अभ्युदय से सन्त पुरुषों को बड़ी प्रसन्नता हुई। वस्तुतः आप ही धर्म की प्रवृत्ति के कारण हैं।'

अतएव हे देव! हम आपको प्रणाम करते हैं, आपकी सेवा करते हैं, भक्ति प्रकट करते हैं एवं प्रसन्नतापूर्वक केवल आपकी आज्ञा का पालन करते हैं– अन्य मिथ्यात्वी देव की नहीं।' इस तरह देवों का स्वामी सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र भगवान की स्तुति कर उन्हें गोद में उठा कर सुमेरु पर्वत पर चलने को उद्यत हुआ। उसने अन्य देवों को भी सुमेरु पर्वत पर चलने के लिए आज्ञा दी। उस समय सभी देवों ने 'प्रभु की जय हो, आनन्द की वृद्धि हो' आदि शब्दों से 'जय-जयकार' की। उनकी ध्वनि समस्त दिशाओं में फैली।

इन्द्र के साथ-साथ आये देव भी 'जय-जय' शब्द करते हुए आनन्द मनाने लगे। प्रसन्नता के कारण उनका शरीर रोमांचित हो उठा। आकाश में प्रभु के समक्ष अप्सरायें नृत्य करने लगीं। गन्धर्वदेव भी वीणा आदि वाद्यों के साथ गान करने लगे। देवों की दुन्दुभी की आवाज से सारा आकाश-मण्डल गूँज उठा। किन्नरियाँ हर्षित होकर अपने किन्नरों के साथ जिनदेव का गुणगान करने लगीं। उस समय सब देव भगवान का दर्शन कर अपने जीवन को सार्थक समझने लगे। वे बड़ी देर तक भगवान का दिव्य रूप देखते रहे। इन्द्र की गोद में विराजमान भगवान को ऐशान स्वर्ग के इन्द्र ने दिव्य छत्र लगाया। सनत्कुमार एवं माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र भी चमर ढुराते हुए भगवान की सेवा करने लगे। श्री जिनेन्द्र भगवान की ऐसी विभुता देखकर अनेक देवों ने उसी समय सम्यक्त्व धारण किया। उन्होंने इन्द्र के वचनों को प्रमाण माना। वे इन्द्रादि देव ज्योति-चक्र को लाँघकर अपने शरीर के आभूषणों की किरणों से आकाश को प्रकाशित करते हुए जा रहे थे।

जन्माभिषेक

परस्पर सैकड़ों उत्सव मनाते हुए वे देव बड़ी विभूति के साथ उत्तुंग सुमेरु पर्वत पर जा पहुँचे। उस सुमेरु पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन की है। पर्वत के आरम्भ में ही 'भद्रशाल वन' है। उस वन में परकोटा एवं ध्वजाओं से सुशोभित कल्याणकारक चार जैन-मन्दिर सुशोभित हैं। उस वन से ५०० योजन ऊपर 'नंदनवन' है, यह पाँच सौ योजन प्रमाण कटनीरूप है। इसकी भी चारों दिशाओं में चार चैत्यालय हैं। इसके बाद साढ़े बासठ हजार योजन की ऊँचाई पर महा रमणीक 'सौमनस वन' है, जहाँ पर सभी ऋतुओं में फल देनेवाले एक सौ आठ वृक्ष हैं एवं जिन-चैत्यालयों की संख्या चार है। उस सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन की ऊँचाई पर चौथा एवं अन्तिम 'पाण्डुक वन' है। वहाँ जिन-चैत्यालयों के ऊँचे-ऊँचे समूह हैं। उस वन की सुन्दरता अपूर्व है। वन के बीच में एक चूलिका है। वह चालीस योजन ऊँची है। उसी चूलिका के ऊपर स्वर्ग है। मेरु की ईशान दिशा में सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी, आठ योजन ऊँची एक 'पाण्डुक' नाम की शिला है। वह सिद्ध शिला चन्द्रमा के समान सुशोभित है। छत्र, चमर, स्वस्तिक, दर्पण, कलश, ध्वजा, ठोना, पंखा– ये अष्ट मंगल द्रव्य उस शिला पर रक्खे हुए थे।

शिला के मध्य भाग में वैडूर्य मणि के सदृश रंगीन एक सिंहासन है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई एवं ऊँचाई आधा योजन प्रमाण है। जिनेन्द्र भगवान के स्नान-जल से पवित्र हुए रत्नों के तेज से वह सिंहासन ऐसा प्रतीत होता था कि मानो सुमेरु का दूसरा शिखर ही हो। उसके ठीक दक्षिण की ओर दूसरा सिंहासन सौधर्म इन्द्र का है एवं उत्तर दिशा की ओर ईशान इन्द्र के बैठने का आसन है। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने अन्य देवों के साथ महोत्सव सम्पन्न करते हुए, स्नान कराने के उद्देश्य से भगवान को उसी शिला पर विराजमान किया। देवराज ने सर्वप्रथम उस पर्वतराज की परिक्रमा की।

इस प्रकार देवेन्द्र ने पुण्योदय से बड़ी विभूति के साथ वर्तमान कालखण्ड के अन्तिम तीर्थंकर (शिशु) को शिला पर विराजमान किया अतः भव्यजन यदि ऐसी अतुलनीय सम्पदा एवं अपरम्पार सुख की आकांक्षा रखते हैं, तो उन्हें सोलहकारण भावनाओं के चिन्तवन से निर्मल पुण्य का उपार्जन करना चाहिए। 'तीर्थंकर' सदृश अक्षुण्ण सम्पदा प्राप्त कराने में पुण्य ही सहायक होता है। पुण्य से इस जगत् में पवित्रता की वृद्धि होती है। पुण्य के अतिरिक्त इस जगत् में दूसरी कोई वस्तु सुख प्रदान करनेवाली नहीं है। इस पुण्य का मूल कारण व्रत है।

प्राणियों को पुण्य के बल से ही अनेक गुणों की प्राप्ति हुआ करती है।

श्री जिनेन्द्र भगवान के महान अभिषेक उत्सव को देखने की इच्छा रखनेवाले धार्मिक देव उस पर्वतराज को घेर कर बैठ गये। दिक्पाल देव अपनी-अपनी मण्डली को साथ लेकर अपनी दिशा की ओर बैठे। उस स्थान पर देव शिल्पियों ने एक ऐसे मण्डप का निर्माण किया था, जिसमें सभी देव सुखपूर्वक बैठ सकते थे। मण्डप में यत्र-तत्र कल्पवृक्ष की मालायें लटक रही थीं। उन मालाओं पर बैठे हुए भौंरे इस प्रकार गूँज रहे थे, मानो वे प्रभु का गुण-गान ही कर रहे हों।

गन्धर्व देव एवं किन्नरियों ने बड़े ही सुमधुर स्वरों में जिनदेव के कल्याणकारी गुणों का गान आरम्भ किया। अनेक देवियाँ हाव-भावपूर्वक नृत्य करने लगीं। देवों के विविध प्रकार के वाद्य बजने आरम्भ हो गये। कुछ देव पुण्यादि की अभिलाषा से पुष्पों की वर्षा करने लगे। इसके पश्चात् इन्द्र ने अभिषेक करने के लिए प्रस्ताव रख कलशों की रचना की। कलश-निर्माण-मंत्र जाननेवाले सौधर्म इन्द्र ने मोतियों की माला एवं चन्दन से युक्त कलश को हाथ में लिया एवं सब कल्पवासी देव 'जय-जय' शब्द करते हुए कल्याणक संबंधी कार्य करने लगे। इन्द्राणी एवं देवियाँ भी कार्य करने में संलग्न हो गईं। उनके हर्ष का पारावार नहीं था। 'स्वयम्भू' भगवान का शरीर स्वभाव से ही पवित्र है। उनके रक्त का रंग दुग्ध के सदृश श्वेत है। अतएव उनके लिए क्षीर-समुद्र के जल के अतिरिक्त अन्य कोई जल स्पर्श करना उचित नहीं है, ऐसा सोच कर वे देवगण पर्वत से लेकर समुद्र तक कतारें बाँध कर खड़े हो गये। उस समय इन्द्र ने श्रीजिनेन्द्र को स्नान कराने के लिए मोतियों के हार से सुशोभित आठ योजन गहरे एवं एक योजन मुखवाले सुवर्णमय कलश को पकड़ने के उद्देश्य से दिव्य आभूषणों से युक्त हजार भुजायें बना ली। उस समय इन्द्र की शोभा देखने ही योग्य थी। एक सहस्र हाथों से एक हजार कलशों को पकड़े हुए इन्द्र ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह 'भाजनांग' जाति का कल्पवृक्ष ही हो। सौधर्म इन्द्र ने 'जय-जय' शब्द का गम्भीर उच्चारण करते हुए भगवान के मस्तक पर पहली जलधारा छोड़ी। अन्य देव भी उस समय 'जय हो, हमारी रक्षा करो' आदि जयघोष करने लगे। उनके गम्भीर निनाद से पर्वतराज पर बड़ा कोलाहल मचा। दूसरे देवेन्द्र भी सौधर्म इन्द्र के साथ भगवान के मस्तक पर गंगा की तीव्र धारा के सदृश जलधारा डालने लगे।

वह जलधारा बड़ी तीव्र गति से भगवान के मस्तक पर पड़ने लगी। वह धारा यदि दूसरे किसी पहाड़ पर पड़ती, तो उसके खण्ड-खण्ड हो जाते पर अतुलित बलशाली होने के कारण भगवान के शरीर पर वह पुष्प जैसी सुकोमल अनुभूत हुई। जल के छींटे आकाश में बहुत ऊँचे

उछलते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो वे भगवान के शरीर का स्पर्श करने से पापों से मुक्त होकर ऊर्ध्व गति को जा रहे हैं। स्नान-जल के कितने ही छींटे मोतियों जैसे मालूम पड़ते थे। स्नान-जल का ऊँचा प्रवाह उस पर्वतराज के वनों में ऐसे वेग से बढ़ा कि देखने से मालूम होने लगा कि पर्वतराज को खण्ड-खण्ड कर देगा।

भगवान के स्नान किये हुए जल से डूबी हुई वनस्थली ऐसी दीखने लगी, मानो वह दूसरा क्षीरसमुद्र ही हो। महान उत्सवों से सम्पन्न, नृत्य-गीतादि से युक्त उस समय का उत्सव देखकर देवों के आनन्द की सीमा न रही। इन्द्र ने आत्म-शुद्धि के लिए भगवान को शुद्ध स्नान कराया।

स्नान की जलधारा भगवान के शरीर का स्पर्श कर अत्यन्त पवित्र हो गई। अपार पुण्य प्राप्त करानेवाली एवं संसार की समस्त इच्छाओं की पूर्ति करनेवाली वह जलधारा हमें एवं भव्य जीवों को मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करे। जो जलधारा पुण्यास्त्र जलधारा के समान मनवांछित पदार्थों को प्रदान करनेवाली है, वह समस्त भव्य जीवों को इच्छित वस्तुयें प्रदान करे।

वह जलधारा तीक्ष्ण खड्ग के सदृश सत्पुरुषों के विघ्नों का नाश कर देती है। वह दुःख एवं असह्य वेदना का नाश करनेवाली है। जो जलधारा भगवान के शरीर से लगकर पवित्र हो चुकी है, वह हमारे दुःख (कर्मरूपी मैल) को हटा कर हमें पवित्र करे। इस प्रकार देवों के अधिपति ने भगवान का अभिषेक कर के 'भव्यों को शान्ति हो' ऐसा कहा। उस सुगन्धित जल (गन्धोदक) को देवों ने शुद्धि के लिए मस्तक पर लगाया।

अभिषेक का उत्सव सम्पन्न होने के पश्चात् तीर्थंकर, इन्द्र एवं देवताओं द्वारा पूजे गये उन भगवान श्री महावीर की दिव्य गन्ध, मोतियों के अक्षत, कल्पवृक्ष के पुष्प, अमृत के पिण्डरूपी नैवेद्य, रत्नों के दीप, अष्टांग धूप, कल्पवृक्ष के फल, अर्घ, पुष्पांजलि आदि के साथ पूजा की गई। इस प्रकार इन्द्र ने बड़ी भक्ति के साथ भगवान की प्रार्थना करते हुए अभिषेक उत्सव सम्पन्न किया पुनः इन्द्र ने इन्द्राणी एवं अन्य देवों के साथ भगवान को प्रणाम किया।

उस समय का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही मनोरम था। आकाश से सुगन्धित जल के साथ पुष्पों की वर्षा होने लगी। देवों ने मन्द सुगन्ध एवं शीतल वायु प्रवाहित की। वस्तुतः जिन (प्रभु) के जन्माभिषेक का सिंहासन सुमेरु पर्वत है एवं स्नान करानेवाला इन्द्र है, मेघ के समान दुग्ध से भरे हुए कलश हैं, स्वयं देवियाँ नृत्य प्रस्तुत करने वाली हैं, स्नान के लिए क्षीर-समुद्र है एवं जिस जगह देवगण सेवक हैं, भला ऐसे जन्माभिषेक की महिमा का कोई कैसे वर्णन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं कर सकता।

अभिषेक किये हुए भगवान (शिशु) के सर्वांग को इन्द्राणी ने उज्ज्वल वस्त्र से पोंछा। इसके

बाद उसने भक्तिपूर्वक सुगन्धित द्रव्यों से उनका लेपन किया। यद्यपि वे प्रभु तीनों जगत् के तिलक थे, फिर भी भक्तिवश उसने उनके मस्तक पर तिलक लगाया। जगत् के चूड़ामणि भगवान के मस्तक में चूड़ामणि रत्न बाँधा गया। यद्यपि भगवान के नेत्र स्वभाव से ही काले थे, फिर भी लोक-व्यवहार दिखलाने के लिए उनके नेत्रों में इन्द्राणी ने अंजन लगाया।

भगवान के कानों में इन्द्राणी ने रत्नों के कुण्डल पहिनाये। प्रभु के कण्ठ में रत्नों का हार, बाहों में बाजूबन्द, हाथों में कड़े एवं अँगुलियों में अँगूठी पहिनाई। कमर में छोटी घण्टियोंवाली मणियों की करधनी पहिनाई, जिसके तेज से सारी दिशायें व्याप्त हो गयीं। प्रभु के पैरों में मणिमय गोमुखी कड़े पहिनाये गये। इस प्रकार असाधारण दिव्य मण्डनों (गहनों) की कान्ति एवं स्वाभाविक गुणों से प्रदीप्त वे प्रभु ऐसे प्रतीत होने लगे, मानो लक्ष्मी के पुंज ही हों।

भगवान का दिव्य शरीर आभूषणों से द्विगुणित शोभायमान हो गया। आभूषणों से सजे हुए इन्द्र की गोद में विराजमान श्री महावीर प्रभु को देखकर इन्द्राणी को परम आश्चर्य हुआ। इन्द्र को भी कम आश्चर्य नहीं हुआ दोनों नेत्रों से उन्हें देखने से जब इन्द्र को तृप्ति नहीं हुई, तब उसने अपने हजार नेत्र कर लिये। अन्य देव-देवियाँ भी भगवान की रूप-सुधा का पान कर अत्यन्त हर्षित हुईं।

तत्पश्चात् सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र प्रभु की स्तुति करने के लिए प्रस्तुत हुआ। वह तीर्थंकर के पुण्योदय से उत्पन्न उनके गुणों की प्रशंसा करने लगा। उसने कहा–'हे देव! बिना स्नान के ही आप का सर्वांग पवित्र है, पर मैंने अपने पापों की शान्ति के लिये आज भक्तिपूर्वक आप को स्नान कराया है। आप तीनों जगत् के आभूषण हैं, पर मैंने अपने सुखों की प्राप्ति के लिए आपको आभूषणों से विभूषित किया है। हे प्रभो! आपकी महान सत्ता आज सारे संसार पर अपने प्रभाव का विस्तार कर रही है।'

हे देव! कल्याण की कामना रखने वाले लोगों का कल्याण आपके ही द्वारा होगा। आप मोह के सागर में गिरे हुए व्यक्तियों के लिए सहारा हो। आप की अमृतमयी वाणी मोह-शत्रु का विनाश करेगी। आप धर्म- तीर्थरूपी जलपोत के द्वारा भव्य जीवों को संसार-समुद्र से पार उतारोगे। हे नाथ! आपकी वचनरूपी किरणें जीवों के मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकार का सर्वथा विनाश करेंगी, इसमें सन्देह नहीं। हे स्वामिन्! आप केवल मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से ही नहीं उत्पन्न हुए हैं, आप का उद्देश्य मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले जीवों को मार्ग दिखलाना भी है। आप सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की वर्षा करते हुए सत्पुरुषों को निर्मल बनायेंगे। आपका जन्मधारण करना सर्वथा स्तुत्य है।

हे महाभाग! मोक्षरूपी स्त्री आप में आसक्त हो रही है। भव्य जीव तो आपकी प्रतीक्षा करते ही हैं। वे बड़े प्रेम एवं भक्ति के साथ आप की चरण-सेवा के लिए सन्नद्ध हैं। वे आप को मोहरूपी महायुद्ध के विजेता, शरण में आये हुए के रक्षक, कर्मरूपी शत्रुओं के विनाशक एवं मोक्ष-मार्ग प्रशस्त करनेवाला मानते हैं। हे प्रभो! वस्तुतः आज हम आपका जन्माभिषेक कर अत्यन्त कृतार्थ हो गये हैं एवं आप का गुणानुवाद करने से हमारा मन अत्यन्त निर्मल हो गया है।

हे गुणों के अपार सागर! आपकी स्तुति करने से हमारा जन्म सफल हो गया एवं आपकी देह-सेवा से हमारा शरीर भी सफल हुआ। जिस प्रकार खान से निकलने वाले रत्न का संशोधन करने पर उसमें और अधिक चमक आने लगती है, ठीक उसी प्रकार आप स्नान आदि से बहुत सुशोभित हो रहे हैं। हे नाथ! आप समस्त संसार के नाथ हैं एवं आप बिना किसी कारण के ही लोक-हित-चिन्तक हैं। परमानंद प्रदान करने वाले हे विभो! आप को शत शत प्रणाम है। तीनों ज्ञानरूपी नेत्रों के धारक आप को बारम्बार प्रणाम है।

धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक हे भगवन्! उत्तम गुणों के सागर एवं मल-स्वेद आदि से रहित शरीर धारण करने वाले आपको प्रणाम है। हे देव! निर्वाण का मार्ग दिखलाने वाले, कर्मरूपी शत्रुओं के संहारक, पंचेन्द्रियों के मोह को परास्त करनेवाले, पंच-कल्याणकों के भागी, स्वभाव से निर्मल, स्वर्ग-मोक्ष प्रदान करनेवाले, अनन्त महिमा से मण्डित, बिना स्वार्थ के समस्त संसारी जीवों का हित करनेवाले, मोक्षरूपी भार्या के स्वामी, संसार का अन्धकार नष्ट करनेवाले, तीनों जगत् के स्वामी एवं सत्पुरुषों के गुरु, आप को करबद्ध प्रणाम है।

हे देव, मैं आपकी स्तुति इसलिये नहीं करता कि मुझे तीनों जगत् की सम्पदा प्राप्त हो, बल्कि मुझे ऐसी सम्पदा प्रदान करो, जिससे मोक्ष का मार्ग सुलभ हो। वस्तुतः इस संसार में आप के सदृश अन्य कोई दाता नहीं है।' इस प्रकार श्री महावीर स्वामी की स्तुति कर सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए उनके दो नाम रख दिये– कर्म-शत्रु पर विजय प्राप्त करने के कारण "श्रीमहावीर"[1] एवं सद्गुणों की वृद्धि होने से 'वर्द्धमान'। इस प्रकार भगवान का नामकरण कर इन्द्र ने देवों के साथ उनको ऐरावत गजराज पर बिठा कर कुण्डलपुर की ओर प्रस्थान किया।

---

१. महावीर पुराण में इंद्र द्वारा 'श्रीमहावीर' नाम आया है। किंतु उत्तरपुराण में 'वीर' नाम आया है।

कुंडलपुर में जन्म महोत्सव

उस समय सारा नगर देव-देवियों से भर गया था। तत्पश्चात् इन्द्र ने थोड़े से देवों को साथ लेकर राजभवन में प्रवेश किया। वहाँ अत्यन्त रमणीक महल के आँगन में रत्नों के सिंहासन पर शिशु-भगवान को विराजमान किया। अपने बन्धु-बान्धवों के साथ महाराज सिद्धार्थ अनुपम गुण-कांतियुक्त पुत्र को देखने लगे।

इन्द्राणी ने जाकर मायामयी निद्रा में लीन महारानी को जगाया। उन्होंने बड़े प्रेम से आभूषणों से युक्त अपूर्व कान्तिवाले पुत्र को देखा। इन्द्राणी सहित इन्द्र को देखकर जगत्-पिता की माता को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने समझ लिया कि आज हमारा मनोरथ सिद्ध हो गया। इसके पश्चात् ही सब देवों ने मिल कर माता-पिता को वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर उनकी विधिवत् पूजा की। इन्द्र ने बड़ी श्रद्धा के साथ माता-पिता की स्तुति की। उसने कहा–'आप दोनों संसार में धन्य हो, आप श्रेष्ठ पुण्यवान एवं चराचर में प्रधान हो।'

आप विश्व के सम्मान एवं विश्व के माता-पिता हो। तीनों लोक के पिता को उत्पन्न करने के कारण आज आपकी मान्यता सारे संसार में है। आपकी कीर्ति अक्षुण्ण है, क्योंकि भविष्य में सबका उपकार एवं कल्याण होने में आप दोनों सहभागी हो। आज से आपका यह गृह चैत्यालय मंदिर के सदृश हो गया है एवं गुरु (तीर्थंकर) के सम्बन्ध से आप हमारे पूज्य एवं मान्य हो'। इस प्रकार इन्द्र ने माता-पिता की स्तुति कर एवं भगवान को उन्हें सौंप कर सुमेरु पर्वत पर अभिषेक महोत्सव का पूर्ण विवरण सुनाया। वे दोनों ही जन्माभिषेक का विवरण सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उनके आनन्द की सीमा न रही।

इन्द्र की सम्मति से उन दोनों (माता-पिता) ने बन्धुवर्ग के साथ भगवान का जन्मोत्सव सम्पन्न किया। सर्वप्रथम श्री जिन-मन्दिर में भगवान की अष्ट द्रव्यों से पूजा की गई। इसके पश्चात् ही बन्धुओं एवं दास-दासियों को अनेक प्रकार के दान दिये गये। बन्दी[1] एवं दीन अनाथों को भी उनकी योग्यता के अनुसार दान देकर उन्हें संतुष्ट किया गया। नगर को तोरण एवं मालाओं से खूब सजाया गया। वाद्य एवं शंख की गम्भीर ध्वनि होने लगी। ऐसे ही नृत्य-गीतादि सैकड़ों उत्सवों से वह नगर स्वर्ग जैसा प्रतीत होने लगा।

इस उत्सव से नगर की प्रजा एवं कुटुम्बीजनों को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। पुरवासी एवं नगर-निवासी जनों को प्रसन्नता प्रगट करते देख कर देवेन्द्र ने भी स्वयं प्रसन्नता प्रकट की।

---

१. राजा का गुणगान करने वाले।

उस समय इन्द्र ने प्रभु की सेवा के लिए देवियों के साथ त्रिवर्ग साधक फल का प्रदायक दिव्य नृत्य-नाटक मंचस्थ किया। इन्द्र का नृत्य आरम्भ होने पर गन्धर्व देवों ने वाद्य एवं गान आरम्भ किये। राजा सिद्धार्थ नवजात पुत्र को गोद में लेकर बैठे। आरम्भ में इन्द्र ने जन्माभिषेक सम्बन्धी दृश्य दिखलाया पुनः जिनेन्द्र के पूर्व जन्म के अवतारों को नाटक की तरह दिखलाता हुआ एवं नृत्य करता हुआ इन्द्र कल्पवृक्ष-सा प्रतीत हो रहा था। रंगभूमि के चारों ओर नृत्य करता हुआ वह इन्द्र विमान की भांति शोभायमान हुआ।

इधर इन्द्र का तांडव नृत्य चल रहा था एवं उधर देवगण भक्तिवश इन्द्र पर पुष्प-वृष्टि कर रहे थे। नृत्य के साथ अनेकों सुमधुर वाद्य बजने आरम्भ हुए। किन्नरी देवियाँ भगवान का गुणगान करने लगीं। इन्द्र अनेक रसों से मण्डित ताण्डव नृत्य कर रहा था। हजारों भुजाओं वाले इन्द्र के नृत्य से पृथ्वी चंचल हो उठी। इन्द्र कभी एक रूप एवं कभी अनेक रूप, कभी स्थूल एवं कभी सूक्ष्म रूप धारण कर लेता था। क्षणभर में समीप, क्षण भर में दूर एवं क्षणभर में ही आकाश में पहुँच जाता था। इस प्रकार वह नृत्य-नाट्य बड़ा ही मनोरंजक एवं प्रभावोत्पादक हुआ। साथ-साथ देवांगनाओं के नृत्य भी बड़े आकर्षक हुए। वे बड़ी लय के साथ गातीं एवं हाव-भाव के साथ नृत्य करती थीं। उनमें से कई तो ऐरावत गजराज के ऊपर विराजमान इन्द्र की भुजाओं में से निकलती हुई एवं पुनः प्रवेश करती हुई कल्पबेलि के समान प्रतीत होती थीं। अनेक अप्सरायें इन्द्र की हस्तांगुलि पर अपनी नाभिरख कर नृत्य करने लगीं। इन्द्र की प्रत्येक भुजा पर नृत्य करती हुई अनेक अप्सरायें सबको प्रसन्न करने लगीं।

अप्सरायें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का नृत्य करती थीं। इस प्रकार नृत्य में सम्मिलित इन्द्र चतुर ऐन्द्रजालिक (पक्का जादूगर) मालूम होता था। इन्द्र की सारी कलायें उन नर्तकी देवियों में बँट गयीं। विक्रिया ऋद्धि से नृत्य करता हुआ इन्द्र भगवान के माता-पिता आदि सभी दर्शकों को मंत्र-मुग्ध करने लगा।

तत्पश्चात् श्री जिनेन्द्र देव की सेवा के लिए अनेक देवियों को तथा असुर कुमार देवों को वहाँ रखकर इन्द्र शेष देवों के साथ बड़ी प्रसन्नतापूर्वक स्वर्ग में चला गया। इस प्रकार पुण्य के फलस्वरूप तीर्थंकर स्वामी सम्पूर्ण सम्पदाओं से पूर्ण हुए। अतएव भव्यजनों को चाहिये कि वे सर्वदा धर्म का पालन करते रहें।

बाल्यकाल की विशेषतायें

एक बार 'संजय' और 'विजय' नामक दो चारण मुनियों को किसी पदार्थ में संदेह हुआ, भगवान् के जन्म के बाद ही वे उनके समीप आये और प्रभु के दर्शन मात्र से ही उनका संदेह दूर हो गया। इसलिए उन्होंने बड़ी भक्ति से बालक का 'सन्मति' यह नाम रखा। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर प्रतिदिन भगवान् के समय, आयु और इच्छा के अनुसार स्वर्ग से भोगोपभोग की वस्तुओं को लाया करता था। अर्थात् भगवान के भोजन, आभूषण आदि स्वर्ग से ही आते थे।

पूर्व के अध्याय में बतलाया जा चुका है कि भगवान की सेवा के लिए सौधर्म इन्द्र अनेक देव-देवियों को राजमहल में नियुक्त कर गये थे। उनमें से कोई धाय का काम करती, कोई वस्त्र-आभूषण आदि से उनके अंगों को सजाती, कोई अनेक प्रकार के खिलौने आदि के द्वारा उनका विशेष मनोरंजन करती थी। जब वे देवियाँ उन्हें सम्बोधन कर बुलातीं, तो भगवान मुस्कुराते हुए उनके पास चले जाते थे। तीर्थंकर भगवान चन्द्रकला की भाँति बढ़ने लगे। उनकी बाल-सुलभ चपलता से माता-पिता को बड़ा ही आनन्द होता था।

जब उनकी अवस्था कुछ अधिक बढ़ी, तो उनके मुख से सरस्वती की भाँति वाणी निकलने लगी। रत्नजटित भूमि पर चलते हुए उनके आभूषण सूर्य की किरणों की तरह दमदमाते थे एवं वे स्वयं किरणों से परिवेष्टित सूर्य-से प्रतीत होते थे। उनकी क्रीड़ा के लिए देव स्वयं गजराज, अश्व आदि का कृत्रिम रूप ले लिया करते थे। वे उनके साथ क्रीड़ा किया करते थे। इस प्रकार विभिन्न क्रीड़ाओं से स्वयं प्रसन्न हो कर दूसरों को प्रसन्न करते हुए वे भगवान कुमार अवस्था को प्राप्त हुए। पूर्व में उनका जो क्षायिक सम्यक्त्व था, उससे उन्हें समग्र पदार्थों का ज्ञान स्वतः हो गया।

उस समय प्रभु के दिव्य शरीर में स्वाभाविक मति-श्रुति-अवधि आदि ज्ञान वृद्धि को प्राप्त हुए। उन्हें समस्त कलायें एवं विद्यायें स्वतः प्राप्त हो गयीं। इसलिए वे प्रभु मनुष्यों तथा देवों के लिए गुरु सदृश हो गये, पर उनका कोई गुरु नहीं था। ठीक आठवें वर्ष में भगवान ने बारह व्रतों को ग्रहण किया। प्रभु का शरीर स्वेद-रहित कान्तिवान एवं मल-मूत्रादि से रहित स्वर्ण सदृश था। श्वेत रुधिरयुक्त एवं महान सुगन्धित आठ शुभ लक्षणों से वे शोभायमान थे। आगे चलकर भगवान वज्रवृषभ-नाराच-संहनन एवं समचतुरस्र संस्थान वाले उत्तम रूपयुक्त एवं विशालकाय बलवान पुरुष हुए।

संगमदेव द्वारा बालक वर्द्धमान की परीक्षा

वे सबके हितकारक एवं कर्णमधुर शब्दों का उच्चारण करते थे। इस प्रकार जन्मकाल से ही दिव्य दश अतिशयों से युक्त, धीरज आदि अपरिमित गुण, कीर्ति-कला-विज्ञान आदि सभी से वे सुशोभित थे। उनके शरीर का वर्ण तपाये हुए स्वर्ण के वर्ण जैसा था। वे दिव्य देह के धारक धर्म की प्रतिमूर्ति के सदृश जगत् के धर्मगुरु थे।

एक दिन की घटना है– इन्द्र की सभा में देवों ने भगवान की दिव्य कथा पर चर्चा की। वे कहने लगे– 'देखो, वीर जिनेश्वर तो कुमार अवस्था में ही धीर-वीरों में अग्रणी, अतुल पराक्रमी, दिव्य रूपधारी एवं अनेक गुणों के धारी सांसारिक क्षेत्र में क्रीड़ा करते हुए कितने मनोज्ञ प्रतीत होते हैं।' उसी स्थान पर संगम नाम का एक देव बैठा हुआ था। देवों की बातें सुनकर भगवान की परीक्षा लेने के लिए वह स्वर्ग से चल पड़ा। वह उस वन में आया, जहाँ प्रभु अन्य राजपुत्रों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। उस देव ने प्रभु को डराने के उद्देश्य से काले सर्प का विकराल रूप बनाया। वह एक वृक्ष की जड़ से लेकर स्कन्ध तक लिपट गया। उस सर्प के भय से अन्यान्य राजकुमार वृक्ष से कूद कर घबराये हुए दूर भाग गये।

किन्तु कुमार महावीर जरा भी भयभीत नहीं हुए। वे उस विकराल सर्प के ऊपर आरूढ़ होकर क्रीड़ा करने लगे। ऐसा मालूम हो रहा था, मानो वे माता की गोद में ही क्रीड़ा कर रहे हों। कुमार का धैर्य देख कर सर्परूपी देव बड़ा चकित हुआ। वह प्रगट होकर प्रभु की स्तुति करने लगा। उसने बड़े नम्र शब्दों में कहा– 'हे देव! आप संसार के स्वामी हो, आप महान धीर-वीर हो, आप कर्मरूपी शत्रु के विनाशक तथा समग्र जीवों के रक्षक हो।'

वह कहने लगा– 'हे देव! आपके अतुल पराक्रम से प्रगट हुई कीर्ति स्वच्छ चांदनी के सदृश लोक के कण-कण में विस्तृत हो रही है। आपका नाम स्मरण करने मात्र से ही प्रयोजनों को सिद्ध करानेवाला धैर्य प्राप्त होता है। अत्यन्त दिव्य मूर्तिवाली सिद्धि-वधू के स्वामी श्री महावीर मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ।' इस प्रकार वह देव भगवान की स्तुति कर उनका 'महावीर' नाम सार्थक करता हुआ स्वर्ग को चला गया।[1] कुमार ने भी अपने यशगान को बड़े ध्यान से सुना। देव की स्तुति बड़ी ही कर्णप्रिय तथा भगवान के यश को संसार में विस्तृत करनेवाली थी।

इस प्रकार भगवान श्री महावीर स्वामी का गुणानुवाद बारम्बार हुआ करता था। वे

---

१. महावीर पुराण के आधार से।

भगवान किन्नरी देवियों द्वारा गाये गये अनेक गुणानुवाद को बड़े ध्यानपूर्वक सुना करते थे। कभी नेत्रों को तृप्त करने वाले स्वर्ग की अप्सराओं के नृत्य तथा विभिन्न प्रकार के नाटक देखते थे, तो कभी स्वर्ग से प्राप्त आभूषण-वस्त्र-माला आदि अन्य को दिखाकर प्रसन्न होते थे। अन्य देव कुमारों के साथ कभी जल-क्रीड़ा तथा कभी अपनी इच्छा से वन-क्रीड़ा करते थे। इस प्रकार क्रीड़ा में संलग्न धर्मात्मा कुमार का समय बड़े सुख से व्यतीत होने लगा।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र भी अपनी कल्याण-कामना के लिए देवियों से अनेक प्रकार के नृत्य-गीत करवाने लगा। काव्य आदि की गोष्ठी तथा धर्म-चर्चा में समय व्यतीत करते हुए कुमार ने संसार को सुखी करने वाली यौवनावस्था को प्राप्त किया। कुमार के मस्तक का मुकुट धर्म-रूपी पर्वत के शिखर की भाँति शोभायमान हो रहा था। इनके कपोल तथा मस्तक की कान्ति ऐसी मालूम पड़ती थी, मानो पूर्णिमा के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना ही हो। प्रभु की सुन्दर भौंहों से शोभित कमल-नेत्रों का वर्णन भला यह तुच्छ लेखनी क्या कर सकती थी, जिसके खुलने-मात्र से संसार के प्राणी तृप्त हो जाते थे।

प्रभु के कानों के कुण्डल बड़े ही भव्य दीखते थे। वे ऐसे शोभायमान होते थे, मानो ज्योतिष्क चक्र से घिरे हुए हों। भला प्रभु के मुखरूपी चन्द्रमा का क्या वर्णन किया जा सकता है, जिसके द्वारा संसार का हित करनेवाली ध्वनि निकलती है। प्रभु की नासिका-ओष्ठ-दन्त एवं कण्ठ की स्वाभाविक सुन्दरता जैसी थी, उसे बतलाने की शक्ति किसी में नहीं है। उनका विस्तृत वक्षस्थल रत्नों के हार से ऐसा सुसज्जित होता था, मानो लक्ष्मी का निवास ही हो।

अनेक प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित उनकी भुजायें ठीक कल्पवृक्ष के सदृश प्रतीत होती थीं। अंगुलियों के दशों नख अपनी किरणों से ऐसे प्रतिभासित हो रहे थे, मानो वे धर्म के दश अंग ही हों। उनकी गहरी नाभि सरस्वती एवं लक्ष्मी की क्रीड़ास्थली (सरोवर) जैसी प्रतीत होती थी। प्रभु के वस्त्र-पट की करधनी ऐसी मालूम होती थी, जैसे वह कामदेव को बांधने के लिए नाग-पाश ही हो।

प्रभु के दोनों जानु विस्तीर्ण एवं पुष्ट थे। यद्यपि वे कोमल थे, फिर भी व्युत्सर्गादि तप करने में उनकी समानता नहीं की जा सकती थी। भला प्रभु के ऐसे चरणकमलों की तुलना किससे की जा सकती है, जिनकी सेवा इन्द्र-धरणेन्द्र आदि सभी देव किया करते हैं। इस प्रकार शिखा से नख तक प्रभु के अंग-प्रत्यंग की शोभा अपूर्व थी। उसका वर्णन करना असाध्य है, मानो ब्रह्मा अथवा कर्म ने तीन जगत् में रहनेवाले दिव्य प्रकाशमान, पवित्र एवं सुगन्धित परमाणुओं से प्रभु का अद्वितीय शरीर बनाया था। उस शरीर का पहिला गुण

वज्र-वृषभ-नाराच-संहनन था।

प्रभु के शरीर में मद, स्वेद, दोष, रागादिक तथा वातादिक तीन दोषों से उत्पन्न रोग किसी समय भी नहीं होते थे। उनकी वाणी समस्त संसार को प्रिय थी। वह सबको सत्य एवं शुभ मार्ग दिखलानेवाली धर्ममाता के समान थी, दूसरे खोटे मार्ग को व्यक्त करनेवाली नहीं थी। दिव्य शरीर को पाकर वे प्रभु ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसे धर्मात्माओं को पाकर धर्मादि गुण सुशोभित होते हैं। भगवान के लक्षण ये हैं–

श्रीवृक्ष, शंख, पद्म, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, श्वेत छत्र, ध्वजा, सिंहासन, दो मछलियाँ, दो घड़े, समुद्र, कछुआ, चक्र, तालाब, विमान, नाग-भवन, पुरुष-स्त्री का जोड़ा, बड़ा भारी सिंह, तोमर, गंगा, इन्द्र, सुमेरु, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, घोड़ा, बींजना, मृदंग, सर्प, माला, वीणा, बांसुरी, रेशमी वस्त्र, दैदीप्यमान कुंडल, विचित्र आभूषण, फल सहित बगीचा, पके हुए अनाजवाला खेत, हीरा रत्न, बड़ा दीपक, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, सुवर्ण कमलबेल, चूड़ारत्न, महानिधि, गाय, बैल, जामुन का वृक्ष, पक्षिराज, सिद्धार्थ वृक्ष, महल, नक्षत्र, ग्रह, प्रातिहार्य आदि दिव्य एक सौ आठ लक्षणों से तथा नौ सौ सर्वश्रेष्ठ व्यंजनों से, विचित्र आभूषणों से एवं मालाओं से प्रभु का स्वभाव-सुन्दर, दिव्य, औदारिक शरीर अत्यन्त सुशोभित हुआ।

विशेष वर्णन ही क्या किया जाय? संसार में जितनी भी शुभ-लक्षणरूप सम्पदा एवं प्रिय वचन-विवेकादि गुण हैं, वे सब पुण्य कर्मों के उदय से तीर्थंकर भगवान में स्वतः ही समाविष्ट थे। अधिष्ठित स्वामी सदा उनकी सेवा में रत रहते थे। वे महावीर कुमार धर्म की सिद्धि के लिए मन-वचन-काय की शुद्धि से अतिचार रहित भक्तिपूर्वक गृहस्थों के बारह व्रतों का पालन करते थे। वे सर्वदा शुभ-ध्यान की ओर विचार किया करते थे। पुण्य के शुभोदय से प्राप्त हुए सुखों का उपभोग करते हुए वे कुमार आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे।

भगवान का वैराग्य

विश्वपति, मन्दरागी उन महाप्रभु ने तीस वर्ष का समय मानो क्षणभर में ही व्यतीत कर दिया। एक बार अच्छे होनहार के कारण चारित्र-मोह-कर्म के क्षयोपशम से उन्हें स्वतः अपने पूर्व के करोड़ों जन्मों का संसार-भ्रमण ज्ञात हो गया। वे इस प्रकार की पूर्व-घटित घटनाओं पर विचार कर बड़े ही क्षुब्ध हुए। उन्हें तत्काल ही वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे विचार करने लगे कि मोहरूपी महान शत्रु का सर्वनाश करने के लिए रत्नत्रयरूप तप का पालन ही श्रेयस्कर है। उन्होंने सोचा–चारित्र के अभाव में मेरा इतने दिन का समय व्यर्थ ही व्यतीत हो गया, जो

अब लौट नहीं सकता। पूर्वकाल में ऋषभादि जितने भी तीर्थंकर हो गये हैं, उनकी आयु पर्याप्त दीर्घ थी, इसलिये वे सब कुछ कर सकने में समर्थ हुए थे, पर हम सरीखे थोड़ी-सी आयुवाले मनुष्य सांसारिक कार्य कुछ भी नहीं कर सकते। वे श्री नेमिनाथादि तीर्थंकर धन्य हैं, जिन्होंने अपने जीवन की अवधि थोड़ी-सी समझकर अल्पायु में ही मोक्ष के उद्देश्य से तपोवन की ओर प्रस्थान किया था अतः संसार हित चाहनेवाले थोड़ी आयुवाले व्यक्तियों को एक क्षण भी संयम के बिना व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए।

वस्तुतः वे बड़े अज्ञानी हैं, जो थोड़ी आयु पाकर भी तपस्या के बिना अपने अमूल्य समय को नष्ट कर देते हैं। वे यहाँ तो दुःख भोगते ही हैं एवं नरकादि में यातनायें भी। मैं ज्ञानी होते हुए भी संयम के अभाव में एक अज्ञानी की भांति भटक रहा हूँ। अब गृहस्थाश्रम में रहकर समय व्यतीत करना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। वे तीनों ज्ञान ही किस काम के, जिनके द्वारा आत्मा को एवं कर्मों को अलग-अलग न किया जाय तथा मोक्षरूपी लक्ष्मी की उपासना न की जाय? ज्ञान प्राप्त करने का उत्तम फल उन्हीं महापुरुषों को प्राप्त है, जो निष्पाप तप का आचरण करते रहते हैं। दूसरों का ज्ञान तप के बिना नितान्त निष्फल है।

उस व्यक्ति के नेत्र निष्फल हैं, जो नेत्र होते हुए भी अन्धकूप में गिरता है। वही दशा ज्ञानी पुरुषों की है जो ज्ञान होते हुए भी मोहरूपी कूप में गिरे रहते हैं। वस्तुतः अज्ञान (अनजान) में किये गये पाप से छुटकारा तो ज्ञान प्राप्त होने पर मिल भी जाता है, पर ज्ञानी (जानकार) का पाप से मुक्त होना बड़ा ही दुष्कर होता है। अतएव ज्ञानी पुरुषों को मोहादि निंद्य कर्मों के द्वारा किसी प्रकार पाप का बंध नहीं करना चाहिये। इसका कारण यह है कि मोह से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं एवं राग-द्वेष से घोर पाप होता है। उस पाप के फलस्वरूप जीव को बहुत दिनों तक दुर्गतियों में भटकना पड़ता है। वह भटकना भी साधारण नहीं, अनन्तकाल तक का, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

ऐसा समझ कर ज्ञानियों को चाहिये कि वे मोहरूपी शत्रु को वैराग्यरूपी खड्ग से मार दें। कारण, यह मोह ही सारे अनर्थों की जड़ है, पर यह स्मरण रहे कि यह मोह गृहस्थों द्वारा नहीं छोड़ा जा सकता इसलिये पाप के बन्धन गृह को तो त्यागना ही पड़ेगा। गृह-बन्धन बाल्यावस्था में तथा यौवनावस्था में सारे अनर्थ उत्पन्न करता रहता है। अतः धीर-वीर पुरुष मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्य से गृह-बन्धन का सर्वथा परित्याग कर देते हैं। वे संसार में पूज्य एवं महापुरुष हैं, जो यौवनावस्था में दुर्जेय कामदेव को भी परास्त करने में समर्थ होते हैं।

यौवनावस्थारूपी राजा ने कामदेव को पंचेन्द्रिय आदि चारों काय के जीवों के जीवन को

विकृत करने के लिए भेजा है; पर जब यौवन की अवस्था मन्द हो जाती है, तब उसके साथ बुढ़ापेरूपी फन्दे में बंधे हुए वे कामदेवादि भी ढीले पड़ जाते हैं। अतएव यह उचित होगा कि मैं यौवनावस्था में ही उग्र तप आरम्भ कर दूँ, जिससे कामदेव एवं पंचेन्द्रिय विषयरूपी शत्रुओं का सर्वनाश हो। इस प्रकार की चिन्ता कर वे महाबुद्धिमान महावीर प्रभु अपने चित्त को निर्मल कर राज्य-भोगादि से विरक्त हुए एवं मोक्ष-साधन में संलग्न हो गये।

दीक्षा कल्याणक

वीर भगवान को वैराग्य उत्पन्न होने के पश्चात् आठों लौकान्तिक देवों ने अपने अवधिज्ञान से यह निश्चय कर लिया कि भगवान के तप-कल्याणक का उत्सव मनाना चाहिये। तत्पश्चात् वे भगवान श्रीमहावीर के पास आये। उन देवों ने अपने पूर्व जन्म में द्वादशांग श्रुत का अभ्यास किया था तथा वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन किया था। चौदह श्रुत के जाननेवाले, देवों में श्रेष्ठ वे देवर्षि कहलाते थे।

कर्मरूपी बैरियों को नाश करने में जो प्रयत्नशील हैं, ऐसे वीर भगवान को प्रणाम कर तथा स्वर्ग से लाये हुए पवित्र द्रव्यों से भगवान की पूजन कर वैराग्यमय परिणाम हो जाय, ऐसी वैराग्यमयी स्तुति के द्वारा वे विद्वान लौकान्तिक देव भगवान का गुणगान करने लगे।

हे वीर प्रभु! आप जगत् के स्वामी हैं, गुरुओं के श्रेष्ठ महान गुरु हैं, ज्ञानियों में श्रेष्ठ ज्ञानी हैं, समझदारों में आप सर्वश्रेष्ठ समझदार हैं। आपको हम विशेष क्या समझा सकते हैं? इसलिये स्वयंबुद्ध तथा सर्व पदार्थों के ज्ञाता आपको हम क्या समझावें? क्योंकि आप स्वयं हमको सद्बुद्धि देनेवाले हैं। जिस प्रकार प्रकाशमान दीपक समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी तरह आप भी संसार के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करेंगे। परन्तु हे भगवन्! हमें सन्तोष होता है कि हम आपको समझाने के बहाने से आपके दर्शन एवं आपकी भक्ति करने को यहाँ आने का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं। आप तो तीन ज्ञान के धारी हैं, आपको भला शिक्षा कौन दे सकता है? क्या सूर्य का दर्शन करने के लिए दीपक की आवश्यकता होती है? कदापि नहीं। हे देव! बलवान मोहरूपी शत्रु को जीतने के लिए आपने जो उद्यम किया है, उसे देख कर संसार-समुद्र पार होने की इच्छा रखने वाले अनेक भव्य आत्माओं का महान हित होगा। आप जैसे दुर्लभ जलपोत को पाकर असंख्यात भव्य जीव विकट संसार-सागर से पार हो सकेंगे। कितने ही भव्य जीव आपके पवित्र उपदेश से रत्नत्रय को अंगीकार कर उसके द्वारा 'सर्वार्थसिद्धि' जैसे स्थान में गमन करेंगे। कितने ही प्राणी आपकी वाणी को सुनकर मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकार का निवारण कर सब पदार्थों के साथ-ही-साथ मोक्ष-लक्ष्मी को भी

देखेंगे। हे प्रभु! आप से बुद्धिमानों को मनचाहे इष्ट पदार्थों की सिद्धि होगी। हे देव! आपके प्रसाद से ही स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी।

हे दीनानाथ! मोहरूपी फन्दे में फंसे हुए भव्य प्राणियों को आप ही लगातार सहारा देंगे, क्योंकि आप ही तीर्थ को चलानेवाले धर्म-प्रवर्तक हैं। आपके वचनरूपी मेघ से वैराग्यरूपी अपूर्व वज्र को पाकर असंख्यात बुद्धिमान बहुत ऊँचे मोहरूपी शिखर को बात-की-बात में खण्ड-खण्ड कर देंगे। आपके उपदेश से पापी प्राणी अपने पापों को एवं कामी व्यक्ति काम-शत्रु को शीघ्र ही परास्त कर डालेंगे, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है। हे स्वामी! यह भी निश्चय है कि बहुत से प्राणी आपके चरण-कमलों के सेवन से दर्शन-विशुद्ध्यादि सोलह भावनाओं को स्वीकार करके आप ही के समान महान हो जायेंगे।

हे प्रभो! संसार से बैर करनेवाले, वैराग्यरूपी अस्त्र को रखने वाले आपके अवलोकनमात्र से मोह एवं इन्द्रियरूपी शत्रु अपनी जीवन-लीला समाप्त होने के भय से कांप रहे हैं क्योंकि हे दीनबन्धु! आप बलवान सुभट हैं, दुर्जय परीषहरूपी वीरों को क्षण-मात्र में जीतने की सामर्थ्य रखते हैं। इसलिये हे वीर प्रभो! आप मोह एवं इन्द्रियरूपी बैरियों को जीतने में तथा भव्यात्माओं का उपकार करने के लिए चारों घातिया कर्मरूपी शत्रुओं के नाश करने का शीघ्र उपाय करें, क्योंकि अब यह उत्तम समय तपस्या करने के लिए एवं भव्यों को मोक्ष में ले जाने के लिए आपके हाथ में आया है।

हे वीर प्रभु! आपको प्रणाम है, आप जगत्-हितैषी हैं, आप ही मोक्षरूपी रमणी की प्राप्ति के लिए उद्योगी हैं, इसलिये आपको हम पुनः प्रणाम करते हैं। अपने ही शरीर के भोगों के सुख में इच्छारहित हैं, इसलिये भी आपको प्रणाम है। मोक्षरूपी स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा रखते हैं, इसलिये आपको प्रणाम है। महान पराक्रमी, बाल ब्रह्मचारी, राज्यलक्ष्मी के त्यागी, अविनाशी लक्ष्मी में लीन आपको प्रणाम है। योगियों के भी आप महान गुरु हैं, इसलिये आपको प्रणाम है। सब जीवों के परम बन्धु हैं, सर्वज्ञ हैं, इसलिये पुनः आपको प्रणाम है।

"हे महान प्रभु! इस स्तुति द्वारा हम यही प्रार्थना करते हैं कि परलोक में चारित्र की सिद्धि के लिए आप हमें पूरी शक्ति दें। हे वीर प्रभु! वह शक्ति मोहरूपी शत्रु का नाश करनेवाली है।" इस प्रकार जगत्पूज्य श्रीवीर भगवान की स्तुति एवं अनेक प्रार्थनाएँ करके वे लौकान्तिक देव अपने-अपने स्थान को चले गये।

उसी समय समस्त देवादि सहित चारों जाति के इन्द्रों ने घण्टादि के स्वतः बजने से भगवान का संयमोत्सव समझकर भक्तिभाव से अपनी इन्द्राणियों के साथ महान विभूति से

विभूषित होकर अपनी-अपनी सवारियों पर आरूढ़ होकर नगरी में प्रवेश किया। देवों की सेना ने अपनी पत्नियों सहित, सवारियों पर चढ़े हुए नगर एवं वन को चारों ओर से घेर लिया। तत्पश्चात् इन्द्र ने भगवान महावीर स्वामी को एक सिंहासन पर बैठाकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रदर्शित करते हुए गीत, नृत्य, 'जय-जयकार' शब्दों का उच्चारण करते हुए क्षीर-सागर से भरे हुए एक हजार आठ स्वर्ण के कलशों से उनका अभिषेक किया। इन्द्र ने उन त्रिलोकीनाथ को दिव्य आभूषणों एवं वस्त्रों से अलंकृत किया, सुगन्धित दिव्य मालायें पहिनाईं। इस तरह इन्द्र ने भगवान को खूब सजाया। तत्पश्चात्, भगवान ने जन्म देनेवाली अपनी माता को ज्ञानामृत से सिंचित प्रभावशाली, सरल एवं मीठे शब्दों में सान्त्वना प्रदान कर, वैराग्य को उत्पन्न करनेवाले उपदेशों के सैकड़ों वाक्यों से अपनी दीक्षा की बात समझा दी। संयमरूपी लक्ष्मी के सहवास-सुख में उद्यमी वे वीर प्रभु हर्ष के साथ समस्त राज-पाट, माता-पिता एवं बन्धुओं को त्याग कर इन्द्र द्वारा लाई हुई दैदीप्यमान 'चन्द्रप्रभा' नाम की पालकी पर आरूढ़ होकर दीक्षा के लिए वन की ओर चले गये। उस समय वे जगत् के स्वामी समस्त देवों से घिरे हुए, दिव्य आभूषणों से युक्त, अत्यन्त मनोज्ञ प्रतीत होते थे।

सबसे पहिले भूमिगोचरी मनुष्यों ने पालकी को उठाया एवं सात पैंड आगे ले जाकर रख दिया। तत्पश्चात् विद्याधर आकाश-मार्ग से सात पैंड ले गये, उसके बाद धर्म से प्रेम रखनेवाले समस्त देवों ने अपना-अपना कन्धा लगाया एवं आकाश-मार्ग से चलने लगे। इस समय की शोभा का वर्णन करना इसलिये असम्भव है कि जिस पालकी को ले जानेवाले स्वयं इन्द्र एवं स्वर्ग के देवता लोग हों, उसकी अनुपम छटा का वर्णन क्या सामान्य लेखनी द्वारा हो सकता है? उस समय हर्ष से पुलकित समस्त देव पुष्पों की वर्षा कर रहे थे, वायुकुमार देव गंगाजल के कणों से युक्त मधुर पवन चला रहे थे, कुछ देव भेरी बजा रहे थे। इन्द्र की आज्ञा से उन देवों ने यह घोषणा की कि भगवान का यह समय मोहादि शत्रुओं को जीतने का है। यह सुन समस्त देवों ने हर्षित होकर प्रभु के सामने खूब उत्सव मनाया– 'जयवन्त हो', 'आनन्दयुक्त' हो, 'वृद्धि पाओ'– आदि शब्द होने लगे। दुन्दुभी वाद्यों के शब्द होने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं, किन्नरी देवियाँ मधुर शब्द में मोहरूपी शत्रु को जीतने का यश गान करने लगीं। प्रभु के आगे दिक्कुमारी देवियाँ मंगल-अर्घ लेकर चलने लगीं।

महापुराण में लिखा है-

अग्रेसरीषु लक्ष्मीषु पंकजव्यग्रपाणिषु।
संय मंबगलार्धाभि-र्दिक्कुमारीभिरादरात्[1]।।

१. आदिपुराण पर्व ६, पृ. ३८३

हाथों में कमल धारण किए हुए लक्ष्मी आदि देवियां आगे-आगे जा रही थी और बड़े आदर से मंगलद्रव्य तथा अर्घ्य लेकर दिक्कुमारी देवियां उनके साथ-साथ जा रही थीं।

इस प्रकार भगवान महावीर नगर से वन को चले गये। नगरवासियों ने प्रभु की भूरि-भूरि प्रशंसा की। कितने ही लोग यह भी कहते थे कि अभी जिनराज कुमार ही हैं, फिर भी थोड़ी-सी उम्र में इन्होंने कामरूपी शत्रु को पराजित कर बड़ा भारी उच्च कोटि का काम किया है एवं आज मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए तपोवन को चले जा रहे हैं।

इस तरह के वाक्य सुन कर अन्य लोग भी इसी तरह कहने लगे कि मोह को तथा कामदेव-रूपी शत्रु को प्रभु ने ही जीत पाया है, दूसरे में यह सामर्थ्य नहीं है। उसके पश्चात् सूक्ष्म विचारवाले इस तरह कहने लगे कि यह सब वैराग्य का ही माहात्म्य है, जो अन्तरंग शत्रुओं का नाश करनेवाला है। वैराग्य के प्रभाव से पंचेन्द्रियरूपी चोरों को मारने के लिए स्वर्ग के भोग, तीन लोक की सम्पदायें त्याग दी जाती हैं, क्योंकि जिसके हृदय में पूर्ण वैराग्य का स्रोत बहता हो, वही चक्रवर्ती की विभूति को क्षण-भर में त्याग सकता है। दरिद्र मनुष्य अपनी कच्ची झोपड़ी को भी छोड़ने में समर्थ नहीं है। कुछ मनुष्य यह भी कहते सुने गये कि यह बात सत्य है कि वैराग्य के बिना मन पवित्र नहीं हो सकता। इस तरह की बातचीत करते हुए बहुत-से नगर-निवासी इस कौतुक को देखने के लिए वन में जा पहुँचे। किन्तु भगवान के दर्शन होते ही उनका मस्तक स्वयं झुक गया। इस प्रकार वे त्रिलोकीनाथ नगर के बाहर जा पहुँचे।

जब माता ने भगवान के वन-गमन का संवाद सुना, तो पुत्र-वियोग में वे मूर्च्छित होकर कोमल बेल के समान मुरझा गईं। तत्पश्चात् इस शोक को क्रमशः सहन करती हुई अनेक पुरजनों एवं बंधुओं के साथ उनके पीछे-पीछे चली गईं। जाती हुई माता विलाप करती थीं– 'हे पुत्र! तू तो मुक्ति से प्रेम लगा कर तपस्या करने चला, पर मुझे तेरे बिना कैसे चैन मिलेगा? किस तरह जीवन व्यतीत करूँगी? इस छोटी-सी अवस्था में तू तपस्या के महान उपसर्गों को किस प्रकार सहन करेगा? हे पुत्र! शीत-काल की कँपकँपाती पवन में जब तू दिगम्बर भेष में वन में विचरेगा, तब कैसे उस शीत को सहन करेगा? ग्रीष्म-काल की ज्वालाओं से समस्त वन जल जाता है, उस ज्वाला को कैसे सहेगा? श्रावण-भादों की काली घटाओं को देखकर अच्छे-अच्छे साहसियों के भी छक्के छूट जाते हैं–'हे बेटा! इन सब कष्टों को क्या तू सहन कर सकेगा? बस, ज्यों-ज्यों मेरा हृदय इन सब बातों को विचारता है, त्यों-त्यों मुझे अत्यधिक कष्ट होता है। हे पुत्र! अति दुर्निवार इन्द्रिय-समूहों को, त्रैलोक्य-विजयी कामदेव को एवं कषायरूपी महा शत्रुओं को धैर्यपूर्वक तू अपने वश में कैसे कर सकेगा? हे बेटा! तू बालक है

तथा अकेला है; फिर इस भयंकर वन की गुफाओं में किस प्रकार रह सकेगा? क्योंकि उन गुफाओं में नाना प्रकार के हिंसक जंगली जीव रहा करते हैं।'

इस तरह जिन-माता अत्यन्त करुण स्वर में विलाप करती हुई मार्ग में अति कष्ट से पैरों को बढ़ाती हुई चली जा रही थीं कि इतने में उनके पास प्रमुख-प्रमुख देव आये। उन्होंने सान्त्वना देते हुए कहा– 'हे महादेवी! क्या आप इन्हें नहीं पहिचानतीं? ये आपके पुत्र संसार के स्वामी एवं अनुपम शक्तिशाली जगद्गुरु हैं। आत्मवेशी संसाररूपी समुद्र में अपने-आपको विलीन कर लेने के पहिले ही ये अपना उद्धार तो कर ही लेंगे, साथ ही अन्य कितने ही भव्य जीवों का भी उद्धार कर देंगे–यह ध्रुव सत्य है। जिस तरह कि भयानक सिंह भी मजबूत रस्सी से जकड़े जाने पर सहज ही में वशवर्ती हो जाता है, उसी तरह आपके ये महान पुत्र भी मोहादि पराक्रमी शत्रुओं को तपरूपी रस्सियों से बांधकर उन्हें अपने वश में कर लेंगे। जिनके लिए संसाररूपी समुद्र का दूसरा किनारा पा लेना कतई दुर्लभ नहीं है, ऐसे सामर्थ्यशाली आपके ये पुत्र भला दीनतापूर्वक कल्याणहीन घर में कैसे रह सकेंगे? इनके ज्ञानरूपी तीन नेत्र हैं। संसार को इन्होंने सम्यक्रूपेण जान लिया है। फिर भला, वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर कोई अन्धकूप में क्यों गिरेगा? इसलिये हे महादेवी! आप इस पापरूपी शोक को त्याग दो। त्रैलोक्य को अनित्य समझकर अपने घर जाओ एवं वहीं पर धर्म-साधना में अपने मन को लगाओ। अपनी प्रिय एवं इच्छित वस्तु के वियोग-काल में ज्ञानहीन पुरुष ही शोक किया करते हैं। जो ज्ञानी एवं बुद्धिमान होते हैं, वे सदैव संसार से डरा करते हैं एवं कल्याणकारी धर्म की ही उपासना किया करते हैं।' महत्तर देव की इन बातों को सुनकर जिन-माता कुछ शान्त हो गयीं। उनके हृदय में विवेकरूपी प्रकाशमयी किरणों का प्रादुर्भाव हुआ एवं हृदय का शोकान्धकार दूर हो गया। वे अपने विशाल हृदय में पवित्र धर्म को धारण कर अपने कुटुम्बियों एवं भृत्यजनों को साथ लेकर राजमहल को वापस लौट गयीं।

इसके बाद जिनेन्द्र महावीर प्रभु पार्श्ववर्ती देवों के साथ मानव समाज का मंगल-गान आरम्भ करने के पूर्व ज्ञातृषंडवन नाम के विशाल वन में संयम धारण करने के लिए जा पहुँचे। वह वन अत्यन्त रमणीक था। वहाँ फल-पुष्पों से युक्त शीतल छायावाले सुन्दर-सुन्दर वृक्ष थे, जो अध्ययन एवं ध्यान के लिए नितान्त उपयुक्त थे। महावीर स्वामी अपनी पालकी से उतर कर 'चन्द्रकान्तमयी' एक स्वच्छ शिला पर बैठ गये। उस सुन्दर शिला की शोभा विचित्र थी। महावीर स्वामी के आने के पहिले ही देवों ने आकर उस शिला को सुरम्य बना दिया था। वह शिला गोलाकार थी। उस शिला पर विशाल वृक्षों की शीतल एवं घनी छाया पड़ रही थी।

चन्द्रकिरणों से भीगी सुरभित जल की बूदें उस शिला पर छिड़की हुई थीं। बहुमूल्य रत्नों के चूर्ण द्वारा स्वयं इन्द्राणी के हाथ से उस शिला पर साथिये बनाये हुए थे। ऊपर वस्त्र का मण्डप बना हुआ था। उसमें ध्वजा एवं रंग-बिरंगी सुन्दर मालाएँ टँगी हुई थीं। चारों ओर धूप का सुगन्धित धुँआ फैल रहा था एवं पास में अनेक मंगल द्रव्य सजाये हुए थे।

महावीर स्वामी उस सुन्दर स्वच्छ शिला पर उत्तराभिमुख होकर बैठ गये एवं मनुष्यों का कोलाहल शांत हो जाने पर देह इत्यादि की इच्छा से विरक्त एवं मुक्ति-साधन में तत्पर हो कर शत्रु-मित्रादि के प्रति उत्तम समान भाव का चिंतवन करने लगे। सर्वप्रथम उन्होंने पल्यंकासन लगा कर मोह-बन्धन में फँसानेवाले केशों का लोंच किया (केश उखाड़ डाले)। उन्होंने क्षेत्र इत्यादि चेतन एवं अचेतन रूप बाह्य दस परिग्रहों का, मिथ्यात्व इत्यादि चौदह अन्तरंग परिग्रहों का तथा वस्त्र, अलंकार एवं माला इत्यादि वस्तुओं का परित्याग कर दिया तथा मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र होकर शरीरादि में निस्पृहतापूर्वक आत्म-सुख की प्राप्ति में लग गये। बाद में जिनेश्वर महावीर स्वामी सम्पूर्ण पाप-क्रियाओं से निर्मुक्त होकर अट्ठाईस मूल-गुणों के पालन करने में तत्पर हो गये। आतापनादि योग से उत्पन्न उत्तर गुणों को एवं महाव्रत, समिति तथा गुप्ति आदि को उन्होंने धारण किया। वे सबके प्रति समता भाव को धारण करने लगे तथा सम्पूर्ण दोषों से हीन एवं सर्वश्रेष्ठ सामायिक संयम को उन्होंने स्वीकार किया। इस प्रकार उन्होंने मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी तिथि के सायंकाल, हस्त-उत्तरा नक्षत्र के मध्यवाले शुभ समय में दुष्प्राप्य जिन-दीक्षा को ग्रहण किया। यह जिन-दीक्षा मुक्तिरूपी कामिनी की सहचरी (सखी) के समान थी।

महावीर स्वामी के मस्तक में चिरकाल रहने के कारण परम पवित्र उनके केशों को स्वयं इन्द्र ने रत्न-जड़ित मंजूषा (पिटारी) में अपने हाथों से संवार कर रक्खा। फिर इन्द्र ने केशों की पूजा की, उन्हें उत्तम बहुमूल्य वस्त्रों से ढांका एवं समारोहपूर्वक क्षीर-सागर के नैसर्गिक शुद्ध जल में डाल दिया। जब केश जैसी हीन वस्तु का भी, जिनेश्वर के संसर्ग में रहने के कारण, इतना अधिक सम्मान किया जा सकता है; तब जो पुरुष साक्षात् जिनेश्वर भगवान की निरन्तर सेवा-पूजा में लगे रहते हैं, उन्हें संसार में कौन-सी ऐसी अलभ्य वस्तु है, जो नहीं मिल सकती? उनकी सेवा से सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। इस संसार में जिन भगवान के चरण कमलों के आश्रय में आ जाने से जिस प्रकार यक्षों को सम्मान प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अरहन्त प्रभु का जो लोग सहारा लेते हैं, वे चाहे नीच पुरुष ही क्यों न हों, उनकी पूजा होती है एवं उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार महावीर

स्वामी ने दिगम्बर रूप को धारण किया। जब वे दिगम्बर हो गये, तब उनका शरीर तपाये हुए स्वर्ण जैसा प्रकाशमान एवं तेजस्वी दीखने लगा मानो वह कान्ति एवं दीप्ति का स्वाभाविक तेजोमय समूह ही हो। इसके बाद परम आल्हादित इन्द्र स्वयं परमेष्ठी प्रभु (महावीर) का गुण-गौरव-गान (स्तुति) करने लगे–

हे देव! इस संसार में सर्वश्रेष्ठ परमात्मा आप हो। इस चराचर जगत् के स्वामी आप हो। आप जगद्गुरु हो, गुण-सागर हो, शत्रु-विजेता हो एवं अत्यन्त निर्मल स्वयं हो। हे प्रभो! जब आपके असंख्य एवं अनन्त गुणों का वर्णन स्वयं गणधरादि देव नहीं कर सकते, तब मैं मन्दमति कहाँ तक आपके महान गुण एवं ऐश्वर्यों का वर्णन कर सकूँगा? ऐसा सोच कर यद्यपि मेरी बुद्धि जड़ हो जाती है तथापि आपके प्रति हमारी अचल भक्ति ही आपकी स्तुति करने के लिए मुझे निरन्तर प्रोत्साहित कर रही है। हे योगीन्द्र! जिस प्रकार कि मेघ का आवरण हट जाने पर सूर्य-किरणों की स्वाभाविक छटा बिखर पड़ती है, उसी तरह आज आपके बाह्य एवं आभ्यन्तर मलों के एकदम नष्ट हो जाने के कारण, आपके निर्मल गुण समूह प्रकाशमान हो रहे हैं। हे स्वामिन्! यद्यपि आपने इन्द्रिय-विषयजन्य चंचल सुखों को क्षणस्थायी जान कर त्याग दिया है तथापि आपकी इच्छा अत्यन्त उत्कृष्ट आत्म-सुख की प्राप्ति के लिए लालायित है। अतः आपको 'निस्पृह' (इच्छाहीन) कैसे कहा जा सकता है? यद्यपि आपने स्त्री के शरीर को नितान्त हेय, घृणित एवं अस्पृश्य समझकर उस पर से अपना अनुराग (प्रेम) हटा लिया है तथापि मुक्ति-रूपी स्त्री में तो आपका अनन्य अनुराग बना हुआ है फिर आपको हम 'वीतराग' (प्रीति-रहित) भी कैसे कह सकते हैं? जिन्हें लोग 'रत्न' कहा करते हैं, यद्यपि उन पत्थरों को आपने त्याग दिया है तथापि सम्यक्दर्शन आदि रत्नत्रय को आपने धारण कर लिया है। फिर आपको त्यागी भी कैसे कहा जाये? यद्यपि आपने क्षणभंगुर राज्य-सत्ता को पाप का आश्रय जान कर छोड़ दिया है तथापि नित्य, अविनाशी एवं अनुपमेय त्रैलोक्य के विशाल साम्राज्य पर एकाधिपत्य तो आप ही स्थापित करने जा रहे हैं। फिर भला आप निस्पृह कैसे रहे? (यह निन्दा-स्तुति है।) हे जगत् के स्वामी! आपने इस संसार की चंचला लक्ष्मी का परित्याग करके लोकोत्तर सम्पत्ति (मोक्ष-लक्ष्मी) को प्राप्त करने की इच्छा की है, फिर आपको इच्छा-रहित कैसे समझा जाय? हे देव! यद्यपि आपने अपने ब्रह्मचर्यरूपी तीक्ष्ण बाण से अपने शत्रु कामदेव को परास्त कर दिया है तथापि कामदेव की स्त्री रति को आपने विधवा भी बना दिया है। फिर आप कृपालु कहाँ रहे? हे नाथ! आपने अपने ध्यान-रूपी अस्त्र से मोह-नृपति के साथ-ही-साथ अन्य सब कर्म-रूपी शत्रुओं का नाश कर डाला है। फिर आपके हृदय में

दयालुता कहाँ रही? हे प्रभो! यद्यपि आपने अपने गिने-गिनाये अल्पसंख्यक बन्धुओं का परित्याग कर दिया है तथापि अब तो स्वयं अपने गुणों के प्रभाव से सम्पूर्ण जगत् को ही अपना बन्धु बनाने जा रहे हैं, फिर आपको कैसे कोई बान्धवहीन कह सकता है? हे चतुर शिरोमणि! आपने सांसारिक भोगों को सर्प की काँचुली के समान त्याग कर शुक्लध्यानरूपी अमृत को पी लिया है फिर आपका 'प्रोषधव्रत' कैसे पूर्ण होगा।

हे स्वामिन्! आपकी इस दीक्षा को बुद्धिमानों ने आदर की दृष्टि से देखा है एवं इसने संसार के दाह को एकदम शान्त कर दिया है। आप की यह परम पवित्र महादीक्षा पुण्य-धारा के समान सदैव हम भव्य-जीवों की रक्षा करे। हे देव! मन-वचन-काय की विशुद्धतापूर्वक सम्पूर्ण जगत को पवित्र कर देने वाली दीक्षा को आपने ग्रहण किया है। इसी महादीक्षा के बल पर मोक्ष चाहनेवाले आपको प्रणाम है। आप शरीर आदि के सुख से मुख मोड़ चुके हैं, मोक्ष-मार्ग में निरन्तर अग्रसर हो रहे हैं, तप-रूपी लक्ष्मी से प्रीति करनेवाले हैं, अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहों को त्यागनेवाले हैं। आपको प्रणाम है।

हे ईश! सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत, किन्तु अन्य पार्थिव आभूषणों से हीन आपको प्रणाम है। आपने सम्पूर्ण वस्त्रों का परित्याग कर दिशा-रूपी शून्य वस्त्रों को धारण किया है, ईश्वरत्व प्राप्ति की साधना में सोत्साह प्रवृत्त हैं, अतः आपको प्रणाम है। हे जिनेश्वर! आप सकल परिग्रहों से हीन एवं गुणरूपी सम्पत्तियों से युक्त हैं, आपको मुक्ति अत्यन्त प्यारी है, इसलिये आपको प्रणाम है। हे नाथ! आप इन्द्रियातीत अक्षय सुख में चित्त को लगानेवाले विरक्त पुरुष हैं, उपवास करके शुक्लध्यानरूपी अमृत के भोक्ता हैं, आपको प्रणाम है। हे देव! आप दीक्षित होकर ज्ञान-रूपी चार नेत्रों के धारक हैं बाल- ब्रह्मचारी हैं, तीर्थेश हैं एवं स्वयंबुद्ध हैं, आपको प्रणाम है। आप कर्मरूपी शत्रुओं की सन्तति के नाशकर्त्ता हैं, गुणसागर हैं एवं उत्तम क्षमा इत्यादि शुभ-लक्षणों से युक्त हैं, आपको प्रणाम है। हे देव! आप इस संसार की सम्पूर्ण आशाओं को पूर्ण करनेवाले हैं, परन्तु हम जो आपकी स्तुति कर रहे हैं, वह संसार की उत्तम सम्पदाओं को पाने के लिए नहीं है, किन्तु जिस शक्ति के प्रभाव से बाल्यावस्था में ही आपने तप-दीक्षा ग्रहण की है, वही अतुलनीय शक्ति हमें भी प्राप्त हो। इस तरह देवों के इन्द्र ने भगवान महावीर की पूजा-स्तुति की एवं फिर करबद्ध प्रणाम करके अपार पुण्य का उपार्जन किया।

इसके बाद महावीर स्वामी ने निश्चेष्ट होकर अपने सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों का अवरोध किया एवं कर्म-रूपी शत्रुओं की नाशक योग-क्रिया का अवलम्बन लिया। उस समय वे चेष्टाशून्य,

सुन्दर पत्थर की मूर्ति के समान जान पड़ते थे। उस परमोत्तम ध्यान के प्रभाव से उन्हें चतुर्थ मनःपर्यय ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ, जो कि महावीर प्रभु के लिए केवलज्ञान प्राप्त होने का निर्देशन था। उन अनुपमेय महान गुणशाली वीरनाथ की मैं स्तुति करता हूँ एवं उन्हें करबद्ध प्रणाम करता हूँ।

भगवान का प्रथम आहार

इसके बाद महावीर स्वामी यद्यपि छः मास पर्यंत अनशन तप करने में पूर्ण योग्य थे तथापि अन्य मुनीश्वरों को चर्या-मार्ग की प्रवृत्ति दिखलाने की इच्छा से उन्होंने 'पारणा' कर लेने का निश्चय किया। यह पारणा (उपवास के बाद का आहार) शरीर की स्थिति को शक्ति प्रदान करती है। महावीर प्रभु ईर्यापथ की शुद्धि को ध्यान में रखकर विचरने लगे–'आहार-दान देनेवाला निर्धन है या धनवान? इत्यादि विकल्प न करके वे अपने चित्त में तीन प्रकार के वैराग्य का चिन्तवन करते हुए अनेक दानियों को अपनी चर्या से सन्तुष्ट करते हुए स्वयं विशुद्ध आहार की खोज में घूमने लगे। वे न तो मन्दगति से चलते थे एवं न एकदम तीव्रगति से ही। साधारण-सी चाल से पैरों को बढ़ाते हुए उन्होंने 'कूल' नाम के एक सुन्दर नगर में प्रवेश किया। उस नगर का राजा 'कूल"[1] अत्यन्त परिश्रम के बाद प्राप्त हुए प्रिय धन-कोष (खजाना) की तरह अनायास ही आये हुए जिनदेव जैसे उत्तम पात्र को देखकर परम प्रसन्न हुआ। राजा 'कूल' ने महावीर स्वामी की तीन प्रदक्षिणा दी एवं भूमि पर पाँचों अंगों को फैला कर प्रणाम किया। बाद में आनन्दोल्लास के कारण 'तिष्ठ-तिष्ठ' (ठहरिये-ठहरिये) ऐसा कहा। धर्म-बुद्धि राजा ने प्रभु को एक पवित्र एवं ऊँचे स्थान पर बैठाया एवं उनके कमल जैसे सुन्दर एवं कोमल चरणों को पवित्र जल से धोया। उन प्रभु के पाद-प्रक्षालित जल को राजा ने अपने सम्पूर्ण अंगों में लगाया। इसके बाद राजा ने जलादि आठ प्रकार के प्रासुक द्रव्यों से प्रभु की भक्तिपूर्वक पूजा की। राजा ने अपने मन में विचारा कि आज घर में सुपात्र उत्तम अतिथि के आ जाने से मेरा गार्हस्थ्य-जीवन सफल हुआ। मैं पुण्यकर्मा हूँ। इस पवित्र विवेक से राजा का मन विशेष रूप से पवित्र हो गया। 'हे देव! हे प्रभो! आज आपके आगमन से मैं धन्य हो गया, आपने मेरे घर को परम पवित्र बना दिया'–ऐसा कहने से राजा का वचन पवित्र हो गया। 'पात्रदान करने से मेरा हाथ एवं शरीर पवित्र हो गया'–ऐसा सोचने से राजा की काय-शुद्धि हो गयी। उसने कृत आदि दोषों से हीन प्रासुक अन्न से होनेवाले विमल आहार-दान से 'एषणा' को शुद्ध किया।

---

१. कहीं-कहीं वकुल नाम भी आता है।

इस प्रकार उस राजा 'कूल' ने नवधा-भक्तिपूर्वक महान पुण्य का उपार्जन किया।

'यह परम दुर्लभ उत्तम पात्र मेरे भाग्य से प्राप्त हुआ है; इसलिये मेरा यह आहार-दान सविधि एवं पूर्णरूपेण सम्पूर्ण है'–ऐसा श्रेष्ठ विचार करके वह राजा अत्यन्त श्रद्धावान बन कर अपनी शक्ति के अनुसार पात्र-दान के महान उद्योग में लग गया। उस महादान के प्रभाव से उत्पन्न अजस्त्र रत्नवृष्टि एवं कीर्ति की अभिलाषा उस राजा ने नहीं की थी। वह सेवा-पूजा इत्यादि के द्वारा प्रभु की भक्ति में लग गया एवं धर्म-सिद्धि के निमित्त वह जो अन्य कर्मों को किया करता था, उन सबको तिलांजलि दे दी। उस राजा ने सोचा कि यह प्रासुक आहार है एवं दान देने का यही श्रेष्ठ समय है। यह संयमशील पुरुष उपवासों के उन असह्य क्लेशों को धैर्यपूर्वक सहन कर लेते हैं, इसलिये इन्हें उत्तम विधि से आहार देना ही चाहिये। इस प्रकार राजा ने महान फल को देनेवाले श्रेष्ठ-दाता के उत्तम गुणों को अपने में ग्रहण किया। इसके बाद राजा ने हितकारक उत्तम पात्र को मनसा-वाचा-कर्मणा से पवित्र होकर श्रद्धा-भक्ति के साथ विधिपूर्वक खीर का आहार-दान दिया। वह विशुद्ध आहार प्रासुक एवं स्वादिष्ट था, निर्मल तप को बढ़ानेवाला था एवं क्षुधा-पिपासा को शांत करनेवाला था।

उस राजा के दान से देवता लोग बहुत प्रसन्न हुए एवं पुण्योदय के कारण राज-प्रासाद के आँगन में रत्नों की अविरल वर्षा हुई। उस रत्न-वर्षा के साथ-ही-साथ पुष्प-वृष्टि एवं जल-वृष्टि भी हुई। उसी समय आकाश-मंडल में 'दुन्दुभि' इत्यादि वाद्यों की गम्भीर तुमुल ध्वनि हुई। उन वाद्यों के मधुर स्वरों को सुनने से ऐसा जान पड़ता था, मानो वे राजा के पुण्य एवं उत्तम यश का गम्भीर स्वर में गान कर रहे हों। उसी समय देव भी 'जय-जय' इत्यादि शुभ शब्दों का उच्चारण करते हुए कहने लगे–'हे प्राणियों! यह परमोत्तम पात्र (महावीर प्रभु) दाता को इस संसार-रूपी महासमुद्र से अनायास ही पार उतार देनेवाले हैं। वह दाता निश्चय ही अत्यन्त भाग्यशाली एवं धन्य है, जिसके यहाँ जिनराज स्वयं पहुँच जायें। ऐसे उत्तम दान के प्रभाव से दाता को स्वर्ग एवं मोक्ष दोनों ही कालक्रम से प्राप्त होते हैं। इहलोक में तो आपने देखा कि उत्तम पात्र को दान देने से बहुमूल्य अपार रत्न-राशि की प्राप्ति होती है एवं विमल यश का विस्तार होता है; वैसे ही परलोक में भी स्वर्ग-सम्पदायें एवं भोग-विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, जिनके द्वारा चिरकाल तक आनन्दोपभोग किया जाता है।'

रत्न-वृष्टि के कारण राज-महल का आँगन भर गया। आँगन में पड़े हुए उन रत्नों के ढेर को देखकर बहुत-से लोग परस्पर कहने लगे कि देखो, दान का फल कैसा उत्तम होता है? नेत्रों से देखते-ही-देखते यह राज-प्रासाद बहुमूल्य रत्नों की वर्षा से भर गया। दूसरे ने कहा–

यहाँ क्या देखते हो? इस अत्यन्त सामान्य फल को ही तुम अपने नेत्रों से देख रहे हो। उत्तम पात्र-दान से तो स्वर्ग एवं मोक्ष के अक्षय सुख भी अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। इन लोगों के कथोपकथन को सुनकर एवं अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष पात्र-दान की महिमा को देखकर बहुत-से जीव स्वर्ग एवं मोक्ष की कल्पना करने लगे एवं पात्र-दान की महत्ता में विश्वास रखने लगे।

आहार-दान के समय वीतरागी तीर्थंकर महावीर ने अपने शरीर की स्थिति के विचार से अंजलिरूपी पात्र के द्वारा खीर का आहार ग्रहण किया तथा इस आहार-ग्रहण के उत्तम फल से राजा को अनुगृहीत कर एवं उसके घर को पवित्र कर पुनः वन को चले गये। राजा ने भी अपने जन्म, घर एवं धन को अप्रत्याशित पुण्योदय से प्राप्त हुआ समझा एवं इसे वे अपना अहोभाग्य समझने लगे। इस श्रेष्ठ दान का मन-वचन-काय द्वारा अनुमोदन करने के कारण अर्थात् दाता एवं पात्र की प्रशंसा करके बहुत से लोगों ने दाता के समान ही उत्तम पुण्य का उपार्जन कर लिया।

भगवान पर उपसर्ग

अतुलनीय पराक्रमी महावीर प्रभु ने सम्पूर्ण कठिन परिषहों को तथा वन के अति उग्र उपद्रवों को अपनी विलक्षण शक्ति के प्रभाव से जीत लिया तथा उत्तम ज्ञान-प्राप्ति के लिए अतिचार-रहित तथा भावना-सहित पंच महाव्रतों का पालन किया। पाँच समिति एवं तीन गुप्ति–इन आठ का वे नित्यशः पालन करते हुये इनके द्वारा कर्म-धूलि को नष्ट करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। वे महावीर प्रभु सर्वश्रेष्ठ थे, इसलिये निरालस होकर सम्पूर्ण अन्यान्य गुणों के साथ ही सारे मूलगुणों की पालना में सचेष्ट होकर किसी भी दोष को स्वप्न में भी अपने पास नहीं फटकने देते थे।

इस प्रकार के परमोज्वल चारित्रयुक्त महावीर प्रभु सम्पूर्ण पृथ्वी पर विहार करते हुए उज्जयिनी नाम की एक महानगरी के 'अतिमुक्तक' नामक श्मशान में जा पहुँचे। उस महाभयानक श्मशान में पहुँचकर महावीर प्रभु ने मोक्ष प्राप्ति के लिए शरीर का ममत्व त्याग कर 'प्रतिमायोग' धारण कर लिया तथा पर्वत के समान अचल भाव से अवस्थित हो गये। सुमेरु पर्वत के उन्नत श्रृङ्ग के समान एवं परमात्मा के ध्यान में लीन श्रीजिनेन्द्र महावीर प्रभु को देखकर उनके धैर्य की परीक्षा करने के लिए वहाँ के स्थाणु नामक अन्तिम रुद्र को उपसर्ग करने की इच्छा हुई। इसी समय पूर्वकृत कुछ कर्म का असाता उदय जिनेन्द्र के होनेवाला था। वह स्थाणु रुद्र अनेक भयंकर स्थूलकाय पिशाचों को अपने संग लेकर महावीर स्वामी के ध्यान को

भंग करने के लिये प्रस्तुत हुआ। रात्रि के समय में वह अपने बड़े-बड़े रक्तवर्ण नेत्रों को फाड़-फाड़ कर देखते हुए जिनेन्द्र प्रभु के सन्मुख आया। उस समय वह किलकारियाँ भर रहा था, नुकीले भयानक दाँतों को दिखला-दिखला कर अट्टहास कर रहा था, भगवान का ध्यान भंग करने के लिए प्रचण्ड ताल, स्वर एवं लय में गान-वाद्य कर नाच रहा था, साथ ही विशाल मुख-विवर को फाड़े हुए तथा हाथों में तीक्ष्ण आयुधों को धारण किये हुए था। इस प्रकार के महाभयोत्पादक स्वरूप को लेकर वह महावीर स्वामी के सन्मुख आया तथा उनके ध्यान को भंग करने के लिये उन पर बड़ा भारी उपसर्ग किया। परन्तु इन उपद्रवों का महावीर प्रभु पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा तथा उनका ध्यान यथापूर्व अचल एवं अटूट बना रहा।

जब इतना करने पर भी जिनेन्द्र के ध्यान को वह भंग नहीं कर सका, तब उसने दूसरे उपायों का अवलम्बन लिया। स्थाणुरुद्र ने सर्प, सिंह, गजराज, प्रबल वायु तथा अग्नि इत्यादि के रूप में आकर तथा उत्पीड़क वचनों के द्वारा उग्र उपसर्गों को आरम्भ किया। इन उपसर्गों से निर्बल हृदयों में तो भय का संचार हो सकता था, किन्तु भगवान महावीर के हृदय में डर कहाँ? वे तो लगातार अचल ही बने रहे। उनका ध्यान भंग होना तो दूर रहा, उत्तरोत्तर ध्यान की गम्भीरता बढ़ती ही गयी। जब स्थाणुरुद्र को इतने पर भी सफलता नहीं मिली, तब वह अन्य प्रकार के घोर उपसर्गों को करने लगा। भीलों का रूप धारण कर भयानक शस्त्रास्त्रों को दिखला कर प्रभु के हृदय में उसने भय उत्पन्न करना चाहा, परन्तु इन अनेक उग्र उपद्रवों के होते रहने पर भी जगत् स्वामी जिनेन्द्र (महावीर प्रभु) रंचमात्र भी चलायमान नहीं हुए एवं पर्वत के समान एकदम अचल बने रहे, किंचित्मात्र भी खिन्नता का आभास उनकी मुखाकृति से नहीं मिला। आचार्य देव ने कहा है कि सम्भव है कि अचल पर्वत भी चलायमान हो जाय, परन्तु श्रेष्ठ योगियों का चित्त हजारों उग्र उपद्रव के द्वारा भी कदापि चलायमान नहीं हो सकता। इस संसार में वे ही लोग धन्य हैं, जो कि ध्यानमग्न हो जाने पर अनेक उग्र उपद्रवों के होते रहने पर भी विकारयुक्त होकर ध्यान भंग कदापि नहीं होने देते।

इसके बाद जब जिनेन्द्र (महावीर प्रभु) के ध्यान को भंग करने में स्थाणुरुद्र को कुछ भी सफलता प्राप्त करने की आशा नहीं रही, तब हताश एवं लज्जित हो कर वह वहीं उनकी स्तुति करने लगा– 'हे देव! इस संसार में आप ही बली हो, आप ही जगद्गुरु हो एवं वीर-शिरोमणि हो, इसलिये आपका नाम 'महावीर' है। आप महा ध्यानी हो, सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हो, सकल परीषहों के विजेता हो, वायु के समान निःसंग वीर हो एवं कुलाचल की तरह अचल हो। आप क्षमा में पृथ्वी के समान, गम्भीरता में समुद्र के समान एवं प्रसन्नचित्त होने के कारण निर्मल जल के समान हो। कर्मरूपी जंगल

को नष्ट करने के लिए आप अग्नि-अंगार के समान हो। हे प्रभो! आप त्रिलोक में वर्द्धिष्णु हो एवं श्रेष्ठ बुद्धिशाली होने के कारण 'सन्मति' हो। आप ही महाबली तथा परमात्मा हो। हे नाथ! आप निश्चलरूप के धारण करनेवाले हैं एवं प्रतिमा-योग के धारण करनेवाले हैं। आप परमात्मा-स्वरूप हैं, आपको सदैव नमस्कार है।' इस प्रकार स्थाणुरुद्र ने महावीर प्रभु की स्तुति करके प्रणाम किया तथा भगवान के प्रति ईर्ष्या त्याग कर अपनी प्रिय पत्नी के साथ आनन्दित होकर अपने स्थान को चला गया। जब महापुरुषों के योगजन्य साहस तथा शक्ति को देखकर दुर्जन भी परम आनन्दित हो जाते हैं, तब सत्पुरुषों का तो कहना ही क्या? सज्जनों का तो दूसरों के गुणों पर मुग्ध हो जाने का स्वभाव ही होता है।

भगवान महावीर के पाँच नाम

उत्तरपुराण ग्रन्थ के आधार से भगवान महावीर के पांचों नामों का वर्णन यहां बताया जा रहा है—

विदेहदेश के कुण्डपुर— कुंडलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला ने आषाढ़ शुक्ला षष्ठी तिथि को गर्भ में तीर्थंकर शिशु को धारण किया पुनः नवमाह बाद चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को तीर्थंकर पुत्र को जन्म दिया। त्रिशला माता का दूसरा नाम प्रियकारिणी था। रानी प्रियकारिणी ने उन जिनबालक को जन्म देकर मनुष्यों, तिर्यंचों और देवों पर बहुत भारी प्रेम उत्पन्न किया था इसीलिए उनका "प्रियकारिणी" यह नाम सार्थक हुआ था।

वीर और वर्धमान नाम

तभी सौधर्मेन्द्र ने जिनबालक को सुमेरुपर्वत पर ले जाकर प्रभु का १००८ कलशों से जन्माभिषेक महोत्सव किया पुनः वस्त्राभरणों से अलंकृत कर "वीर" और "वर्धमान" ऐसे दो नाम रखे थे। कहा भी है-

अलं तदिति तं भक्त्या, विभूष्योद्घविभूषणैः। वीरः श्रीवर्धमानश्चेत्यस्याख्याद्वितयं व्यधात्।। २७६।।

सन्मति नाम

किसी समय "संजय" और "विजय" नाम के दो चारणऋद्धिधारी मुनियों को किसी पदार्थ में संदेह उत्पन्न हुआ तभी वे जन्म के बाद जिनबालक के समीप आए और उनके दर्शनमात्र से उनका संदेह दूर हो गया तभी उन्होंने बड़ी भक्ति से जिनशिशु का "सन्मति" यह नामकरण करके अतीव प्रसन्नता व्यक्त की थी। कहा भी है -

संजयस्यार्थसंदेहे संजाते विजयस्य च। जन्मानन्तरमेवैन-मभ्येत्यालोकमात्रतः।। २८२।।

तत्संदेहे गते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तितः। अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः।। २८३।।

महावीर नाम

जिनबालक देव बालकों के साथ क्रीड़ा किया करते थे। एक समय की घटना है कि स्वर्ग में सुधर्मा सभा में प्रभु के गुणों की चर्चा हो रही थी साथ ही उनकी शूरवीरता की भी प्रशंसा हो रही थी तभी संगम नाम के एक देव ने उनकी परीक्षा करनी चाही। एक समय बालक वर्धमान अनेक राजकुमारों के साथ बगीचे में वृक्ष पर चढ़े हुए क्रीड़ा में तत्पर थे। यह देख संगमदेव ने उन्हें भयभीत करने की इच्छा से बहुत बड़े सांप का रूप धारणकर उस वृक्ष की जड़ से लेकर स्कंध तक लिपट गया। सब बालक उस सांप को देखकर भय से कांप उठे और शीघ्र ही डालियों से कूद - कूदकर इधर - उधर भाग गए। इस महाभय के उपस्थित होने पर भी तीर्थंकर के अवतार "वीर" "वर्धमान" किंचित् भी भयभीत नहीं हुए प्रत्युत् लहलहाती हुई सौ जिह्वाओं से अत्यन्त भयंकर ऐसे सर्प के फणा पर पैर रखकर खड़े हो गए और उसके साथ क्रीड़ा करते हुए नीचे उतर आए। वर्धमान कुमार की इस क्रीड़ा से प्रसन्न हो संगमदेव ने अपनी विक्रिया समेटकर भगवान की स्तुति की और प्रभु का "महावीर" यह नाम घोषित कर दिया।

इस सन्दर्भ में उत्तरपुराण की पंक्ति देखिए -

ललज्जिह्वाशतात्युग्रमारुह्य तमहिं विभीः। कुमारः क्रीडयामास मातृपर्यंकवत्तदा।। २६४।।
विजृंभमाणहर्षाम्भोनिधिः संगमकोऽरमः। स्तुत्वा भवान्महावीर इति नाम चकार सः।। २६५।।

महतिमहावीर नाम

भगवान महावीर जब तीस वर्ष की अवस्था में थे तब एक समय उन्हें पूर्वभव का "जातिस्मरण" हो गया। तत्क्षण ही उन्हें वैराग्य हो गया। लौकांतिक देवों द्वारा स्तुति को प्राप्त भगवान ने षण्डवन या ज्ञातृवन में "सालवृक्ष" के नीचे जैनेश्वरी दीक्षा ले ली।

उज्जयिन्यामथान्येद्युस्तं श्मशानेऽतिमुक्तके। वर्धमानं महासत्त्वं प्रतिमायोग-धारिणम्।। ३३१।।
निरीक्ष्य स्थाणुरेतस्य दौष्ट्याद्धैर्यं परीक्षितुम्। उत्कृत्य कृत्तिकास्तीक्ष्णाः प्रविष्टजठराण्यलम्।। ३३२।।
व्यात्ताननाभिभीष्माणि नृत्यन्ति विविधैर्लयैः। तर्जयन्ति स्फुरद्ध्यानैः साट्टहासैर्दुरीक्षणैः।। ३३३।।
स्थूलवेतालरूपाणि निशि कृत्वा समन्ततः। पराण्यपि फणीन्द्रेभसिंहवन्ह्यानिलैः समम्।। ३३४।।
किरातसैन्यरूपाणि पापैकार्जनपंडितः। विद्याप्रभावसंभावितोपसर्गैर्भयावहैः।। ३३५।।
स्वयं स्खलयितुं चेतः समाधेरसमर्थकः। समहतिमहावीराख्यां कृत्वा विविधाः स्तुतीः।। ३३६।।
उमया सममाख्याय नर्तित्वागादमत्सरः। पापिनोऽपि प्रतुष्यन्ति प्रस्पष्टं दृष्टसाहसाः।। ३३७।।

कई वर्षों तक तपश्चरण करते हुए एक बार प्रभु उज्जयिनी नगरी के अतिमुक्तक नाम

के श्मशान में प्रतिमायोग से विराजमान थे। उन्हें देखकर रूद्र ने उनके धैर्य की परीक्षा के लिए रात्रि में बड़े - बड़े वेतालों का रूप लेकर उपसर्ग करना शुरू कर दिया। ये वेताल भयंकर शब्दों को करते हुए अट्टहास और विकराल दृष्टि से डरा रहे थे। इनके सिवाय उसने सर्प, हाथी, सिंह, अग्नि और वायु के साथ भीलों की सेना बनाकर उपसर्ग किया। उस रूद्र द्वारा विद्या के बल से नाना प्रकार के भयंकर उपसर्गों से भी भगवान महावीर ध्यान से चलायमान नहीं हुए। तब उसने अपनी विद्या समेटकर भगवान की खूब स्तुति करते हुए उनका "महतिमहावीर" नाम रखा पुनः अपनी पत्नी के साथ-साथ प्रसन्नतापूर्वक नृत्य करते हुए प्रभु की भक्ति करके अपने स्थान पर चला गया।

कहीं-कहीं यह पांचवां नाम **"अतिवीर"** नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त है।

इस प्रकार भगवान महावीर के "वीर" और "वर्धमान" ये दो नाम इन्द्र द्वारा रखे गए हैं। "सन्मति" नाम "संजय-विजय" नाम के चारणऋद्धिधारी मुनियों द्वारा रखा गया है। "संगमदेव" ने "महावीर" नाम रखा है एवं "रुद्र" ने "महतिमहावीर" नाम रखा है।

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की तीर्थंकर परम्परा में पांच नामों से विभूषित अंतिम एवं चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हम और आप सबका कल्याण करें।

चन्दना के बन्धन टूट गये

एक बार महामुनि भगवान महावीर कौशाम्बी में आहार के लिए आये। वहां के सेठ वृषभदत्त की पत्नी-भद्रा, सेठ के प्रति संदिग्ध दृष्टि होने से चन्दना को खाने के लिए मिट्टी के सकोरे में कांजी से मिश्रित कोदों का भात दिया करती थी और क्रोधवश उसे सांकल से बांधे रखती थी। किसी दिन उस कौशाम्बी नगरी में आहार के लिए भगवान् महावीर स्वामी आ गये। उन्हें देखकर चन्दना उनके सामने जाने लगी। उसी समय उसके सांकल के सब बन्धन टूट गये, उसके शिर पर केश आ गये, वस्त्र-आभूषण सुन्दर हो गये। शील के माहात्म्य से मिट्टी का सकोरा स्वर्ण पात्र और कोदों का भात चावल की खीर बन गया। उस चन्दना ने भगवान को पड़गाह कर नवधा भक्ति से आहारदान दिया। उसके वहाँ पंचाश्चर्यों की वर्षा हुई अनंतर अपने बंधुओं के साथ उसका समागम हो गया।

महासती चंदना का संक्षिप्त परिचय

सिन्धु नामक देश की वैशाली नगरी में चेटक नामका अतिशय प्रसिद्ध, विनीत और जिनेन्द्र देव का अतिशय भक्त राजा था। उसकी रानी का नाम सुभद्रा था। उनके दश पुत्र हुए जो कि धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, शिवदत्त, हरिदत्त, कम्बोज, कम्पन, पतंगक, प्रभंजन और प्रभास नाम से प्रसिद्ध थे तथा उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों के समान जान पड़ते थे। इन पुत्रों के सिवाए सात ऋद्धियों के समान सात पुत्रियां भी थीं। जिनमें सबसे बड़ी प्रियकारिणी थी, उससे छोटी मृगावती, उससे छोटी सुप्रभा, उससे छोटी प्रभावती, उससे छोटी चेलिनी, उससे छोटी ज्येष्ठा और सबसे छोटी चन्दना थी।

विदेह देश के कुण्डपुर नगर में नाथवंश के शिरोमणि एवं तीनों सिद्धियों से सम्पन्न राजा सिद्धार्थ राज्य करते थे। पुण्य के प्रभाव से प्रियकारिणी उन्हीं की रानी हुई थीं। वत्सदेश की कौशाम्बी नगरी में चन्द्रवंशी राजा शतानीक रहते थे। मृगावती नाम की दूसरी पुत्री उनकी स्त्री हुई थी। दशार्ण देश के हेमकच्छ नामक नगर के स्वामी राजा दशरथ थे जो कि सूर्यवंशरूपी आकाश के चन्द्रमा के समान जान पड़ते थे। सूर्य की निर्मलप्रभा के समान सुप्रभा नाम की तीसरी पुत्री उनकी रानी हुई थी, कच्छ देश की रोरुका नामक नगरी में उदयन नाम का एक बड़ा राजा था। प्रभावती नामकी चौथी पुत्री उसी की हृदयवल्लभा हुई थी। अच्छी तरह शीलव्रत धारण करने से इसका दूसरा नाम शीलवती भी प्रसिद्ध हो गया था। पांचवी पुत्री चेलना राजगृही के राजा श्रेणिक की पट्टरानी हुई थीं तथा ज्येष्ठा और चंदना बालब्रह्मचारिणी थीं।

किसी एक समय वह चन्दना अपने परिवार के लोगों के साथ अशोक नामक वन में क्रीड़ा कर रही थी। उसी समय दैवयोग से विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के सुवर्णाभ नगर का राजा मनोवेग विद्याधर अपनी मनोवेगा रानी के साथ स्वच्छन्द क्रीड़ा करता हुआ वहाँ से निकला और क्रीड़ा करती हुई चन्दना को देखकर काम के द्वारा छोड़े हुए बाणों से जर्जर शरीर हो गया। वह शीघ्र ही अपनी स्त्री को घर भेजकर रूपिणी विद्या से अपना दूसरा रूप बनाकर उसे सिंहासन पर बैठा आया और अशोक वन में आकर तथा चन्दना को लेकर शीघ्र ही वापिस चला गया। उधर मनोवेगा उसकी माया को जान गई जिससे क्रोध के कारण उसके नेत्र लाल होकर भयंकर दिखने लगे। उसने उस विद्या देवता को बाएं पैर की ठोकर देकर मार दिया जिससे वह अट्टहास करती हुई सिंहासन से उसी समय चली गई। तदनन्तर वह मनोवेगा रानी आलोकिनी नाम की विद्या से अपने पति की सब चेष्टा जानकर उसके पीछे दौड़ी और आधे मार्ग में चन्दना सहित

लौटते हुए पति को देखकर बोली कि यदि आप अपना जीवन चाहते हो तो इसे छोड़ दो। इस प्रकार क्रोध से उसने उसे बहुत ही डाँटा। मनोवेग अपनी रानी से बहुत ही डर गया। इसलिए उसने हृदय में बहुत ही शोककर सिद्ध की हुई पर्णलघ्वी नामकी विद्या से उस चन्दना को भूतरमण नामक वन में ऐरावती नदी के दाहिने किनारे पर छोड़ दिया।

पञ्चनमस्कार मंत्र का जप करने में तत्पर रहने वाली चन्दना ने वह रात्रि बड़े कष्ट से बिताई। प्रातःकाल जब सूर्य का उदय हुआ तब भाग्यवश एक कालक नामका भील वहां स्वयं आ पहुँचा। चन्दना ने उसे अपने बहुमूल्य देदीप्यमान आभूषण दिये और धर्म का उपदेश भी दिया जिससे वह भील बहुत ही संतुष्ट हुआ। वहीं कहीं भीमकूट नामक पर्वत के पास रहने वाला एक सिंह नाम का भीलों का राजा था, जो कि भयंकर नामक पल्ली का स्वामी था। उस कालक नामक भील ने वह चन्दना उसी सिंह राजा को सौंप दी। सिंह पापी था अतः चन्दना को देखकर उसका हृदय काम से मोहित हो गया। वह क्रूर ग्रह के समान निग्रह कर उसे अपने आधीन करने के लिए उद्यत हुआ। यह देख उसकी माता ने उसे समझाया कि हे पुत्र! तू ऐसा मत कर, यह प्रत्यच्छ देवता है, यदि कुपित हो गई तो कितने ही संताप, शाप और दुःख देने वाली होगी। इस प्रकार माता के कहने से डरकर उसने स्वयं दुष्ट होने पर भी वह चन्दना छोड़ दी। तदनन्तर चन्दना ने उस भील की माता के साथ निश्चिन्त होकर कुछ काल वहीं पर व्यतीत किया।

अथानन्तर-वत्स देश के कौशाम्बी नामक श्रेष्ठ नगर में एक वृषभसेन नाम का सेठ रहता था। उसका मित्रवीर नामका एक कर्मचारी था जो कि उस भीलराज का मित्र था। भीलों के राजा ने वह चन्दना उस मित्रवीर को दे दी और मित्रवीर ने भी बहुत भारी धन के साथ भक्तिपूर्वक वह चन्दना अपने सेठ के लिए सौंप दी। किसी एक दिन वह चन्दना उस सेठ को जल पिला रही थी उस समय उसके केशों का कलाप छूट गया था और जल से भीगा हुआ पृथिवी पर लटक रहा था। उसे वह बड़े यत्न से एक हाथ से संभाल रही थी। सेठ की स्त्री भद्रा नामक सेठानी ने जब चन्दना का रूप देखा तो वह शंका से भर गई। उसने मन में समझा कि हमारे पति का इसके साथ संपर्क है। ऐसा विचार कर वह बहुत ही कुपित हुई। क्रोध के कारण उसके ओंठ काँपने लगे। उस दुष्टा ने चन्दना को साँकल से बाँध दिया तथा खराब भोजन और ताड़न-मारण आदि के द्वारा वह उसे निरन्तर कष्ट पहुंचाने लगी परन्तु चन्दना यही विचार करती थी कि यह सब मेरे द्वारा किए हुए अशुभ-कर्म का फल है। यह बेचारी सेठानी क्या कर सकती है? ऐसा विचारकर वह निरन्तर आत्मनिन्दा करती रहती थी। उसने यह सब समाचार अपनी बड़ी बहिन मृगावती के लिए भी कहलाकर नहीं भेजे थे।

तदनन्तर किसी दूसरे दिन भगवान् महावीर स्वामी ने आहार के लिए उसी नगरी में प्रवेश किया। उन्हें देख चन्दना बड़ी भक्ति से आगे बढ़ी। आगे बढ़ते ही उसकी साँकल टूट गयी और आभरणों से उसका सब शरीर सुन्दर दिखने लगा। उन्हीं के भार से मानो उसने झुककर शिर से पृथिवी तल का स्पर्श किया, उन्हें नमस्कार किया और विधिपूर्वक पड़गाहन कर उन्हें आहार दिया। इस आहार दान के प्रभाव से वह मानिनी बहुत ही संतुष्ट हुई, देवों ने उसका सम्मान किया, रत्नधारा की वृष्टि की, सुगन्धित फूल बरसाए, देव-दुन्दुभियों का शब्द हुआ और दान की महिमा की घोषणा होने लगी सो ठीक ही है क्योंकि उत्कृष्ट पुण्य अपने बड़े भारी फल के साथ तत्काल ही फलते हैं।

तदनन्तर चन्दना की बड़ी बहिन मृगावती यह समाचार जानकर उसी समय अपने पुत्र उदयन के साथ उसके समीप आई और स्नेह से उसका आलिंगन कर पिछला समाचार पूछने लगी। तब वह पिछला समाचार सुनकर बहुत ही व्याकुल हुई। तदनन्तर रानी मृगावती उसे अपने घर ले जाकर सुखी हुई। यह देख भद्रा सेठानी और वृषभसेन सेठ दोनों ही भय से घबड़ाये और मृगावती के चरणों की शरण में आये। दयालु रानी ने उन दोनों से चन्दना के चरण-कमलों में प्रणाम कराया। चन्दना के क्षमा कर देने पर वे दोनों बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि यह मानो मूर्तिमती क्षमा ही है। इस समाचार के सुनने से उत्पन्न हुए स्नेह के कारण वैशाली से चंदना के भाई-बंधु भी उसके पास आ गये।

कालांतर में चंदना ने भगवान महावीर के समवसरण में आर्यिका दीक्षा लेकर सभी आर्यिकाओं में गणिनीपद को प्राप्त किया है।

इस प्रकार 'महावीर देशना' ग्रन्थ में भगवान महावीर
स्वामी के गर्भ, जन्म, तप कल्याणकों का
वर्णन करने वाला प्रथम अधिकार
पूर्ण हुआ।

द्वितीय अधिकार

केवलज्ञान कल्याणक

जगद्बंधु वर्द्धमान भगवान ने निर्ग्रंथ मुद्रा में नगर, वन आदि में विहार करते हुये छद्मस्थ अवस्था के बारह वर्ष व्यतीत कर दिये। श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं-

ग्रामपुरखेटकर्वट-मटम्बघोषाकरान् प्रविजहार।
उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः।।

देवों द्वारा पूज्य भगवान महावीर ने उग्र-उग्र तपश्चरण करते हुये ग्राम, पुर, खेट कर्वट, मटम्ब, पत्तन, घोष, आकर आदि स्थलों में विहार करते हुये दीक्षित जीवन में बारह वर्ष व्यतीत कर दिये।

किसी एक दिन वे भगवान जृंभिक ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नाम के वन के मध्य सालवृक्ष के नीचे रत्नमयी एक बड़ी शिला पर दो दिन के उपवास का नियम लेकर प्रतिमायोग से विराजमान हो गये। शुक्लध्यान में आरूढ़ भगवान वैशाख शुक्ला दशमी के दिन अपराण्ह काल में हस्त और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के बीच में चन्द्रमा के रहते हुये परिणामों की विशुद्धि को बढ़ाते हुये क्षपकश्रेणी में स्थित हो गये।

उसी समय द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा घातिया कर्मों को नष्ट कर भगवान ने दिव्य केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उसी समय भगवान के जन्म समय के समान ही चारों प्रकार के देवों के यहां बिना बजाये बाजे बजने लगे। सौधर्मेंद्र ने भगवान के केवलज्ञान की प्रगटता को जानकर तत्क्षण ही कुबेर को समवसरण रचना बनाने की आज्ञा दी एवं स्वयं चारों निकाय के देवों के साथ अर्धनिमिष मात्र में वहाँ आ गया।

भगवान महावीर का समवसरण

केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही तीर्थंकर का परमौदारिक शरीर पृथ्वी से पाँच हजार धनुष[1] (२०००० हाथ प्रमाण) ऊपर चला जाता है। उस समय तीनों लोकों में अतिशय क्षोभ उत्पन्न होता है और सौधर्म आदि इन्द्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं। भवनवासी देवों के यहाँ अपने आप शंख का नाद होने लगता है। व्यंतर देवों के यहाँ भेरी बजने लगती है, ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद होने लगता है और कल्पवासी देवों के यहाँ घण्टा बजने लगता है। इंद्रों के मुकुट के अग्रभाग स्वयमेव झुक जाते हैं और कल्पवृक्षों से पुष्पों की वर्षा होने लगती है। इन सभी कारणों से इन्द्र और देवगण तीर्थंकर

---

१. यहां धनुष में ४ हाथ माने हैं अतः २०००० हाथ ऊपर चला जाता है।

के केवलज्ञान की उत्पत्ति को जानकर भक्तियुक्त होते हुये सात पैर आगे बढ़कर भगवान् को प्रणाम करते हैं। जो अहमिन्द्रदेव हैं, वे भी आसनों के कंपित होने से केवलज्ञान की उत्पत्ति को जानकर सात पैर आगे बढ़कर वहीं से परोक्ष में जिनेंद्रदेव की वंदना कर अपना जीवन सफल कर लेते हैं। सोलह स्वर्ग तक के देव-देवियाँ तो भगवान् की वंदना के लिये चले आते हैं।

उसी क्षण सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर विक्रिया के द्वारा तीर्थंकर के समवसरण (धर्मसभा) को विचित्र रूप से रचता है। उस समवसरण के अनुपम संपूर्ण स्वरूप का वर्णन करने के लिये साक्षात् सरस्वती भी समर्थ नहीं हैं। यहाँ पर लेशमात्र वर्णन किया जाता है[1]। इस समवसरण के वर्णन में यहाँ ३१ विषय बताये जा रहे हैं-

सामान्य भूमि, सोपान, विन्यास, वीथी, धूलिशाल, चैत्यप्रासाद भूमि, नृत्यशाला, मानस्तम्भ, वेदी, खातिका, वेदी, लताभूमि, साल, उपवनभूमि, नृत्यशाला, वेदी, ध्वजाभूमि, साल, कल्पभूमि, नृत्यशाला, वेदी, भवनभूमि, स्तूप, साल, श्रीमण्डप, ऋषि आदि गणों का विन्यास, वेदी, प्रथम पीठ, द्वितीय पीठ, तृतीय पीठ और गंधकुटी।

१. सामान्य भूमि - समवसरण की संपूर्ण सामान्य भूमि सूर्यमण्डल के सदृश गोल, इन्द्रनीलमणिमयी होती है। यह सामान्यतया बारह योजन प्रमाण होती है। विदेह क्षेत्र के संपूर्ण तीर्थंकरों की समवसरण भूमि का यही प्रमाण है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों की समवसरण भूमि का उत्कृष्ट प्रमाण यही है, जघन्य प्रमाण एक योजन मात्र है, मध्यम के अनेक भेद हैं। जैसे कि भगवान ऋषभदेव का समवसरण बारह योजन का था शेष तीर्थंकरों का घटते-घटते अंतिम भगवान महावीर का एक योजन मात्र था।

२. सोपान - समवसरण में चढ़ने के लिए भूमि से १ हाथ ऊपर से आकाश में चारों ही दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में ऊपर-ऊपर २०,००० सीढ़ियाँ होती हैं। ये सीढ़ियाँ १ हाथ ऊँची और इतनी ही विस्तार वाली रहती हैं ये सब स्वर्ण से निर्मित होती हैं। देव-मनुष्य और तिर्यंच गण अंतर्मुहूर्त मात्र में ही इन सभी सीढ़ियों को पार कर समवसरण में पहुँच जाते हैं।

३. विन्यास - समवसरण में चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं। इस क्रम से समवसरण में सारी रचनायें रहती हैं। इन सबका वर्णन क्रम से आ जावेगा।

४. वीथी - प्रत्येक समवसरण में प्रारम्भ से लेकर प्रथम पीठ (कटनी) पर्यंत, सीढ़ियों की लम्बाई के बराबर विस्तार वाली चार वीथियाँ होती हैं। यहाँ 'वीथी' से जाने का मार्ग (सड़क) समझना

---

१. यहा समवसरण का वर्णन तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ के आधार से है।

चाहिये। इन वीथियों के पार्श्व भाग में स्फटिकपाषाण से बनी हुई वेदियाँ होती हैं। ये बाउंड्रीवाल के समान हैं। जो आठ भूमियाँ कही जायेंगी उन आठों भूमियों के मूल में वज्रमय कपाटों से सुशोभित बहुत से तोरणद्वार होते हैं। जिनमें देव, मनुष्य और तिर्यंचों का संचार बना रहता है।

५. धूलिसाल - सबके बाहर विशाल एवं समान गोल, मानुषोत्तर पर्वत के आकार वाला धूलिसाल नाम का कोट होता है यह पंचवर्णी रत्नों से निर्मित होता है, इसलिये इसका धूलिसाल नाम सार्थक है। इस कोट में मार्ग, अट्टालिकायें और पताकायें रहती हैं। चार गोपुर द्वार (मुख्य फाटक) होते हैं यह तीनों लोकों को विस्मित करने वाला बहुत ही सुन्दर दिखता है। इस कोट के चारों गोपुर द्वारों में से पूर्वद्वार का नाम 'विजय' है, दक्षिणद्वार का 'वैजयंत' है, पश्चिमद्वार को 'जयंत' और उत्तरद्वार को 'अपराजित' कहते हैं। ये चारों द्वार सुवर्ण से बने रहते हैं, तीन भूमियों (खनों) से सहित, देव और मनुष्य के जोड़ों से संयुक्त और तोरणों पर लटकती हुई मणिमालाओं से शोभायमान होते हैं। प्रत्येक द्वार के बाहर और मध्य भाग में, द्वार के पार्श्व भागों में मंगलद्रव्य, निधि और धूपघट से युक्त विस्तीर्ण पुतलियाँ होती हैं। झारी, कलश, दर्पण, चामर, ध्वजा, पंखा, छत्र और सुप्रतिष्ठ (ठोना) ये ८ मंगलद्रव्य हैं। ये प्रत्येक १०८-१०८ होते हैं। काल, महाकाल, पाण्डु, माणवक, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न, ये नव निधियाँ प्रत्येक १०८ होती हैं। ये निधियाँ क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्य-माला आदि, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, महल, आभरण और सम्पूर्ण रत्नों को देती हैं। वहाँ एक-एक पुतली के ऊपर गोशीर्ष, मलयचन्दन और कालागरु आदि धूपों के गंध से व्याप्त एक-एक धूप घट होते हैं।

इन विजय आदि द्वार के प्रत्येक बाह्य भाग में सैकड़ों मकरतोरण और अभ्यंतर भाग में सैकड़ों रत्नमय तोरण होते हैं। इन द्वारों के बीच दोनों पार्श्व भागों में एक-एक नाट्यशाला होती है जिसमें देवांगनायें नृत्य करती रहती हैं। इस धूलिसाल के चारों गोपुर द्वारों पर ज्योतिष्कदेव द्वार रक्षक होते हैं जो कि हाथ में रत्नदण्ड को लिये रहते हैं। इन चारों दरवाजों के बाहर और अन्दर भाग में सीढ़ियाँ बनी रहती हैं जिनसे सुखपूर्वक संचार किया जाता है। प्रत्येक समवसरण के धूलिसाल कोट की ऊँचाई अपने तीर्थंकर के शरीर से चौगुनी होती है। इस कोट की ऊँचाई से तोरणों की ऊँचाई अधिक रहती है और इससे भी अधिक विजय आदि द्वारों की ऊँचाई रहती है।

६. चैत्यप्रासाद भूमि - धूलिसाल के अभ्यंतर भाग में 'चैत्यप्रासाद' नामक भूमि सकलक्षेत्र को घेरे हुये बनी रहती है। इसमें एक-एक जिन भवन के अन्तराल से ५-५ प्रासाद बने रहते हैं जो विविध प्रकार के वनखण्ड और बावड़ी आदि से रमणीय होते हैं। इन जिन भवन और प्रासादों की ऊँचाई अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारह गुणी रहती है।

७. नृत्यशाला - प्रथम पृथ्वी में पृथक्-पृथक् वीथियों के दोनों पार्श्व भागों में उत्तम सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित दो-दो नाट्यशालायें होती हैं। प्रत्येक नाट्यशाला में ३२ रंगभूमियाँ और प्रत्येक रंगभूमि में ३२ भवनवासी देवियाँ नृत्य करती हुई नाना अर्थ से युक्त दिव्य गीतों द्वारा तीर्थंकरों के विजय के गीत गाती हैं और पुष्पाञ्जलि क्षेपण करती हैं। प्रत्येक नाट्यशाला में नाना प्रकार की सुगंधित धूप से दिग्मंडल को सुवासित करने वाले दो-दो धूपघट रहते हैं।

८. मानस्तम्भ - प्रथम पृथ्वी के बहुमध्य भाग में चारों वीथियों के बीचों-बीच समान गोल मानस्तम्भ भूमियाँ होती हैं। उनके अभ्यंतर भाग में चार गोपुर द्वारों से सुन्दर, कोट होते हैं। इनके भी मध्य भाग में विविध प्रकार के दिव्य वृक्षों से युक्त वनखण्ड होते हैं। इनके मध्य में पूर्वादि दिशाओं में क्रम से सोम, यम, वरुण और कुबेर इन लोकपालों के रमणीय क्रीड़ानगर होते हैं। उनके अभ्यंतर भाग में चार गोपुरद्वार से युक्त कोट और इसके आगे वनवापिकायें होती हैं जिनमें नीलकमल खिले रहते हैं। उनके बीच में लोकपालों के अपनी-अपनी दिशा तथा चार विदिशाओं में भी दिव्य क्रीड़ानगर होते हैं। उनके अभ्यंतर भाग में उत्तम विशाल द्वारों से युक्त कोट होते हैं और फिर इनके बीच में पीठ होते हैं। इनमें से पहला पीठ वैडूर्यमणिमय, उसके ऊपर दूसरा पीठ सुवर्णमय और उसके ऊपर तीसरा पीठ बहुत वर्ण के रत्नों से निर्मित होता है। ये तीन पीठ तीन कटनी रूप होते हैं। इन पीठों के ऊपर मानस्तम्भ होते हैं। इन मानस्तम्भों की ऊँचाई अपने-अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणी होती है। प्रत्येक मानस्तम्भ का मूलभाग वज्र से युक्त और मध्यम भाग स्फटिकमणि से निर्मित होता है। इन मानस्तम्भों के उपरिमभाग वैडूर्यमणिमय रहते हैं। ये मानस्तम्भ गोलाकार होते हैं। इनमें चमर, घंटा, किंकणी, रत्नहार और ध्वजायें सुशोभित रहती हैं। इनके शिखर पर प्रत्येक दिशा में आठ प्रातिहार्यों से युक्त रमणीय एक-एक जिनेन्द्र प्रतिमायें होती हैं। दूर से ही मानस्तम्भों के देखने से मान से युक्त मिथ्यादृष्टि लोग अभिमान से रहित हो जाते हैं, इसीलिये इनका 'मानस्तम्भ' यह नाम सार्थक है।

सभी समवसरण में तीनों कोटों के बाहर चार दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में क्रम से पूर्वादि वीथी (गली) के आश्रित वापिकायें होती हैं। पूर्व दिशा के मानस्तम्भ के पूर्वादि भागों में क्रम से नंदोत्तरा, नंदा, नंदवती और नंदिघोषा नामक चार वापिकायें होती हैं। दक्षिण मानस्तम्भ के आश्रित पूर्वादि भागों में विजया, वैजयंता, जयन्ता और अपराजिता नामक चार वापिकायें होती हैं। पश्चिम मानस्तम्भ के आश्रित पूर्वादि भागों में क्रम से अशोका, सुप्रबुद्धा, कुमुदा और पुण्डरीका ये चार वापिकायें होती हैं। उत्तर मानस्तम्भ के आश्रित पूर्वादि भागों में क्रम से हृदयानन्दा, महानन्दा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभंकरा ये चार वापिकायें होती हैं। ये वापिकायें समचतुष्कोण, कमलादि से संयुक्त, टंकोत्कीर्ण, वेदिका, चार तोरण एवं रत्नमालाओं से रमणीय होती हैं। सब वापिकाओं के चारों तटों

में से प्रत्येक तट पर जलक्रीड़ा के योग्य दिव्य द्रव्यों से परिपूर्ण मणिमयी सीढ़ियाँ होती हैं। इन वापिकाओं में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव तथा मनुष्य क्रीड़ा किया करते हैं। प्रत्येक वापिकाओं के आश्रित, निर्मल जल से परिपूर्ण दो-दो कुण्ड होते हैं, जिनमें देव, मनुष्य और तिर्यंच अपने पैरों की धूलि धोया करते हैं।

९. प्रथम वेदी - इस समवसरण में उत्तम रत्नमय ध्वजा, तोरण और घंटाओं से युक्त प्रथम वेदिका होती है। इसमें गोपुर द्वार, पुत्तलिका, १०८ मंगलद्रव्य एवं नव निधियाँ पूर्व के समान ही होती हैं। इन वेदियों के मूल और उपरिम भाग का विस्तार धूलिशाल कोट के मूलविस्तार के समान होता है।

१०. खातिका - इसके आगे स्वच्छ जल से परिपूर्ण और अपने जिनेन्द्रदेव की ऊँचाई के चतुर्थभाग प्रमाण खातिका (खाई) होती है। इस खातिका में खिले हुये कुमुद, कुवलय और कमल अपनी सुगन्धि फैलाते रहते हैं, इनमें मणिमय सीढ़ियाँ बनी रहती हैं एवं हंस, सारस आदि पक्षी सदा क्रीड़ा किया करते हैं।

११. द्वितीय वेदी - यह वेदिका भी अपनी पूर्व वेदी के सदृश है। इसका विस्तार प्रथम वेदिका से दूना माना गया है।

१२. लताभूमि - इसके आगे पुन्नाग, नाग, कुब्जक, शतपत्र और अतिमुक्त आदि से संयुक्त, क्रीड़ा पर्वतों से सुशोभित, फूले हुये कमलों से सहित जल भरी बावड़ियों से मनोहर ऐसी लताभूमि शोभायमान होती है।

१३. साल - इसके आगे दूसरा कोट है इसे ही साल कहते हैं। इसका सारा वर्णन धूलिसाल कोट के समान है। अन्तर इतना ही है कि यह विस्तार में उससे दूना रहता है, रजतमयी है एवं यक्ष जाति के देव इसके चारों द्वारों पर खड़े रहते हैं।

१४. उपवन भूमि - द्वितीय कोट के आगे चौथी उपवन भूमि होती है। इसमें पूर्वादि दिशाओं के क्रम से अशोकवन, सप्तपर्णवन, चम्पकवन और आम्रवन, ये चार वन शोभायमान होते हैं। यह भूमि विविध प्रकार के वन समूहों से मण्डित, विविध नदियों के पुलिन और क्रीड़ा पर्वतों से तथा अनेक प्रकार की उत्तम वापिकाओं से रमणीय होती है। इस भूमि में अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र ये चार सुन्दर वृक्ष होते हैं इन्हें चैत्यवृक्ष कहते हैं। इनकी ऊँचाई अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणी रहती है। एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित आठ प्रातिहार्यों से संयुक्त चार-चार मणिमय जिनप्रतिमायें होती हैं। इस उपवन भूमि की बावड़ियों के जल में निरीक्षण करने पर प्रत्येक जन अपने अतीत-अनागत सात भवों को देख लेते हैं।

एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित तीन कोटों से वेष्टित व तीन कटनियों के ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं। इन मानस्तम्भों के चारों तरफ भी कमल आदि फूलों से युक्त स्वच्छ जल से भरित वापियाँ होती हैं। वहाँ कहीं पर रमणीय भवन, कहीं क्रीड़नशाला और कहीं नृत्य करती हुई देवांगनाओं से युक्त नाट्यशालायें होती हैं। ये रमणीय भवन पंक्तिक्रम से इस भूमि में शोभायमान होते हैं। ये भवन भी कई खनों से निर्मित अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणे ऊँचे होते हैं। अपनी प्रथम भूमि की अपेक्षा इस उपवन भूमि का विस्तार दूना होता है।

१५. नृत्यशाला - सब वनों के आश्रित सब वीथियों (गलियों) के दोनों पार्श्व भागों में दो-दो नाट्यशालायें होती हैं। इनमें से आदि की आठ नाट्यशालाओं में भवनवासिनी देवांगनायें और इससे आगे की आठ नाट्यशालाओं में कल्पवासिनी देवांगनायें नृत्य किया करती हैं। इन नाट्यशालाओं का सुन्दर वर्णन पूर्व के समान है।

१६. तृतीय वेदी - यह तीसरी वेदिका अपनी दूसरी वेदिका के समान है, अन्तर इतना ही है कि यहाँ के चारों द्वारों के रक्षक यक्षेन्द्र रहते हैं।

१७. ध्वजाभूमि - वेदिका के आगे इस पंचम ध्वजाभूमि में दिव्य ध्वजायें होती हैं। जिनमें सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र ये दश प्रकार के चिन्ह बने रहते हैं। चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में इन दश प्रकार की ध्वजाओं में से प्रत्येक १०८ रहती हैं और इनमें से भी प्रत्येक ध्वजा अपनी १०८ क्षुद्रध्वजाओं से संयुक्त रहती हैं। इस प्रकार इस ध्वजाभूमि में महाध्वजा १० X १०८ X ४ = ४३२० व क्षुद्रध्वजायें १० X १०८ X १०८ X ४ = ४६६५६० समस्त ध्वजायें ४३२० + ४६६५६० = ४७०८८० होती हैं। ये समस्त ध्वजायें रत्नों से खचित सुवर्णमय स्तम्भों में लगी रहती हैं। इन ध्वजस्तम्भों की ऊँचाई अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणी रहती है।

१८. साल - इस ध्वजभूमि के आगे चाँदी के समान वर्णवाला तीसरा कोट अपने धूलिसाल कोट के ही सदृश है। इस कोट का विस्तार द्वितीय कोट की अपेक्षा दूना है और इसके द्वार रक्षक भवनवासी देव रहते हैं।

१९. कल्पभूमि - इस छठी भूमि का नाम कल्पभूमि है, यह दश प्रकार के कल्पवृक्षों से परिपूर्ण है। पानांग, तुर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग, ये दशप्रकार के कल्पवृक्ष हैं। इस भूमि में कहीं पर कमल, उत्पल से सुगंधित बावड़ियाँ हैं, कहीं पर रमणीय प्रासाद, कहीं पर क्रीड़नशालायें और कहीं पर जिनेन्द्रदेव के विजयचरित्र के गीतों से युक्त प्रेक्षणशालायें होती हैं। ये सब भवन बहुत भूमियों (खनों) से सुशोभित, रत्नों से निर्मित पंक्तिक्रम से

शोभायमान होते हैं। इस कल्पभूमि के भीतर पूर्वादि दिशाओं में नमेरू, मंदार, संतानक और पारिजात ये चार-चार महान् सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं। ये वृक्ष तीन कोटों से युक्त और तीन मेखलाओं के ऊपर स्थित होते हैं। इनमें से प्रत्येक वृक्ष के मूलभाग में विचित्र पीठों से युक्त, रत्नमय चार-चार सिद्धों की प्रतिमायें होती हैं। ये वंदना करने मात्र से तुरंत संसार के भय को नष्ट कर देती हैं। एक-एक सिद्धार्थ वृक्ष के आश्रित, तीन कोटों से वेष्टित, पीठत्रय के ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं। कल्पभूमि में स्थित सिद्धार्थ वृक्ष, क्रीड़नशालायें और प्रासाद जिनेन्द्र की ऊँचाई से बारहगुणे ऊँचे होते हैं।

२०. नाट्यशाला - इस कल्पभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी (गली) के आश्रित, दिव्य रत्नों से निर्मित और अपने चैत्यवृक्षों के सदृश ऊँचाई वाली चार-चार नाट्यशालायें होती हैं। सब नाट्यशालायें पांच भूमियों (खनों) से विभूषित, बत्तीस रंगभूमियों से सहित और नृत्य करती हुई ज्योतिषी देवांगनाओं से रमणीय होती हैं।

२१. वेदी - इस नाट्यशाला के आगे प्रथम वेदी के सदृश ही चौथी वेदी होती है। यहाँ भवनवासी देव द्वारों की रक्षा करते हैं।

२२. भवनभूमि - इस वेदी के आगे भवनभूमि नाम से सातवीं भूमि होती है। इसमें रत्नों से खचित, फहराती हुई ध्वजा-पताकाओं से सहित और उत्तम तोरण युक्त उन्नत द्वारों वाले भवन होते हैं। वे एक-एक भवन सुरयुगलों के गीत, नृत्य एवं बाजे के शब्दों से तथा जिनाभिषेकों से शोभायमान होते हैं। यहाँ पर भी उपवन, वापिका आदि की सुन्दर शोभा पूर्व के समान रहती है।

२३. स्तूप - इस भवनभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य जिन और सिद्धों की अनुपम प्रतिमाओं से व्याप्त नौ-नौ स्तूप होते हैं। इन स्तूपों की छतों पर छत्र फिरते रहते हैं, ध्वजायें फहराती रहती हैं, ये दिव्यरत्नों से निर्मित रहते हैं और आठ मंगल द्रव्यों से सहित होते हैं। एक-एक स्तूप के बीच में मकर के आकार के सौ तोरण होते हैं। इन स्तूपों की ऊँचाई अपने चैत्यवृक्षों की ऊँचाई के समान होती है। भव्यजीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन और प्रदक्षिणा किया करते हैं।

२४. साल - स्तूपों के आगे आकाश स्फटिक के सदृश और मरकत मणिमय चार गोपुर द्वारों से रमणीय चौथा कोट होता है। यहाँ के द्वारों पर कल्पवासी देव उत्तम रत्नमय दण्डों को हाथ में लेकर खड़े रहते हैं। ये जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की परम भक्ति से द्वारपाल का कार्य करते हैं।

२५. श्रीमण्डप भूमि - इस आठवीं भूमि का नाम 'श्रीमण्डप' है। यह अनुपम उत्तमरत्नों के खम्भों पर स्थित और मुक्ताजालादि से शोभायमान रहती है। इसमें निर्मल स्फटिकमणि से निर्मित सोलह दीवालों के बीच में बारह कोठे होते हैं। इन कोठों की ऊँचाई अपने जिनेन्द्र की ऊँचाई से बारहगुणी होती है।

२६. गणविन्यास - इन बारह कोठों के भीतर पूर्वादि प्रदक्षिणा क्रम से पृथक्-पृथक् ऋषि आदि बारहगण बैठते हैं। उनका क्रम यह है — प्रथम कोठे में संपूर्ण ऋद्धियों के धारक गणधरदेव और सर्वदिगंबर मुनिगण बैठते हैं। स्फटिकमणि की दीवाल से व्यवहित दूसरे कोठे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे कोठे में अतिशय नम्र आर्यिकायें तथा श्राविकायें बैठती हैं। चतुर्थ कोठे में ज्योतिर्वासी देवियाँ, पांचवें में व्यंतर देवियाँ, छठे में भवनवासी देवियाँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यंतरदेव, नौवें में सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिषीदेव, दशवें में कल्पवासीदेवी, ग्यारहवें में चक्रवर्ती, मण्डलीक राजा एवं अन्य मनुष्य तथा बारहवें में परस्पर वैरभाव को छोड़कर सिंह, व्याघ्र, नकुल, हरिण आदि तिर्यंचगण बैठते हैं।

२७. वेदी - इसके अनंतर निर्मल स्फटिक पाषाण से बनी हुई पाँचवीं वेदिका होती है। जिसका सर्व वर्णन प्रथम वेदी के सदृश ही है।

२८. प्रथम पीठ - इस पाँचवी वेदी के आगे वैडूर्यमणि से निर्मित प्रथम पीठ होती है। इन पीठों की ऊँचाई भी अपने मानस्तम्भ की पीठ के सदृश है। इस प्रथमपीठ के ऊपर बारह कोठों में से प्रत्येक कोठे के प्रवेश द्वारों में और समस्त (चार) वीथियों के सन्मुख सोलह-सोलह सीढ़ियाँ होती हैं। चूड़ी के सदृश गोल नाना प्रकार के पूजा द्रव्य और मंगल द्रव्यों से सहित इस पीठ पर चारों दिशाओं में अपने शिर पर धर्मचक्र को रखे हुये यक्षेंद्र स्थित रहते हैं। वे गणधर देव आदि बारहगण इस पीठ (कटनी) पर चढ़कर और प्रदक्षिणा देकर जिनेन्द्रदेव के सम्मुख हुये यथा योग्य वंदना, पूजा, भक्ति आदि करते हैं। सैकड़ों स्तुतियों द्वारा गुणकीर्तन करके असंख्यात गुणश्रेणीरूप से अपने कर्मों की निर्जरा करते हुये प्रसन्नचित्त होकर अपने-अपने कोठों में प्रवेश करते हैं।

२९. द्वितीय पीठ - प्रथम पीठ (कटनी) के ऊपर दूसरा पीठ होता है। यह पीठ भी नाना रत्नों से खचित भूमि युक्त होता है। इस सुवर्णमय पीठ पर चढ़ने के लिये चारों दिशाओं में पांच वर्ण के रत्नों से निर्मित सीढ़ियाँ होती हैं। इस पीठ के ऊपर मणिमय स्तम्भों पर लटकती हुई ध्वजायें होती हैं, जिनमें सिंह, बैल, कमल, चक्र, माला, गरुड़, वस्त्र और हाथी ऐसे आठ प्रकार के चिन्ह बने रहते हैं। इसी पीठ पर धूपघट, मंगलद्रव्य, पूजनद्रव्य और नवनिधियाँ रहती हैं जिनका वर्णन करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है।

३०. तृतीय पीठ - द्वितीय पीठ के ऊपर विविध प्रकार के रत्नों से खचित तीसरा पीठ (कटनी) होता है। सूर्यमण्डल के समान गोल इस पीठ के चारों ओर रत्नमय और सुखकर स्पर्शवाली आठ-आठ सीढ़ियाँ होती हैं।

३१. गंधकुटी - इस तृतीय पीठ के ऊपर एक गंधकुटी होती है। यह चामर, किंकणी, वन्दनमाला

और हार आदि से रमणीय, गोशीर, मलय, चंदन, कालागरु आदि धूपों के गंध से व्याप्त, प्रज्वलित रत्नों के दीपकों से सहित तथा फहराती हुई विचित्र ध्वज पंक्तियों से संयुक्त होती है। ऋषभदेव के समय गंधकुटी की ऊँचाई ६०० धनुष थी। आगे घटते-घटते वीरनाथ के समय ७५ धनुष प्रमाण रह गई थी। गंधकुटी के मध्य में पादपीठ सहित, उत्तम स्फटिक मणि से निर्मित, घंटाओं के समूहादि से रमणीय सिंहासन होता है। रत्नों से खचित उस सिंहासन की ऊँचाई तीर्थंकर की ऊँचाई के ही योग्य हुआ करती है।

इस प्रकार यहाँ ३१ अधिकारों द्वारा समवसरण का वर्णन किया गया है। लोक और अलोक को प्रकाशित करने के लिये सूर्य के समान भगवान् अर्हंतदेव उस सिंहासन के ऊपर आकाश मार्ग में चार अंगुल के अन्तराल से स्थित रहते हैं।

अतिसंक्षेप में पुनः इस समवसरण को बताते हैं -

समवसरण में आठ भूमि और तीन कटनी

१. पहली- 'चैत्यप्रासाद भूमि' है, इसमें एक-एक जिन मंदिर के अंतराल में पाँच-पाँच प्रासाद हैं।

२. दूसरी-खातिका भूमि है, इसके स्वच्छ जल में हंस आदि कलरव कर रहे हैं और कमल आदि पुष्प खिले हुये हैं।

३. तीसरी-लताभूमि है, इसमें छहों ऋतुओं के पुष्प खिले हुये हैं।

४. चौथी-उपवनभूमि है, इसमें पूर्व आदि दिशा में क्रम से अशोक, सप्तच्छद, चंपक और आम्र के वन हैं। प्रत्येक वन में एक-एक चैत्यवृक्ष हैं जिनमें ४-४ जिनप्रतिमायें विराजमान हैं।

५. पाँचवी-ध्वजाभूमि है, इसमें सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र इन दशचिन्हों से सहित महाध्वजायें और उनके आश्रित लघु ध्वजायें सब मिलाकर ४,७०,८८० हैं

६. छठी-कल्पभूमि है, इसमें भूषणांग आदि दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। चारों दिशा में क्रम से नमेरु, मंदार, संतानक और पारिजात ऐसे एक-एक सिद्धार्थवृक्ष हैं। इनमें चार-चार सिद्धप्रतिमायें विराजमान हैं।

७. सातवीं-भवनभूमि में भवन बने हुये हैं। इस भूमि के पार्श्व भागों में अर्हंत और सिद्ध प्रतिमाओं से सहित नौ-नौ स्तूप हैं।

८. आठवीं-श्रीमण्डपभूमि है, इसमें १६ दीवालों के बीच में १२ कोठे हैं जिनमें १- गणधरादि मुनि २-कल्पवासिनी देवी ३-आर्यिका और श्राविका ४-ज्योतिषी देवी ५-व्यंतर देवी ६-भवनवासिनी देवी ७-भवनवासी देव ८-व्यंतर देव ९-ज्योतिष देव १०-कल्पवासी देव ११-चक्रवर्ती आदि मनुष्य और १२-सिंहादि तिर्यंच, ऐसे बारह गण के असंख्यातों भव्यजीव बैठकर धर्मोपदेश सुनते हैं। वहां पर

रोग, शोक, जन्म, मरण, उपद्रव आदि बाधायें नहीं हैं।

पुनः प्रथम कटनी पर आठ महाध्वजायें, आठ मंगलद्रव्य आदि हैं। तृतीय कटनी पर गंधकुटी में सिंहासन पर लाल कमल की कर्णिका पर भगवान महावीर चार अंगुल अधर विराजमान हैं। इनका मुख एक तरफ होते हुये भी चारों तरफ दिखने से ये चतुर्मुख ब्रह्मा कहलाते हैं। भगवान के पास अशोक वृक्ष, तीन छत्र, सिंहासन, भामंडल, चौंसठ चंवर, सुरपुष्पवृष्टि, दुंदभि बाजे और हाथ जोड़े सभासद ये आठ महाप्रातिहार्य होते हैं। वहीं पर भगवान महावीर के जिनशासन देव मातंगयक्ष और शासनदेवी सिद्धायिनी यक्षी विद्यमान हैं।

चौंतीस अतिशय

तीर्थंकर के जन्म से लेकर अन्त तक ३४ अतिशय होते हैं, जिनका वर्णन निम्न प्रकार है—

जन्म के १० अतिशय, घातिकर्म क्षय से ११ अतिशय और देवों के द्वारा किये गये १३ अतिशय, ऐसे कुल मिलाकर ३४ अतिशय[1] होते हैं।

पसीना का न होना, शरीर में मल-मूत्र का न होना, दूध के समान सफेद रुधिर का होना, वज्रवृषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, अत्यन्त सुन्दर शरीर, नवचंपक की उत्तम गंध के समान सुगन्धित शरीर, १००८ उत्तम लक्षणों का होना, अनंत बल-वीर्य, हित-मित एवं मधुर भाषण, प्रत्येक तीर्थंकर के जन्मकाल से ही ये स्वाभाविक दश अतिशय होते हैं।

अपने पास से चारों दिशाओं में १०० योजन तक सुभिक्षता, आकाश में गमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, सबकी ओर मुख करके स्थित होना, छाया का न होना, पलकों का न झपकना, सर्व विद्याओं की ईश्वरता, नख और केशों का न बढ़ना, अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषायें हैं उनमें तालु, दाँत, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होकर एक साथ भव्यजनों को दिव्य उपदेश देना। भगवान जिनेन्द्रदेव की स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों संध्या कालों में नव मुहूर्तों तक निकलती है और एक योजन पर्यंत जाती है। इससे अतिरिक्त गणधर देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती मुख्यश्रोता के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि भव्यजीवों को छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। इस प्रकार घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुये ये महान् आश्चर्यजनक ग्यारह अतिशय तीर्थंकर को केवलज्ञान के होने पर प्रगट होते हैं।

तीर्थंकर के माहात्म्य से संख्यात योजनों तक वन असमय में ही पत्ते, फूल और फलों की समृद्धि

---

१. यह गणना तिलोयपण्णत्ति के आधार से है। अन्य ग्रन्थों में जन्म के १०, केवलज्ञान के १० और देवकृत १४ ऐसे ३४ अतिशय गिनाये हैं।

से युक्त हो जाता है। कंटक और रेती को दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है। जीव पूर्व वर को छोड़कर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं। उतनी भूमि दर्पण तल के सदृश स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगंधित जल की वर्षा करता है। देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि खेत को रचते हैं। सब जीवों को नित्य आनंद उत्पन्न होता है। वायुकुमार देव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है। कुँये और तालाब आदि निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं। आकाश धुआँ और उल्कापात आदि से रहित होकर निर्मल हो जाता है। संपूर्ण जीवों को रोगादि की बाधायें नहीं होती हैं। यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्ज्वल ऐसे दिव्य धर्मचक्रों को देखकर जनों को आश्चर्य होता है। तीर्थंकर की (विदिशाओं सहित) चारों दिशाओं में छप्पन सुवर्ण कमल, एक पाद पीठ और दिव्य एवं विविध प्रकार के पूजनद्रव्य होते हैं। इस प्रकार ये चौंतीस अतिशय कहे गये हैं।

आठ महाप्रातिहार्य - ऋषभ आदि तीर्थंकरों को जिन वृक्षों के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वे ही अशोक वृक्ष कहलाते हैं। ये जिनेन्द्रदेव के शरीर की ऊँचाई से बारह गुणे अधिक ऊँचे होते हैं। ये इतने सुन्दर होते हैं कि इनको देखकर इन्द्र का चित्त भी अपने नन्दन वनों में नहीं रमता है। तीर्थंकर के मस्तक के ऊपर बिना स्पर्श किये ही चंद्रमण्डल के सदृश, मुक्ता के समूह से युक्त तीन छत्र शोभित होते हैं। निर्मल स्फटिक पाषाण से निर्मित और उत्कृष्ट रत्नों से खचित सिंहासन होता है। गाढ़ भक्ति में आसक्त, हाथों को जोड़े हुये, विकसित मुख कमल से संयुक्त, बारह गण के मुनिगण आदि भव्य जीव भगवान को घेरकर स्थित रहते हैं। मोह से रहित होकर जिनप्रभु के शरण में आवो, आवो, ऐसा कहते हुये ही मानों देवों का दुंदुभी बाज़ा बजता रहता है। भगवान् के चरणों के मूल में देवों के द्वारा की गई पुष्पवृष्टि होती रहती है। करोड़ों सूर्य के समान देदीप्यमान प्रभामण्डल अपने दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण लोगों को सात भवों को दिखला देता है। कुंदपुष्प के समान श्वेत चौंसठ चंवर देवों के द्वारा ढुराये जाते हैं। ये आठ महाप्रातिहार्य कहलाते हैं।

इन चौंतीस अतिशय और आठ महाप्रातिहार्य से संयुक्त मोक्षमार्ग के नेता और तीनों लोकों के स्वामी ऐसे अर्हंतदेव की मैं वंदना करता हूँ।

समवसरण में कितने जीव रहते हैं ? - प्रत्येक समवसरण में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण अर्थात् असंख्यात जीव जिनेन्द्रदेव की वंदना में प्रवृत्त हुये स्थित रहते हैं। कोठों के क्षेत्र से यद्यपि जीवों का क्षेत्रफल असंख्यात गुणा है, फिर भी वे सब भव्यजीव जिनदेव के माहात्म्य से एक दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं। वहाँ पर बालक से लेकर वृद्ध तक सभी लोग प्रवेश करने में अथवा निकलने में अंतर्मुहूर्त काल (४८ मिनट) के भीतर संख्यात योजन चले जाते हैं। इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते,

तथा अनध्यवसाय, संदेह और विपरीतता से युक्त जीव भी नहीं होते हैं। इससे अतिरिक्त वहाँ पर जिन भगवान् के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वैर, काम बाधा तथा भूख और प्यास की बाधायें भी नहीं होती हैं।

यक्ष-यक्षिणी - गोवदन, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश्वर, तुम्बुरू, कुसुम वरनन्दि, विजय, अजित, ब्रह्म, ब्रह्मेश्वर, कुमार, षण्मुख, पाताल, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गंधर्व, महेन्द्र, कुबेर, वरुण, विद्युत्प्रभ, सर्वाण्ह, धरणेन्द्र और मातंग चौबीस तीर्थंकरों के ये चौबीस यक्ष हैं। अपने-अपने तीर्थंकर के ये यक्ष अपने-अपने जिनेंद्रदेव के पास में स्थित रहते हैं। इन्हें जिनशासन देव कहते हैं।

चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, पुरुषदत्ता, मनोवेगा, काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, मानवी, गौरी, गांधारी, वैरोटी, अनन्तमती, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरूपिणी, चामुण्डी, कूष्माण्डी, पद्मावती और सिद्धायिनी चौबीस तीर्थंकरों के क्रम से ये चौबीस यक्षिणी हैं। अपने-अपने तीर्थंकर के समीप में एक-एक यक्षिणी रहा करती हैं। इन्हें जिनशासनदेवी कहते हैं।

दिव्यध्वनि का माहात्म्य - जैसे चन्द्रमा से अमृत झरता है उसी प्रकार खिरती हुई जिन भगवान् की वाणी को अपने कर्त्तव्य के बारे में सुनकर वे बारह गणों के भिन्न-भिन्न जीव नित्य ही अनन्तगुणश्रेणीरूप से विशुद्ध परिणामों को धारण करते हुये अपने असंख्यात-गुणश्रेणीरूप कर्मों को नष्ट कर देते हैं। वहाँ पर रहते हुये वे भव्य जीव जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों में परम आस्थावान होते हुये परम भक्ति में आसक्त होकर अतीत, वर्तमान और भावीकाल को भी नहीं जानते हैं अर्थात् बहुत सा काल व्यतीत कर देते हैं। इस प्रकार से तीर्थंकर को जब आर्हंत्य पद नामक परमस्थान प्राप्त होता है तब समवसरण की विभूति आदि महा अतिशय प्रगट होते हैं।

आर्हंत्य परमस्थान में यह समवसरण आदि विभूति तो बहिरंग वैभव है। इसके साथ चार घातिया कर्मों के नाश होने से चार अनंत गुण प्रगट हो जाते हैं। ज्ञानावरण कर्म के अभाव से अनन्तज्ञान, दर्शनावरण के नाश से अनन्तदर्शन, मोहनीय के नाश से अनन्तसुख और अन्तराय के क्षय से अनन्तवीर्य प्रगट हो जाते हैं। ये चार गुण ही अनन्तचतुष्टय कहे जाते हैं।

भगवान् की सभा में द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता, मनःपर्ययज्ञान पर्यंत चार ज्ञान के धारी और चौंसठ ऋद्धियों से समन्वित गणधर देव रहते हैं जो भगवान् की दिव्यध्वनि को श्रवण कर जन-जन में उसका विस्तार करते हैं। गणधर के अभाव में तीर्थंकर की दिव्यदेशना नहीं होती है ऐसा नियम है। भगवान की बारह सभा में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, यह चतुर्विध संघ रहता है। असंख्यातों देव-देवियाँ रहते हैं और संख्यातों तिर्यंच रहते हैं। ये सभी भगवान् के दिव्य उपदेश को सुनकर सम्यक्त्व को और अपने योग्य व्रतों को ग्रहण कर अपनी आत्मा को मोक्षमार्गी बना लेते हैं।

विपुलाचल पर्वत पर प्रथम दिव्यध्वनि खिरी

भगवान महावीर का समवसरण बन गया था किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी। जब प्रभु का श्रीविहार होता था तब समवसरण विघटित हो जाता था एवं प्रभु का श्रीविहार आकाश में अधर होता था। देवगण भगवान के श्रीचरण कमलों के नीचे-नीचे स्वर्णमयी सुगंधित दिव्य कमलों की रचना करते रहते थे पुनः जहाँ भगवान रुकते, अर्धनिमिष मात्र में कुबेर आकाश में अधर ही समवसरण बना देता था।

हरिवंश पुराण में आया है कि छ्यासठ दिन तक मौन से विहार करते हुये प्रभु राजगृह में पहुँचे-

षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः। आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम्।।६१।।
आरूरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियं। प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा।।६२।।
इन्द्राग्निवायुभूताख्याः कौडिन्याख्याश्च पण्डिताः। इन्द्रनोदनयाऽऽयाताः समवस्थानमर्हतः।।६८।।
प्रत्येकं सहिताः सर्वे शिष्याणां पंचभिः शतैः। त्यक्ताम्बरादिसंबंधाः संयमं प्रतिपेदिरे।।६९।।
सुता चेटकराजस्य कुमारी चंदना तदा। धौतैकाम्बरसंवीता जातार्याणा पुरःसरी।।७०।।
श्रेणिकोऽपि च संप्राप्तः सेनया चतुरंगया। सिंहासनोपविष्टं तं प्रणनाम जिनेश्वरम्।।७१।।
प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थं कृतदोषत्रयक्षयम्। जिनेंद्रं गौतमोऽपृच्छत् तीर्थार्थं पापनाशनम्।।८९।।
स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः। दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना।।९०।।
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः। प्रतिपद्यन्हि पूर्वाण्हे शासनार्थमुदाहरत्।।९१।।[1]

तदनन्तर छ्यासठ दिन तक मौन से विहार करते हुय श्रीवर्धमान जिनेन्द्र जगत्प्रसिद्ध राजगृह नगर आये। वहाँ जिस प्रकार सूर्य उदयाचल पर आरूढ़ होता है उसी प्रकार वे लोगों को प्रतिबद्ध करने के लिये विपुल लक्ष्मी के धारक विपुलाचल पर्वत पर आरूढ़ हुये।।६१-६२।।

इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति तथा कौण्डिन्य आदि पण्डित इन्द्र की प्रेरणा से श्रीअर्हंत देव के समवसरण में आये। वे सभी पंडित अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों से सहित थे, इन सभी ने वस्त्रादि का त्याग कर संयम धारण कर लिया। उसी समय राजा चेटक की पुत्री कुमारी 'चन्दना' एक स्वच्छ वस्त्र धारण कर आर्यिकाओं में प्रमुख गणिनी हो गयीं। राजा श्रेणिक भी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ समवसरण में पहुँचे और वहाँ पर सिंहासन पर विराजमान श्रीवर्द्धमान भगवान को नमस्कार किया।।६८-७१।।

तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले एवं राग-द्वेष और मोह को क्षय करने वाले, पापनाशक श्री जिनेन्द्रदेव से श्री गौतम गणधर ने तीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये प्रश्न किया।

१. हरिवंश पुराण, सर्ग २

अनंतर श्रीमहावीर स्वामी ने श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के प्रातःकाल के समय अभिजित् नक्षत्र में समस्त संशयों को छेदने वाले, दुन्दुभि के शब्द के समान गंभीर तथा एक योजन तक फैलने वाली दिव्यध्वनि के द्वारा शासन की परंपरा चलाने के लिये उपदेश दिया।।८०-८१।।

अन्यत्र ग्रन्थों में आया है कि–

जब इंद्रराज ने देखा–भगवान को केवलज्ञान होकर ६५ दिन व्यतीत हो गये, फिर भी प्रभु की दिव्यध्वनि नहीं खिर रही है क्या कारण है? चिंतन कर यह पाया कि गणधर का अभाव होने से ही दिव्यध्वनि नहीं खिरी है। तब सौधर्मेंद्र ने इन्द्रभूति ब्राह्मण को इस योग्य जानकर उस अभिमानी को लेने के लिये युक्ति से वृद्ध का रूप बनाया और वहाँ 'गौतमशाला' में पहुँचे। वहाँ के प्रमुख गुरु 'इंद्रभूति' से बोले–

'मेरे गुरु इस समय ध्यान में लीन होने से मौन हैं अतः मैं आपके पास इस श्लोक का अर्थ समझने आया हूँ।'

गौतम गौत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण ने विद्या से गर्विष्ठ होकर पूछा–

'यदि मैं इसका अर्थ बता दूंगा तो तुम क्या दोगे?'

तब वृद्ध ने कहा–'यदि आप इसका अर्थ कर देंगे, तो मैं सब लोगों के सामने आपका शिष्य हो जाऊँगा और यदि आप अर्थ न बता सके तो इन सब विद्यार्थियों और अपने दोनों भाइयों के साथ आप मेरे गुरु के शिष्य बन जाना।'

महाअभिमानी इंद्रभूति ने यह शर्त मंजूर कर ली, क्योंकि वह यह समझता था कि मेरे से अधिक विद्वान् इस भूतल पर कोई है ही नहीं। तब वृद्ध ने वह काव्य पढ़ा–

''धर्मद्वयं त्रिविधकालसमग्रकर्म, षड्द्रव्यकायसहिताः समयैश्च लेश्याः।
तत्त्वानि संयमगती सहितं पदार्थै-रंगप्रवेदमनिशं वद चास्तिकायम्।।'[1]

तब गौतम गोत्र से 'गौतम' नाम से प्रसिद्ध इन्द्रभूति ने कुछ देर सोचकर कहा–'अरे ब्राह्मण! तू अपने गुरु के पास ही चल। वहीं मैं इसका अर्थ बताकर तेरे गुरु के साथ वाद-विवाद करूँगा।'

सौधर्मेंद्र तो यही चाहते थे। तब वेषधारी इंद्रराज गौतम को लेकर भगवान के समवसरण की ओर चल पड़े।

वहाँ मानस्तम्भ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उन्हें सम्यक्त्व प्रगट हो गया। समवसरण के सारे वैभव को देखते हुए महान् आश्चर्य को प्राप्त उन्होंने भगवान महावीर स्वामी का दर्शन किया और भक्ति में गद्गद् होकर स्तुति करने लगे–

---

१. गौतम स्वामी चरित ।

'जयति भगवान् हेमाम्भोज-प्रचार-विजृंभिता-वमर मुकुटच्छायोद्गीर्ण-प्रभापरिचुम्बितौ।।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणो। विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः'।।१।।

स्तुति करके विरक्त मना होकर उन इंद्रभूति ने प्रभु के चरण सानिध्य में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। तत्क्षण ही उन्हें मति-श्रुत ज्ञान के साथ ही अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया। वे गणधर पद को प्राप्त हो गये तभी भगवान की दिव्यध्वनि खिरी थी।

'कषायपाहुड़' ग्रन्थ में प्रथम दिव्यध्वनि के बारे में प्रश्नोत्तर रूप में बहुत ही सुंदर वर्णन किया है-

जिन्होंने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करके समस्त प्राणियों को संशयरहित किया है, जो वीर हैं-जिन्होंने विशेषरूप से समस्त पदार्थ समूह को प्रत्यक्ष कर लिया है, जो जिनों में श्रेष्ठ हैं तथा राग, द्वेष और भय से रहित हैं ऐसे भगवान महावीर धर्मतीर्थ के कर्ता हैं।

प्रश्न - भगवान महावीर ने धर्मतीर्थ का उपदेश कहाँ पर दिया?

उत्तर - 'सेणियराए सचेलणे महामंडलीए सयलवसुहामंडलं भुंजति मगहामंडल-तिलओवम..? रायगिहणयर - णेरयि -दिसमहिट्ठिय - विउलगिरिपव्वए सिद्धचारणसेविए बारहगण-परिवेड्ढिएण कहियं।

जब महामण्डलीक श्रेणिक राजा अपनी चेलना रानी के साथ सकल पृथिवी मंडल का उपभोग करता था तब मगधदेश के तिलक के समान राजगृह नगर को नैऋत्य दिशा में स्थित तथा सिद्ध और चारणों द्वारा सेवित विपुलाचल पर्वत के ऊपर बारह गणों — सभाओं से परिवेष्टित भगवान महावीर ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

राजगृह नगर के पास स्थित पंचशैलपुर है-जिसे पंचपहाड़ी कहते हैं। पूर्व दिशा में चौकोर आकार वाला ऋषिगिरि नाम का पर्वत है। दक्षिण दिशा में वैभार पर्वत, नैऋत्य दिशा में विपुलाचल नाम का पर्वत है, ये दोनों त्रिकोण आकार वाले हैं। पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में धनुष के आकार वाला 'छिन्न' नाम का पर्वत है। ऐशान दिशा में गोलाकार पांडु नाम का पर्वत है। ये सब पर्वत कुश के अग्रभागों से ढके हुये हैं।

प्रश्न - किस काल में धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है?

उत्तर - भरतक्षेत्र संबंधी अवसर्पिणी काल के दुःषमसुषमा नामक चौथे काल में नौ दिन, छह महिना अधिक तेतीस वर्ष अवशिष्ट होने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है। कहा भी है-

इम्मिस्सेवसप्पिणीए चउत्थकालस्स पच्छिमे भाए। चोत्तीसवासावसेसे किंचि विसेसूणकालम्मि[२]।।

इस अवसर्पिणी काल के दुःषमसुषमा नामक चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस

१. चैत्यभक्ति। २. कसायपाहुड़ पु.१ पृ. ७६-८१।

वर्ष बाकी रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है।

आगे इसी को स्पष्ट करते हैं– चौथे काल में पंद्रह दिन और आठ महीना अधिक पचहत्तर वर्ष बाकी रहने पर आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन बहत्तर वर्ष की आयु लेकर मति-श्रुत- अवधि ज्ञान के धारक भगवान महावीर पुष्पोत्तर विमान से च्युत होकर गर्भ में अवतीर्ण हुये। उन बहत्तर वर्षों में तीस वर्ष कुमार काल है, बारह वर्ष, छद्मस्थ काल है तथा तीस वर्ष केवलीकाल है। इन तीनों कालों का जोड़ बहत्तर वर्ष होता है। इस ७२ वर्ष प्रमाण काल को पंद्रह दिन और आठ महीना अधिक ७५ वर्ष में घटा देने पर वर्द्धमान जिनेंद्र के मोक्ष जाने पर जितना चतुर्थ काल शेष रहता है उसका प्रमाण होता है।

इस काल में छ्यासठ दिन कम केवलिकाल अर्थात् २६ वर्ष, नौ महीना और चौबीस दिन के मिला देने पर चतुर्थकाल में नौ दिन और छह महीना अधिक तैतीस वर्ष बाकी रहते हैं।

शंका– केवलिकाल में से छ्यासठ दिन किसलिये कम किये हैं?

समाधान – भगवान महावीर को केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर भी छ्यासठ दिन तक धर्मतीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसलिये केवलिकाल में से छ्यासठ दिन कम किये गये हैं।

जयधवला में कहा है–

"दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती?

गणिंदाभावादो।

सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो?

ण, काललब्धीए विणा असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो।"

शंका – केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनंतर छ्यासठ दिन तक दिव्य-ध्वनि की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई?

समाधान – गणधर न होने से उतने दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति नहीं हुई।

शंका – सौधर्मेन्द्र ने केवलज्ञान प्राप्त होते ही गणधर देव को क्यों नहीं उपस्थित किया?

समाधान – नहीं, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था, उसमें उसी समय गणधर को उपस्थित करने की शक्ति नहीं थी।

शंका – जिसने अपने तीर्थंकर पादमूल में महाव्रत स्वीकार किया है ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती है?

समाधान – ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव दूसरों के द्वारा प्रश्न करने योग्य नहीं होता है, क्योंकि यदि स्वभाव में ही प्रश्न होने लगे तो कोई व्यवस्था ही न बन सकेगी।

अतएव कुछ कम चौतीस वर्ष प्रमाण चौथे काल के रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई यह

सिद्ध हुआ।

कोई अन्य आचार्य "भगवान वर्द्धमान की आयु ७१ वर्ष, ३ माह २५ दिन प्रमाण है" ऐसा कहते हैं।

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तक ६ माह ८ दिन हुये। चैत्र शुक्ला चतुर्दशी से अट्ठाईस वर्ष व्यतीत कर पुनः मगसिर कृष्णा दशमी तक लेने से अट्ठाईस वर्ष सात माह बारह दिन (२८ वर्ष ७ माह १२ दिन) होते हैं। मगसिर कृ.११ से आगे बारह वर्ष के बाद वैशाख शुक्ला दशमी को केवलज्ञान हुआ अतः १२ वर्ष, ५ माह १५ दिन बाद केवली हुये हैं। वैशाख शुक्ला ११ से आगे वैशाख शुक्ला १० तक उनतीस वर्ष पुनः वैशाख शुक्ला ११ से कार्तिक कृष्णा अमावस्या तक पाँच माह बीस दिन ऐसे २९ वर्ष, ५ माह, २० दिन का केवली काल है। इस प्रकार वर्द्धमान जिनेन्द्र की आयु ७१ वर्ष, ३ माह, २५ दिन प्रमाण मानी गयी है।

भगवान महावीर की आयु बहत्तर वर्ष की थी। दूसरे मत से इकहत्तर वर्ष, तीन माह, पच्चीस दिन की थी। ये दोनों मत जयधवला ग्रंथ में आये हैं।[1]

श्रावणकृष्णा एकम के दिन भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी थी जब इंद्रभूति ब्राह्मण ने वर्द्धमान भगवान से जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की थी। उत्तर पुराण में कहा है–

'श्रीवर्द्धमानमानम्य संयमं प्रतिपन्नवान्।'

श्रीवर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके सकलसंयम ग्रहण कर लिया था।

दिव्यध्वनि का वर्णन तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में आया है।

जोयणपमाणसंट्ठिद - तिरियामरमणुव णिवहपडिबोधो। मिदमधुरगभीतरा - विसदविसयसयल भासाहिं। अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा। अक्खरअणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ।। एदासिं भासाणं तालुवंदतोट्ठकंठवावारं। परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकर-भासो।।[2]

एक योजन प्रमाण तक स्थित तिर्यंच देव और मनुष्यों के समूह को बोध प्रदान करने वाली भगवान की दिव्यध्वनि होती है। यह दिव्यध्वनि मृदु—मधुर, अतिगंभीर और विशद-स्पष्ट विषयों को कहने वाली संपूर्ण भाषामय होती है। यह संज्ञी जीवों की अक्षर और अनक्षररूप अठारह भाषा और सात सौ लघु भाषाओं में परिणत होती हुई, तालु-ओंठ-दाँत तथा कंठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्यजीवों को आनंदित करने वाली होती हैं ऐसी दिव्यध्वनि के स्वामी तीर्थंकर भगवान होते हैं।

---

१. कसायपाहुड पु. १ पृ. ७६। २. तिलोयपण्णत्ति अध्याय १, गाथा ६०-६१।

षट्खंडागम ग्रन्थ में श्रीवीरसेनस्वामी कहते हैं–

"तेण महावीरेण केवलणाणिणा कहिदत्थो तम्हि चेव काले तत्थेव खेत्ते खयोवसम -जणिदचउ-रमलबुद्धिसंपण्णेण बह्मणेण गोदमगोत्तेण सयलदुस्सुदि-पारएण जीवाजीवविसयसंदेह -विणासणट्ठ -मुवगयवड्ढमाणपादमूलेण इंदिभूदिणावहारिदो।[1]"

इस प्रकार केवलज्ञानी भगवान महावीर के द्वारा कहे गये पदार्थ को उसी काल में और उसी क्षेत्र में क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न चार प्रकार के -मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययरूप निर्मल ज्ञान से युक्त संपूर्ण दुःश्रुति - अन्यमतावलंबी वेद-वेदांग में पारंगत, गौतमगोत्रीय ऐसे इन्द्रभूति ब्राह्मण ने जीव-अजीव विषयक संदेह को दूर करने के लिये श्रीवर्द्धमान भगवान के चरणकमल का आश्रय लेकर ग्रहण किया अर्थात् प्रभु की दिव्य ध्वनि को सुना।

इसीलिये भगवान महावीर 'अर्थकर्ता' कहलाये हैं।

'पुणो तेणिदंभूदिणा भावसुदपज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दसपुव्वाणं च गंथणमेक्केण चेवमुहूत्तेण रयणा कदा।[2]"

पुनः उन इन्द्रभूति गौतमस्वामी ने भावश्रुत पर्याय से परिणत होकर बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थों की रचना एक ही मुहूर्त में कर दी।

सारांश यह है कि आज से पच्चीस सौ अट्ठावन वर्ष पूर्व श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी यही प्रथम देशना दिवस– 'वीरशासन जयंती' के नाम से प्रसिद्ध है। उसी दिन श्री गौतमस्वामी ने गणधर पद प्राप्त करके द्वादशांगरूप श्रुत की रचना की थी जोकि मौखिक मानी गई उसे लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता है। इन द्वादशांग श्रुत में क्या विषय है उसका नाममात्र वर्णन आगे किया जा रहा है।

---

१. वीर निर्वाण सं. २५२८ से यह संख्या लिखी गई है। २. षट्खंडागम धवलाटीका समन्वित पृ. ६५-६६

द्वादशांग का विषय

"द्वादशांग श्रुतज्ञान क्या है?"

"जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि को गणधरदेव धारण करते हैं पुनः उसे द्वादशांगरूप से गूँथते हैं। अतः भगवान् की वाणी ही द्वादशांग श्रुतज्ञानरूप है।

उस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं–अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। इनमें से अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं और अंगबाह्य के चौदह। अंगप्रविष्ट के नाम आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद।

(१) आचारांग–इसमें अठारह हजार पदों के द्वारा मुनियों के आचार का वर्णन रहता है। जैसे कि–

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए। कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण बज्झई।।७०।।

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए। जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई।।७१।।

किस प्रकार चलना चाहिये? किस प्रकार खड़े रहना चाहिये? किस प्रकार बैठना चाहिये? किस प्रकार शयन करना चाहिये? किस प्रकार भोजन करना चाहिए? किस प्रकार संभाषण करना चाहिए? कि जिससे पापकर्म नहीं बंधता है।

इस तरह गणधरदेव के प्रश्नों के अनुसार भगवान् उत्तर देते हैं–

यत्न से चलना चाहिये, यत्नपूर्वक खड़े रहना चाहिये, यत्नपूर्वक बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये, यत्नपूर्वक संभाषण करना चाहिये। इस प्रकार आचरण करने से पापकर्म का बंध नहीं होता है। इत्यादि रूप से मुनियों के आचार का मूलगुण और नाना प्रकार के उत्तरगुणों का वर्णन इस अंग में पाया जाता है।

(२) सूत्रकृतांग– इस अंग में छत्तीस हजार पदों द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहार धर्मक्रिया का प्ररूपण होता है तथा यह स्वसमय और परसमय का भी निरूपण करता है।

(३) स्थानांग–यह अंग बयालीस हजार पदों द्वारा उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन करता है। जैसे महात्मा अर्थात् यह जीवद्रव्य निरंतर चैतन्यरूप धर्म से उपयुक्त होने के कारण उसकी अपेक्षा एक ही है। ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना से लक्ष्यमाण होने के कारण तीन भेदरूप है। चार गतियों में परिभ्रमण की अपेक्षा इसके चार भेद हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पाँच प्रधान गुणों से युक्त होने के कारण इसके पाँच भेद हैं। भवान्तर में जाते समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण,

ऊपर और नीचे इस तरह छह संक्रमण लक्षण अपक्रमों से युक्त होने के कारण छह प्रकार का है। अस्ति, नास्ति इत्यादि सात भंगों से युक्त होने की अपेक्षा सात प्रकार का है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के आश्रय से सहित होने के कारण आठ प्रकार का है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नव पदार्थों को विषय करने वाला अथवा इन नव पदार्थोंरूप परिणमन करने वाला होने की अपेक्षा से नौ प्रकार का है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारण वनस्पतिकायिक, द्वींद्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति, इन दश भेद से दश स्थानगत होने की अपेक्षा दश प्रकार का कहा जाता है। इत्यादिरूप से जितने भी भेद संभव हैं उन सबका यह अंग वर्णन करता है।

(४) समवायांग–यह अंग एक लाख चौंसठ हजार पदों द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों के समवाय का वर्णन करता है, अर्थात् सादृश्य-सामान्य से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराता है। वह समवाय चार प्रकार का है–द्रव्यसमवाय, क्षेत्रसमवाय, कालसमवाय और भावसमवाय। उनमें से द्रव्यसमवाय की अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश समान हैं। क्षेत्र समवाय की अपेक्षा प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमंतक नाम का इन्द्रक बिल, ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नाम का इन्द्रक विमान और सिद्ध क्षेत्र ये समान हैं। काल की अपेक्षा एक समय एक समय के बराबर है और एक मुहूर्त एक मुहूर्त के बराबर है। भाव की अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शन के समान है, क्योंकि ज्ञेयप्रमाण ज्ञान है और ज्ञानमात्र चेतना की उपलब्धि होती है।

(५) व्याख्या प्रज्ञप्तिअंग–यह अंग दो लाख अट्ठाइस हजार पदों द्वारा क्या जीव है? क्या जीव नहीं है? इत्यादि रूप से साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान करता है।

(६) नाथधर्मकथांग–इस अंग का ज्ञातृधर्मकथा भी नाम है। यह पाँच लाख छप्पन हजार पदों द्वारा सूत्र पौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से स्वाध्याय की प्रस्थापना हो इसलिये, तीर्थंकरों की धर्मदेशना का, संदेह को प्राप्त गणधर के संदेह को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथा और उपकथाओं का वर्णन करता है।

(७) उपासकाध्ययनांग–यह अंग ग्यारह लाख सत्तर हजार पदों द्वारा दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, उन्हीं के व्रत धारण करने की विधि और उनके आचरण का वर्णन करता है।

(८). अन्तकृद्दशांग–यह अंग तेईस लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थंकर

के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय विशेषों को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुये दश-दश अंतकृत केवलियों का वर्णन करता है।

तत्त्वार्थ भाष्य में भी कहा है–

जिन्होंने संसार का अन्त किया उन्हें अन्तकृत् केवली कहते हैं। वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कंबिल, पालम्ब, अष्टपुत्र ये दश अन्तकृत् केवली हुये हैं। इसी प्रकार ऋषभदेव आदि तेईस तीर्थंकरों के तीर्थ में अन्य दूसरे दश-दश अनगार मुनि दारुण उपसर्गों को जीतकर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से अन्तकृत् केवली हुये। इन सबकी दशा का जिसमें वर्णन किया जाता है उसे अन्तकृद्दशा नाम का अंग कहते हैं।

(९) अनुत्तरौपपादिकदशांग–यह अंग बानवे लाख चवालीस पदों द्वारा एक-एक तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहकर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय विशेषों को प्राप्त करके पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुये हैं उन दश-दश अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन करता है। तत्त्वार्थ भाष्य में भी कहा है–

उपपादजन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच प्रकार के अनुत्तर विमान हैं। जो अनुत्तरों में उपपाद जन्म से पैदा होते हैं उन्हें अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अनुत्तरौपपादिक वर्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में हुए हैं। इसी तरह ऋषभनाथ आदि तेईस तीर्थंकरों के तीर्थ में अन्य दश-दश महासाधु दारुण उपसर्गों को जीतकर विजय आदिक पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले दश साधुओं का जिसमें वर्णन किया जावे उसे अनुत्तरौपपादिक नाम का अंग कहते हैं।

(१०) प्रश्नव्याकरणांग–यह अंग तेरानवे लाख सोलह हजार पदों द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओं का तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी धन, धान्य, लाभ, अलाभ, जीवित, मरण, जय और पराजय सम्बन्धी प्रश्नों के पूछने पर उनके उपाय का वर्णन करता है।

(११) आक्षेपणी–जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों का और दूसरे समयों के निराकरण पूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नव प्रकार के पदार्थों का प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

विक्षेपणी–जिसमें पहले परसमय के द्वारा स्वसमय के दोष बताये जाते हैं। अनंतर परसमय की आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है और छह

द्रव्य-नौ पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

संवेदनी-पुण्य के फल का वर्णन करने वाली कथा को संवेदनी कथा कहते हैं।

शंका-पुण्य के फल कौन से हैं?

समाधान-तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं[1]।"

निर्वेदनी-पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं।

शंका-पाप के फल कौन से हैं?

समाधान-नरक, तिर्यंच और कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं।

अथवा संसार, शरीर और भोगों में वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं। कहा भी है-

तत्त्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपणी कथा है। तत्त्व से दिशान्तर को प्राप्त हुई दृष्टियों का शोधन करने वाली अर्थात् परमत की एकान्त दृष्टियों का निराकरण करके स्वसमय की स्थापना करने वाली विक्षेपणी कथा है। विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली संवेदनी कथा है और वैराग्य उत्पन्न करने वाली निर्वेदनी कथा है।

इन कथाओं का प्रतिपादन करते समय जो जिनवचन को नहीं जानता है अर्थात् जिसका जिनवचन में प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि अन्य सम्प्रदाय का पूर्व पक्ष रखकर जिसमें उनका खण्डन करके अपने पक्ष का मंडन किया जाता है उन्हें ही विक्षेपणी कथा कहते हैं। क्योंकि, जिसने स्वसमय के रहस्य को नहीं जाना है और परसमय का प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्व को स्वीकार न कर लेवे, इसलिये स्वसमय के रहस्य को नहीं जानने वाले पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश न देकर शेष तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमय को भली भाँति समझ लिया है, जो पुण्य और पाप के स्वरूप को जानता है, जिस तरह मज्जा अर्थात् हड्डियों के मध्य में रहनेवाला रस हड्डी से संसक्त होकर ही शरीर में रहता है, उसी तरह जो जिनशासन में अनुरक्त है, जिनवचन में जिसको किसी प्रकार की विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रति से विरक्त है और जो तप, शील और नियम से युक्त है ऐसे पुरुष को ही पश्चात् विक्षेपणी कथा का उपदेश देना चाहिये। प्ररूपण करके उत्तमरूप से ज्ञान कराने वाले के लिये यह अकथा भी तब कथा रूप हो जाती है।

---

१. "काणि पुण्ण फलाणि? तित्थयरगणहररिसिचक्कवहिबलदेववासुसुरविज्जहररिद्धीओ।" धवला पु.१, पृ.१०६।

इसलिये योग्य पुरुष को प्राप्त करके ही साधु को कथा का उपदेश देना चाहिये।

यह प्रश्न व्याकरण नाम का अंग प्रश्न के अनुसार हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का भी प्ररूपण करता है।

(११) विपाकसूत्रांग–यह अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदों द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मों के फलों का वर्णन करता है।

ग्यारह अंगों के कुल पदों का जोड़ चार करोड़ पंद्रह लाख दो हजार पद है।

(१२) दृष्टिवादांग–यह बारहवाँ अंग है, इस अंग में कौत्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांधुपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड और अश्वलायन आदि क्रियावादियों के एक सौ अस्सी मतों का वर्णन और निराकरण है। मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद बलि, माठर और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियों के चौरासी मतों का वर्णन और निराकरण किया गया है। शाकल्य, बल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यन्दिन, मोद, पैप्पलाद, बादरायण, स्वेष्टकृत, ऐतिकायन, वसु और जेमिनी आदि अज्ञानवादियों के सरसठ मतों का वर्णन और निराकरण किया गया है। तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, बाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि वैनयिकवादियों के बत्तीस मतों का वर्णन और निराकरण किया गया है। इस प्रकार से क्रियावादी के १८०+ अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ + वैनयिकवादी के ३२ = मिलाकर ३६३ पाखंड मत होते हैं। दृष्टिवाद अंग इन मतों का वर्णन करके उनका खण्डन करता है।

इस दृष्टिवाद अंग के पाँच अधिकार हैं– परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

इनमें से प्रथम परिकर्म नाना भेद के भी पाँच भेद माने गये हैं– चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति।

(१) चन्द्रप्रज्ञप्ति–नाम का परिकर्म छत्तीस लाख पाँच हजार पदों द्वारा चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है।

(२) सूर्यप्रज्ञप्ति–नाम का परिकर्म पाँच लाख तीन हजार पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई, दिन की हानिवृद्धि, किरणों का प्रमाण और प्रकाश आदि का वर्णन करता है।

(३) जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति–नाम का परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा जंबूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुये नाना प्रकार के मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदि का और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष (क्षेत्र), आवास, अकृत्रिम जिनालय आदि का वर्णन करता है।

(४) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति–नाम का परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा उद्धार-पल्य से द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीपसागर के अंतर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन करता है।

(५) व्याख्याप्रज्ञप्ति–नाम का परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल, अरूपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव इन सबका वर्णन करता है।

दृष्टिवाद अंग का सूत्र नाम का द्वितीय अर्थाधिकार अठासी लाख पदों के द्वारा जीव अबन्धक ही है, अलेपक ही है, अकर्त्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणु प्रमाण ही है, जीव नास्ति स्वरूप ही है, जीव अस्ति स्वरूप ही है, पृथ्वी आदि पाँच भूतों के समुदाय रूप से जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि रूप से क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के तीन सौ त्रेसठ पाखंड मतों का पूर्वपक्ष रूप से वर्णन करता है पुनः उत्तर पक्ष से उनका निराकरण करता है।

यह त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन करता है। कहा भी है–

इस सूत्र नामक अर्थाधिकार के अठासी अधिकारों में से चार अधिकारों का अर्थनिदेश मिलता है। उनमें पहला अधिकार अबन्धकों का, दूसरा त्रैराशिकवादियों का, तीसरा नियतिवाद का तथा चौथा अधिकार स्वसमय का प्ररूपक है।

विशेषार्थ–गोशालप्रवर्तित, आजीविक और पाखंडी ये त्रैराशिक कहलाते हैं क्योंकि ये सर्ववस्तुओं को तीन रूप मानते हैं। जैसे–जीव, अजीव और जीवाजीव। लोक, अलोक और लोकालोक। सत्, असत और सदसत् इत्यादि। नियतिवादी लोग कहते हैं कि जब, जिसके द्वारा जैसे, जिसका, जो होना है, तब उसके द्वारा वैसे ही, उसका वैसा ही होता है। यह भी एकान्त मान्यता है। बौद्धों का एक भेद विज्ञानवाद है इसकी ऐसी मान्यता है कि जगत् में दिखने वाले सभी चेतन-अचेतन पदार्थ मात्र ज्ञान स्वरूप ही हैं। बस, यह ज्ञानमात्र ही एक परमार्थ तत्त्व है और सब कल्पना जाल है इत्यादि। ब्रह्माद्वैतवादी सकल जगत् को एक शब्दरूप ही मानते हैं उनका कहना है कि सचेतन-अचेतन पदार्थ शब्द से ही अनुबद्ध होकर प्रतिभासित होते हैं। प्रधानवाद सांख्यों का सिद्धांत है इसका अभिप्राय है कि सत्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रधान है इत्यादि। यही सांख्य द्रव्यमात्र को ही मानता है पर्यायों को नहीं। अतः द्रव्यमान सिद्धान्त भी सांख्यों का ही है पुरुषवादी लोग पुरुषार्थ को ही सब कार्यों की सिद्धि का करने वाला कहते हैं। ये सब एकांतवाद मिथ्यारूप हैं। इस सूत्र नाम

के भेद में इन सभी मिथ्यामतों का स्वरूप बताकर उनका निराकरण किया जाता है।

दृष्टिवाद अंग का प्रथमानुप्रयोग–नाम का तीसरा अर्थाधिकार पाँच हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन करता है। कहा भी है–

जिनेंद्रदेव ने जगत् में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंश का वर्णन करते हैं। पहला अरिहंत अर्थात् तीर्थंकरों का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण-प्रतिनारायणों का, पाँचवाँ चारणों का (चारण ऋषियों का), छठा प्रज्ञाश्रमणों का वंश है तथा सातवां कुरुवंश, आठवाँ हरिवंश, नौवाँ इक्ष्वाकुवंश, दशवाँ काश्यप वंश, ग्यारहवाँ वादियों का वंश और बारहवाँ नाथवंश है।

दृष्टिवाद अंग का पूर्वगत नाम का चौथा अर्थाधिकार पंचानवे करोड़ पचास लाख और पाँच पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि का वर्णन करता है। इस अर्थाधिकार के चौदह भेद हैं–

उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिंदुसारपूर्व।

(१) उत्पादपूर्व–यह पूर्व दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के एक करोड़ पदों द्वारा जीव, काल और पुद्गल द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन करता है।

(२) अग्रायणीयपूर्व–अग्र अर्थात् द्वादशांगों में प्रधानभूत वस्तु के अयन अर्थात् ज्ञान को अग्रायण कहते हैं। उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणीयपूर्व कहते हैं। यह पूर्व चौदह वस्तुगत, दो सौ अस्सी प्राभृतों के छ्यानवे लाख पदों द्वारा अंगों के अग्र अर्थात् परिमाण का कथन करता है।

(३) वीर्यानुप्रवादपूर्व–यह पूर्व आठ वस्तुगत, एक सौ साठ प्राभृतों के सत्तर लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भाववीर्य और तपवीर्य का वर्णन करता है।

(४) अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व–यह पूर्व अठारह वस्तुगत, तीन सौ साठ प्राभृतों के साठ लाख पदों द्वारा जीव और अजीव के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का वर्णन करता है। जैसे जीव स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा कथंचित् अस्तिरूप है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है। जिस समय वह स्वद्रव्य चतुष्टय और परद्रव्यचतुष्टय के द्वारा अक्रम से अर्थात् युगपत विवक्षित होता है उस समय स्यादवक्तव्यरूप है। स्वद्रव्यादिरूप प्रथम धर्म और परद्रव्यादिरूप द्वितीय धर्म से जिस समय क्रम से विवक्षित होता है उस समय कथंचित् अस्तिनास्ति रूप है। स्यात् अस्तिरूप प्रथम धर्म से और स्यात् अवक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस

समय विवक्षित होता है उस समय कथंचित् अस्ति अवक्तव्य रूप है। स्यात् नास्ति रूप द्वितीय धर्म और स्यात् अवक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस समय क्रम से विवक्षित होता है उस समय कथंचित् नास्ति अवक्तव्य रूप है। स्यात् अस्तिरूप प्रथम धर्म, स्यात् नास्ति रूप द्वितीय धर्म और स्यात् अवक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस समय क्रम से विवक्षित होता है उस समय कथंचित् अस्तिनास्ति अवक्तव्य रूप जीव है। इसी तरह अजीव आदि का भी कथन करना चाहिए।

(५) ज्ञानप्रवादपूर्व–यह पूर्व बारह वस्तुगत, दो सौ चालीस प्राभृतों के एक कम एक करोड़ पदों द्वारा पाँच ज्ञान और तीन अज्ञानों का वर्णन करता है तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनादि-अनंत, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त और सादि-सान्त रूप ज्ञानादि तथा इसी तरह ज्ञान और ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करता है।

(६) सत्यप्रवादपूर्व–यह पूर्व बारह वस्तुगत, दो सौ चालीस प्राभृतों के एक करोड़ छह पदों द्वारा वचनगुप्ति, वाक् संस्कार के कारण वचनप्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, अनेक प्रकार के वक्ता, अनेक प्रकार के असत्य वचन और दस प्रकार के सत्य वचन इन सबका वर्णन करता है।

असत्य नहीं बोलने को अथवा वचन संयम–मौन के धारण करने को वचनगुप्ति कहते हैं।

मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वा का मूल, दाँत, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचन संस्कार के कारण हैं।

शुभ और अशुभ लक्षणरूप वचन प्रयोग का स्वरूप सरल है।

बारह प्रकार की भाषा के नाम निम्न प्रकार हैं–अभ्याख्यानवचन, कलहवचन, पैशून्यवचन, अबद्धप्रलापवचन, रतिवचन, अरतिवचन, उपधिवचन, निकृतिवचन, अप्रणतिवचन, मोषवचन, सम्यग्दर्शनवचन और मिथ्यादर्शन वचन।

"यह इसका कर्ता है" इस तरह अनिष्ट करने को अभ्याख्यान भाषा कहते हैं। कलह का अर्थ स्पष्ट ही है अर्थात् परस्पर विरोध के बढ़ाने वाले को कलह कहते हैं। पीछे से दोष प्रकट करने को पैशून्य वचन कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध से रहित वचनों को अबद्धप्रलाप वचन कहते हैं। इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में राग उत्पन्न करने वाले वचनों को अरति वचन कहते हैं। जिस वचन को सुनकर परिग्रह रक्षण और अर्जन करने में आसक्ति उत्पन्न होती है उसे उपधि वचन कहते हैं। जिस वचन को अवधारण करके जीव व्यापार करते समय ठगनेरूप प्रवृत्ति करने में असमर्थ होता है उसे निकृति वचन कहते हैं। जिस वचन को सुनकर तप और ज्ञान से अधिक गुण वाले पुरुषों में भी जीव नम्रीभूत नहीं होता है उसे अप्रणति वचन कहते हैं। जिस वचन को सुनकर चौर्य कर्म में प्रवृत्ति होती है उसे मोष वचन कहते हैं। समीचीन मार्ग के उपदेश देने वाले वचनों को

सम्यग्दर्शन कहते हैं। मिथ्या मार्ग के उपदेश देने वाले वचनों को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं।

जिनमें वक्तृपर्याय प्रगट हो गई है ऐसे द्वीन्द्रिय आदि से लेकर सभी जीव वक्ता हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत्य अनेक प्रकार का है।

सत्यवचन के दस भेद होते हैं–नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्य।

मूल पदार्थ के नहीं रहने पर भी सचेतन और अचेतन द्रव्य को व्यवहार के लिये जो संज्ञा दी जाती है उसे नाम सत्य कहते हैं। जैसे, ऐश्वर्य आदि गुणों के न होने पर भी किसी का नाम "इन्द्र" ऐसा रखना नाम सत्य है। पदार्थ के नहीं होने पर भी रूप की मुख्यता से जो वचन कहे जाते हैं उसे रूप सत्य कहते हैं। जैसे, चित्रलिखित पुरुष आदि में चैतन्य और उपयोगादि रूप अर्थ के नहीं रहने पर भी "पुरुष" इत्यादि कहना रूप सत्य है। मूल पदार्थ के नहीं रहने पर भी कार्य के लिए जो द्यूत सम्बन्धी अक्ष (जुये सम्बन्धी पासा) आदि में स्थापना की जाती है उसे स्थापना सत्य कहते हैं। सादि और अनादि भावों की अपेक्षा जो वचन बोला जाता है उसे प्रतीत्य सत्य कहते हैं। लोक में जो वचन संवृति—कल्पना के आश्रित बोले जाते हैं उन्हें संवृति सत्य कहते हैं। जैसे, पृथ्वी आदि अनेक कारणों के रहने पर भी जो पंक–कीचड़ में उत्पन्न होता है उसे पंकज कहते हैं इत्यादि। धूप के सुगंधीपूर्ण अनुलेपन और प्रघर्षण के समय, अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और क्रौंच आदि रूप व्यूह रचना के समय सचेतन-अचेतन द्रव्यों के विभागानुसार विधिपूर्वक रचना विशेष के प्रकाशक जो वचन हैं उन्हें संयोजना सत्य कहते हैं। आर्य और अनार्य के भेद से बत्तीस देशों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्राप्त कराने वाले वचन को जनपद सत्य कहते हैं। ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति और कुल आदि के धर्मों के उपदेश करने वाले जो वचन हैं उन्हें देश सत्य कहते हैं। छद्मस्थों का ज्ञान यद्यपि द्रव्य की यथार्थता का निर्णय नहीं कर सकता है तो भी अपने धर्म के पालन करने के लिए "यह प्रासुक है यह अप्रासुक है" इत्यादि रूप से जो संयत और श्रावक के वचन हैं उन्हें भाव सत्य कहते हैं। आगम गम्य प्रतिनियत छह प्रकार के द्रव्य और उनके पर्यायों की यथार्थता के प्रगट करने वाले जो वचन हैं उन्हें समय सत्य कहते हैं।

(७) आत्मप्रवाद पूर्व–यह पूर्व सोलह वस्तुगत, तीन सौ बीस प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा जीववेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है इत्यादि रूप से आत्मा का वर्णन करता है। कहा भी है–

"जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गल है, वेद है, विष्णु है, स्वयंभू है, शरीरी है, मानव है, सकता है, मानी है, जन्तु है, मायावी है, योग सहित है, संकुट है, असंकुट है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है।"

आगे इन्हीं दोनों गाथाओं का अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है—जीता है, जीवित रहेगा और पहले जीवित था, इसलिये जीव है। शुभ और अशुभ कार्य को करता है, इसलिये कर्ता है। सत्य-असत्य और योग्य-अयोग्य वचन बोलता है, इसलिये वक्ता है। इसके प्राण पाये जाते हैं, इसलिए प्राणी है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी के भेद से चार प्रकार के संसार में पुण्य और पाप का भोग करता है, इसलिए भोक्ता है। छह प्रकार के संस्थान और नाना प्रकार के शरीरों द्वारा पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिये पुद्गल है। सुख और दुःख का वेदन करता है, इसलिये वेद है अथवा जानता है, इसलिये वेद है। प्राप्त हुये शरीर को व्याप्त करता है, इसलिये विष्णु है। स्वतः ही उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्वयंभू है। संसार अवस्था में इसके शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीरी है। मनु ज्ञान को कहते हैं, उसमें यह उत्पन्न हुआ है, इसलिये मानव है। स्वजन, सम्बन्धी, मित्रवर्ग आदि में आसक्त रहता है, इसलिये सकता है। चार गतिरूप संसार में उत्पन्न होता है और दूसरों को उत्पन्न करता है, इसलिये जन्तु है। इसके मान कषाय पाई जाती है, इसलिये मानी है। इसके माया कषाय पाई जाती है, अतः मायावी है। इसके तीन योग होते हैं, इसलिये योगी है। अतिसूक्ष्म देह मिलने से संकुचित होता है, इसलिये संकुट है। सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करता है, इसलिये असंकुट है। क्षेत्र अर्थात् अपने स्वरूप को जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ है। आठ कर्मों के भीतर रहता है, इसलिये अन्तरात्मा है।

(८) कर्मप्रवादपूर्व–यह पूर्व बीस वस्तुगत, चार सौ प्राभृतों के एक करोड़ अस्सी लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का वर्णन करता है।

(९) प्रत्याख्यानपूर्व–यह पूर्व तीस वस्तुगत, छह प्राभृतों के चौरासी लाख पदों द्वारा द्रव्य-भाव आदि की अपेक्षा परिमित काल रूप और अपरिमित काल रूप प्रत्याख्यान, उपवास विधि, पाँच समिति और तीन गुप्तियों का वर्णन करता है।

(१०) विद्यानुवादपूर्व–यह पंद्रह वस्तुगत, तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दस लाख पदों द्वारा अंगुष्ठ, प्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरिक्ष, भौम अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिन्ह इन आठ महानिमित्तों का वर्णन करता है।

(११) कल्याणवादपूर्व–यह दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चार क्षेत्र, उपपाद स्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलों का, पक्षी के शब्दों का और अरिहन्त अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि महाकल्याणकों का वर्णन करता है।

(१२) प्राणावायपूर्व–यह पूर्व दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृत के तेरह करोड़ पदों द्वारा शरीर

चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिये किये गये भस्मलेपन, सूत्रबन्धनादि कर्म, जांगुलि प्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन करता है।

(१३) क्रियाविशालपूर्व–यह पूर्व दस वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के नौ करोड़ पदों द्वारा लेखन कला आदि बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बंधी गुण-दोष विधि का और छन्द निर्माण कला का वर्णन करता है।

(१४) लोकबिंदुसारपूर्व–यह पूर्व दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के बारह करोड़ पचास लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के व्यवहारों का, चार प्रकार के बीजों का, मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्ष-सुख का वर्णन करता है।

इन चौदह पूर्वों में सम्पूर्ण वस्तुओं का जोड़ एक सौ पंचानवे है और सम्पूर्ण प्राभृतों का जोड़ तीन हजार नौ सौ है।

दृष्टिवाद अंग का पंचम भेद जो चूलिका है उसके भी पाँच भेद हैं–

जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

(१) जलगता चूलिका–यह चूलिका दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पदों द्वारा जल में गमन और जलस्तंभन मंत्र-तंत्र तथा तपश्चर्या रूप अतिशय आदि का वर्णन करती है।

(२) स्थलगता चूलिका–यह उतने ही (२०९८९२००) पदों द्वारा पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण रूप, आश्चर्य आदि का तथा वास्तुविद्या और भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है।

(३) मायागता चूलिका–यह भी उतने ही पदों द्वारा मायारूप इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

(४) रूपगता चूलिका–यह भी उतने ही पदों द्वारा सिंह, घोड़ा और हरिणादि के स्वरूप के आकार रूप से परिणमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण का तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन करती है।

(५) आकाशगता चूलिका–उतने ही उपर्युक्त पदों द्वारा आकाश में गमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

इन पाँचों ही चूलिकाओं के पदों का जोड़ दस करोड़ उनचास लाख छयालीस हजार पद है।

विशेष–जिनेंद्र देव की वाणी द्वादशांगरूप है। इस द्वादशांग में ग्यारह अंगों में क्या-क्या विषय है, उन्हें यहाँ दिखाया गया है पुनः बारहवें अंग के पाँच भेद—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत

और चूलिका हैं। इनके विषयों को भी यहाँ संक्षेप में दिया गया है।

यहाँ द्वादशांग पद के भेदों को कहते हैं–

अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद ये पद के तीन भेद माने गए हैं। इनमें से मध्यम पद के द्वारा अंग एवं पूर्वों का पदविभाग किया गया है। इनमें से अनियत अक्षरों का समूह "अर्थपद" है। जैसे–ग्रन्थ को लाओ, देवपूजा करो इत्यादि।

आठ आदि अक्षरों के समूह को 'प्रमाणपद" कहते हैं। यथा–अनुष्टुप छन्द के एक-एक चरण में अंग पूर्वी की पदसंख्या मध्यम पदों के द्वारा बतलाई गई है। इस एक मध्यमपद के अक्षरों का प्रमाण कहते हैं–

सोलससयचउतीसा, कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।
सत्तसहस्साट्ठसया, अट्ठासीदी य पदवण्णा।।[1]

गाथार्थ–सोलह सौ चौंतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षरों का एक मध्यम पद होता है।

अर्थात् एक मध्यमपद में सोलह सौ चौंतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षर होते हैं। इस प्रकार से द्वादशांग के समस्त पदों की संख्या कहते हैं–

द्वादशांग के सब मध्यम पदों का प्रमाण एक सौ बारह करोड़, तिरासी लाख, अठावन हजार पाँच है।

अर्थात् ११२, ८३, ५८००५ पद द्वादशांग में होते हैं ऐसा अभिप्राय है।

अब अंगबाह्य के अक्षरों की संख्या कहते हैं–

प्रकीर्णक अर्थात् सामायिक आदि चौदह अंग बाह्यों के अक्षर आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार एक सौ पिचहत्तर प्रमाण हैं।

अर्थात ८०१०८१७५ अक्षर प्रकीर्णक–अंगबाह्य में होते हैं ऐसा अर्थ हुआ।

इतने अक्षरों से मध्यमपद नहीं होता है अतएव इतने अक्षरों के द्वारा अंग पूर्व की पदसंख्या नहीं बनती है, इसी कारण इन अक्षरों के द्वारा ग्रथित-गूँथे गये-वर्णित किए गए श्रुत की अंगबाह्य संज्ञा मानी गई है।

इस अंगबाह्य के चौदह भेद कौन से हैं?

सामायिक - चतुर्विंशतिस्तव - वंदना - प्रतिक्रमण - वैनयिक - कृतिकर्म - दशवैकालिक - उत्तराध्ययन - कल्पव्यवहार - कल्पाकल्प - महाकल्प - पुण्डरीक - महापुण्डरीक - निषिद्धिका ये

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३३६।

चौदह भेद अंगबाह्य के हैं।

१. सामायिक नामका श्रुत–अंगबाह्य अर्थाधिकार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छहों भेदों द्वारा समता भाव के विधान का वर्णन करता है।

अन्यत्र कहा भी है–तीनों ही सन्ध्याओं में या पक्ष और मास के सन्धि दिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अन्तरंग समस्त पदार्थों में कषाय का निरोध करना सामायिक है।

२. चतुर्विंशतिस्तव श्रुत– उस-उस काल सम्बन्धी चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करने की विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशयों के स्वरूप और तीर्थंकरों की वन्दना की सफलता का वर्णन करता है।

३. वन्दना नाम का अर्थाधिकार एक जिनेन्द्रदेव सम्बन्धी और उनके जिनालय सम्बन्धी वंदना के निरवद्यभाव का अर्थात् प्रशस्त रूप भाव का वर्णन करता है।

४. प्रतिक्रमण–नाम का अर्थाधिकार काल और पुरुष का आश्रय लेकर सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का निरूपण करता है।

प्रमाद कृत दैवसिक आदि दोषों का निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और उत्तमार्थिक के भेद से सात प्रकार का है। दुष्षम आदि काल और छह संहनन से युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाव वाले पुरुषों का आश्रय लेकर यथायोग्य इन सातों प्रतिक्रमणों का प्ररूपण करने वाला यह प्रतिक्रमण अर्थाधिकार है।

५. वैनयिक-नाम का अर्थाधिकार ज्ञानविनय-दर्शनविनय-चारित्रविनय, तपविनय और उपचार विनय इन पाँच प्रकार के विनयों का वर्णन करता है।

६. कृतिकर्म-नाम का अर्थाधिकार अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की पूजा आदि की विधि का वर्णन करता है।

अन्यत्र भी कहा है–

उस कृतिकर्म के आत्माधी होकर किए गए तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनित, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण, भेद तथा फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।

७. दशवैकालिक-अर्थाधिकार मुनियों के आचार और गोचरी विधि का वर्णन करता है। विशिष्ट काल को विकाल कहते हैं। उसमें जो विशेषता होती है उसे वैकालिक कहते हैं। वे वैकालिक दश हैं। उनको कहने वाला दशवैकालिक हैं।

८. उत्तराध्ययन-अर्थाधिकार उत्तरपदों का वर्णन करता है। यह चार प्रकार के उपसर्गों का,

बाईस प्रकार के परीषहों का एवं उन सबके सहन करने की विधि का तथा फल का प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन करता है।

९. कल्पव्यवहार-साधुओं के योग्य आचरण का और अयोग्य आचरण के होने पर प्रायश्चित विधि का वर्णन करता है। कल्प नाम योग्य का है और व्यवहार नाम आचार का है उन सबका वर्णन करने वाला कल्पव्यवहार है।

१०. कल्पाकल्पिक-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है इस तरह इन सबका वर्णन करता है।

११. महाकल्प-काल और संहनन आदि विशिष्ट द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्ति करने वाले जिनकल्पी साधुओं के योग्य त्रिकालयोग आदि अनुष्ठान का और स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना आदि का विशेष वर्णन करता है।

१२. पुण्डरीक-नाम का अर्थाधिकार भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारणरूप दान-पूजा-तपश्चरण-अकामनिर्जरा-सम्यग्दर्शन और संयम आदि अनुष्ठानों का वर्णन करता है।

१३. महापुण्डरीक-समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारणरूप तपोविशेष आदि आचरण का वर्णन करता है।

१४. निषिद्धिका-अनेक प्रकार के प्रायश्चित विधान का कथन करता है। प्रमादजन्य दोषों के निराकरण करने को निषिद्धि कहते हैं और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकार के प्रायश्चित के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को निषिद्धिका कहते हैं।

श्री भट्टाकलंकदेव ने भी अंगांगबाह्य का लक्षण कहा है-

अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि बारह भेद हैं जिन्हें बुद्धि आदि अतिशयकारी ऋद्धियों से सम्पन्न गणधर देवों ने स्मरण करके ग्रन्थरचना की है।।१२।।

आरातीय आचार्यकृत अंग अर्थ के आधार से रचे गए ग्रन्थ अंगबाह्य हैं।।१३।।

श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्प आयु एवं अल्प बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गए संक्षिप्त ग्रन्थ अंगबाह्य हैं।

वह अंगबाह्य कालिक-उत्कालिक आदि विकल्प से अनेक प्रकार का है।।१४।।

कालिक और उत्कालिक आदि की अपेक्षा उस अंगबाह्य के अनेक भेद हैं। स्वाध्याय काल में जिनके पठन-पाठन का नियम अर्थात् नियतकाल है वे 'कालिक' कहलाते हैं तथा जिनके पठन-पाठन का कोई नियत समय न हो वे 'उत्कालिक' हैं। उत्तराध्ययन आदि अनेक प्रकार के अंगबाह्य ग्रन्थ हैं।

यहाँ तक अंगबाह्य का संक्षेप से लक्षण कहा है।

श्रुतदेवी का लक्षण- **यह द्वादशांग वाणी ग्रन्थों में श्रुतदेवी रूप से भी वर्णित की गई है।** प्रतिष्ठातिलक ग्रन्थ में कहा भी है-

आर्याछन्द-बारहअंगंगिज्जा, दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा। चोद्दसपुव्वाहरणा, ठावे दव्वा य सुयदेवी।।१।।

गाथार्थ-**श्रुतदेवी के बारह अंग हैं, सम्यग्दर्शन यह तिलक है, चारित्र उनका वस्त्र है, चौदह पूर्व उनके आभरण हैं ऐसी कल्पना करके श्रुतदेवी की स्थापना करनी चाहिए।**

अनुष्टुप्छन्द-

आचारशिरसं सूत्र-कृतवक्त्रां सुकंठिकाम्। स्थानेन समवायांग-व्याख्याप्रज्ञप्तिदोर्लताम्।।२।।
वाग्देवतां ज्ञातृकथो-पासकाध्ययनस्तनीम्। अंतकृद्दशसत्राभि - मनुत्तरदशांगतः।।३।।
सुनितम्बां सुजघनां, प्रश्नव्याकरणश्रुतात्। विपाकसूत्रदृग्वाद-चरणां चरणांवरा।।४।।
सम्यक्त्वतिलकां पूर्व-चतुर्दशविभूषणाम्। तावत्प्रकीर्णकोदीर्ण - चारुपत्रांकुरश्रियम्।।५।।
आप्तदृष्टप्रवाहौघ - द्रव्यभावाधिदेवताम्। परब्रह्मपथादृप्तां, स्यादुक्तिं भुक्तिमुक्तिदाम्।।६।।

पुनश्च - मालिनीछंद-

सकलयुवतिसृष्टेरम्ब! चूडामणिस्त्वं, त्वमसि गुणसुपुष्टेर्धर्मसृष्टेश्च मूलम्।
त्वमसि च जिनवाणी! स्वेष्टमुक्त्यंगमुख्या। तदिह तव पदाब्जं भूरिभक्त्या नमामः।।

बारह अंगों में से प्रथम जो "आचारांग" है, वह श्रुतदेवी-सरस्वती देवी का मस्तक है, "सूत्रकृतांग" मुख है, "स्थानांग" कण्ठ है, समावायांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये दोनों अंग उनकी दोनों भुजाएँ है, ज्ञातृकथांग और उपासकाध्ययनांग ये दोनों अंग उस सरस्वती देवी के दो स्तन हैं, अंतकृद्दशांग यह नाभि है, अनुत्तरदशांग श्रुतदेवी का नितम्ब है, प्रश्नव्याकरणांग यह जघन भाग है, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग ये दोनों अंग उन सरस्वती देवी के दोनों पैर हैं। "सम्यक्त्व" यह उनका तिलक है, चौदह पूर्व अलंकार है और "प्रकीर्णक श्रुत" सुन्दर बेल-बूटे सदृश हैं। ऐसी कल्पना करके वहाँ पर द्वादशांग जिनवाणी को सरस्वती देवी के रूप में लिया गया है।

श्री जिनेन्द्रदेव ने सर्व पदार्थों की सम्पूर्ण पर्यायों को देख लिया है, उन सर्व द्रव्य पर्यायों की यह "श्रुतदेवता" अधिष्ठात्री देवी हैं अर्थात् इनके आश्रय से पदार्थों की सर्व अवस्थाओं का ज्ञान होता है। परमब्रह्म के मार्ग का अवलोकन करने वाले लोगों के लिए यह स्याद्वाद के रहस्य को बतलाने वाली हैं तथा भव्यों के लिए भुक्ति और मुक्ति को देने वाली ऐसी यह सरस्वती माता ही है।

हे अम्ब! आप सम्पूर्ण स्त्रियों की सृष्टि में चूड़ामणि हो। आपसे ही धर्म की और गुणों की उत्पत्ति होती है। आप मुक्ति के लिए प्रमुख कारण हो, इसलिए मैं अतीव भक्तिपूर्वक आपके

चरणकमलों को नमस्कार करता हूँ

श्रीवीरसेनाचार्य ने भी कहा है–

बारहअंगंगिज्जा वियलिस-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया।
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं[1]।।२।।

गाथार्थ–जो श्रुतज्ञान के प्रसिद्ध बारह अंगों से ग्रहण करने योग्य हैं अर्थात् बारह अंगों का समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकार के मल (अतीचार) और तीन मूढ़ताओं से रहित सम्यग्दर्शन रूप उन्नत तिलक से विराजमान हैं और नाना प्रकार के निर्मल चारित्र ही जिसके आभूषण हैं ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो।

अन्यत्र भी कहा है–

अंगंगवज्झणिम्मी, अणाइमज्झंत-णिम्मलंगाए। सुयदेवय-अंबाए, णमो सया चक्खुमइयाए[2]।।४।।

गाथार्थ–जिसका आदि-मध्य और अन्त से रहित निर्मल शरीर, अंग और अंगबाह्य से निर्मित है और जो सदा चक्षुष्मती अर्थात् जागृतचक्षु है ऐसी श्रुतदेवी माता को नमस्कार हो।

चन्द्रार्ककोटिघटितोज्ज्वलदिव्यमूर्ते! श्रीचन्द्रिकाकलितनिर्मलशुभ्रवासे!।
कामार्थदे! च कलहंससमाधिरूढे!, वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि![3]।।१।।

सरस्वती स्तोत्र में भी सरस्वती देवी के लक्षण कहते हैं। जैसे–

श्लोकार्थ–करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा के एकत्रित तेज से भी अधिक तेज धारण करने वाली, चन्द्र किरण के समान अत्यंत स्वच्छ एवं श्वेत वस्त्र को धारण करने वाली तथा कलहंस पक्षी पर आरूढ़ दिव्यमूर्ति श्री सरस्वती देवी हमारी प्रतिदिन रक्षा करें।

सरस्वती मया दृष्टा, दिव्या कमललोचना। हंसस्कंधसमारूढा, वीणापुस्तकधारिणी।।

श्लोकार्थ–दिव्य कमल के समान नेत्रों वाली, हंस वाहन पर आरूढ़ वीणा और पुस्तक को हाथ में धारण करने वाली सरस्वती देवी मैंने देखी है।

उस सरस्वती माता के सोलह नाम भी गाये जाते हैं–

१. भारती २. सरस्वती ३. शारदा ४. हंसगामिनी ५. विद्वानों की माता ६. वागीश्वरी ७. कुमारी ८. ब्रह्मचारिणी ९. जगन्माता १०. ब्राह्मिणी ११. ब्रह्माणी १२. वरदा १३. वाणी १४. भाषा १५. श्रुतदेवी और १६ गो।

अन्यत्र एक सौ आठ नाम मंत्र भी आये हैं।

---

१. षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ. ६। २. कसायपाहुड़ पृ. १ पृ. ३। ३. जिनस्तोत्रसंग्रह (वीरज्ञानोदयग्रन्थमाला-जम्बूद्वीप, हस्तिनापुर से प्रकाशित)

गौतम स्वामी का परिचय

आर्यखंड में एक ब्राह्मण नाम का नगर था। वहाँ एक शांडिल्य नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी भार्या का नाम स्थंडिला था, वह ब्राह्मणी बहुत ही सुन्दर और सर्व गुणों की खान थी। इस दम्पत्ति के बड़े पुत्र के जन्म के समय ही ज्योतिषी ने कहा था कि यह गौतम समस्त विद्याओं का स्वामी होगा। उसी स्थंडिला ब्राह्मणी ने द्वितीय गार्ग्य पुत्र को जन्म दिया था, वह भी सर्वकला में पारंगत था, इन्हीं ब्राह्मण की दूसरी पत्नी केशरी के पुत्र का नाम भार्गव था। इस प्रकार ये तीनों भाई सर्व वेद वेदांग के ज्ञाता थे। इन तीनों भाइयों के इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नाम भी प्रसिद्ध हैं। वह गौतम ब्राह्मण किसी ब्रह्मशाला में पाँच सौ शिष्यों का उपाध्याय था। "मैं चौदह महाविद्याओं का पारगामी हूँ, मेरे सिवाय कोई और विद्वान नहीं है।" ऐसा अभिमानी था।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्रगट होकर समवसरण की रचना हो चुकी थी, किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिर रही थी। ६६ दिन व्यतीत हो गये। तभी सौधर्म इन्द्र ने समवसरण में गणधर का अभाव समझकर अपने अवधिज्ञान से "गौतम" को इस योग्य जानकर वृद्ध का रूप बनाया और वहाँ गौतमशाला में पहुँचकर कहते हैं–

"मेरे गुरु इस समय ध्यान में होने से मौन हैं अतः मैं आपके पास इस श्लोक का अर्थ समझने आया हूँ।" गौतम ने विद्या के गर्व से गर्विष्ठ हो पूछा–"यदि मैं इसका अर्थ बता दूंगा तो तुम क्या दोगे?" तब वृद्ध ने कहा-यदि आप इसका अर्थ कर देंगे, तो मैं सब लोगों के सामने आपका शिष्य हो जाऊंगा और यदि आप अर्थ न बता सके तो इन सब विद्यार्थियों और अपने दोनों भाइयों के साथ आप मेरे गुरु के शिष्य बन जाना।" महा अभिमानी गौतम ने यह शर्त मंजूर कर ली क्योंकि वह समझता था कि मेरे से अधिक विद्वान इस भूतल पर कोई है ही नहीं। तब वृद्ध ने यह काव्य पढ़ा–

"धर्मद्वयं त्रिविधकालसमग्रकर्म, षड्द्रव्यकायसहिताः समयैश्च लेश्याः।
तत्त्वानि संयमगती सहितं पदार्थै-रंगप्रवेदमनिशं वद चास्तिकायं।।"

तब गौतम ने कुछ देर सोचकर कहा– "अरे ब्राह्मण! तू अपने गुरु के पास ही चल। वहीं मैं इसका अर्थ बताकर तेरे गुरु के साथ वाद-विवाद करूँगा।" इन्द्र तो चाहता ही यह था, वह वृद्ध वेधषारी इन्द्र गौतम को समवसरण में ले आया।

वहाँ मानस्तम्भ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उसे सम्यक्त्व प्रगट हो गया। गौतम ने अनेक स्तुति करते हुए भगवान् के चरणों को नमस्कार किया तथा अपने पाँच सौ शिष्यों और दोनों भाइयों के साथ भगवान् के पादमूल में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। अन्तर्मुहूर्त में ही

प्रथम गणधर हो गये। उत्तर पुराण में लिखा है–

"तदनन्तर सौधर्मेन्द्र ने मेरी पूजा की और मैंने पाँच सौ ब्राह्मण पुत्रों के साथ श्री वर्धमान भगवान् को नमस्कार कर संयम धारण कर लिया। परिणामों की विशेष शुद्धि होने से मुझे उसी समय सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। तदनन्तर भट्टारक वर्धमान स्वामी के उपदेश से मुझे श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन पूर्वाण्ह काल में समस्त अंगों के अर्थ तथा पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया पुनः चार ज्ञान से सहित मैंने रात्रि के पूर्व भाग में अंगों की तथा रात्रि के पिछले भाग में पूर्वों की रचना की, उसी समय से मैं ग्रन्थकर्ता हूँ।"

"जिस दिन भगवान् महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त होगा, उसी दिन मैं केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। तदनन्तर विपुलाचल पर्वत पर जाकर निर्वाण प्राप्त करूँगा।"[1]

श्री गौतमस्वामी के द्वारा रचित पांच महामूल्यवान रचनायें दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में आज भी उपलब्ध हैं और प्रसिद्ध हैं।

१. चैत्यभक्ति २. वीरभक्ति ३. दैवसिक प्रतिक्रमण ४. पाक्षिकप्रतिक्रमण ५. श्रावकप्रतिक्रमण

चैत्यभक्ति—चैत्यभक्ति के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि गौतम ब्राह्मण जब भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में पहुँचते हैं और मानस्तम्भ देखकर उनका मान गलित हो जाता है, तब भक्ति में गद्गद् होकर भगवान् की स्तुति करते हुये उच्चारण करते हैं–"जयति भगवान्" इत्यादि।

इस बात का स्पष्टीकरण स्वयं टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य के शब्दों में देखिये–

"श्रीवर्धमानस्वामिनं प्रत्यक्षीकृत्य गौतमस्वामी जयतीत्यादि स्तुतिमाह[2]"–

श्री वर्धमान स्वामी का प्रत्यक्ष दर्शन करके श्री गौतम स्वामी "जयति" इत्यादि स्तुति करते हैं–वह चैत्य भक्ति आगे दी गई है।

जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृंभिता-वमरमुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ।
कलुषहृदयामानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणो, विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः।।१।।

वे भगवान् जयवन्त होंवे कि जिनके चरणों का आश्रय लेकर कलुष मनवाले, मान से ग्रसित ऐसे परस्पर में एक दूसरे के बैरी भी जन्तु क्रूर भाव को छोड़कर परस्पर विश्वास को प्राप्त हो गये हैं। भगवान् के चरण युगल कैसे हैं? देवों द्वारा रचित सुवर्णमयी कमलों पर विहार करने से शोभा को प्राप्त हैं तथा इन्द्रों के मुकुटों की मणियों की निकलती हुई कांति की प्रभा से स्पर्शित हैं।

यह चैत्यभक्ति अनेक छन्दमय है, ३५ श्लोकों में बहुत ही मधुर, सरस और उत्तम है। अन्त में पाँच श्लोक जो पृथ्वी छन्द में हैं उनका छन्द और वर्ण लालित्य अवर्णनीय है। उनमें भगवान् की

---

१. उत्तर पुराण, पर्व ७४। २. क्रियाकलाप।

वीतराग छवि और अनेक शुभ लक्षणों का वर्णन है। यथा–

अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवन्हेर्जयात्, कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः।
विषादमदहानिता प्रहसितायमानं सदा, मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्।।३१।।

हे भगवन्! आपके नेत्रकमल लालिमा रहित हैं क्योंकि आपने सकलक्रोधरूपी अग्नि को जीत लिया है। आपके नेत्र कटाक्ष बाणों से भी रहित हैं क्योंकि आप में विकार का उद्रेक है ही नहीं। आपका मुख सदा मन्द-मन्द मुस्कान को लिये हुये है–अर्थात् प्रसन्न मुद्रा युक्त है, क्योंकि आप में विषाद और मद का अभाव हो चुका है। इसलिये हे नाथ! आपका मुख ही मानों आपके हृदय की आत्यन्तिक शुद्धि—निर्मलता को कह रहा है।

इस प्रकार से बहुत ही गूढ़ और महान् अर्थ को लिये हुए यह चैत्यभक्ति अपने आप में अनुपम निधि है।

उसी प्रकार से मुनि-आर्यिका आदि जिस प्रतिक्रमण को प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल में करते हैं वह दैवसिक—रात्रिक प्रतिक्रमण तथा पन्द्रह दिन में होने वाला या चार महीना या वर्ष में होने वाला बड़ा प्रतिक्रमण तथा अष्टमी आदि में होने वाली आलोचना–ये तीनों प्रतिक्रमण श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित हैं। यह रचनायें साक्षात् उनके मुखकमल से विनिर्गत हैं।

दैवसिक प्रतिक्रमण की टीका करते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं–

"श्रीगौतमस्वामी मुनीनां दुष्षमकाले दुष्परिणामादिभिः प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलार्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्करोति–

'श्रीमते वर्धमानाय नमो" इत्यादि।

निषीधिका दण्डक–इस दैवसिक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत प्रतिक्रमण भक्ति में "निषीधिका दण्डक" आता है जो कि हमें बहुत ही प्रिय है, इसलिये मैंने उसे इसी अध्याय में ज्यों की त्यों दे दिया है। इसमें प्रथम पद जो "णमो णिसीहियाए" है, उसका अर्थ टीकाकार ने १७ प्रकार से किया है।

इस निषीधिका दण्डक में श्रीगौतमस्वामी ने अष्टापदपर्वत, सम्मेदशिखर, चम्पापुरी, पावापुरी आदि की भी वंदना की है।

जब चारज्ञानधारी सर्वऋद्धि समन्वित गौतम गणधर इन तीर्थ क्षेत्रों की वंदना करते हैं, तब आज जो अध्यात्म की नकल करने वाला कोई यह कहे कि "यदि साधु के तीर्थ वंदना का भाव हो जाये तो उसे प्रायश्चित लेना चाहिए। ऐसा कथन सर्वथा अनुचित है।

गणधरवलय मन्त्र–इसी प्रकार बड़ा प्रतिक्रमण जो कि पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक रूप में किया जाता है। उसकी टीका के प्रारम्भ में टीकाकार कहते हैं–

"वृहत्प्रतिक्रमणलक्षमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलार्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह णमो जिणाणमित्यादि।।"

'श्रीगौतमस्वामी दैवसिकादिप्रतिक्रमणादिभिर्निराकर्तुमशक्यानां दोषानां निराकरणार्थं वृहत्प्रतिक्रमणलक्षमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलाट्यर्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह णमोजिणाणमित्यादि"।

ये "णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं" आदि ४८ मंत्र गणधरवलय मन्त्र कहे जाते हैं।। बृहत्प्रतिक्रमणपाठ में प्रतिक्रमणभक्ति में इनका प्रयोग है।

इन मंत्रों का मंगलाचरण धवला की नवमी पुस्तक में है। वहाँ का प्रकरण देखिये–

णमो जिणाणं–जिनों को नमस्कार हो।

शंका–यह सूत्र किसलिये कहा जाता है?

समाधान–यह मंगल के लिये कहा जाता है।

शंका–मंगल किसे कहते हैं?

समाधान–पूर्व संचित कर्मों के विनाश को मंगल कहते हैं।

शंका–यदि ऐसा है तो "जिनसूत्रों का अर्थ भगवान् के मुख से निकला हुआ है, जो विसंवाद रहित होने के कारण केवलज्ञान के समान हैं तथा वृषभसेन आदि गणधर देवों द्वारा जिनकी शब्द रचना की गई है, ऐसे द्रव्य सूत्रों से उनके पढ़ने और मनन करने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुए सब जीवों के प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है। इसी प्रकार विधान होने के यह जिन नमस्कारात्मक सूत्र व्यर्थ पड़ता है।' अथवा यदि यह सूत्र सफल है तो सूत्रों का अध्ययन व्यर्थ होगा, क्योंकि उससे होने वाला निर्जरारूपफल इस जिन नमस्कारात्मक सूत्र में ही पाया जाता है।

समाधान–यह कोई दोष नहीं है क्योंकि सूत्राध्ययन से तो सामान्य कर्मों की निर्जरा की जाती है और मंगल से सूत्राध्ययन में विघ्न करने वाले कर्मों का विनाश किया जाता है, इस प्रकार दोनों का विषय भिन्न है।

आगे दूसरे सूत्र की उत्थानिका में विशेष स्पष्टीकरण हो रहा है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय से जनों के अनुग्रहार्थ गौतम भट्टारक महाकर्म प्रकृति प्राभृत के आदि में नमस्कार करके पर्यायार्थिक नय युक्त शिष्यों के अनुग्रहार्थ उत्तर सूत्रों को कहते हैं[२] –

णमो ओहिजिणाणं।।२।।

---

१. ".....जिणवयणविणिग्गयत्थादो अविसंवादेण केवलणाणसमाणादो उसहसेणादिगणहरदेवेहि विरइयसददरयणादो दव्वसुत्तादो तप्पढणगुणणकिरियावावदाणं पडि समसमसंखेज्जगुणसेढीए पुव्वसंचिदकम्मणिज्जरा होदित्तिणिप्फलमिदं सुत्तमिदि।।" (धवला पुस्तक ६)। २. एवं दव्वट्ठिठय जणाणुग्गहट्ठं णमोक्कारं गोदमभडारओ महाकम्मपयडिपाहुडस्स आदिम्हि काऊण पज्जवट्ठियाणुग्गहट्ठमुत्तर सुत्ताणि भणादि।-(धवला पु. ६, पृ. १२)।

अवधिजिनों को नमस्कार हो।।२।।

यहाँ अभिप्राय यह है कि "महाकर्मप्रकृति प्राभृत" ग्रन्थ को रचते हुए भट्टारक श्री गौतमस्वामी मंगलाचरण में सर्वप्रथम "णमो जिणाणं" सूत्र का उच्चारण करते हैं। यद्यपि उतने एक सूत्र से मंगल हो गया है, फिर भी पर्यायार्थिकजन के अनुग्रह के लिये आगे के अन्य सूत्रों की रचना करके मंगल करते हैं।

यहाँ यह बात विशेष समझने की है कि धवला के सूत्र साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् के मुख से विनिर्गत होने से बहुत ही प्रामाणिक हैं।

इस धवला ग्रन्थ में ये गणधर वलय मंत्र ४४ हैं और बृहत्प्रतिक्रमण में ४८ हैं। इसमें "णमो सयंबुद्धाणं" "णमो पत्तेयबुद्धाणं" "णमो बोहियबुद्धाणं" तथा "णमो बड्ढमाणाणं"। ये चार मंत्र अधिक हैं।

यहाँ 'णमो जिणाणं' में छठे गुणस्थान से लेकर अर्हन्त भगवान् तक के सभी जिनों को लिया है अव्रतियों को नहीं लिया है, ऐसा समझना चाहिए। एक-एक मन्त्र के अर्थों की कितनी विशेषता है, सो हिन्दी पद्यानुवाद में किंचित् व्यक्त की गई है। विशेष इच्छुकों को इनके टीका ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। एक मन्त्र के अर्थ को कहते हैं–

"णमो दित्ततवाणं।।२३।।

दीप्ति का कारण होने से तप दीप्ति कहा जाता है। दीप्त है तप जिनका, वे दीप्ति तप हैं। चतुर्थ व षष्ठ आदि उपवासों के करने पर जिनका शरीर तेज तप जनित लब्धि के महात्म्य से प्रतिदिन शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान बढ़ता जाता है, वे ऋषि दीप्ततप कहलाते हैं। उनकी केवल दीप्ति ही नहीं बढ़ती है अपितु बल भी बढ़ता है, क्योंकि शरीर बल, माँस और रुधिर की वृद्धि के बिना शरीर दीप्ति की वृद्धि नहीं हो सकती है, इसलिये उनके आहार भी नहीं होता, क्योंकि उसके कारणों का अभाव है। यदि कहा जाये कि भूख के दुःख को शांत करने के लिये वे भोजन करते हैं, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि उनके भूख के दुःख का अभाव है।

धवला टीका से यह निश्चित है कि गौतम स्वामी चार ज्ञान के धारक सर्व ऋद्धियों से समन्वित महान् तपस्वी भगवान् महावीर स्वामी के प्रथम गणधर थे। भगवान् को केवलज्ञान होने के बाद भी ६६ दिन तक उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी, फिर जब इन्द्र ने इस इन्द्रभूमि गौतम को भगवान् के समवसरण में प्रवेश कराया था, तब उनके जैनेश्वरी दीक्षा लेने के बाद ही ६६ दिन के अनंतर भगवान् की दिव्यध्वनि खिरी थी। पुनः श्री गौतमस्वामी ने दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त्त बाद मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त कर लिया था उसी दिन सायंकाल में अंग-पूर्व की रचना कर ली थी।

इन्हें धवला में भूतबलि आचार्य ने कैसे लिया है, सो इसी धवला में स्पष्ट है। यथा–

"यह निबद्ध मंगल तो हो नहीं सकता, क्योंकि कृति आदिक चौबीस अनुयोगद्वाररूप अवयवों वाले महाकर्म प्रकृति प्राभृत के आदि में गौतम स्वामी ने इसकी प्ररूपणा की है और भतिबलि भट्टारक के वेदना खंड के आदि में मंगल के निमित्त इसे वहाँ से लाकर स्थापित किया है, अतः इसे निबद्ध मंगल मानने में विरोध है।[1]"

"वर्धमान भगवान ने तीर्थ की उत्पत्ति की है।[2]" अठारह भाषा और सात सौ क्षुद्र भाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीज पदों के प्ररूपक अर्थकर्ता हैं" तथा बीज पदों में लीन अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता गणधर भट्टारक ग्रन्थकर्ता हैं।[3]"

संपहि वड्ढमाणतित्थगंथकत्तारो वुच्चदे–

अब वर्धमान जिनके तीर्थ में ग्रन्थकर्ता को कहते हैं–

"उक्त पाँच अस्तिकायादिक क्या हैं?" ऐसे सौधर्मेन्द्र के प्रश्न से सन्देह को प्राप्त हुए, पाँच सौ पाँच सौ शिष्यों से सहित तीन भ्राताओं से वेष्टित, मानस्तम्भ के देखने से गर्व रहित हुए, बुद्धि को प्राप्त होने वाली विशुद्धि से संयुक्त वर्धमान भगवान् के दर्शन करने पर असंख्यात भवों में अर्जित महान् कर्मों को नष्ट करने वाले, जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणा करके पाँच अंगों द्वारा भूमिस्पर्श पूर्वक वंदना करके एवं हृदय से जिनभगवान् का ध्यान कर संयम को प्राप्त हुए, विशुद्धि के बल से मुहूर्त के भीतर उत्पन्न हुए समस्त गणधर के लक्षणों से संयुक्त तथा जिनमुख से निकले हुए बीजपदों के ज्ञान से सहित ऐसे गौतम गोत्रवाले इन्द्रभूति ब्राह्मण द्वारा चूंकि आचारांग आदि बारह अंगों तथा सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निषिद्धिका, इन अंगबाह्य चौदह प्रकीर्णकों की श्रावण मास के कृष्ण पक्ष में युग की आदि में प्रतिपदा के पूर्व दिन में रचना की थी, अतएव इन्द्रभूति भट्टारक वर्धमान जिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता हुए। कहा भी है–

"वर्ष के प्रथम मास व प्रथम पक्ष में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के पूर्व दिन में अभिजित् नक्षत्र में तीर्थ की उत्पत्ति हुई[4]"।

इस प्रकार संक्षेप में श्री गौतमस्वामी का परिचय दिया गया है। अब आगे उनके द्वारा रचित चैत्यभक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति, वीरभक्ति और गणधर वलय मंत्रों को अर्थ सहित दिया जा रहा है।

---

१. धवला पुस्तक ९, पृ. १३। २. वड्ढमाण भडारएण तित्थमुप्पइदं।" (धवला पु. ९ पृ. ११३)।, ३. वही पुस्तक, पृ. १२७। ४. वाससस पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले। पडिवदुपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्मि।।४०।।

चैत्यभक्ति

(टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य लिखते हैं-

"श्री वर्धमानस्वामिनं प्रत्यक्षीकृत्य गौतमस्वामी जयतीत्यादिस्तुतिमाह-

श्री वर्धमान स्वामी को प्रत्यक्ष करके गौतमस्वामी 'जयति भगवान' इत्यादि रूप से स्तुति करते हुये कहते हैं-)

जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृंभिता-वमरमुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणो, विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः।।१।।

अर्थ- जो सुवर्णमय कमलों पर सामान्य मनुष्यों में न पाये जाने वाले और चरण क्रम के संचार से रहित प्रचार-गमन से शोभायमान हैं, देवों के मुकुटों में लगी हुई छाया—मणियों से निकलती हुई प्रभा से आलिंगित-स्पर्शित हैं ऐसे जिनके चरणों में आकर कलुष हृदय वाले, अहंकार से युक्त, परस्पर वैरी ऐसे सर्प, नेवला आदि जीव अपने-अपने स्वाभाविक क्रूर स्वभाव को छोड़कर विश्वास को प्राप्त होते हैं वे भगवान् जिनेन्द्र जयवंत रहें।।१।।

तदनु जयति श्रेयान् धर्मः प्रवृद्धमहोदयः, कुगति-विपथ-क्लेशाद्योऽसौ विपाशयति प्रजाः।
परिणतनयस्याङ्गीभावाद्विवित्तविकल्पितं, भवतु भवतस्त्रातृ त्रेधा जिनेन्द्रवचोऽमृतम्।।२।।

अर्थ- अनन्तर उत्तमक्षमादिलक्षण श्रेष्ठ धर्म जयवंत हो, जिससे प्राणियों के स्वर्गादि पदों की प्राप्ति वृद्धि को प्राप्त होती है। जो संसारी जीवों को नरकादि कुगतियों से, मिथ्यादर्शन आदि कुमार्गों से और उनसे जयमान क्लेशों से छुड़ाता है तथा द्रव्यार्थिक नय को गौणकर पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता लेकर अङ्ग पूर्व आदि रूप से रचा गया अथवा पूर्वापर दोषरहित रचा गया ऐसा उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप से अथवा अङ्ग पूर्व और अंगबाह्य रूप से तीन प्रकार का जिनेन्द्र का वचन रूप अमृत संसार से रक्षा करे।।२।।

तदनु जयताज्जैनी वित्तिः प्रभंगतरंगिणी प्रभवविगमध्रौव्यद्रव्यस्वभावविभाविनी।
निरुपमसुखस्येदं द्वारं विघट्य निरर्गलं, विगतरजसं मोक्षं देयान्त्रिरत्ययमव्ययम्।।३।।

अर्थ—अनन्तर जिनेन्द्र का केवलज्ञान जयवंत हो, जिसमें स्यादस्ति स्यान्नास्ति आदि सात भंग रूप कल्लोलें हैं जो द्रव्यों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप स्वभावों को प्रकाशित करता है। ऐसा यह केवलज्ञान अनन्तसुख के मोहनीयरूप द्वार को अंतरायरूप आगल से रहित उद्घाटन कर ज्ञानदर्शनावरणरूप रजसे रहित व्याधि अथवा जरा मरण से रहित अविनश्वर मोक्ष को देवे।।३।।

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायेभ्यस्तथा च साधुभ्यः। सर्वजगद्वन्द्येभ्यो नमोऽस्तु सर्वत्र सर्वेभ्यः।।४।।

अर्थ- सम्पूर्ण जगत् द्वारा वन्दनीय सब अर्हंतों को, सब आचार्यों को, सब उपाध्यायों को

और सब साधुओं को नमस्कार हो।।४।।

मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्यः सदाहतरजोभ्यः। विरहितरहस्कृतेभ्यः पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्यः।।५।।

अर्थ– जो मोह, राग, द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषरूप शत्रुओं के घातक हैं जिनने हमेशा के लिये ज्ञानावरणरूप रज को नष्ट कर दिया है, तथा अन्तराय कर्म का भी जिनने विनाश कर दिया है ऐसे पूजा योग्य अर्हंतों को नमस्कार हो।।५।।

क्षान्त्यार्जवादिगुणगणसुसाधनं सकललोकहितहेतुं। शुभधामनि धातारं वन्दे धर्मं जिनेन्द्रोक्तम्।।६।।

अर्थ– क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आदि गुणों का समुदाय जिस की उत्पत्ति में साधन है जो सम्पूर्णलोक में हित का कारण है और शुभ धाम जो निर्वाण उसमें स्थापन करने वाला है ऐसे जिनेन्द्रोक्त धर्म को वन्दता हूँ।।६।।

मिथ्याज्ञानतमोवृतलोकैकज्योतिरमितगमयोगि। सांगोपांगमजेयं जैनं वचनं सदा वन्दे।।७।।

अर्थ–जो मिथ्याज्ञानरूप अन्धकार से आच्छादित लोक का प्रकाशक होने से अद्वितीय ज्योति है। अपरिमित श्रुतज्ञान का जनक होने से सम्बन्धी है। आचारादि अङ्गों और पूर्व वस्तु आदि उपांगों से युक्त है तथा एकान्तवादियों कर अजेय है ऐसे जैन वचन को सदा वन्दन करता हूँ।।७।।

भवनविमानज्योतिर्व्यंतरनरलोकविश्वचैत्यानि। त्रिजगदभिवन्दितानां वन्दे त्रेधा जिनेन्द्राणां।।८।।

अर्थ– भवनवासी देवों, कल्पवासी देवों, ज्योतिष्क देवों और व्यन्तर देवों के विमानों में तथा मनुष्य लोक में तीन जगत् कर वन्दनीय जिनेन्द्र देव की जितनी भर प्रतिमा हैं उन सबकी मन, वचन और काय से वन्दना करता हूँ।।८।।

भुवनत्रयेऽपि भुवनत्रयाधिपाभ्यर्च्यतीर्थकर्तृणाम्। वन्दे भवाग्निशान्त्यै विभवानामालयालीस्ताः।।९।।

अर्थ– जिनका संसारपरिभ्रमण विनष्ट हो चुका है, तीन भुवन के स्वामी देवेन्द्र, नरेन्द्र और धरणेन्द्र द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकरों के आलय-मन्दिर की पंक्तियों को भी संसाररूप अग्नि की शांति के लिए वन्दता हूँ।।९।।

इति पंच महापुरुषा प्रणुता जिनधर्म-वचन-चैत्यानि।
चैत्यालयाश्च विमलां, दिशन्तु बोधिं बुधजनेष्टां।।१०।।

अर्थ– इस तरह वन्दना किये गये अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनवचन, जिनचैत्य और जिनचैत्यालय ये नव देवता बुधजन जो गणधर देवादि उनको इष्ट ऐसी मुझे निर्मल बोधि देवें।।१०।।

अकृतानि कृतानि चाप्रमेयद्युतिमन्ति द्युतिमत्सु मन्दिरेषु।
मनुजामरपूजितानि वंदे प्रतिबिम्बानि जगत्त्रये जिनानाम्।।११।।

अर्थ– तीन जगत में विद्यमान प्रचुरप्रभा से समन्वित मन्दिरों में स्थित, मनुष्यों और देवों द्वारा पूज्य, प्रचुरतर प्रभायुक्त कृत्रिम और अकृत्रिम जिनेन्द्र के प्रतिबिम्बों को प्रणमन करता हूँ।।११।।

द्युतिमंडलभासुराङ्गयष्टीः प्रतिमा अप्रतिमा जिनोत्तमानाम्।
भुवनेषु विभूतये प्रवृत्ता वपुषा प्रांजलिरस्मि वन्दमानः।।१२।।

अर्थ– जो तीन भुवन में विद्यमान हैं जिनकी शरीर–यष्टि प्रभामंडल से दैदीप्यमान है ऐसी अर्हंतों की अनुपम प्रतिमाओं को वन्दना करने वाला मैं पुण्य की प्राप्ति के निमित्त शरीर से अंजलि बांधता हूँ अर्थात् ऐसी प्रतिमाओं को हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ।।१२।।

विगतायुधविक्रियाविभूषाः प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणाम्।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कांत्याप्रतिमाः कल्मषशान्तये ऽभिवन्दे।।१३।।

अर्थ– जो आयुध, विकार, आभूषणों से रहित हैं, अपने ही स्वभाव में स्थित हैं तथा कान्ति से अतुल्य हैं ऐसी कृति अर्थात् कृतकृत्य जिनेश्वरों की प्रतिमागृहों में विराजमान प्रतिमाओं को पाप की शान्ति के लिए वन्दता हूँ।।१३।।

कथयंति कषायमुक्तिलक्ष्मीं परया शान्ततया भवान्तकानाम्।
प्रणमाम्यभिरूपमूर्तिमंति प्रतिरूपाणि विशुद्धये जिनानाम्।।१४।।

अर्थ– उत्कृष्ट, शान्तता युक्त होने से कषाय का अभावरूप लक्ष्मी को कहने वाली, जिनेश्वर का जैसा रूप है वैसी मूर्तिमती, ऐसी संसार का नाश कर देने वाले जिनेश्वरों की मूर्तियों को आत्मपरिणामों की निर्मलता होने के लिए नमस्कार करता हूँ।।१४।।

यदिदं मम सिद्धभक्तिनीतं सुकृतं दुष्कृतवर्त्मरोधि तेन।
पटुना जिनधर्म एव भक्तिर्भवताज्जन्मनि जन्मनि स्थिरा मे।।१५।।

अर्थ– तीन जगत में प्रसिद्ध अर्हंतों के प्रतिबिंबों की भक्ति करने से जो यह पुण्य मुझे प्राप्त हुआ है जो कि पाप के मार्ग को रोकने वाला है उस समस्त पुण्य से मेरी भक्ति जन्म-जन्म में जिन धर्म में ही स्थिर होवे।१५।।

अर्हतां सर्वभावानां दर्शनज्ञानसम्पदाम्। कीर्तयिष्यामि चैत्यानि यथाबुद्धि विशुद्धये।।१६।।

अर्थ– सम्पूर्ण पदार्थ जिनके विषयभूत हैं अथवा परिपूर्ण यथाख्यात चारित्र जिनके विद्यमान है, क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञानरूप संपदा जिनके मौजूद है ऐसे अर्हंतों के चैत्यों का अपनी बुद्धि के अनुसार परिणामों की निर्मलता के लिए अथवा कर्ममल के प्रक्षालन के लिए कठिन कीर्तन करूँगा।।१६।।

श्रीमद्भावनवासस्थाः स्वयंभासुरमूर्तयः। वंदिता नो विधेयासुः प्रतिमाः परमां गतिम्।।१७।।

अर्थ– मेरे द्वारा जिनकी वन्दना की गई है जो भवनवासी देवों के दैदीप्यमान भवनों में स्थित हैं जिनका स्वरूप स्वयंभासुररूप है ऐसी प्रतिमाएँ मुझ वंदक को परम गति अर्थात् मुक्ति प्रदान करें।।१७।।

यावन्ति सन्ति लोकेऽस्मिन्नकृतानि कृतानि च। तानि सर्वाणि चैत्यानि वन्दे भूयांसि भूतये।।१८।।

अर्थ– इस तिर्यग्लोक में कृत्रिम और अकृत्रिम जितने प्रचुरतर प्रतिबिम्ब हैं उन सबको विभूति के लिए वंदता हूँ।।१८।।

ये व्यन्तरविमानेषु स्थेयांसः प्रतिमागृहाः। ते च संख्यामतिक्रान्ताः सन्तु नो दोषविच्छिदे।।१९।।

अर्थ– व्यंतरों के आवासों में सर्वदा अवस्थित जो असंख्यात प्रतिमागृह हैं वे मेरे दोषों की शान्ति के लिये होवें।।१९।।

ज्योतिषामथ लोकस्य भूतयेऽद्भुतसम्पदः। गृहाः स्वयंभुवः सन्ति विमानेषु नमामि तान्।।२०।।

अर्थ– अनन्तर ज्योतिषी देवों के विमानों में अद्भुत सम्पत्ति धारी अर्हंतों के जो शाश्वत गृह हैं उनको मैं विभूति के निमित्त नमस्कार करता हूँ।।२०।।

वन्दे सुरतिरीटाग्रमणिच्छायाभिषेचनम्। याः क्रमेणैव सेवन्ते तदर्चाः सिद्धिलब्धये।।२१।।

अर्थ– जो देवों के मुकुट के अग्र भाग में लगी हुईं मणियों की कान्ति से अभिषेक को चरणों द्वारा सेवन करती हैं अर्थात् जिनके चरणों में वैमानिक देव सिर झुकाते हैं उन वैमानिक देवों के विमान सम्बन्धी प्रतिमाओं को मुक्ति की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।।२१।।

इति स्तुतिपथातीतश्रीभृतामर्हतां मम। चैत्यानामस्तु संकीर्तिः सर्वास्त्रवनिरोधिनी।।२२।।

अर्थ– इस प्रकार स्तुति के मार्ग को अतिक्रमण करने वाली अर्थात् जिसकी स्तुति इन्द्रादि देव भी नहीं कर सकते ऐसी अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मी को धारण करने वाले अर्हंतों के चैत्यों की स्तुति मेरे सम्पूर्ण आस्त्रवों को रोकने वाली होवे।।२२।।

अर्हन्महानदस्य त्रिभुवनभव्यजनतीर्थयात्रिकदुरित-
प्रक्षालनैककारणमतिलौकिककुहकतीर्थमुत्तमतीर्थम्।।२३।।
लोकालोकसुतत्त्वप्रत्यवबोधनसमर्थदिव्यज्ञान-
प्रत्यहवहत्प्रवाहं व्रतशीलामलविशालकूलद्वितयम्।।२४।।
शुक्लध्यानस्तिमितस्थितराजद्राजहंसराजितमसकृत्।
स्वाध्यायमंद्रघोषं नानागुणसमितिगुप्ति-सिकतासुभगम्।।२५।।

क्षान्त्यावर्तसहस्रं सर्वदया-विकचकुसुमविलसल्लतिकम्
दुःसहषरीषहाख्यद्रुततररंगत्तरंगभंगुरनिकरम्।।२६।।
व्यपगतकषायफेनं रागद्वेषादिदोष-शैवलरहितम्।
अत्यस्तमोह-कर्दममतिदूरनिरस्तमरण-मकरप्रकरम्।।२७।।
ऋषिवृषभस्तुतिमंद्रोद्रेकितनिर्घोष-विविधविहगध्वानम्।
विविधतपोनिधि-पुलिनं सास्त्रवसंवरणनिर्जरानिस्त्रवणम्।।२८।।
गणधरचक्रधरेन्द्रप्रभृतिमहाभव्यपुंडरीकैः पुरुषैः।
बहुभिः स्नातं भक्त्या कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम्।।२९।।
अवतीर्णवतः स्नातुं ममापि दुस्तरसमस्तदुरितं दूरं।
व्यवहरतु परमपावनमनन्यजय्यस्वभावभावगंभीरम्।।३०।।

अर्थ– जो तीन भुवन में निवास करने वाले भव्यजन रूप तीर्थ यात्रियों के पाप कर्म के प्रक्षालन करने में अद्वितीय कारण है, जिसने लौकिक मिथ्या तीर्थों का अतिक्रमण-उल्लंघन कर दिया है, जिसमें लोक और अलोक का सच्चा स्वरूप समझाने में समर्थ ऐसे दिव्य केवलज्ञान या मतिश्रुतादि ज्ञान ही प्रतिदिन बहते हुये प्रवाह हैं, व्रत और शील ही जिसके स्वच्छ और विशाल दो तट हैं, जो शुक्लध्यानरूप स्थिर स्थित ऐसे दीप्त राजहंसों से शोभित है, जिसमें निरंतर स्वाध्याय पाठ ही मनोज्ञ नाद (शब्द) हैं, जो चौरासी लाख गुण, पंच समिति और तीन गुप्ति रूप सिकता (बालू) से सुशोभित है, जिसमें क्षमागुण ही हजारों आवर्त-लहरें हैं, सम्पूर्ण प्राणियों पर दयाभाव ही खिले हुए पुष्पों से शोभायमान बेल है, दुःसह क्षुधादि परीषह ही शीघ्र इधर-उधर फैलती हुई चंचल तरंगों का समुदाय है, कषाय रूप फेन जिसमें नष्ट हो गया है, जो राग-द्वेषादि दोषरूप शैवाल (कांजी) से रहित है, जिसमें मोहरूप कीचड़ का अभाव है, मरणरूप मकरों का समूह नष्ट हो चुका है, ऋषिश्रेष्ठ गणधरदेवादिकों द्वारा बोली गई स्तुतियों के मनमोहक उत्कट शब्द ही नाना प्रकार के पक्षियों के कलरव हैं, नाना भांति के तपोनिधि-मुनि ही किनारा हैं, जो आते हुए कर्मरूप जल के संवरण और आए हुए कर्मरूप जल के निःस्त्रवण से मुक्त हैं, जिसमें गणधर, चक्रधर, इन्द्र आदि भव्य-पुंडरीक पुरुषों ने पापरूप कलुष मल को दूर करने के लिये भक्तिपूर्वक स्नान किया है, जो बड़ा भारी है, परम पवित्र है, जिनके स्वरूप प्रतिवादियों द्वारा न जीते जा सकें ऐसे जीवादि पदार्थों से जो अगाध है ऐसा अर्हंत रूप महानद का उत्तम तीर्थ पापमल का प्रक्षालन रूप स्नान करने के लिये प्रविष्ट हुए मेरे भी दुस्तर समस्त पापों का व्यवहरण—नाश करे।।२३-३०।।

अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवह्नेर्जयात्, कटाक्षरशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः।
विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा, मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्।।३१।।
निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदया, त्निरंबरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः।
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमात्, निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात्।।३२।।
मितस्थितनखांगजं गतरजोमलस्पर्शनं, नवांबुरुहचंदनप्रतिमदिव्यगन्धोदयम्।
रवीन्दुकुलिशादिदिव्यबहुलक्षणालंकृतं, दिवाकर सहस्रभासुरमपीक्षणानां प्रियम्।।३३।।
हितार्थपरिपंथिभिः प्रबलरागमोहादिभिः, कलंकितमना जनो यदभिवीक्ष्य शोशुध्यते।
सदाभिमुखमेव यज्जगति पश्यतां सर्वतः, शरद्विमलचन्द्रमंडलमिवोत्थितं दृश्यते।।३४।।
तदेतदमरेश्वरप्रचलमौलिमालामणि-, स्फुरत्किरणचुंबनीयचरणारविन्दद्वयम्।
पुनातु भगवज्जिनेन्द्र! तव रूपमन्धीकृतं, जगत् सकलमन्यतीर्थगुरुरूपदोषोदयैः।।३५।।

अर्थ– हे भगवन् जिनेन्द्र! सम्पूर्ण कोपरूप अग्नियों के क्षय हो जाने से जिसमें नयन रूप उत्पलपत्र कुछ-कुछ लाल हैं या लालिमा रहित हैं, वीतरागता की परम प्रकर्षता के होने से जो कटाक्ष रूप वाणों के छोड़ने से रहित है, विषाद और मद की हानि होने से सदा प्रफुल्लित है ऐसा आपके यथाजात रूप में आपका मुख आपके हृदय की आत्यंतिक शुद्धि को कह रहा है। हे भगवन्! आपका मुख राग के आवेग के उदय के नष्ट हो जाने से आभरण रहित होने पर भी भासुर रूप है, आपका स्वाभाविक रूप निर्दोष है इसलिये वस्त्र रहित नग्न होने पर भी मनोहर है, आपका यह रूप न औरों के द्वारा हिंस्य है और न औरों का हिंसक है इसलिये आयुध रहित होने पर भी अत्यन्त निर्भय स्वरूप है, तथा नाना प्रकार की क्षुत्पिपासादि वेदनाओं के विनाश हो जाने से आहार न करते हुए तृप्तिमान है। आपके नख और केश नहीं बढ़ते हैं वे उतने ही हर समय रहते हैं जितने केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय होते हैं। रजोमल का स्पर्श भी आपके नहीं है, आपके रूप में विकसित कमल और चन्दन के सदृश दिव्यगंध का उदय है। आपका यह रूप सूर्य, चन्द्रमा, वज्र आदि एक सौ आठ प्रशस्त–चिन्हों से अलंकृत है तथा हजारों सूर्यों के समान भासुर होकर भी नेत्रों को अत्यन्त प्रिय है। आपके रूप को देखकर मोक्ष का परिपंथी शत्रु ऐसे प्रबल राग मोह आदि दोषों से कलंकित मनवाला जन-समुदाय अतिशय शुद्ध हो जाता है, जो जगत् में देखने वालों को चारों दिशाओं में सदा सन्मुख ही शरत्कालीन उदयापन्न निर्मल चन्द्रमा के समान दीखता है, देवेन्द्रों के नमस्कार प्रवण मुकुटों की पंक्तियों में जटित मणियों की स्फुरायमान किरणों से आपके दोनों चरण-कमल आलिंगित हैं ऐसा यह आपका रूप, जैन मत से भिन्न अन्य मिथ्या तीर्थों से भी गुरु रूप राग द्वेष मोहादि दोषों के प्रादुर्भाव से अन्धे हुए सारे जगत को पवित्र करे।।३१-३५।।

अनन्तर[1] चैत्य के सन्मुख बैठकर नीचे लिखा आलोचना पाठ पढ़ें।

आलोचना या अंचलिका–

इच्छामि भंते! चेइयभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं। अहलोय-तिरियलोय-उड्ढलोयम्मि किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तीसुवि लोएसु भवणवासिय-वाण-विंतर- जोइसिय-कप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण वासेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अंचंति पुज्जंति वंदंति णमंसंति चेदिय महाकल्लाण करंति अहमवि इत संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि पुज्जेमि वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ– हे भगवन्! चैत्यभक्ति और तत् सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हूँ। अधोलोक, तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक में जो कृत्रिम और अकृत्रिम जितनी प्रतिमाएँ हैं उन सबको तीन लोक में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चार प्रकार के देव अपने-अपने परिवार सहित दिव्य गंध से, दिव्य पुष्पों से, दिव्य धूप से, दिव्य चूर्ण से, दिव्य सुगंधि से और दिव्य अभिषेक से सदा अर्चते हैं पूजते हैं वन्दते हैं नमस्कार करते हैं मैं भी यहीं पर बैठा हुआ वहाँ स्थित प्रतिमाओं को सदा अर्चता हूँ, पूजता हूँ, वन्दता हूँ, नमस्कार करता हूँ, मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधि-रत्नत्रय का लाभ हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो, जिनगुणसंपत्ति हो।

---

१. आलोच्य.....।

प्रतिक्रमण भक्ति

(दैवसिक प्रतिक्रमण के अंतर्गत)

णमो जिणाणं ३, णमो णिस्सिहीए ३, णमोत्थु दे ३,

अरहंत! सिद्ध! बुद्ध! णीरय! णिम्मल! सममण! सुममण! (सुमण) सुसमत्थ! समजोग! समभाव! सल्लघट्टाण सल्लघत्ताण! णिब्भय! णीराय! णिद्दोस! णिम्मोह! णिम्मम! णिस्संग! णिस्सल्ल! माणमायामोसमूरण! तवप्पहावण! गुणरयणसीलसायर! अणंत! अप्पमेय! महदिमहावीर-वड्ढमाण-बुद्धरिसिणो चेदि णमोत्थु दे णमोत्थु दे णमोत्थु दे।

अर्थ– जिनेन्द्रों को नमस्कार हो, जिनेन्द्रों को नमस्कार हो, जिनेन्द्रों को नमस्कार हो। निषीधिकाओं को नमस्कार हो, निषीधिकाओं को नमस्कार हो, निषीधिकाओं को नमस्कार हो। आपको नमस्कार हो, आपको नमस्कार हो, आपको नमस्कार हो, हे अर्हंत! हे सिद्ध! हे बुद्ध! हे नीरज! हे निर्मल! हे सममन! हे शुभमन! हे सुसर्थ! हे समयोग! हे समभाव! हे शल्यपीड़ित के शल्यघातक! हे निर्भय! हे नीरांग! हे निर्दोष! हे निर्मोह! हे निर्मम! हे निःसंग! हे निःशल्य! हे मान-माया-मृषा के मर्दक! हे तपःप्रभावक! हे गुणरत्न और शील के सागर! हे अनंत! हे अप्रमेय! हे महतिमहावीर वर्द्धमान बुद्धर्षि भगवन्! आपको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

विशेषार्थ – यहाँ जिनेन्द्र देव को तीन बार नमस्कार करने से अति भक्ति सूचित होती है। निषीधिका को भी तीन बार नमस्कार किया है। निषीधिका शब्द से सामान्यतया तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमियां ली जाती हैं अथवा सामान्य केवली आदि के भी निर्वाण स्थान निषीधिका कहलाते हैं। टीकाकार श्री प्रभाचंद्राचार्य ने यहां 'निषीधिका' के सत्रह - १७ प्रकार बतलाये हैं–

"णिसीहियाए-निषीधिका शब्दोऽनेकार्थामिधायी। तथाहि – (१) जिनसिद्ध प्रतिबिम्बानि मुनयः (२) तथा तदालयाः। (३) बुद्ध्यादि-लब्धिसंपन्ना मुनयः। (४) तैराश्रितानि क्षेत्राणि। (५) अवधिमनः पर्यय-केवलज्ञानिनः। (६) ज्ञानोत्पत्तिप्रदेशाः। (७) तैराश्रितक्षेत्राणि। (८) सिद्धजीवाः। (९) तन्निर्वाणक्षेत्राणि। (१०) तैराश्रिताकाशप्रदेशाः। (११) सम्यक्त्वादिचतुर्गुणयुक्तास्तपस्विनः। (१२) तैराश्रितक्षेत्रम्। (१३) तत्त्यक्तशरीराश्रितप्रदेशाः। (१४) योगस्थितास्तपस्विनः (१५) तैराश्रितक्षेत्रम् (१६) तन्मुक्तशरीराश्रितप्रदेशाः। (१७) त्रिविधपण्डितमरणस्थिता मुनयः। इत्यादि।'[1]

अर्थ– (१) जिन और सिद्ध की कृत्रिम - अकृत्रिम प्रतिमायें। (२) उनके मंदिर, (३) बुद्धि

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी पृ.२०।

आदि ऋद्धि से सहित मुनिगण, (४) उनसे आश्रित क्षेत्र, (५) अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानी, (६) उनके ज्ञानोत्पत्ति के प्रदेश, (७) उनसे आश्रित क्षेत्र, (८) सिद्धजीव (९) उनके निर्वाण क्षेत्र, (१०) उनसे आश्रित आकाशप्रदेश, (११) सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार से युक्त तपस्वी, (१२) उनसे आश्रित क्षेत्र, (१३) उनके द्वारा छोड़े गये शरीर के आश्रित प्रदेश, (१४) योग में स्थित तपस्वी, (१५) उनसे आश्रित क्षेत्र, (१६) उनके द्वारा छोड़े गये शरीर के आश्रित प्रदेश, (१७) और तीन प्रकार के पंडितमरण में स्थित मुनिगण। ये सभी 'निषीधिका' शब्द से कहे गये हैं अतः इन सबको यहाँ नमस्कार हो जाता है।

घातिकर्म विरहित अर्हंत देव हैं। आठों कर्मों से रहित सिद्ध भगवान हैं। केवलज्ञान सहित बुद्ध कहलाते हैं। ज्ञानावरण दर्शनावरण रूपीरज से रहित 'नीरज' हैं। द्रव्य और भावरूप कर्म कलंक से रहित निर्मल हैं। तृण और स्वर्ण तथा शत्रु-मित्र में समभाव-रागद्वेष रहित चित्तवाले 'सममन' हैं। शोभन-आर्त, रौद्रध्यान से रहित मन वाले 'सुमन' या शुभमन वाले हैं। कायक्लेश तप के अनुष्ठान में और परीषहों के सहन करने में अच्छी तरह समर्थ होने से 'सुसमर्थ' कहलाते हैं। परम उपशम भाव से सहित होने से 'समयोग' होते हैं। संसार का उपशम करने के लिये अथवा राग द्वेष का परिहार करने के लिये द्वादश अनुप्रेक्षा की भावना रूप से परिणत 'समभाव' कहलाते हैं।

इस प्रकार जो सामान्य रूप से अर्हंत आदि हैं उन्हें नमस्कार करके यहाँ विशेषरूप से अंतिम तीर्थंकर की स्तुति करते हुये कहते हैं– 'सल्लघत्ताणं'– चतुर्गति संसार में जो जीवों को 'श्रृणन्ति' कष्ट देते हैं – शारीरिक, मानस और आगंतुक दुःखों द्वारा पीड़ा पहुँचाते हैं वे शल्य कहलाते हैं वे माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य हैं तथा क्रोधादि भी कदाचित् शल्य कहलाते हैं जैसे कि वाणादि शल्य के समान। उन शल्यों से पीड़ित प्राणी 'शल्यघट्ट' कहलाते हैं। उन शल्यपीड़ित जीवों के शल्य घातक हैं अर्थात् उन चतुर्गति के दुःख के लिए कारणभूत जो शल्य हैं उनके विनाशक हैं। सात भयों से रहित होने से 'निर्भय' हैं। राग से रहित होने से 'नीराग' हैं। अठारह दोषों से रहित होने से 'निर्दोष' कहलाते हैं। मोह और अज्ञान से रहित होने से अथवा दर्शनमोह और चारित्रमोह को नष्ट कर देने से भगवान 'निर्मोह' कहलाते हैं। सभी सांसारिक विषयों में ममत्व रहित होने से 'निर्भय' हैं। बाह्य-अभ्यंतर परिग्रहों से रहित होने से 'निःसंग' हैं। माया आदि शल्यों से विरहित होने से 'निःशल्य' हैं। गुण चौरासी लाख हैं, रत्न– सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप तीन हैं और शील के भेद अठारह हजार होते हैं, इन गुण, रत्न और शील के आप सागर हैं – निवास स्थान हैं अतः आप 'गुणरत्नशीलसागर' कहलाते हैं। अनंत केवलज्ञान दर्शन आदि से युक्त होने से 'अनंत' कहलाते हैं। इन्द्रिय ज्ञान से -हम सभी छद्मस्थ जनों के इन्द्रियज्ञान द्वारा नहीं जाने जा सकते अतः 'अप्रमेय' कहलाते हैं। इन विशेषणों से विशिष्ट 'महतिमहावीर' और 'वर्द्धमान' इन दो नामों

से विभूषित आप 'महतिमहावीर वर्द्धमान' कहलाते हैं।

भगवान महावीर के गर्भावतार आदि में माता-पिता की इन्द्रों द्वारा महती पूजा की गई थी और रत्नवृष्टि आदि की गई थी, इसीलिये बंधुजनों ने भगवान का 'वर्धमान' यह नाम रखा था। अव-समंतात् सब तरफ से ऋद्ध-मान अर्थात् पूजा होने से वर्द्धमान - वर्धमान कहलाते हैं। भगवान वर्धमान जब दीक्षा लेकर ध्यान में खड़े थे तब रूद्र ने महान् उपसर्ग किया था किंतु जब वह उन्हें ध्यान से चलायमान नहीं कर सका तब उसने प्रसन्न होकर 'महति महावीर' नामकरण किया था। 'बुद्धरिसिणो'– जिन्होंने संपूर्ण पदार्थों को जैसे का तैसा जान लिया है ऐसे 'ऋषि' अर्थात् केवलज्ञान आदि क्षायिक नवकेवल लब्धियों से संपन्न होने से भगवान महावीर 'बुद्धर्षि' कहलाते हैं। इन सभी विशेषणों से समन्वित ऐसे अर्हंत, सिद्ध आदि विशेषणों से विशिष्ट हे महावीर स्वामिन्! आपके लिये नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

मम मंगलं अरहंता य सिद्धा य बुद्धा य जिणा य केवलिणो ओहिणाणिणो मणपज्जवणाणिणो चोद्दसपुव्वंगमिणो सुदसमिदिसमिद्धा य तवो य बारसविहो तवस्सी, गुणा य गुणवंतो य महरिसी तित्थं तित्थंकरा य, पवयणं पवयणी य, णाणं णाणी य, दंसणं दंसणी स, संजमो संजदा य, विणओ विणीदा य, बंभचेरवासो य वंभचारी, गुत्तीओ चेव गुत्तिमंतो य मुतीओ चेव मुत्तिमंतो य, समिदीओ चेव समिदिमंतो य, ससमय परसमयविदू खंतिक्खगा[1] य खंतिवंतो य खीणमोहा य खीणवंतो य, बोहियबुद्धा य बुद्धिमंतो य, चेदियरुक्खा य चेदियाणि।

अर्थ– अरहंत, सिद्ध, बुद्ध, जिन, केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, चौदश पूर्वगामी, श्रुतसमिति से समृद्ध, बारह प्रकार के तप और तपस्वी, गुण और गुणधारी, महर्षि, तीर्थ और तीर्थंकर, प्रवचन और प्रवचन वाले, ज्ञान और ज्ञानी, दर्शन और दर्शनी, संयम और संयत मुनि, विनय और विनीत मुनि ब्रह्मचर्यवास और ब्रह्मचारी, गुप्तियां और गुप्तिमान, मुक्ति और मुक्तिमान, समितियां और समितिवान्, स्वसमय-परसमय के ज्ञाता, क्षांति-क्षपक और क्षांतिमान, क्षीणमोह और क्षीणमोहवान्, बोधितबुद्ध और बुद्धिमान, चैत्यवृक्ष और चैत्य—जिनप्रतिमायें ये सब मेरे मंगल के लिये होवें।

विशेषार्थ– ये अरिहंत सिद्ध आदि सब मेरे मंगल के लिये—मलगालन करने वाले होवें। छ्यालीस गुण सहित भगवान अर्हंत कहलाते हैं। संसाररूपी विषम कष्ट को देने में कारणभूत कर्म हैं इन कर्मों को जड़मूल से नष्ट करने वाले 'जिन' कहलाते हैं। केवली भगवान अवधिज्ञानी महामुनि, मनःपर्यय ज्ञानी महामुनि, चतुर्दश पूर्व और द्वादशंग के ज्ञानी, श्रुत-अंगबाह्य अर्थात्

१. 'खंतिक्खवगा य खीणमोहा य' प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी में ऐसा पाठ है।

कालिक, उत्कालिक आदि भेदों का जो समिति- समूह उनसे समृद्ध - अंगबाह्य श्रुत के ज्ञानी बारह प्रकार के तप - अनशन आदि भेदों सहित और तपस्वी महासाधु, गण-मूलगुण एवं उत्तरगुण अथवा चौरासी लाख उत्तर गुण और उनके गुणों से युक्त महामुनि। महर्षि - कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, आदि परमऋद्धि युक्त मुनिगण ये सब मेरे मंगल के लिये होवें।

तीर्थ- आगम और उस आगम के आधारभूत संघ ये तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थंकर भगवान मेरे लिए मंगलकारी होवें। पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित वचन प्रवचन कहलाते हैं ऐसे प्रवचन और प्रवचन वाले महामुनि, मति आदि पंचविध ज्ञान और ज्ञानधारी महासाधु, त्रिविध सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन महामुनि, बारह प्रकार का संयम और संयमधारी संयत, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार इन चार भेदरूप विनय और विनयगुण युक्त मुनिगण ये मंगलकारी होवें।

ब्रह्मचर्यवास-ब्रह्म-गुरुकुल-मुनिसंघ अथवा व्रतों में जो चर्या की जाती है- उनका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम ब्रह्मचर्य है उसके साथ जिनका वास है अर्थात् जो ब्रह्मचर्य युक्त हैं और जो ब्रह्मचर्य से सहित आत्मा-मुनि हैं। त्रिविध गुप्तियाँ और गुप्तिमान महामुनि हैं। बाह्य और अंतरंग परिग्रह का त्याग मुक्ति है और मुक्ति के परिग्रह के त्यागी अथवा मोक्ष प्राप्त आत्मा मुक्तिमान कहलाते हैं। पांच समितियाँ और समितिधारी महासाधु होते हैं। स्वसमय—जैनमत, परसमय—जैन से अतिरिक्त वैदिक, बौद्ध आदि मत इन सबके ज्ञाता जो महामुनि है। क्षांति-क्षमाशील, क्षपकश्रेणी पर आरूढ महामुनि और क्षमावान मुनि, क्षीणमोह-मोहरहित परिणाम- बारहवां गुणस्थान और उस गुणस्थान वाले क्षीणमोहवान् निर्ग्रंथ महासाधु होते हैं। संसार, शरीर, विषय आदि में उपदेश से वैराग्य को प्राप्त 'बोधितबुद्ध' कहलाते हैं। कोष्ठबुद्धि आदि बुद्धि ऋद्धि से सहित महामुनि बुद्धिमंत कहलाते हैं।

चैत्य—जिनप्रतिमायें और चैत्यवृक्ष—जिनवृक्षों में जिन प्रतिमायें विराजमान रहती हैं ऐसे अकृत्रिम जिनमंदिरों में तथा समवसरण में अशोक, सप्तच्छद, चंपा और आम्र के वनों में ये चैत्यवृक्ष माने गये हैं। इस प्रकार कृत्रिम—देव, मनुष्यों द्वारा बनवायी गयी जिनप्रतिमायों और अनादिनिधन-शाश्वत जिनप्रतिमायें, 'चैत्य' शब्द से कही जाती हैं।

ये अर्हंत, सिद्ध आदि चैत्यवृक्षपर्यंत सभी पूज्य-वंद्य गुण और गुणधारी महापुरुष हम सभी के लिये मंगलकारी होवें।

उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि सिद्धणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिबालियसहाए जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि, इसिपब्भारतलग्गयाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं णिम्मलाणं, गुरु-आयरिय-उवज्झायाणं

पव्वत्तित्थेरकुलयराणं चाउवण्णो य समणसंघो य भरहेरावएसु दससु, पंचसु महाविदेहेसु। जे लोए संति साहवो संजदा तवस्सी एदे मम मंगलं पवित्तं। एदेहं मंगलं करेमि भावदो विसुद्धो सिरसा अहिवंदिऊण सिद्धे काऊण अंजलिं मत्थयम्हि तिविहं तियरणसुद्धो।

अर्थ– मैं ऊर्ध्वलोक के, अधोलोक के और तिर्यग्लोक-मध्यलोक के सिद्धायतन को नमस्कार करता हूँ। अष्टापद पर्वत, सम्मेद शिखर, ऊर्जयंत, चंपापुर, पावापुर, मध्यमानगरी, हस्तिबालिका मंडप की सिद्धनिषीधिकाओं को नमस्कार करता हूँ।

अन्य जो भी निषीधिकायें इन ढाई द्वीप में हैं। ईषत्प्राग्भार-सिद्धशिला पर स्थित सिद्ध बुद्ध, कर्मचक्र से मुक्त नीरज, निर्मल हैं। जो गुरु, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और कुलकर हैं। चातुर्वर्ण और श्रमणसंघ हैं।

पाँच भरत और पाँच ऐरावत ऐसे ढाई द्वीपों की ये दश कर्मभूमियाँ हैं। पाँच महाविदेहों में जो कर्मभूमियों में ये गुरु आदि संघ पर्वत हैं। ये सब मेरे लिये मंगलकारी होवें। लोक में जो भी साधु संयत और तपस्वी हों वे सब मुझे पवित्र करें और मंगलप्रद हों। मैं भाव से विशुद्ध होकर मस्तक झुकाकर हस्तांजलि को मस्तक पर धरकर मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ– मेरु के ऊपर के भाग को ऊर्ध्वलोक, मेरु के नीचे को अधोलोक और मेरु की ऊँचाई प्रमाण तिर्यग्लोक में जो भी सिद्धों के—मुक्तात्माओं के निषीधिका—निर्वाणक्षेत्र हैं उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।

ये सिद्धनिषीधिकायें कहाँ-कहाँ हैं?

अष्टापदपर्वत—कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखरपर्वत, ऊर्जयंतपर्वत—गिरनार, चंपापुरी, पावापुरी, मध्यमानगरी और हस्तिवालिका मंडप ये सिद्धनिषीधिकायें हैं। इन निर्वाणक्षेत्रों से अतिरिक्त जिनके नाम निर्दिष्ट नहीं किये गये हैं ऐसी जो कोई भी निषीधिकायें इस ढाई द्वीप और दो समुद्र के अन्तर्गत हैं उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।

ये निषीधिकायें किन किनकी हैं?

ये सिद्धों की निषीधिकायें हैं।

ईषत्प्राग्भार–मोक्षशिला-सिद्धशिला कहलाती है। उसके ऊपर के तल-भाग पर स्थित जो सिद्ध क्षेत्र भगवान हैं उन्हीं के विशेषण बतलाते हैं। बुद्धाणं-संपूर्ण पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाले हैं वे सिद्ध जड़रूप नहीं हैं। कम्मचक्कमुक्काणं-ज्ञानावरणदिमूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक भेदरूप कर्मों से रहित हैं। णीरयाणं-रज-ज्ञानावरण, दर्शनावरण अथवा पाप, इनसे जो रहित हैं।

---

१. तिरयणसुद्धो इति प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी ग्रन्थ पाठांतरं।

णिम्मलाणं-सम्यग्दर्शनादि के अतिचार—दोष और भावकर्मरूपी मलों से रहित हो चुके हैं। इन सिद्धशिला के उपरिम भाग में विराजमान सिद्धों को नमस्कार हो।

गुरुआयरियउवज्झायाणं—गुरु-दीक्षागुरु, शिक्षागुरु आदि गुरु कहलाते हैं। पाँच प्रकार के आचारों के पालन करने वाले और कराने वाले आचार्य कहलाते हैं इनकी जो निषीधिकायें हैं तथा —पव्वत्तित्थेरकुलयराणं-सन्मार्ग के प्रवर्तक प्रवर्तित हैं। वयोवृद्ध साधु स्थविर हैं अथवा गुणों में ज्येष्ठ भी स्थविर कहलाते हैं। नंदिसंघ, देवसंघ, सेनसंघ और सिंहसंघ ये संघ कहलाते हैं। देशिगण, बलात्कारगण, काणूरगण और सूरस्थगण ये गण शब्द से कहे जाते हैं। इन संघ और गणों के भेद वाले महामुनियों की जो कोई भी निषीधिकायें हैं। इन सब निषीधिकाओं को मैं नमस्कार करता हूँ।

व्रतिक—संयमियों के चार भेद माने हैं—ऋषि, यति, मुनि और अनगार, इन्हें चातुर्वर्ण श्रमणसंघ कहते हैं अथवा ऋषि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के भेदरूप चातुर्वर्ण संघ या चतुर्विधसंघ कहलाता है।

यह संघ कहाँ-कहाँ पाया जाता है?

ढाई द्वीपों में पाँच भरत और पाँच ऐरावत ऐसे दशक्षेत्र माने हैं तथा पाँच महाविदेह माने हैं। इन पंद्रह कर्मभूमियों में यह चतुर्विध संघ रहता हैं यह संघ मेरे लिये मंगलकारी होवे।

लोक में– मानुषोत्तर पर्वत वलयाकार है कि ढाई द्वीप की सीमा पर है उन ढाई द्वीप क्षेत्र के अंदर में जो भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा मोक्ष की साधना कर रहे हैं और कर चुके हैं वे सभी दिगम्बर जैन साधु, संयत, तपस्वी मेरा मंगल करें और मुझे पवित्र करें– मलगालन के लिये जो निमित्त है उसे मंगल कहते हैं अथवा सुख को प्राप्त कराने में जो निमित्त है उसे भी मंगल कहते हैं।

इन सबका मैं भाव से विशुद्ध होता हुआ शिर झुकाकर मंगल करता हूँ अर्थात् स्तुति करता हूँ। कहा भी है–

आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः। तज्जिनेंद्रगुणस्तोत्र-मित्याहुर्मुनिपुंगवाः।।

ग्रन्थ रचना के आदि, मध्य और अन्त में बुद्धिमानों को मंगल करना चाहिये। वह जिनेन्द्र भगवान के गुणों का स्तोत्र ही है ऐसा महामुनियों ने कहा है–

किस विधि से मैं मंगल-स्तुति करता हूँ?

मैं देववंदना, प्रतिक्रमण और स्वाध्याय इन तीन प्रकार की क्रियाओं के अनुष्ठान में मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक अंजलि को मस्तक पर रखकर शिर झुकाकर सिद्धों की वंदना करके उपर्युक्त सभी सिद्धनिषीधिकाओं, सिद्धों को, सिद्धक्षेत्रों को, गुरु-आचार्य-उपाध्याय आदि महामुनियों को नमस्कार करता हूँ।

वीरभक्ति

यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद् द्रव्याणि तेषां गुणान्।
पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वथा।।
जानीते युगपत् प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते।
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः।।१।।

जो महावीर भगवान चर—जीव, पुद्गल और अचर—धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्यों को तथा इन द्रव्यों के सभी गुणों को और भूत, भविष्यत्, वर्तमान सर्व पर्यायों को भी यथावत्—जैसे का तैसा सर्वकाल अशेष विशेषरूप से युगपत् और प्रतिक्षण जानते हैं– देश, काल, स्वभाव के क्रम से या इन्द्रियों के व्यवधान से नहीं, प्रत्युत् एक साथ सब कुछ जानते हैं। कहा भी है–

"सर्वं हि वस्तु युगपद् यथावज्जानातीति सर्वज्ञः।"

संपूर्ण वस्तु को–तीनों लोकों को एक साथ ज्यों की त्यों जानते हैं, अतः वे सर्वज्ञ कहलाते हैं। उन सर्वगुणों से उत्कृष्ट, सर्वज्ञ, जिनेश्वर अन्तिम तीर्थंकर वीर भगवान को मेरा नमस्कार हो।

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः।
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय भक्त्या नमः।।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य वीरं तपो,
वीरे श्रीद्युति-कांति-कीर्ति-धृतयो हे वीर ! भद्रं त्वयि।।२।।

अर्थ—इस पद्य में सप्त विभक्तियों द्वारा वीर भगवान की स्तुति की गई है। वीर भगवान सर्व सुरेन्द्र-कल्पवासी देवेन्द्र और असुरेन्द्र-भवनवासी आदि देवों के इंद्रों से पूज्य हैं। गणधर देवादि बुद्धिमान पुरुषों ने ऐसे वीर भगवान् का संसार समुद्र से पार होने के लिये आश्रय लिया है। वीर भगवान ने अपने एवं भव्यों के भी कर्मसमूह का नाश कर दिया है। ऐसे वीर भगवान के लिये मेरा नमस्कार हो। वीर भगवान से इस तीर्थ की प्रवृत्ति हुई है। 'तीर्यते संसार समुद्रो येन तत्तीर्थं' जिसके द्वारा संसार समुद्र तिरा जाता है वह तीर्थ कहलाता है यह अंग और अंगबाह्य श्रुतज्ञानरूप है यह तीर्थ निर्बाध होने से और विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादक होने से अतुल है— अनुपम है। वीर भगवान का तप घोर है—दुष्कर है तथा बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो भेदरूप है। इन वीर भगवान में अनंत चतुष्टयादि अंतरंग लक्ष्मी और समवसरण विभूति आदि बहिरंग लक्ष्मीरूप श्री द्युति—देहकी ज्योति, कांति—सुंदरता या लावण्यविशेष, कीर्ति—सर्वत्र व्याप्त होने वाली ख्याति या वाणी—जिसके द्वारा जीवादिपदार्थ कहे जाते हैं ऐसी दिव्यवाणी एवं धृति—धैर्य—निराकांक्षा विशेष गुण विद्यमान हैं। ऐसे हे वीर ! आप में परमकल्याण है।

ये वीरपादौ प्रणमन्ति नित्यं, ध्यानस्थिताः संयमयोगयुक्ताः।
ते वीतशोका हि भवन्ति लोके, संसारदुर्गं विषमं तरन्ति।।३।।

अर्थ—जो ध्यान में स्थित तथा जीवदयालक्षण और इंद्रियमन के निग्रहरूप संयम से मन, वचन, काय के व्यापार को रोककर एकाग्रचित्त हुये नित्य ही वीर भगवान के चरणों में नमस्कार करते हैं वे भव्यात्मा शोकरहित होते हुये संसाररूपी विषम दुर्ग से पार हो जाते हैं। भगवान को प्रणाम करने से विशेष धर्म की उत्पत्ति होती है और अधर्म का क्षय हो जाने से शोक का अभाव हो जाता है। यहां संसार को दुर्ग—महान् वन की संज्ञा दी है, विषम—रौद्र अनेक प्रकार के दुःखों को देने वाला होने से यह संसार भयानक है। ऐसे विषम संसार को वीर भगवान के नमस्कार से पार कर लेते हैं।

व्रतसमुदयमूलः संयमस्कंधबंधो, यमनियमपयोभिर्वर्धितः शीलशाखः।
समितिकलिकभारो गुप्तिगुप्तप्रवालो, गुणकुसुमसुगंधिः सत्तपश्चित्रपत्रः।।४।।
शिवसुखफलदायी यो दयाछाययोद्घः, शुभजनपथिकानां खेदनोदे समर्थः।
दुरितरविज-तापं प्रापयन्नन्तभावं, स भवविभवहान्यै नोऽस्तु चारित्रवृक्षः।।५।।

अर्थ—भगवान के द्वारा उपदिष्ट चारित्रवृक्ष हम सभी के भव को नष्ट करने वाला होवे।

व्रतों का समुदाय इस चारित्रवृक्ष की जड़ है, संयम ही इस वृक्ष का स्कन्ध—तना है, नियमरूप जल के द्वारा यह वृक्ष वृद्धिगंत होता रहता है—जीवनपर्यंत के लिये ग्रहण किये गये व्रत यम कहलाते हैं और कुछ सीमित काल के लिये ग्रहण किये व्रत नियम कहलाते हैं। व्रत के परिरक्षणरूप शील अथवा अठारह हजार शील के भेद ही इस वृक्ष की शाखायें हैं। समितियां ही इस वृक्ष की कलियां हैं। गुप्तिरूपी प्रवाल कोंपल इस वृक्ष में निकले हुये हैं। गुण—चौरासी लाख उत्तरगुण वे ही पुष्प अपनी सुरभि बिखेर रहे हैं। सम्यक्तपश्चरणरूपी अनेक प्रकार के पत्ते इस वृक्ष में लगे हुये हैं। ऐसा यह चारित्ररूपी वृक्ष मोक्षसुखरूपी अनंत फल को देने वाला है।

सूर्य के ताप से संतप्त पथिकों के खेद—श्रम को दूर करने में समर्थ ऐसा यह वृक्ष दयारूपी छाया को प्रदान करने वाला है। पापरूपी सूर्य से उत्पन्न हुआ जो ताप—चतुर्गति का दुःख उसको यह नष्ट करने वाला है। ऐसा यह चारित्ररूपी वृक्ष हम सभी के संसार में उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के भवों को नष्ट करने वाला होवे।

चारित्रं सर्वजिनैश्चरितं प्रोक्तं च सर्वशिष्येभ्यः। प्रणमामि पंचभेदं पंचम चारित्रलाभाय।।६।।

अर्थ—सभी तीर्थंकरों ने कर्मों का क्षय करने के लिये स्वयं इस चारित्र को पाला है और सभी शिष्यों के लिये—सभी भव्यों के लिये इसी चारित्र का प्रतिपादन किया है। ऐसे सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इन पांचभेदरूप चारित्र को मैं संपूर्ण

कर्मों का क्षय करने वाले ऐसे पांचवें यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ।

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते। धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः।।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया। धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय।।७।।

अर्थ—यहां चारित्र को ही धर्म यह नाम देकर उसमें सातों विभक्तियां घटित करके उस धर्म की प्रशंसा करते हुये उस धर्म से अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं-

यह धर्म—चारित्र और उत्तम क्षमादिरूप धर्म स्वर्ग-मोक्ष आदि संपूर्ण सुखों की खान है—उत्पत्तिस्थान है। परिणाम में पथ्यस्वरूप है, पुण्य का जनक है अतः सभी का हित करने वाला है। परमविवेक संपन्न तीर्थंकर आदि महापुरुष इसी धर्म का संचय करते हैं—मोक्ष की प्राप्ति के लिये इसी धर्म का अनुष्ठान करते हैं क्योंकि धर्म से ही सम्यक्प्रकार से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। ऐसे धर्म के लिये मेरा नमस्कार हो।

संसारी प्राणियों के लिये इस धर्म से बढ़कर और कोई मित्र—उपकारक नहीं है। इस धर्म का मूल दया है क्योंकि निर्दयी के धर्म का अंश भी असंभव है। ऐसे धर्म में मैं प्रतिदिन अपने चित्त को स्थिर करता हूँ—सावधान होकर धर्म में चित्त को लगाता हूँ।

ऐसे धर्म से मैं प्रार्थना करता हूँ कि हे धर्म ! आप संसार समुद्र में गिरते हुये ऐसे मेरी रक्षा करो—मेरा पालन करो।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो। देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो।।८।।

अर्थ—यह धर्म मंगल स्वरूप है—जो मल को, पाप को गलावे, नष्ट करे अथवा 'मंग' परमसुख को लावे—प्रदान करे वह मंगल कहलाता है। ऐसा यह मंगल उत्कृष्ट है—अनुपचरित है, परम—श्रेष्ठ है। यह धर्म ही मंगलस्वरूप है ऐसा नहीं प्रत्युत् अहिंसा, संयम और तप भी मंगलस्वरूप हैं, पूजादि के लिये हेतु हैं। जिसका मन सदा धर्म में स्थित है उसे देवगण भी नमस्कार करते हैं।

यहां प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में 'देवा वि तस्स पणमंति' पाठ है इससे यह प्रतीत होता है कि टीकाकार प्रभाचंद्राचार्य तक यही पाठ मान्य रहा है। आज कल कुछ विद्वान 'देवा वि तं णमस्संति' पाठ लिखने लगे हैं। मेरी समझ में पूर्वाचार्यों की रचना में ऐसा संशोधन उचित नहीं है।

गणधर वलय मंत्र

बृहत्प्रतिक्रमण अर्थात् पाक्षिक प्रतिक्रमण जो कि मुनियों एवं आर्यिकाओं के लिए कहा गया है। उसकी टीका करते हुये श्री प्रभाचंद्राचार्य कहते हैं -

दोषा दैवसिकप्रतिक्रमणतो नश्यन्ति ये नो नृणां। तन्नाशार्थमिमां ब्रवीति गणभृच्छ्रीगौतमो निर्मलाम्।। सूक्ष्मस्थूलसमस्तदोषहननीं सर्वात्मशुद्धिप्रदां। यस्मान्नास्ति बृहत्प्रतिक्रमणतस्तन्नाशहेतुः परः ।।१।।

श्री गौतमस्वामी दैवसिकादिप्रतिक्रमणादिभिर्निराकर्तुमशक्यानां दोषाणां निराकरणार्थं बृहत्प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलाद्यर्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह -

"णमो जिणाणमित्यादि"।

मनुष्यों के अर्थात् मुनि-आर्यिका आदि पूज्य संयमियों के जो दोष दैवसिक प्रतिक्रमण से नष्ट नहीं होते हैं उन दोषों को नष्ट करने के लिये श्रीगणधरदेव सूक्ष्म और स्थूल ऐसे समस्त दोषों को नष्ट करने वाली, संपूर्ण रूप से आत्मा की शुद्धि करने वाली ऐसी निर्मल बृहत्प्रतिक्रमण विधि को कहते हैं क्योंकि बृहत्प्रतिक्रमण को छोड़कर और कोई भी उपाय उन दोषों को दूर करने के लिये नहीं है।

पुनः गद्य में उत्थानिकारूप में कहते हैं -

श्री गौतमस्वामी दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथिक आदि के द्वारा दूर होने में अशक्य ऐसे दोषों का निराकरण करने के लिए "बृहत्प्रतिक्रमण" लक्षण उपाय को बतलाते हुये उस प्रतिक्रमण की आदि में मंगल आदि के लिये इष्ट देवता विशेष को नमस्कार करते हुये "णमो जिणाणं" इत्यादि रूप से मंगलसूत्र कहते हैं -

इस प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी नाम के टीका ग्रन्थ में अड़तालीस "गणधरवलय" मंत्र नाम के सूत्र हैं। क्रियाकलाप ग्रन्थ में - प्रसिद्ध पाक्षिकप्रतिक्रमण पाठ में अड़तालीस मंत्र हैं एवं "षट्खण्डागम" महाग्रन्थ के चतुर्थ खंड के प्रारंभ में अर्थात् हिंदी अनुवाद सहित प्रकाशित नवमी पुस्तक में "चवालीस" मंत्रसूत्र हैं।

यहाँ इसी नवमी पुस्तक के मंत्र एवं धवला टीका के आधार से इन गणधर वलय मंत्रों का अर्थ दिया जा रहा है। स्थान-स्थान पर "प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी" ग्रन्थ के टीका के आधार से भी प्रकरण लिया गया है।

(१) णमो जिणाणं[1] ।।१।।

जिनों को नमस्कार हो ।।१।।

१. यहां सूत्र के प्रारंभ में जो नंबर है वे कम से ४८ हैं और सूत्र के अंत के नंबर षट्खंडागम ग्रन्थ के आधार से ४४ है।

यह सूत्र मंगल के लिये है। पूर्वसंचित कर्मों के विनाश को मंगल कहते हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से 'जिन' चार प्रकार हैं। 'जिन' शब्द नामजिन है। स्थापना जिन सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना के भेद से दो प्रकार हैं। जिन भगवान के आकाररूप से स्थित द्रव्य सद्भाव स्थापनाजिन हैं। जिनाकार से रहित जिस द्रव्य में जिन भगवान की कल्पना की जाय वह द्रव्य असद्भाव स्थापनाजिन है। भविष्य काल में जिन पर्याय से परिणमन करने वाला भावी द्रव्यजिन है और जिनपर्याय से परिणत जीव तत्परिणत भावजिन है।

शंका - इन चार प्रकार के जिनों में यहां किस जिन को नमस्कार किया है?

समाधान - यहां भावजिन और स्थापना जिन को नमस्कार किया है।

शंका - जिन गुण से रहित पाषाण की मूर्ति स्थापना निक्षेप है उसमें विघ्नकारक कर्मों के क्षय करने की शक्ति का अभाव है अतः स्थापना जिन को नमस्कार नहीं करना चाहिये?

समाधान - वास्तव में जिनदेव भी अपनी वंदना करने वालों के पापों के विनाशक नहीं हैं अन्यथा उनके वीतरागता का अभाव हो जावेगा तथा वे वंदना करने वाले का पाप नष्ट नहीं करते ऐसा कहने से तो वंदना करना ही व्यर्थ हो जावेगा। निष्कर्ष यह है कि जिनेंद्रदेव के गुणों से परिणत स्वयं के भाव ही पाप के विनाशक हैं। जिस प्रतिमा में जिनेंद्रदेव के गुणों का अध्यारोप किया गया है उनकी भक्ति से परिणत भाव भी जिनेंद्रदेव की भक्ति से परिणत भाव के समान ही हैं। इसी कारण जिनेन्द्रदेव नमस्कार के समान जिनबिंब स्थापना नमस्कार भी पाप का विनाशक है।

यहां उपर्युक्त सूत्र के द्वारा पांचों परमेष्ठी को एवं उनकी स्थापना-प्रतिबिम्बों को भी नमस्कार किया गया है। कहा भी है--जिन के दो भेद हैं—सकल जिन और देश जिन। जो घातिया कर्मों का क्षय कर चुके हैं वे सकल जिन हैं। इनमें अरहंत और सिद्ध दोनों लिये जाते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु तीव्रकषाय, इंद्रिय एवं मोह के जीत लेने से देश जिन हैं[1]।

शंका - सकल जिनों का नमस्कार पाप का नाशक भले ही हो किंतु देश जिनों का नमस्कार पापनाशक कैसे होगा?

समाधान - ऐसा नहीं कहना, क्योंकि सकल जिन के समान देशजिन में भी तीन रत्न पाये जाते हैं और तीन रत्न ही देवत्व के कारण हैं।

शंका - सकल जिन और देश जिन के तीन रत्नों में समानता नहीं हो सकती क्योंकि परिपूर्ण और अपरिपूर्ण से अंतर स्पष्ट है?

---

१. धवला पु.९, पृ.१०

समाधान - ऐसा नहीं कहना, क्योंकि असमान का कार्य असमान ही हो ऐसा नियम नहीं है। देखो, परिपूर्ण अग्नि के द्वारा किया जाने वाला दाह कार्य उसके अवयव में भी पाया जाता है अथवा अमृत के सैकड़ों घड़ों से किया जाने वाला निर्विषीकरणादि कार्य चुल्लू भर अमृत में भी पाया जाता है। इसलिये आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में भले ही अपरिपूर्ण रत्नत्रय है फिर भी वे 'देशजिन' होने से 'जिन' कहलाते हैं।

एवं दव्वट्ठिय जणाणुग्गहट्ठं णमोक्कारं गोदमभडारओ महाकम्म-पयडिपाहुडस्स आदिम्हि काऊण पज्जवट्ठियणयाणुग्गहट्ठमुत्तरसुत्ताणि भणदि।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक जनों के अनुग्रहार्थ श्री गौतम भट्टारक महाकर्म-प्रकृति प्राभृत के आदि में नमस्कार करके पर्यायार्थिकनययुक्त शिष्यों के अनुग्रहार्थ उत्तरसूत्रों को कहते हैं अर्थात् संक्षिप्त में समझने वाले शिष्यों के लिये 'णमो जिणाणं' ऐसा एक सूत्र ही पर्याप्त है किंतु विस्तार से समझने वाले शिष्यों के लिये आगे के नमस्कार सूत्र हैं।

उन्हीं में से अब दूसरा सूत्र कहते हैं -

(२) णमो ओहिजिणाणं ।।२।।

अवधिजिनों को नमस्कार हो ।।२।।

'अवधि' इस शब्द से 'देशावधि' को ही लेना है क्योंकि आगे सूत्रों में अन्य अवधिज्ञानों के नाम आयेंगे। रत्नत्रयसहित अवधिज्ञानी मुनि अवधिजिन हैं यहाँ ऐसा समझना क्योंकि महाव्रतों से रहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दो रत्नों के धारक अवधिज्ञानी को नमस्कार नहीं किया जा सकता है।

अब तीसरा सूत्र कहते हैं -

(३) णमो परमोहिजिणाणं ।।३।।

परमावधि जिनों को नमस्कार हो ।।३।।

यह परमावधि ज्ञान देशावधि की अपेक्षा महाविषयवाला है, मनःपर्यय ज्ञान के समान संयत मुनियों के ही होता है। इसी भव में केवलज्ञान उत्पन्न कराने वाला है और यह अप्रतिपाती है अर्थात् इस ज्ञान के धारी मुनि सम्यक्त्व और चारित्र से च्युत नहीं होते हैं ऐसा नियम है।

(४) णमो सव्वोहिजिणाणं ।।४।।

सर्वावधि जिनों को नमस्कार हो ।।४।।

सर्व, विश्व और कृत्स्न ये पर्यायवाची शब्द हैं।

परमावधि की अपेक्षा भी सर्वावधि का विषय अधिक है। इस ज्ञान के धारी समस्त जीवद्रव्य

और समस्त पुद्गल द्रव्य को जान लेते हैं। यह अवधि भी तद्भव से मोक्ष प्राप्त करने वाले मुनि के ही होती है और अप्रतिपाती है।

(५) णमो अणंतोहिजिणाणं ।।५।।

अनंतावधि जिनों को नमस्कार हो ।।५।।

अंत और अवधि जिसके नहीं है वह अनंतावधि है। "अणंतोहिजिणा णाम केवलिणो", अनंतावधि जिन केवलज्ञानी को कहते हैं।

शंका - अनंतावधि का अर्थ केवलज्ञानी होने से ये सर्वावधि से महान हैं पुनः इनको पहले नमस्कार क्यों नहीं किया?

समाधान - ऐसा नहीं कहना, क्योंकि केवलज्ञान के माहात्म्य का ज्ञान करानेरूप गुण की अपेक्षा केवलज्ञान से सर्वावधि महान हैं अतः उसे पहले ही नमस्कार करने में दोष नहीं है।

शंका - तब तो मिथ्यात्व से चूंकि सम्यक्त्व का माहात्म्य जाना जाता है, अतः सम्यक्त्व की भक्ति में मिथ्यात्व को नमस्कार क्यों नहीं किया?

समाधान - ऐसा नहीं कहना, क्योंकि जिस प्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानों से केवलज्ञान का माहात्म्य जाना जाता है उस प्रकार मिथ्यात्व से सम्यक्त्व का माहात्म्य नहीं जाना जाता है। दूसरी बात यह है कि जो जिसका भक्त अथवा मित्र होता है वह उसके विरोधियों की भक्ति नहीं करता है, क्योंकि ऐसा करने में विरोध है अथवा पश्चादानुपूर्वी—विपरीत क्रम दिखलाने के लिये देशावधि जिनादिकों को पहले नमस्कार किया है।

अब श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान तथा तप आदि चूंकि मतिज्ञान पूर्वक होते हैं अतः मतिज्ञान में श्रद्धा उत्पन्न होने से श्री गौतम भट्टारक उत्तर सूत्रों से मतिज्ञानियों को नमस्कार करते हैं—

(६) णमो कोट्ठबुद्धीणं ।।६।।

कोष्ठबुद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो ।।६।।

जौ, गेहूं आदि को रखे जाने के स्थान कोष्ठ कहलाते हैं। ऐसे ही समस्त द्रव्य व पर्यायों को धारण करने रूप गुण से कोष्ठ के समान होने से उस बुद्धि को भी कोष्ठ कहा जाता है। कोष्ठ रूप जो बुद्धि वह कोष्ठबुद्धि है। इसके अर्थ को धारण करने का काल जघन्य से संख्यात वर्ष और उत्कृष्ट से असंख्यात वर्ष है, क्योंकि असंख्यात और संख्यात काल तक धारणा रहती है, ऐसा सूत्र पाया जाता है।

धारणावरणीय कर्म के तीव्र क्षयोपशम से यह ऋद्धि होती है। यह धारणावरणीय ज्ञानावरण मतिज्ञान का एक अवांतर भेद है क्योंकि एक-एक कर्मों के असंख्यात भेद भी हो सकते हैं।

यथा—"तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा"(गोम्मटसार कर्मकांड)

कर्मों के आठ भेद हैं, एक सौ अड़तालीस भेद हैं अथवा असंख्यात लोक प्रमाण भी भेद हो जाते हैं।

यहां 'जिन' शब्द से संयत—मुनि ही विवक्षित हैं।

(७) णमो बीजबुद्धीणं ।।७।।

बीज बुद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो ।।७।।

'जिन' शब्द की अनुवृत्ति चली आने से प्रत्येक सूत्र के अर्थ में जिन लगाना ही चाहिये।

जिस प्रकार बीज, अंकुर, पत्ते आदि के लिये आधार हैं उसी प्रकार बारह अंगों के अर्थ का आधारभूत जो पद है वह बीजतुल्य होने से बीज है। बीजपदविषयक मतिज्ञान भी कार्य में कारण के उपचार से बीज है। संख्यात शब्दों के अनंत अर्थों से संबद्ध अनंत लिंगों के साथ बीज पद को जानने वाली बीजबुद्धि है, यह तात्पर्य है।

शंका - बीजबुद्धि यदि अनंत अर्थों से संबंधित अनंत लिंगरूप बीजपद को जान लेगी तो वह क्षायोपशमिक कैसे कही जावेगी प्रत्युत् वह केवलज्ञानरूप क्षायिक हो जावेगी?

समाधान - ऐसा नहीं कहना, क्योंकि जिस प्रकार क्षयोपशमजन्य परोक्ष श्रुतज्ञान के द्वारा केवलज्ञान से विषय किये गये अनंत अर्थों का परोक्षरूप से ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार मतिज्ञान के द्वारा भी सामान्यरूप से अनंत अर्थों को ग्रहण किया जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। यह बीजबुद्धि विशिष्ट अवग्रह आवरणीय कर्म के क्षयोपशम से होती है।

(८) णमो पदाणुसारीणं ।।८।।

पदानुसारी ऋद्धि के धारक जिनों को नमस्कार हो।।८।।

यहां प्रमाण और मध्यम आदि पदों को नहीं लेना है बल्कि बीजपद को लेना है। पद को जो अनुसरण या अनुकरण करती है वह पदानुसारी बुद्धि है। बीजबुद्धि से बीजपद को जानकर यहां यह इन अक्षरों का लिंग होता है और उनका इनका नहीं, इस प्रकार विचार कर समस्त श्रुत के अक्षर पदों को जानने वाली पदानुसारी बुद्धि है।

वह पदानुसारी बुद्धि अनुसारी, प्रतिसारी और तदुभयसारी के भेद से तीन प्रकार है। जो बीजपद से अधस्तन पदों को ही बीजपद स्थित लिंग से जानती है वह प्रतिसारी बुद्धि है। जो उपरिम पदों को ही जानती है वह अनुसारी बुद्धि है। दोनों पार्श्वस्थ पदों को नियम से अथवा बिना नियम के भी जो जानती है वह उभयसारी बुद्धि है।

इन पदानुसारी जिनों को मैं पृथ्वी पर मस्तक टेककर साष्टांग नमस्कार करता हूँ।

यह ऋद्धि ईहा—आवरणीय और अवाय—आवरणीय के तीव्र क्षयोपशम से होती है[1]।

"आदि, अंत के या यत्र-तत्र किसी भी एक पद को ग्रहण करके समस्त ग्रंथ के अर्थ का अवधारण जिस बुद्धि में हो जाता है वह पदानुसारी बुद्धि है वह तप के माहात्म्य से जिनको होती है उन्हें मेरा नमस्कार हो[2]।"

(६) णमो संभिण्णसोदाराणं ।।६।।

संभिन्न श्रोता जिनों को नमस्कार हो ।।६।।

सं—भले प्रकार श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशम से जो भिन्न-संबद्ध हैं, वे संभिन्न हैं, संभिन्न ऐसे जो श्रोता वे संभिन्नश्रोता हैं। कथंचित् युगपत् प्रवृत्त हुये अक्षर-अनक्षर स्वरूप अनेक शब्दों के श्रोता संभिन्नश्रोता हैं ऐसा निर्देश किया गया है।

एक अक्षौहिणी सेना में नौ हजार हाथी, एक-एक हाथी के आश्रित सौ-सौ रथ, एक-एक रथ के आश्रित सौ-सौ घोड़े और एक-एक घोड़े के आश्रित सौ-सौ मनुष्य होते हैं।

यह एक अक्षौहिणी का प्रमाण है। ऐसी यदि चार अक्षौहिणी अक्षर-अनक्षर स्वरूप अपनी-अपनी भाषा में युगपत् बोलें तो भी संभिन्न श्रोता मुनि युगपत् सब भाषाओं को ग्रहण करके उत्तर दे देते हैं। इनसे संख्यातगुणी भाषाओं से भरी हुई तीर्थंकर के मुख से निकली ध्वनि के समूह को युगपत् ग्रहण करने में समर्थ ऐसे संभिन्न श्रोता के विषय में यह कोई आश्चर्य नहीं है।

यह ऋद्धि बहु, बहुविध और क्षिप्र ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से होती है।

श्री गणधर देवों के कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिबुद्धि और संभिन्न श्रोतृबुद्धि ये चारों निर्मल बुद्धियां देखी जाती हैं, क्योंकि उनके बिना बारह अंगों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

श्री गणधर देवों के कोष्ठबुद्धि के बिना समस्त श्रुतज्ञान का अवस्थान नहीं बन सकता। बीजबुद्धि के बिना तीर्थंकर के मुख से निकले हुये अक्षर और अनक्षर स्वरूप बीजपदों का ज्ञान न होने से द्वादशांग के ज्ञान का अभाव हो जावेगा। ऐसे ही पदानुसारी बुद्धि के बिना श्रुतज्ञान तथा अक्षर, पद, वाक्य और उनके अर्थ विषयक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति नहीं बन सकती तथा उनमें संभिन्न श्रोतृत्व को न मानने से अक्षर-अनक्षरात्मक सात सौ लघु भाषा और अठारह महाभाषा स्वरूप, नाना भेदों से भिन्न बीजपद रूप व प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न स्वरूप को प्राप्त होने वाली ऐसी दिव्यध्वनि का ग्रहण न होने से द्वादशांग की उत्पत्ति नहीं हो सकती है अतः श्रीगणधरगुरू को ये चारों ऋद्धियां निश्चित हैं।

"सं—सम्यक् प्रकार से संकर—मिश्रण, व्यतिकर दोषों के बिना भिन्न-विविक्त— पृथक्-पृथक्

---

१. धवला पु. ६, पृ. ६१, २. प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी पृ. ६०।

शब्दों को जो सुन लेते हैं वे संभिन्न श्रोतृ ऋद्धिधारी मुनि हैं। बारह योजन—९६ मील लंबे और नव योजन अर्थात् ७२ मील विस्तृत ऐसे चक्रवर्ती के कटक में उत्पन्न हुये मनुष्यों के और हाथी, घोड़े, ऊंट आदि के अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक शब्दों के समूह को परस्पर में भिन्न-भिन्न ही जो एक साथ समझ लेते हैं वे संभिन्नश्रोतृऋद्धि मुनि हैं[1]। यह तप के प्रभाव से ही होती है।

(१०) णमो सयंबुद्धाणं[2] ।।

स्वयंबुद्ध जिनों को नमस्कार हो ।।

किंचित्मात्र वैराग्य के कारण को देखकर पर के उपदेश की अपेक्षा न करके जो स्वयं ही वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं वे स्वयंबुद्ध कहलाते हैं यहां उन्हें नमस्कार किया है।

(११) णमो पत्तेयबुद्धाणं[3] ।।

प्रत्येकबुद्ध जिनों को नमस्कार हो।।

किसी एक निमित्तविशेष से जो प्रतिबोध को प्राप्त होते हैं वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। जैसे नीलांजना के विलीन हो जाने से भगवान ऋषभदेव विरक्त हुये थे। यहां ऐसे प्रत्येकबुद्ध ऋद्धिधारी मुनियों को नमस्कार किया है।

(१२) णमो बोहियबुद्धाणं[4] ।।

बोधितबुद्ध जिनों को नमस्कार हो।।

भोग में आसक्त जनों को शरीर आदि में क्षणिकादिरूप दिखाकर वैराग्य प्राप्त कराया गया है वे बोधितबुद्ध हैं उन्हें नमस्कार हो।

(१३) णमो उजुमदीणं ।।१०।।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानियों को नमस्कार हो। ।।१०।।

दूसरे की मति अर्थात् मन में स्थित अर्थ उपचार से मति कहा जाता है। ऋजु का अर्थ वक्रतारहित है। सरलता से मनोगत, सरलता से वचनगत और सरलता से कायगत ऋजु अर्थ को जानने वाला ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है। यह ज्ञान काल की अपेक्षा दो, तीन भवों को और उत्कृष्ट की अपेक्षा सात-आठ भवों को जानता है। अतीत और अनागत के सात और वर्तमान का मिलाकर आठ ऐसा समझना।

(१४) णमो विउलमदीणं ।।११।।

विपुलमति जिनों को नमस्कार हो ।।११।।

विपुल का अर्थ विस्तीर्ण है। सरल या वक्र मन, वचन व काय में स्थित अप्राप्त और अर्थप्राप्त

---

१. प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी, पृ. ९१। २-३-४. ये मंत्र धवला में नहीं हैं प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी से लिए हैं।

वस्तु को भी यह ज्ञान जान लेता है।

उत्कृष्ट से यह मानुषोत्तर पर्वत के भीतर की बात जानता है, बाहर की नहीं। तात्पर्य यह है कि पैंतालीस लाख योजन घनप्रतर को जानता है।

'मानुषोत्तर पर्वत के भीतर' यह वचन क्षेत्र का नियामक नहीं है किंतु मानुषोत्तर पर्वत के भीतर पैंतालीस लाख योजनों का नियामक है, क्योंकि विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान के उद्योत सहित क्षेत्र को घनाकार से स्थापित करने पर पैंतालीस लाख योजन मात्र ही होता है अथवा उपदेश प्राप्त कर इस विषय का व्याख्यान करना चाहिये।

काल की अपेक्षा यह जघन्य से सात-आठ भवों को और उत्कृष्ट से असंख्यात भवों को जानता है। भाव की अपेक्षा जो-जो द्रव्य ज्ञात है उस-उसकी असंख्यात पर्यायों को जानता है ऐसा समझना।

(१५) णमो दसपुव्वियाणं[1] ।।१२।।

दशपूर्वीक जिनों को नमस्कार हो ।।१२।।

यहां भिन्न और अभिन्न के भेद से दशपूर्वी दो प्रकार हैं। उनमें ग्यारह अंगों को पढ़कर पश्चात् परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका, इन पांच अधिकारों सहित दृष्टिवाद अंग के पढ़ते समय उत्पादपूर्व को आदि करके पढ़ने वालों के दशम पूर्व विद्यानुप्रवाद के समाप्त होने पर सात सौ क्षुद्र विद्याओं से युक्त रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्यायें उपस्थित होकर कहती हैं - "भगवन्!- क्या आज्ञा देते हैं?" इस प्रकार उपस्थित हुई सब विद्याओं के लोभ को जो प्राप्त हो जाते हैं वे 'भिन्नदशपूर्वी' हैं किंतु जो कर्मक्षय के अभिलाषी हुये उनमें लोभ नहीं करते हैं वे 'अभिन्नदशपूर्वी' हैं। इन 'अभिन्नदशपूर्वी' मुनियों को नमस्कार हो।

(१६) णमो चोद्दसपुव्वियाणं[2] ।।१३।।

चौदश पूर्वीक जिनों को नमस्कार हो ।।१३।।

प्रश्न - शेष अधस्तनपूर्वियों को नमस्कार क्यों नहीं किया?

उत्तर - उनको भी नमस्कार किया ही है क्योंकि अधस्तन पूर्वों के बिना चौदह पूर्व घटित ही नहीं होते। फिर भी विद्यानुप्रवाद की समाप्ति के समान चौदह पूर्व की समाप्ति में भी जिनवचन पर विश्वास देखा जाता है अर्थात् अतिशय विशेष पाया जाता है।

चौदह पूर्वों को समाप्त करके रात्रि में कायोत्सर्ग से स्थित साधु की प्रभात समय में भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों द्वारा शंख, काहल और तूर्य शब्द से व्याप्त महापूजा की

---

१. "णमो अभिन्न दशपुव्वीणं" प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में ऐसा पाठ है पृ. ६।

२. "णमो चोद्दस पुव्वीणं" प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में ऐसा पाठ है पृ. ६।

जाती है। इन दो स्थानों में जिनवचनों पर विश्वास देखा जाता है।

जिनवचन रूप से सब अंग और पूर्वों में सदृशता के होने पर भी विद्यानुप्रवाद और लोकबिंदुसार का महत्त्व है क्योंकि इनमें ही देव पूजा पाई जाती है। चौदह पूर्व का धारक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता और उस भव में असंयम को भी प्राप्त नहीं होता, यह इसकी विशेषता है।

(१७) णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं ।।१४।।

अष्टांग महानिमित्त में कुशलता को प्राप्त जिनों को नमस्कार हो। ।।१४।।

अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अंतरिक्ष ये महानिमित्तों के आठ अंग हैं। इन निमित्तों से आराधनीय साधु जनसमूह के शुभ-अशुभ को जान लेते हैं।

मनुष्य और तिर्यंचों के शरीर के वर्ण, निम्न, उन्नत आदि से उनके जीवन, मरण, सुख-दुःख आदि को जान लेना अंग निमित्त है। उल्लू, काक आदि एवं मनुष्यों के शब्दों से लाभ-अलाभ आदि जान लेना स्वर निमित्त है। तिल, मशा आदि से सुख-दुःखादि जान लेना व्यंजन निमित्त है। उर, ललाट, हस्ततल, पादतल आदि में एक सौ आठ आदि लक्षणों को देखकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि के लक्षण जान लेना लक्षण निमित्त है। शरीर छाया की विपरीतता, वस्त्र अलंकार आदि के छेद तथा मनुष्य आदि की चेष्टा से शुभ-अशुभ जानना छिन्न निमित्त है। भूमिगत लक्षणों से ग्राम, घर आदि की वृद्धि-हानि जान लेना भौम निमित्त है। वृषभ, हाथी आदि के स्वप्न से शुभ-अशुभ जान लेना स्वप्न निमित्त है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह आदि के उदय, अस्त आदि से शुभ-अशुभ जान लेना अंतरिक्ष निमित्त है।

यहां जिन शब्द की अनुवृत्ति चली आ रही है अतः असंयत और संयतासंयत निमित्तज्ञों को नमस्कार नहीं किया है ऐसा समझना।

चारित्र के फल से विशेषता को प्राप्त जिनों को नमस्कार करते हुए कहते हैं -

(१८) णमो विउव्वणपत्ताणं[1] ।।१५।।

विक्रियाऋद्धि को प्राप्त हुये जिनों को नमस्कार हो ।।१५।।

अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार है।

परमाणु प्रमाण शरीर से स्थित हो जाना 'अणिमा' है। मेरूपर्वत सदृश शरीर कर लेना 'महिमा' है। मेरू प्रमाण से मकड़ी के तंतुओं पर चल लेना 'लघिमा' है। भूमि में खड़े ही हाथ से चन्द्र-सूर्य के बिंब को छू लेना 'प्राप्ति' है। कुलाचल और मेरू के पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा न

१. "णमो विउव्वण इड्ढि पत्ताणं" प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में ऐसा पाठ है पृ. ६२।

पहुंचाकर गमन करने की शक्ति प्राप्त कर लेना 'प्राकाम्य' है। सब जीवों पर प्रभुता की शक्ति 'ईशित्व' है। मनुष्य, हाथी आदिरूप इच्छानुसार विक्रिया बना लेना 'वशित्व' है और इच्छितरूप के ग्रहण करने की शक्ति 'कामरूपित्व' है। ये आठ प्रकार की विक्रिया ऋद्धि हैं। इनके एक संयोगी, द्विसंयोगी आदि भंगों से २५५ भेद हो जाते हैं। इन विक्रियायुक्त जिनों को—मुनियों को नमस्कार हो।

प्रश्न - इन आठ विक्रियायुक्त देवों को नमस्कार क्यों नहीं किया ?

उत्तर-नहीं, क्योंकि 'जिन' शब्द की अनुवृत्ति होने से असंयमी देवों को नमस्कार संभव नहीं है।

(१६) णमो विज्जाहराणं ।।१६।।

विद्याधर जिनों को नमस्कार हो ।।१६।।

जाति विद्या, कुलविद्या और तपविद्या के भेद से विद्यायें तीन प्रकार हैं। इन विद्याओं में स्वकीय मातृपक्ष से प्राप्त हुई विद्यायें जाति विद्यायें हैं। पितृपक्ष से प्राप्त हुई विद्याएं कुल विद्यायें हैं और बेला, तेला आदि उपवासों से सिद्ध की गई विद्यायें तपविद्यायें हैं। ये तीनों विद्यायें विजयार्ध पर्वत पर रहने वाले विद्याधरों के होती हैं।

वहां के मनुष्य सब विद्याओं को छोड़कर संयम ग्रहण करके मुनि हो जाते हैं तब भी वे विद्याधर श्रमण कहलाते हैं क्योंकि विद्याविषयक विज्ञान उनके पाया जाता है।

जिन मुनियों ने विद्यानुप्रवाद को पढ़ लिया है वे भी विद्याधर कहलाते हैं क्योंकि उनके भी विद्याविषयक विज्ञान पाया जाता है।

प्रश्न - पहले तीन प्रकार के विद्याधर बताये हैं उनमें से यहां किनको लेना है?

उत्तर - विजयार्ध पर्वत पर उत्पन्न होने वाले असंयत मनुष्यों को यहां नहीं लेना। पारिशेष न्याय से संयुत मुनि ही आते हैं।

प्रश्न - यहाँ दशपूर्वधरों का ग्रहण करने से पुनरुक्त दोष आ जाता है?

उत्तर - ऐसा नहीं है। यहाँ दशपूर्व विषयक ज्ञान से उपलक्षित जिनों—संयतों को नमस्कार किया था, किंतु यहाँ सिद्ध हुई समस्त विद्याओं के कार्य के परित्याग से उपलक्षित जिनों को विद्याधर स्वीकार किया गया है। जो सिद्ध हुई विद्याओं से काम लेने की इच्छा नहीं करते केवल अज्ञान निवृत्ति के लिये उन्हें धारण ही करते हैं, वे विद्याधर जिन हैं उनके लिये नमस्कार हो।

(२०) णमो चारणाणं ।।१७।।

चारणऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।।१७।।

जल, जंघा, तंतु, फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी के भेद से चारण ऋद्धिधारक आठ प्रकार हैं।

जो ऋषि जलकायिक जीवों को पीड़ा न पहुंचाकर, जल को न छूते हुये इच्छानुसार भूमि के समान जल में गमन करने में समर्थ हैं वे जलचारण कहलाते हैं। तंतु चारण, फलचारण, पुष्पचारण और बीजचारण का स्वरूप भी जलचारणों के समान कहना चाहिये।

भूमि में पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा न करके अनेक सौ योजन गमन करने वाले जंघाचारण कहलाते हैं।

धूम, अग्नि, पर्वत और वृक्ष के तंतुसमूह पर से ऊपर चढ़ने की शक्ति से संयुक्त श्रेणी चारण हैं।

चार अंगुलों से अधिक प्रमाण में भूमि से ऊपर आकाश में गमन करने वाले ऋषि आकाशचारण कहे जाते हैं।

प्रश्न - आकाशचारण और आगे कहे जाने वाले आकाशगामी में क्या भेद है?

उत्तर - जीव पीड़ा के बिना पैर उठाकर आकाश में गमन करने वाले आकाश चारण हैं। पल्यंकासन, कायोत्सर्गासन, शयनासन और पैर उठाकर इत्यादि सब प्रकारों से आकाश में गमन करने में समर्थ ऋषि आकाशगामी कहे जाते हैं।

यहां चारण ऋषियों के एक संयोग, द्विसंयोग आदि के क्रम से दो सौ पचपन भंग हो जाते हैं। वे सभी भेद इन्हीं आठों के अंतर्गत होने से उपर्युक्त आठ भेद ही इस ऋद्धि के प्रमुख हैं। जैसे - कीचड़, भस्म, गोबर और भूसे आदि के ऊपर से गमन करने वालों का जंघाचारणों में अंतर्भाव हो जाता है क्योंकि भूमि से कीचड़ आदि में कथंचित् अभेद है। कुंथुजीव, खटमल और पिपीलिका आदि के ऊपर से संचार करने वालों का फलचारणों में अंतर्भाव हो जाता है क्योंकि इनमें त्रस जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। पत्र, अंकुर, तृण और प्रवाल-कोंपल आदि पर से संचार करने वालों का पुष्पचारणों में अंतर्भाव हो जाता है, क्योंकि हरितकाय जीवों के परिहार की अपेक्षा इनमें समानता है। ओस, ओला, कुहरा और बर्फ आदि के ऊपर गमन करने वाले चारणों का जलचारणों में अंतर्भाव हो जाता है क्योंकि इनमें जलकायिक जीवों के परिहार की कुशलता के प्रति समानता देखी जाती है। धूम, अग्नि, वायु और मेघ आदि के आश्रय से चलने वाले चारणों का तंतु, श्रेणी चारणों में अंतर्भाव हो जाता है क्योंकि वे अनुलोम और प्रतिलोम गमन करने में जीवों को पीड़ा न करने की शक्ति से संयुक्त हैं। इसी प्रकार अन्य चारणों का भी इनमें ही अंतर्भाव समझना चाहिये।

(२१) णमो पण्णसमणाणं ।।१८।।

प्रज्ञाश्रमणों को नमस्कार हो।।१८।।

औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी इस तरह प्रज्ञा के चार भेद हैं- जन्मांतर में

चार प्रकार की निर्मल बुद्धि के बल से विनयपूर्वक बारह अंगों का अवधारण करके देवों में उत्पन्न होकर पश्चात् अविनष्ट संस्कार के साथ मनुष्यों में उत्पन्न होने पर इस भव में पढ़ने, सुनने व पूछने आदि के बिना भी जीव की जो प्रज्ञा है वह औत्पत्तिकी है। कहा भी है -

विनय से पढ़ा गया श्रुतज्ञान यदि प्रमाद से या किसी प्रकार से विस्मृत भी हो जाता है तो उसे यह औत्पत्तिकी प्रज्ञा परभव में उपस्थित कर देती है और केवलज्ञान को प्राप्त करा देती है।

ये औत्पत्ति प्रज्ञाश्रमण छह मास के उपवास के कृश होते हुये भी उस बुद्धि के माहात्म्य को प्रगट करने के लिये पूछने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुये चौदहपूर्वी को भी उत्तर दे देते हैं।

विनय से बारह अंगों के पढ़ने वाले के उत्पन्न हुई बुद्धि का नाम वैनयिक है अथवा परोपदेश से उत्पन्न बुद्धि भी वैनयिक है।

गुरू के उपदेश के बिना तपश्चरण के बल से उत्पन्न बुद्धि कर्मजा है अथवा औषधिसेवन के बल से उत्पन्न बुद्धि भी कर्मजा है।

अपनी-अपनी जातिविशेष से उत्पन्न बुद्धि पारिणामिका है।

शंका - तीर्थंकर देव के मुख से निकले हुये बीजपदों के अर्थ का निश्चय करने वाले वृषभसेन आदि गणधर देवों की प्रज्ञा का किसमें अंतर्भाव होगा?

समाधान - उसका पारिणामिकी प्रज्ञा में अंतर्भाव होता है क्योंकि वह विनय, उत्पत्ति और कर्म के बिना उत्पन्न होती है।

यहां चारों ही प्रज्ञाश्रमणों का ग्रहण है। असंयत प्रज्ञाश्रमण नहीं लेना चाहिये क्योंकि जिन शब्द की अनुवृत्ति चली आ रही है।

शंका - प्रज्ञा और ज्ञान के बीच क्या भेद है?

समाधान - गुरू के उपदेश से निरपेक्ष ज्ञान के लिये हेतुभूत जीव की शक्ति का नाम 'प्रज्ञा' है और उसका कार्य 'ज्ञान' है। इस तरह कार्य-कारण भेद है।

(२२) णमो आगासगामीणं ।।१६।।

आकाशगामी जिनों को नमस्कार हो ।।१६।।

आकाश में इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वत के अंतर्गत इच्छित प्रदेश में गमन करने वाले आकाशगामी ऋषि हैं। यहां देव और विद्याधरों को नहीं लेना क्योंकि जिन शब्द की अनुवृत्ति है।

शंका - आकाशचारण व आकाशगामी में क्या भेद है?

समाधान - चरण, चारित्र, संयम व पापक्रियानिरोध ये पर्यायवाची हैं। इनमें जो कुशल हैं वे 'चारण' हैं। तप विशेष से उत्पन्न हुई आकाश स्थित जीवों के वध के परिहार की कुशलता से जो सहित

हैं वे 'आकाशचारण' हैं और आकाश में गमन करने मात्र से संयुक्त आकाशगामी कहलाते हैं।

(२३) णमो आसीविसाणं ।।२०।।

आशीर्विष जिनों को नमस्कार हो।।२०।।

अविद्यमान अर्थ की इच्छा का नाम आशिष् है और विष के समान वचन विष हैं। जैसे 'मर जावो', 'तुम्हारे शिर का छेद हो जावे', 'तू भीख मांगे' इत्यादि वचन जिसके प्रति बोल देवें उसका वैसा ही हो जावे ऐसे वे आशीर्विष नामक साधु हैं। पुनः - आशिष् है अविष अर्थात् अमृत जिनका वे आशीर्विष हैं। स्थावर या जंगम विष से वचन व्याप्त जीवों के प्रति 'निर्विष हो जावे' ऐसा निकला हुआ वचन उन्हें निर्विष कर दे - जीवित कर दे। व्याधि, वेदना से और दारिद्र्य से पीड़ित के प्रति जिन मुनि के वचन निकलें तो वह व्याधि, वेदना से और दरिद्रता से रहित होकर स्वस्थ, सुखी, धनी हो जावे वे मुनि भी आशीर्विष हैं।

तप के प्रभाव से जो मुनि इस तरह जीवों के निग्रह-शाप और अनुग्रह करने में समर्थ हैं वे आशीर्विष हैं फिर भी ये मुनि ऐसा निग्रह-अनुग्रह नहीं करते हैं क्योंकि यहां 'जिन' शब्द की अनुवृत्ति चली आ रही है। यदि वे साधु ऐसे शाप वचन या अनुग्रह वचन से अपकार-उपकार करने लगें तो क्रोध और हर्ष के निमित्त से उनके द्वेष-राग स्पष्ट होने से वे वीतरागी दिगम्बर जैन साधु नहीं रहेंगे क्योंकि जिन साधु का और राग-द्वेष का परस्पर में विरोध है। मात्र तपस्वी साधु में ऐसी ऋद्धि का होना होता है ऐसे आशीर्विष साधु को मैं पृथ्वी पर मस्तक टेक कर पंचांग या अष्टांग नमस्कार करता हूं।

(२४) णमो दिट्ठिविसाणं ।।२१।।

दृष्टिविष जिनों को नमस्कार हो ।।२१।।

दृष्टि शब्द से यहां चक्षु और मन का ग्रहण है। रूष्ट होकर साधु यदि 'यह मर जावे' ऐसे भाव से किसी को देख ले तो वह मर जावे। ऐसे ही क्रोधपूर्वक देखने से यह जिसका जो भी अनिष्ट सोचे वह हो जावे वे 'दृष्टिविष' मुनि हैं। इसी तरह विष का अर्थ अविष करके ऐसा समझना कि वे मुनि जिसके प्रति स्नेह भाव से देखकर सोचें कि 'इसका विष उतर जावे' और भी कुछ हित सोचें कि यह 'धनी हो जावे', 'स्वस्थ हो जावे', 'संतान आदि से भरपूर हो जावे' तो वे वैसे ही सुखी हो जावें यह भी 'दृष्टि विष' ऋद्धि है। यद्यपि कोई दिगम्बर जैन साधु इस ऋद्धि से संपन्न हो जाते हैं लेकिन वे ऐसा प्रयोग नहीं करते हैं क्योंकि यहां 'जिन' शब्द की अनुवृत्ति है।

इन शुभ-अशुभ लब्धि से सहित तथा हर्ष व क्रोध से रहित छह प्रकार के ही दृष्टिविष जिनों को—साधुओं को नमस्कार हो।

(२५) णमो उग्गतवाणं ।।२२।।

उग्रतप जिनों को नमस्कार हो ।।२२।।

उग्रतप ऋद्धि धारक दो प्रकार हैं—उग्रोग्र तप ऋद्धिधारक और अवस्थित उग्रतप ऋद्धिधारक।

जो मुनि एक उपवास करके पारणा कर दो उपवास करते हैं, पुनः पारणा कर तीन उपवास करते हैं। इस प्रकार एक अधिक वृद्धि के साथ जीवनपर्यंत तीन गुप्तियों से रक्षित होकर उपवास करने वाले उग्रोग्र तप ऋद्धि के धारक हैं।

प्रश्न - ऐसा होने पर तो छह मासों से अधिक उपवास हो जावेंगे, यह कैसे संभव है?

उत्तर - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि घातायुष्क मुनियों के छह मासों के उपवास का नियम है, अघातायुष्क मुनियों के लिये नहीं, चूंकि उनका अकाल में मरण नहीं होता।

प्रश्न - अघातायुष्क भी छह मास तक ही उपवास करने वाले होंगे, क्योंकि इसके आगे संक्लेशभाव उत्पन्न हो जावेंगे?

उत्तर - ऐसा नहीं है, संक्लेश सहित और सोपक्रमायुष्क मुनियों के लिये यह नियम भले ही हो, किंतु संक्लेश भाव से रहित निरूपक्रमायुष्क और तप के बल से उत्पन्न हुये वीर्यांतराय के क्षयोपशम से संयुक्त तथा उसके बल से असातावेदनीय के उदय को मंद कर चुकने वाले साधुओं के लिये यह नियम नहीं है, क्योंकि उनमें इसका विरोध है।

प्रश्न - ऐसी शक्ति किन्हीं श्रेष्ठ पुरुष के उत्पन्न होती है यह कैसे जाना जाता है?

उत्तर - इसी सूत्र से जाना जाता है, क्योंकि छह मासों से ऊपर उपवास का अभाव मानने पर उग्रोग्र तप बन नहीं सकता।

अब उग्र तप के द्वितीय भेद का वर्णन करते हैं—कोई महापुरुष दीक्षा के लिये एक उपवास करके पारणा करें पश्चात् एक उपवास एक पारणा करते हुये किसी निमित्त षष्ठोपवास—बेला हो गया। फिर उस बेला से पुनः बेला पारणा करते हुये विहार करने वाले के अष्टमोपवास—तेला हो गया। इस दशम, द्वादशम-चौला, पांच उपवास आदि के क्रम से नीचे न गिरकर जो जीवन पर्यंत विहार करते हैं वे अवस्थित-उग्रतप ऋद्धि के धारक कहे जाते हैं। इन दोनों तपों का उत्कृष्ट फल मोक्ष है और अन्य फल अनुत्कृष्ट है। इन उग्रतप ऋद्धिधारक जिनों को—महामुनियों को नमस्कार हो।

(२६) णमो दित्ततवाणं ।।२३।।

दीप्ततप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो ।।२३।।

दीप्ति का कारण होने से तप दीप्त कहा जाता है। चतुर्थ व छट्ठम—बेला, तेला आदि उपवासों के करने पर जिनका शरीर तेज, तपजनित लब्धि के माहात्म्य से प्रतिदिन शुक्ल पक्ष के चन्द्र के

समान बढ़ता जाता है, वे ऋषि दीप्ततप हैं। उनकी केवल दीप्ति ही नहीं बढ़ती किंतु बल भी बढ़ता है क्योंकि शरीर बल, मांस और रुधिर की वृद्धि के बिना शरीर की दीप्ति बढ़ ही नहीं सकती है। इसीलिये उनके आहार भी नहीं होता, क्योंकि उसके कारणों का अभाव है। यदि कहा जाय कि भूख के दुःख को शांत करने के लिये वे भोजन करते हैं, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उनके भूख के दुःख का अभाव है अर्थात् उन मुनि के भूख का अभाव है यह कैसे जाना जाता है? उसका समाधान यह है कि 'दीप्ति, बल और शरीर की वृद्धि' से ही जाना जाता है। सो ही देखिये-

"तेण ण तेसिं भुत्ती वि तक्कारणाभावादो। ण च भुक्खादुक्खुवसमणट्ठं भुंजंति तदभावादो। तदभावो मुदो वग्गम्मदे? दित्तिबल सरीरोवचयादो[1]।"

(२७) णमो तत्ततवाणं ।।२४।।

तप्ततप ऋद्धि धारकों को नमस्कार हो ।।२४।।

जिस तप के द्वारा मूत्र, मल और शुक्र आदि तप्त-दग्ध-विनष्ट कर दिये जाते हैं वह उपचार से तप्त तप है। जिनके ग्रहण किये हुये चार प्रकार के आहार का तपे हुये लोह पिंड द्वारा आकृष्ट पानी के समान नीहार नहीं होता है वे तप्ततप ऋद्धि के धारक हैं।

(२८) णमो महातवाणं ।।२५।।

महातप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।। २५।।

जो अणिमा आदि आठ गुणों से सहित हैं, जल चारण आदि आठ प्रकार के चारण गुणों से अलंकृत हैं, प्रकाशमान शरीर प्रभा से संयुक्त हैं, दो प्रकार की अक्षीण ऋद्धि से युक्त हैं, सर्वौषधि स्वरूप हैं, पाणिपात्र में गिरे हुये सब आहारों को अमृत स्वरूप परिवर्तित करने में समर्थ हैं, समस्त इंद्रों से भी अनंतबल के धारक हैं, आशीर्विष और दृष्टिविष लब्धियों से समन्वित हैं, तप्ततप ऋद्धि से संयुक्त हैं, समस्त विद्याओं के धारक हैं तथा मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञानों से तीनों लोक के व्यापार को जानने वाले हैं वे मुनि महातप ऋद्धि के धारक हैं।

(२९) णमो घोरतवाणं ।। २६।।

घोरतप ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो ।। २६।।

उपवासों में छह मास का उपवास, अवमोदर्य तपों में एक ग्रास, वृत्त-परिसंख्यानों में चौराहे में भिक्षा की प्रतिज्ञा, रस परित्याग में उष्ण जल युक्त ओदन का भोजन, विविक्त शय्यासनों में वृक, व्याघ्र आदि हिंसक जीवों से सेवित सह्य, विंध्य आदि अटवियों में निवास, कायक्लेशों में तीव्र हिमालय आदि के अंतर्गत देशों में खुले आकाश के नीचे अथवा वृक्षमूल में ध्यान-ग्रहण करना।

---

१. धवला पुस्तक ९ पृ. ६०।

इसी प्रकार अभ्यंतर तपों में भी उत्कृष्ट तप को ग्रहण करना चाहिये। ये बारह प्रकार ही तप कायरजनों को भयोत्पादक हैं, इसी कारण घोरतप कहलाता है। इन बारह प्रकार के तपों की उत्कृष्ट अवस्था में वर्तमान साधु घोरतप कहलाते हैं। यह भी तपजनित ऋद्धि ही है।

(३०) णमो घोरगुणाणं ।।२७।।

घोरगुण जिनों को नमस्कार हो ।।२७।।

घोर—उत्कृष्ट पराक्रम सहित हैं गुण जिनके वे घोरगुण कहे जाते हैं।

शंका - चौरासी लाख गुणों के घोरत्व कैसे संभव है?

समाधान - घोर कार्यकारी शक्ति को उत्पन्न करने के कारण उनके घोरत्व संभव है। यहां भी 'जिन' शब्द की अनुवृत्ति होने से उन घोर गुण जिनों को नमस्कार किया है। गुण से उत्पन्न हुई शक्ति का नाम ही पराक्रम है।

(३१) णमो घोरपरक्कमाणं ।।२८।।

घोर पराक्रम ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो ।।२८।।

तीनों लोकों का उपसंहार करने, पृथ्वीतल को निगलने, समस्त समुद्र के जल को सुखाने, अग्नि एवं शिला पर्वतादि के बरसाने की शक्ति का नाम घोर पराक्रम है। घोर है पराक्रम जिन जिनों का—मुनियों का वे घोरपराक्रम हैं। यहां 'जिन' शब्द की अनुवृत्ति चली आ रही है अतः क्रूर कर्म करने वाले असुरों को नमस्कार करने का प्रसंग नहीं आता ।

(३२) णमो घोरगुणबंभचारीणं ।।२९।।

अघोरगुण ब्रह्मचारी जिनों को नमस्कार हो ।।२९।।

ब्रह्म का अर्थ पांच व्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप चारित्र है, क्योंकि वह शांति के पोषण का हेतु है। अघोर अर्थात् शांत हैं गुण जिसमें वह अघोरगुण है। अघोर—शांतगुण ब्रह्म का आचरण करने वाले मुनि अघोरगुण ब्रह्मचारी हैं। जिनमें तप के प्रभाव से डामरादि—राष्ट्रीय उपद्रव आदि, रोग, दुर्भिक्ष, वैर, कलह, वध, बंधन और रोध आदि को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हुई है उन अघोरगुण ब्रह्मचारी मुनियों को नमस्कार किया है।

शंका - 'णमो घोरगुणबंभचारीणं' सूत्र में 'अघोर' शब्द नहीं है सो अर्थ में कैसे लिया?

समाधान - यहां 'णमो अघोर' में प्राकृत व्याकरण से संधि होकर अकार का लोप हो गया है।

अघोर ब्रह्मचारियों की लब्धियां सर्वांगगत असंख्यात हैं। इन ऋद्धिवाले शरीर से स्पर्शित वायु में भी समस्त उपद्रवों को नष्ट करने की शक्ति देखी जाती है।

(३३) णमो आमोसहिपत्ताणं ।।३०।।

आमर्षौषधि प्राप्त ऋषियों को नमस्कार हो ।।३०।।

जिन मुनियों का आमर्ष—स्पर्श समस्त औषधिरूप है वे आमर्षौषधि ऋद्धि वाले मुनि हैं।

(३४) णमो खेल्लोसहिपत्ताणं ।।३१।।

खेलौषधि प्राप्त ऋषियों को नमस्कार हो ।।३१।।

श्लेष्म, लार, सिंहाण और विप्रुष् आदि की खेल संज्ञा है। जिनका यह खेल औषधिरूप हो गया हो वे खेलौषधिप्राप्त मुनि हैं।

(३५) णमो जल्लोसहिपत्ताणं ।।३२।।

जल्लौषधि प्राप्त जिनों को नमस्कार हो ।।३२।।

अंग का बाह्य मल 'जल्ल' कहलाता है। तप के प्रभाव से जिनके वह जल्ल औषधिरूप हो गया हो वे जल्लौषधि प्राप्त ऋषि हैं।

(३६) णमो विट्ठोसहिपत्ताणं[1] ।।३३।।

विष्ठौषधि प्राप्त जिनों को नमस्कार हो ।।३३।।

जिनके विष्ठा—मल, मूत्रादि औषधिपने को प्राप्त हो गये हैं वे विष्ठौषधि प्राप्त ऋषि हैं।

(३७) णमो सव्वोसहिपत्ताणं ।।३४।।

सर्वौषधि प्राप्त जिनों को नमस्कार हो ।।३४।।

रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, फुप्फुस, खरीष, कालेय, मूत्र, पित्त, अंतड़ी, उच्चार आदि सब जिनके औषधिरूप को प्राप्त हो गये हैं वे सर्वौषधि प्राप्त जिन हैं।

यहां लोक में जितनी व्याधियाँ हैं उन सबको स्थापित कर आमर्षौषधि, खेलौषधि, जल्लौषधि, विष्ठौषधि और सर्वौषधि के एक संयोगादि रूप भंगों की नाना काल संबंधी ऋद्धियों का आश्रय लेकर प्ररूपण करना चाहिये क्योंकि विचित्र चारित्र से लब्धियों की विचित्रता में कोई विरोध नहीं है।

(३८) णमो मणबलीणं ।।३५।।

मन बल ऋद्धियुक्त जिनों को नमस्कार हो।।३५।।

बारह अंगों में निर्दिष्ट त्रिकालविषयक अनंत अर्थपर्यायों और अनंत व्यंजन पर्यायों से व्याप्त छह द्रव्यों का निरंतर चिंतन करने पर भी खेद को प्राप्त न होना मनबल है। यह मनबल भी लब्धि है, क्योंकि यह विशिष्ट तप के प्रभाव से उत्पन्न होती है। अन्यथा बहुत वर्षों में बुद्धिगोचर होने वाला बारह अंगों का अर्थ भला एक मुहूर्त में चित्तखेद को कैसे नहीं करेगा? अर्थात् करेगा ही।

---

१. विप्पोसहि इति पाठांतरं।

उन मनबली ऋषियों को नमस्कार किया है।

(३६) णमो वचिबलीणं ।।३६।।

वचनबली ऋषियों को नमस्कार हो ।।३६।।

बारह अंगों का बहुत बार प्रतिवाचन करके भी जो खेद को प्राप्त नहीं हो वह वचनबल है यह तप के माहात्म्य से जिनके प्रगट हुआ है वे वचनबल ऋद्धिधारी मुनि हैं।

(४०) णमो कायवलीणं ।।३७।।

कायबली ऋषियों को नमस्कार हो ।।३७।।

जो तीनों लोकों को हाथ की अंगुली पर उठाकर अन्यत्र रखने में समर्थ हैं वे कायबली हैं। यह कायशक्ति भी चारित्र विशेष से ही उत्पन्न होती है।

(४१) णमो खीरसवीणं ।।३८।।

क्षीरस्रवी मुनियों को नमस्कार हो ।।३८।।

क्षीर का अर्थ दूध है। विष सहित वस्तु से भी क्षीर को बहाने वाले क्षीरस्रवी कहलाते हैं। हाथ रूपी पात्र में गिरे हुये सब आहारों को क्षीरस्वरूप बनाने वाली शक्ति भी कारण में कार्य के उपचार से क्षीरस्रवी कही जाती है।

शंका - अन्य रसों में स्थित द्रव्यों का तत्काल ही दूधरूप से परिणमन कैसे संभव है?

समाधान - जैसे अमृतसमुद्र में गिरे हुये विष का अमृतरूप परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है, वैसे ही पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियों से घटित अंजलिपुट में गिरे हुये सब आहारों का क्षीररूप परिणत होने में कोई विरोध नहीं है। यहां उन्हीं क्षीरस्रवी महाऋषियों को नमस्कार किया है।

(४२) णमो सप्पिसवीणं ।।३९।।

सर्पिस्रवी जिनों को नमस्कार हो ।।३९।।

सर्पिष् शब्द का अर्थ घृत है। जिनके तप के प्रभाव से अंजलिपुट में गिरे हुये सब आहार घृतरूप से परिणमते हैं वे सर्पिस्रवी महाऋषि हैं।

(४३) णमो महुसवीणं[1] ।।४०।।

मधुस्रवी जिनों को नमस्कार हो ।।४०।।

मधु शब्द से गुड़, खांड और शक्कर आदि का ग्रहण किया गया है, क्योंकि मधुर स्वाद के प्रति इनमें समानता पायी जाती है। जो मुनि हाथ में आये हुये समस्त आहारों को मधु, गुड़, खांड और शक्कर के स्वादस्वरूप परिणमन कराने में समर्थ हैं वे मधुस्रवी महामुनि हैं यहां उन्हें ही नमस्कार किया गया है।

१. महुरसवीणं इति पाठांतरं।

(४४) णमो अमडसवीणं[1] ।।४१।।

अमृतस्रवी जिनों को नमस्कार हो ।।४१।।

जिनके हाथ को प्राप्त हुआ आहार अमृतस्वरूप से परिणत होता है वे अमृतस्रवी जिन हैं—मुनि हैं। यहां अवस्थित रहते हुये जो देवाहार—देवताओं के समान अमृत जैसे आहार को ग्रहण करने वाले हैं, उन अमृतस्रवी महामुनियों को नमस्कार किया गया है।

(४५) णमो अक्खीणमहाणसाणं ।।४२।।

अक्षीणमहानस जिनों को नमस्कार हो ।।४२।।

यहां चूंकि अक्षीण महानस शब्द देशामर्शक है, अतएव उससे वसति अक्षीण जिनों का भी ग्रहण होता है। जिसके भात, घृत व भिगोया हुआ—बनाया हुआ अन्न स्वयं परोस लेने के पश्चात् चक्रवर्ती की सेना को भोजन कराने पर भी समाप्त नहीं होता है वह अक्षीणमहानस ऋद्धिधारक कहलाता है अर्थात् जिस चौके में इन ऋद्धिवाले मुनि का आहार हो जाता है उस चौके के भोजन से सारी चक्रवर्ती की सेना को भी भोजन करा दो परंतु वह घटे नहीं। उन मुनि की यह ऋद्धि 'अक्षीणमहानस' है।

जिन मुनि के चार हाथ प्रमाण भी गुफा में रहने पर चक्रवर्ती का सैन्य भी उस गुफा में रह सकता है, वे 'अक्षीणावास' ऋद्धिधारक हैं। इन उभय प्रकार के मुनियों को नमस्कार हो।

शंका—इन शक्तियों को—ऋद्धियों को कैसे जाना जाता है?

समाधान—इसी सूत्र से उनकी ऋद्धियों का अस्तित्व जाना जाता है, क्योंकि जिन भगवान् अन्यथावादी नहीं हैं।

(४६) णमो वड्ढमाणाणं ।

चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान भगवान को नमस्कार हो।

(४७) णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं[2] ।।४३।।

लोक में सब सिद्धायतनों को नमस्कार हो ।।४३।।

'सब सिद्ध' इस वचन से पूर्व में कहे हुये समस्त जिनों को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनों से पृथग्भूत देशसिद्ध व सर्वसिद्ध पाये नहीं जाते। सब सिद्धों के जो आयतन हैं वे सर्व सिद्धायतन हैं। इससे कृत्रिम व अकृत्रिम जिनमंदिर, जिनप्रतिमा तथा ईषत्प्राग्भार—सिद्धशिला, ऊर्जयंत, चंपापुर व पावापुर आदि क्षेत्रों व निषीधिकाओं का भी ग्रहण करना चाहिये। उन सभी जिनायतनों को नमस्कार हो।

---

१. णमो अमिय सवीणं इति पाठांतरं। २. 'णमो सिद्धायदणाणं" यति प्रतिक्रमण में ऐसा पाठ है।

(४८) णमो वड्ढमाणबुद्धरिसिस्स ।।४४।।

वर्धमान बुद्ध ऋषि को नमस्कार हो ।।४४।।

शंका - जबकि वर्धमान भगवान् को पूर्व में नमस्कार किया जा चुका है तो फिर यहां दुबारा नमस्कार किसलिये किया गया है?

समाधान - जस्संतियं धम्मपहं णिगच्छे, तस्संतियं वेणयियं पउंजे।

कायेण वाचा मणसा वि णिच्चं, सक्कारए तं सिरपंचमेण ।।

'जिनके समीप धर्मपथ प्राप्त हो, उनके निकट विनय का व्यवहार करना चाहिये तथा उनका शिर झुकाकर पांच अंग—पंचाग एवं काय, वचन और मन से नित्य ही सत्कार—नमस्कार करना चाहिये।'

इस आचार्य परंपरागत नियम को बतलाने के लिये पुनः नमस्कार किया गया है।

प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी में यह मंत्र ऐसा है -

णमो भयवदो महदिमहावीर वड्ढमाणबुद्धरिसिणो चेदि।

जो भगवान् सहज विशिष्ट मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञान के धारी और पूजा के अतिशय को प्राप्त हैं, महति महावीर और वर्धमान नाम के धारक अंतिम तीर्थंकर हैं, बुद्धर्षि—प्रत्यक्षवेदी—केवलज्ञान के धारी हैं। रुद्र के द्वारा किये गये उपसर्ग को जीतने से 'महतिमहावीर' यह नाम प्रसिद्ध हुआ है। इन अंतिम तीर्थंकर के वर्धमान, वीर, महावीर, सन्मति और महतिमहावीर ऐसे पांच नाम विख्यात हैं। ऐसे वर्धमान भगवान को नमस्कार होवे।

श्री गौतम स्वामी के ये सभी ऋद्धियां थीं। ऐसा महाशास्त्र धवला ग्रंथ में लिखा है। यथा—'पांच महाव्रत, तीन गुप्ति और पांच समितियों से युक्त, आठ मद और सात भयों से रहित, बीज, कोष्ठ, पदानुसारी व संभिन्नश्रोतृत्व बुद्धिऋद्धियों से सहित, उत्कृष्ट अवधिज्ञान से असंख्यात लोक प्रमाण तथा काल से अतीत, अनागत व वर्तमान में परमाणुपर्यंत समस्त मूर्तद्रव्य एवं उनकी पर्यायों को जानने वाले, तप्ततपऋद्धि के प्रभाव से मल-मूत्ररहित, दीप्ततप लब्धि के बल से सर्वकाल उपवासयुक्त होकर भी शरीर के तेज से दशों दिशाओं को आलोकित करने वाले, सर्वौषधि लब्धि के निमित्त से सर्व औषधियों स्वरूप, अनंतबल युक्त होने से हाथ की कनिष्ठ अंगुली द्वारा तीनों लोकों को चलायमान करने में समर्थ, अमृतस्रावी आदि ऋद्धियों के बल से हस्तपुट में गिरे हुये सब आहारों को अमृत स्वरूप परिणमाने वाले, महातप गुण से कल्पवृक्ष के समान, अक्षीण महानस ऋद्धि से आहार में अक्षयता को करने वाले, अघोर तप के प्रभाव से जीवों के समस्त कष्टों को दूर करने वाले, संपूर्ण विद्याओं द्वारा सेवित चरणमूल से युक्त, आकाशचारण गुण से सर्व जीवों की रक्षा करने वाले, वचन एवं मन से समस्त पदार्थों के संपादन में समर्थ, अणिमादि ऋद्धियों से देव समूहों

को जीतने वाले, तीनों लोकों के जनों में श्रेष्ठ, परोपदेश के बिना अक्षर-अनक्षररूप सब भाषाओं में कुशल, समवसरण में स्थित जनमात्र के रूप के धारी होने से 'हमारी-हमारी भाषाओं से हमारे-हमारे लिए ही उपदेश दे रहे हैं। इस प्रकार सबको विश्वास कराने वाले तथा समवसरण में स्थित जनों के कर्ण इंद्रियों में अपने मुख से निकली हुई अनेक भाषाओं के सम्मिश्रित प्रवेश के निवारक ऐसे गणधर देव ग्रंथकर्ता हैं, क्योंकि ऐसे स्वरूप के बिना ग्रंथ की प्रमाणता का विरोध होने से धर्म रसायन द्वारा समवसरण के जनों का पोषण बन नहीं सकता है। सो ही कहते हैं -

बुद्धि-तव-विउवणोसह-रस-बल-अक्खीण-सुस्सरत्तादी।
ओहि मणपज्जवेहि य, हवंति गणवालया सहिया ।।

गणधर देव बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल, अक्षीण, सुस्वरत्वादि ऋद्धियों तथा अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञान से सहित होते हैं।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री गौतमस्वामी आहार न करके सर्वकाल उपवास करने वाले थे और सर्वऋद्धियों से सहित थे। ऐसे श्री गौतम गणधर देव को तथा सर्वऋद्धिधारी महाऋषियों को और सर्वऋद्धियों को मेरा मन, वचन, काय से नमस्कार होवे।

इस प्रकार 'महावीर देशना' ग्रन्थ में भगवान महावीर स्वामी
के केवलज्ञान कल्याणक, प्रथमदेशना एवं गौतमस्वामी के
परिचय विशेष का वर्णन करने वाला द्वितीय
अधिकार पूर्ण हुआ।

तृतीय अधिकार

चौबीस तीर्थंकर

यत्पृष्टमादितस्तेन तत्सर्वमनुपूर्वशः। वाचस्पतिरनायासाद् भरतं प्रत्यबूबुधत् ।।१६०।।
प्रागेवोत्सर्पिणीकाल-संबंधी पुरुषाश्रयम्। पुराणमतिगंभीरं व्याजहार जगद्गुरुः ।।१६१।।
ततोऽवसर्पिणीकालमाश्रित्य प्रस्तुतां कथां। प्रस्तोष्यन् स पुराणस्य पीठिकां प्राक्समादधे।।१६२।।
इतिवृत्तं पुराकल्पे यत्प्रोवाच गिरांपतिः। गणी वृषभसेनाख्यस्तत्तदाधिजगेऽर्थतः।।१६३।।
ततः स्वायंभुवीं वाणीमवधार्यार्थतः कृती। जगद्धिताय सोऽग्रन्थीत्तत्पुराणं गणाग्रणीः।।१६४।।
शेषैरपि तथा तीर्थकृद्भिर्गणधरैरपि । महर्द्धिभिर्यथाम्नायं तत्पुराणं प्रकाशितम् ।।१६५।।
ततो युगान्ते भगवान् वीरः सिद्धार्थनन्दनः। विपुलाद्रिमलंकुर्वन्नेकदास्ताखिलार्थदृक् ।।१६६।।
अथोपसृत्य तत्रैनं पश्चिमं तीर्थनायकम् । पप्रच्छामुं पुराणार्थं श्रेणिको विनयानतः ।।१६७।।
तं प्रत्यनुग्रहं भर्तुरवबुध्य गणाधिपः। पुराणसंग्रहं कृत्स्नमन्ववोचत् स गौतमः[1] ।।१६८।।

महापुराण में लिखा है कि एक समय कैलाशपर्वत पर समवसरण में विराजमान भगवान ऋषभदेव के चरणों की वंदना करके महाराज भरत ने त्रेषठ शलाका महापुरुषों के पुराण को सुनने की जिज्ञासा व्यक्त की थी। उनके प्रश्न के अनुसार जगत्गुरु भगवान ऋषभदेव ने सबसे पहले उत्सर्पिणीकाल संबंधी त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र निरूपण करने वाले अत्यंत गंभीर पुराण का निरूपण किया, फिर अवसर्पिणी काल का आश्रय कर तत्संबंधी त्रेसठ शलाका पुरुषों की कथा कहने की इच्छा से पीठिका सहित उनके पुराण का वर्णन किया था।

भगवान ऋषभदेव ने तृतीयकाल के अंत में जो पूर्वकालीन इतिहास कहा था, वृषभसेन गणधरदेव ने उसे अर्थरूप से अध्ययन किया। तदनंतर गणधरों में प्रधान वृषभसेन गणधर ने भगवान की वाणी को अर्थरूप से हृदय में धारण कर जगत् के लिये उसकी पुराणरूप से रचना की। वही पुराण अजितनाथ आदि शेष तीर्थंकरों, गणधरों तथा बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा प्रकाशित किया गया।

तदनंतर चतुर्थकाल के अंत में एक समय सिद्धार्थ राजा के पुत्र सर्वज्ञ महावीर स्वामी विहार

---

१. (आदिपुराण प्रथमपर्व)

करते हुये राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर आकर विराजमान हुये। इसके बाद पता चलने पर राजगृही के अधिपति विनयवान श्रेणिक महाराज ने जाकर उन अंतिम तीर्थंकर भगवान से उस पुराण को पूछा। महाराण श्रेणिक के प्रति महावीर स्वामी के अनुग्रह का विचार कर गौतम गणधर ने उस समस्त पुराण का वर्णन किया।

गौतमस्वामी चिरकाल तक उसका स्मरण चिंतवन करते रहे बाद में उन्होंने उसे सुधर्माचार्य से कहा और सुधर्माचार्य ने जंबूस्वामी से कहा। उसी समय से लेकर आज तक यह पुराण बीच में नष्ट नहीं होने वाली गुरुपरम्परा के क्रम से चला आ रहा है। इसी पुराण को मैं इस समय शक्ति के अनुसार प्रकाशित करूँगा। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि पुराण के मूलकर्ता अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर हैं और निकटक्रम की अपेक्षा उत्तरग्रन्थकर्ता गौतम गणधर हैं। महाराज श्रेणिक के प्रश्न को उद्देश्य करके गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया था उसी का विचार कर मैं इस पुराण ग्रन्थ की रचना करता हूँ। महापुराण में श्रीजिनसेनाचार्य ने ऐसा कथन किया है।

यह पुराण—चौबीस तीर्थंकरों का जीवन चरित्र अथवा त्रेसठ शलाका पुरुषों का जीवनचरित्र पुण्य को बढ़ाने वाला है, पवित्र है, उत्तम मंगलरूप है, आयु बढ़ाने वाला है, श्रेष्ठ है, यश बढ़ाने वाला है और स्वर्गप्रदान करने वाला है जो मनुष्य इस पुराण की पूजा करते हैं उन्हें शांति की प्राप्ति होती है, उनके सर्वविघ्न दूर हो जाते हैं। जो इसके विषय में जो कुछ पूछते हैं उन्हें संतोष और पुष्टि की प्राप्ति होती है और जो सुनते हैं उनके कर्मों की निर्जरा होती है। इस पुराण के सुनने से दुःख देने वाले खोटे स्वप्न नष्ट हो जाते हैं तथा सुख देने वाले अच्छे-अच्छे स्वप्न दिखते हैं, इससे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

महापुराण (आदिपुराण) में कहा है-

बुद्धिमान श्रेणिकमहाराज ने गणधरदेव श्रीगौतमस्वामी से पूछा—हे भगवन्! श्रीवर्द्धमानस्वामी के मुख से यह संपूर्ण पुराण मैंने अर्थरूप से सुना है अब आपके अनुग्रह से उसे ग्रन्थरूप से सुनना चाहता हूँ।

तब श्रीगौतमस्वामी कहते हैं—

हे श्रेणिक! यह धर्म एक वृक्ष है अर्थ उसका फल है और काम उसके फलों का रस है। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को त्रिवर्ग कहते हैं, इस त्रिवर्ग की प्राप्ति का मूल कारण धर्म का सुनना है। हे आयुष्मन्! यह धर्म नरक निगोद आदि के दुःखों से जीव की रक्षा करता है और अविनाशी सुख से युक्त मोक्ष स्थान में पहुंचा देता है इसीलिये इसे धर्म कहते हैं।

जो पुराण का अर्थ है वही धर्म है। मुनिजन पुराण को पांच प्रकार का मानते हैं—क्षेत्र,

काल, तीर्थ, सत्पुरुष और उनकी चेष्टायें। ऊर्ध्व, मध्य और पातालरूप तीन लोकों की जो रचना है उसे क्षेत्र कहते हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीन कालों का जो विस्तार है उसे काल कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये उपायभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को तीर्थ कहते हैं। इस तीर्थ को सेवन करने वाले शलाकापुरुष सत्पुरुष कहलाते हैं और पापों के नष्ट करने वाले उन सत्पुरुषों के न्यायोपेत आचरण को उनकी चेष्टायें अथवा क्रियायें कहते हैं।

हे श्रेणिक! तुमने पुराण के इस संपूर्ण अर्थ को अपने प्रश्न में समाविष्ट कर लिया है।

हे बुद्धिमान् श्रेणिक! युग की आदि में भरत चक्रवर्ती ने भगवान ऋषभदेव से यही प्रश्न पूछा था और यही प्रश्न चक्रवर्ती सगर ने भगवान अजितनाथ से पूछा था। आज तुमने भी अत्यन्त बुद्धिमान गौतम गणधर से यही प्रश्न पूछा है। इस प्रकार समवसरण में स्थित महामुनियों ने भी राजा श्रेणिक की प्रशंसा की।

अनंतर अनेक मुनिगणों द्वारा श्रीगौतम स्वामी के स्तुति करने के पश्चात् श्रीगौतम स्वामी ने कहना शुरू किया। वे उस समय बहुत ही शांतमुद्रा से बैठे थे। उनका बायां हाथ अपने पर्यंक—गोद में था और दाहिना हाथ उपदेश देने के लिये कुछ ऊपर को उठा हुआ था[1]। वे बोले-

श्रुतं मया श्रुतस्कंधादायुष्मन्तो महाधियः।
निबोधत पुराणं मे यथावत् कथयामि वः।।९६।।

हे आयुष्मन्तों भव्यात्माओं! मैंने श्रुतस्कंध से जैसा कुछ इस पुराण को सुना है सो ज्यों का त्यों आप लोगों के लिये कहता हूँ। आप लोग ध्यान से सुनें।

महाधिकाराश्चत्वारः श्रुतस्कंधस्य वर्णिताः। तेषामाद्योऽनुयोगोऽ सतां सच्चरिताश्रयः।।९९।।
द्वितीयः करणादिः स्यादनुयोगः स यत्र वै। त्रैलोक्यक्षेत्रसंख्यानं कुलपत्रेऽधिरोपितम।।९९।।
चरणादिस्तृतीयः स्यादनुयोगो जिनोदितः। यत्र चर्याविधानस्य परा शुद्धिरुदाहृता।।१००।।
तुर्यो द्रव्यानुयोगस्तु द्रव्याणां यत्र निर्णयः। प्रमाणनयनिक्षेपैः सदाद्यैश्च किमादिभिः।।[2]१०१।।

श्रुतस्कंध के चार महा अधिकार वर्णित किये गये हैं उनके पहले अनुयोग का नाम प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोग में तीर्थंकर आदि सत्पुरुषों के चरित्र का वर्णन होता है। दूसरे

---

१. श्रेणिकः परिपप्रच्छ गौतमं गणभृत्प्रभुम्।।२।।
भगवन्नर्थतः कृत्सुन श्रुतं स्वायंभुवान्मुखात्। ग्रन्थतः श्रोतुमिच्छामि पुराणं त्वदनुग्रहात् ।।३।।
स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं पंचधा विदुः। क्षेत्रं कालश्च तीर्थं च सत्पुंसस्तद्विचेष्टितम् ।।३८।।
क्षेत्रं त्रैलोक्यविन्यासः, कालस्त्रैकाल्यविस्तरः। मुक्त्युपायो भवेत्तीर्थं पुरुषास्तन्निषेविणः।।३९।।
न्याय्यमाचरितं तेषां चरितं दुरितच्छिदाम्। इति कृत्स्नः पुराणार्थः प्रश्ने संभावितस्त्वया।।४०।।
२. आदिपुराण पर्व २ ।

महाधिकार का नाम करणानुयोग है, इसमें तीनों लोकों का वर्णन उस प्रकार लिखा होता है जिस प्रकार किसी ताम्रपत्र पर किसी की वंशावली लिखी होती है। जिनेंद्रदेव ने तीसरे महाधिकार को चरणानुयोग बतलाया है इसमें मुनि और श्रावकों के चारित्र की शुद्धि का निरूपण होता है। चौथा महाधिकार द्रव्यानुयोग है इसमें प्रमाण, नय, निक्षेप तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व एवं निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदि के द्वारा द्रव्यों का निर्णय किया जाता है।

किन्हीं आचार्यों का कहना है कि तीर्थंकरों के पुराणों में चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण इन शलाकापुरुषों के पुराणों का भी संग्रह हो जाता है इसलिये चौबीस ही पुराण समझना चाहिये जोकि चौबीसों तीर्थंकरों के पृथक्-पृथक् नाम से होते हैं। इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों के चौबीस पुराण हैं इनका जो समूह है वह 'महापुराण' कहलाता है।[1]

इस महापुराण ग्रन्थ के आधार से अर्थात् वर्तमान में प्रकाशित 'आदि पुराण' और 'उत्तर पुराण' के आधार से मैंने यह 'चौबीस तीर्थंकर' नाम से ग्रन्थ लिखा है। यह संक्षेप में होते हुये भी महापुराण का सार है।

---

१. पुराणान्येवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हताम्।महापुराणमेतेषां समूहः परिभाष्यते ।।१३४।। (आदि पु. पर्व २)

१. तीर्थंकर ऋषभदेव

इसी जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में एक 'गंधिल' नाम का देश है। जो कि स्वर्ग के समान शोभायमान है। उस देश में हमेशा श्रीजिनेन्द्ररूपी सूर्य उदय रहता है। इसीलिये वहाँ मिथ्यादृष्टियों का उद्भव कभी नहीं होता। इस देश के मध्य भाग में रजतमय एक विजयार्ध नाम का बड़ा भारी पर्वत है। उस विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में एक अलका नाम की श्रेष्ठ पुरी है। उस अलकापुरी का राजा अतिबल नाम का विद्याधर था, जिसकी मनोहरा नाम की पतिव्रता रानी थी। उन दोनों के अतिशय भाग्यशाली 'महाबल' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ।

किसी समय भोगों से विरक्त हुए महाराज अतिबल ने राज्याभिषेकपूर्वक अपना समस्त राज्य महाबल पुत्र को सौंप दिया और आप अनेक विद्याधरों के साथ वन में जाकर दीक्षा ले ली। महाबल राजा के स्वयंबुद्ध, महामति, संभिन्नमति और शतमति नामके चार मंत्री थे जो महाबुद्धिमान, स्नेही और दीर्घदर्शी थे। इनमें स्वयंबुद्ध सम्यग्दृष्टि शेष तीनों मिथ्यादृष्टि थे। किसी समय अपने जन्मगांठ के उत्सव में राजा महाबल सिंहासन पर विराजमान थे। उस समय अनेकों उत्सव, नृत्य, गान और विद्वद्गोष्ठियाँ हो रही थीं। अवसर पाकर स्वयंबुद्ध मंत्री ने स्वामी के हित की इच्छा से जैन धर्म का मार्मिक उपदेश दिया। उसके वचनों को सुनने के लिये असमर्थ भूतवादी महामति मंत्री ने चार्वाक मत को सिद्ध करते हुए जीव तत्व का अभाव सिद्ध कर दिया। बौद्धमतानुयायी संभिन्नमति मंत्री ने विज्ञानवाद का आश्रय लेकर जीव का अभाव करना चाहा, उसने कहा—ज्ञान ही मात्र तत्व है और सब भ्रममात्र है। इसके बाद शतमति मंत्री ने शून्यवाद का अवलम्बन लेकर सकल जगत् को शून्यमात्र सिद्ध कर दिया।

इन तीनों की बातें सुनकर स्वयंबुद्ध मंत्री ने तीनों के एकान्त दुराग्रह को न्याय और आगम के द्वारा खण्डन करके सच्चे स्याद्वादमय अहिंसा धर्म की सिद्धि करके उन्हें निरुत्तर कर दिया और राजा को प्रसन्न कर लिया। इसके बाद किसी एक दिन स्वयंबुद्ध मंत्री अकृत्रिम चैत्यालय की वन्दना के लिये सुमेरु पर्वत पर गया, वहाँ पहुंच कर उसने पहले प्रदक्षिणा दी फिर भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार किया और पूजा की। यथाक्रम से भद्रसाल आदि वन की समस्त अकृत्रिम प्रतिमाओं की वन्दना की और सौमनस वन के चैत्यालय में बैठ गया। इतने में ही विदेह क्षेत्र से आये हुए, आकाश में चलने वाले आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारण मुनि अकस्मात् देखे, वे दोनों ही मुनि 'युगंधर' भगवान के समवसरणरूपी सरोवर के मुख्य हंस थे। मंत्री ने उठकर उन्हें प्रदक्षिणापूर्वक प्रणाम करके पूजा और स्तुति की अनन्तर प्रश्न किया-हे स्वामिन्! विद्याधर का राजा महाबल हमारा स्वामी है। वह भव्य है या अभव्य? मेरे द्वारा सन्मार्ग भी ग्रहण करेगा या नहीं? इस प्रश्न के बाद

आदित्यगति नामक अवधिज्ञानी -मुनि कहने लगे हे भव्य! तुम्हारा स्वामी भव्य ही है। वह तुम्हारे वचनों पर विश्वास करेगा और आज से दसवें भव में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर होगा। इसके पूर्वभव को तुम सुनो–

जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में 'गंधिला' देश में सिंहपुर नगर है वहां के श्रीषेण राजा की सुन्दरी रानी से जयवर्मा और श्रीवर्मा ऐसे दो पुत्र हुए थे। पिता ने योग्यता और स्नेह के निमित्त से छोटे पुत्र श्रीवर्मा को राज्य दे दिया। तब जयवर्मा विरक्त होकर स्वयंप्रभु गुरु से दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगा और किसी समय आकाश मार्ग में जाते हुए महीधर विद्याधर होने का निदान कर लिया। इतने में ही सर्प के डसने से मरकर तुम्हारा स्वामी महाबल हुआ है। आज रात्रि में उसने दो स्वप्न देखे हैं : तुम जाकर उनका फल कहकर उसके पूर्व भव सुनाओ। उसका कल्याण होने वाला है।

गुरु के वचन से मंत्री वहां आकर बोले-राजन्। आपने जो स्वप्न देखा है कि तीनों मंत्रियों ने कीचड़ में डाल दिया और मैंने उठाकर सिंहासन पर बैठाया सो यह मिथ्यात्व के कुफल से आप निकलकर जिनधर्म में आ गये हैं। दूसरे स्वप्न में जो आपने अग्नि की ज्वाला क्षीण होते देखी उसका फल आपकी आयु एक माह की शेष रही है। आप इस भव में तीर्थंकर होंगे इत्यादि। सारी बातें मंत्री ने सुना दी । राजा महाबल ने भी अपने पुत्र अतिबल को राज्यभार सौंपकर सिद्धकूट चैत्यालय में जाकर सिद्ध प्रतिमाओं की पूजा करके गुरु की साक्षीपूर्वक जीवनपर्यन्त के लिये चतुराहार त्याग कर सल्लेखना धारण कर ली और धर्मध्यानपूर्वक मरण करके ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में ललितांग नाम का उत्तम देव हो गया। जब उसकी आयु पृथक्त्व पल्य के बराबर रह गयी तब उसे स्वयंप्रभा नाम की एक और देवी प्राप्त हुई। अन्य देवियों की अपेक्षा ललितांग देव को यह देवी विशेष प्यारी थी। जब उस देव की माला आदि मुरझाई तब मृत्यु निकट जानकर शोक करते हुए इसको अनेकों देवों ने सम्बोधन किया जिसके फलस्वरूप इस देव ने पन्द्रह दिन तक जिन चैत्यालयों की पूजा की और अच्युत स्वर्ग की जिन प्रतिमाओं की पूजा करके वहीं पर चैत्यवृक्ष के नीचे बैठकर उच्चस्वर से महामंत्र का उच्चारण करते हुए सल्लेखना से मरण को प्राप्त हो गया।

जम्बूद्वीप के महामेरु से पूर्व की ओर विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश है उसके उत्पलखेटक नगर के राजा वज्रबाहु और रानी वसुंधरा से वह ललितांग देव 'वज्रजंघ' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उधर अपने पति के अभाव में वह पतिव्रता स्वयंप्रभा छह महीने तक बराबर जिनपूजा में तत्पर रही। पश्चात् सौमनस वन सम्बन्धी पूर्व दिशा के जिन मन्दिर में चैत्यवृक्ष के नीचे पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण त्याग दिये और विदेह क्षेत्र की पुंडरीकिणी नगरी के राजा

वज्रदन्त की महारानी लक्ष्मीमती से 'श्रीमती' नाम की कन्या उत्पन्न हो गयी। कालान्तर में निमित्तवश इस वज्रजंघ और श्रीमती का विवाह हो गया। इनके उनंचास युगल पुत्र उत्पन्न हुए अर्थात् अट्ठानवे पुत्र उत्पन्न हुए। किसी समय वे अपने बाबा के साथ दीक्षित हो गए।

किसी समय श्रीमती के पिता चक्रवर्ती वज्रदन्त ने छोटे से पोते पुंडरीक को राज्याभिषेक कर दिया और विरक्त होकर दीक्षा ले ली। उस समय लक्ष्मीमती माता ने अपनी पुत्री और जमाई को बुलाया। ये दोनों वैभव के साथ पुंडरीकिणी नगरी की ओर आ रहे थे। मार्ग में किसी वन में ही पड़ाव डाला। वहाँ पर आकाश में गमन करने वाले श्रीमान् दमधर और सागरसेन मुनि युगल वज्रजंघ के पड़ाव में पधारे। उन दोनों ने वन में आहार लेने की प्रतिज्ञा ली थी। वहां वज्रजंघ ने श्रीमती सहित भक्ति से नवधाभक्ति सहित विधिवत् आहार दान दिया और पंचाश्चर्य को प्राप्त हुए। अनन्तर उन्हें कंचुकी से विदित हुआ कि ये दोनों मुनि हमारे ही अंतिम पुत्र युगल हैं। राजा वज्रजंघ और श्रीमती ने उनसे अपने पूर्वभव सुने और धर्म के मर्म को समझा। अनन्तर पास में बैठे हुए नकुल, सिंह, वानर और सूकर के पूर्व भव सुने। उन मुनियों ने यह भी बताया कि आप आठवें भव में ऋषभ तीर्थंकर होवोगे और श्रीमती का जीव राजा श्रेयांसकुमार होंगे।

किसी समय वज्रजंघ महाराज रानी सहित अपने शयनागार में सोये हुए थे उसमें नौकरों ने कृष्णअगुरु आदि से निर्मित धूप खेई थी और वे नौकर रात में खिड़कियाँ खोलना भूल गये, जिसके निमित्त धुएँ से कण्ठ रुँधकर वे पति पत्नी दोनों ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। आश्चर्य है कि भोग सामग्री प्राणघातक बन गयी! वे दोनों दान के प्रभाव से मरकर उत्तर कुरु नामक उत्तम भोगभूमि में भोगभूमिया हो गये। वे नकुल आदि भी दान की अनुमोदना से भोग भूमि को प्राप्त हो गये।

किसी समय दो चारण मुनि आकाश मार्ग से वहाँ भोगभूमि में उतरे और इन वज्रजंघ आर्य और श्रीमती आर्या को सम्यग्दर्शन का उपदेश देने लगे। ज्येष्ठ मुनि बोले, हे आर्य! तुम मुझे स्वयंबुद्ध मंत्री का जीव समझो। मैंने तुम्हें महाबल की पर्याय में जैन धर्म ग्रहण कराया था। उन दोनों दम्पत्तियों ने मुनियों के प्रसाद से सम्यग्दर्शन ग्रहण किया और आयु के अन्त में च्युत होकर ईशान स्वर्ग में 'श्रीधर' देव और स्वयंप्रभ नाम के देव हुए अर्थात् श्रीमती का जीव सम्यक्त्व के प्रभाव से स्त्री पर्याय छोड़कर देव पद को प्राप्त हो गया। एक दिन श्रीधर देव ने अपने गुरु (स्वयंबुद्ध मंत्री के जीव) प्रीतिंकर मुनिराज के समवसरण में जाकर पूछा -भगवन्! मेरे महाबल के भव में जो तीन मंत्री थे वे इस समय कहाँ हैं? भगवान ने बताया कि उन तीनों में से महामति और सम्भिन्नमति ये दो तो निगोद स्थान को प्राप्त हुए हैं और शतमति नरक गया है। तब श्रीधरदेव ने नरक में जाकर शतमति के जीव को सम्बोधित किया था तथा निगोद के जीवों को सम्बोधन का सवाल ही नहीं है।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में महावत्स देश है उसकी सुसीमा नगरी के सुदृष्टि राजा की सुन्दरनन्दा रानी से वह श्रीधर देव स्वर्ग से च्युत होकर 'सुविधि' नाम का पुत्र हुआ था। कालांतर में सुविधि की रानी मनोरमा से स्वयंप्रभ देव (श्रीमती का जीव) स्वर्ग से च्युत होकर केशव नाम का पुत्र हो गया, मतलब वज्रजंघ का जीव सुविधि राजा हुआ और श्रीमती का जीव उसका पुत्र हुआ है।

कदाचित् सुविधि महाराज दैगम्बरी दीक्षा लेकर अन्त में मरकर अच्युतेन्द्र हुए और केशव ने भी निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया।

वह अच्युतेन्द्र, जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में पुष्कलावती देश की पुंडरीकिणी नगरी में वज्रसेन राजा और श्रीकान्ता रानी से वज्रनाभि नाम का चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हुआ। श्रीमती का जीव केशव जो अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था वह भी वहां से च्युत होकर इसी नगरी में कुबेरदत्त वणिक की अनन्तमती पत्नी से धनदेव नाम का पुत्र हुआ। वज्रनाभि के पिता तीर्थंकर थे और वह स्वयं चक्रवर्ती था, चक्ररत्न से षट्खंड वसुधा को जीतकर चिरकाल तक साम्राज्य सुख का अनुभव किया। किसी समय पिता से दुर्लभ रत्नत्रय के स्वरूप को समझकर अपने पुत्र वज्रदन्त को राज्य समर्पण कर सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाइयों और धनदेव के साथ-साथ पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समवसरण में जिन दीक्षा धारण कर ली और किसी समय तीर्थंकर के ही निकट सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करते हुए तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। ध्यान की विशुद्धि से ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंच गये और वहां का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण कर नीचे उतरे, पुनरपि कदाचित् उपशम श्रेणी में चढ़ गये और वहां आयु समाप्त होते ही मरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये।

ऋषभदेव का गर्भावतार-

भगवान् के गर्भ में आने के छह महीने पहले इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने माता के आंगन में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की वर्षा की थी। किसी दिन रात्रि के पिछले प्रहर में रानी मरुदेवी ने ऐरावत हाथी, शुभ्र बैल, हाथियों द्वारा स्वर्ण घटों से अभिषिक्त लक्ष्मी, पुष्पमाला आदि सोलह स्वप्न देखे। प्रातः पतिदेव से स्वप्न का फल सुनकर अत्यन्त हर्षित हुईं। उस समय अवसर्पिणी काल के सुषमा दुःषमा नामक तृतीय काल में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष, आठ मास और एक पक्ष शेष रहने पर आषाढ़ कृष्ण द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वज्रनाभि अहमिन्द्र देवायु का अन्त होने पर सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हुए। उस समय इन्द्र ने आकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा से श्री, ही आदि देवियाँ और दिक्कुमारियाँ माता की सेवा करते हुए काव्यगोष्ठी, सैद्धान्तिक चर्चाओं से और गूढ़ प्रश्नों से माता का मन अनुरंजित करने लगीं।

ऋषभदेव का जन्म महोत्सव-

नव महीने व्यतीत होने पर माता मरुदेवी ने चैत्र कृष्ण नवमी के दिन सूर्योदय के समय मति-श्रुत-अवधि इन तीनों ज्ञान से सहित भगवान को जन्म दिया। सारे विश्व में हर्ष की लहर दौड़ गई। इन्द्रों के आसन कम्पित होने से, कल्पवृक्षों से पुष्प वृष्टि होने से एवं चतुर्निकाय देवों के यहां घंटा ध्वनि, शंखनाद आदि बाजों के बजने से भगवान का जन्म हुआ है ऐसा समझकर सौधर्म इन्द ने इन्द्राणी सहित ऐरावत हाथी पर चढ़कर नगर की तीन प्रदक्षिणा करके भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर १००८ कलशों से क्षीरसमुद्र के जल से भगवान का जन्माभिषेक किया। अनन्तर वस्त्राभरणों से अलंकृत करके 'ऋषभदेव' यह नाम रखा। इन्द्र अयोध्या में वापस आकर स्तुति, पूजा, तांडव नृत्य आदि करके स्वस्थान को चले गये।

ऋषभदेव का विवाहोत्सव-

भगवान के युवावस्था में प्रवेश करने पर महाराजा नाभिराज ने बड़े ही आदर से भगवान् की स्वीकृति प्राप्त कर इन्द्र की अनुमति से कच्छ, सुकच्छ राजाओं की बहन 'यशस्वती', 'सुनन्दा' के साथ श्री ऋषभदेव का विवाह सम्पन्न कर दिया।

भरत चक्रवर्ती आदि का जन्म-

यशस्वती देवी ने चैत्र कृष्ण नवमी के दिन भरत चक्रवर्ती को जन्म दिया तथा क्रमशः निन्यानवें पुत्र एवं ब्राह्मी कन्या को जन्म दिया। दूसरी सुनन्दा महादेवी ने कामदेव भगवान बाहुबली और सुन्दरी नाम की कन्या को जन्म दिया। इस प्रकार एक सौ तीन पुत्र, पुत्रियों सहित भगवान ऋषभदेव, देवों द्वारा लाये गये भोग पदार्थों का अनुभव करते हुए गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रहे थे।

भगवान द्वारा पुत्र पुत्रियों को विद्याध्ययन-

भगवान ऋषभदेव त्रिज्ञानधारी होने से स्वयं गुरु थे। किसी समय भगवान ने ब्राह्मी-सुन्दरी को गोद में लेकर उन्हें आशीर्वाद देकर चित्त में स्थित श्रुतदेवता को सुवर्णपट्ट पर स्थापित कर 'सिद्धं नमः' मंगलाचरणपूर्वक दाहिने हाथ से 'अ, आ' आदि वर्णमाला लिखकर ब्राह्मी कुमारी को लिपि लिखने का एवं बायें हाथ से सुन्दरी को अनुक्रम के द्वारा इकाई, दहाई आदि अंक विद्या को लिखने का उपदेश दिया था। इसी प्रकार भगवान ने अपने भरत, बाहुबली आदि सभी पुत्रों को सभी विद्याओं का अध्ययन कराया था।

असि, मषि आदि षट् क्रियाओं का उपदेश-

काल प्रभाव से कल्पवृक्षों के शक्तिहीन हो जाने पर एवं बिना बोये धान्य के भी विरल हो जाने पर व्याकुल हुई प्रजा नाभिराज के पास गई। अनन्तर नाभिराज की आज्ञा से प्रजा भगवान

ऋषभदेव के पास आकर रक्षा की प्रार्थना करने लगी।

प्रजा[1] के दीन वचन सुनकर भगवान ऋषभदेव अपने मन में सोचने लगे कि पूर्व-पश्चिम विदेह में जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है। उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहां जैसे असि, मषि आदि षट् कर्म हैं, क्षत्रिय आदि वर्ण व्यवस्था, ग्राम नगर आदि की रचना है वैसे ही यहां भी होना चाहिये। अनन्तर भगवान ने इन्द्र का स्मरण किया और स्मरण मात्र से इन्द्र ने आकर अयोध्यापुरी के बीच में जिनमन्दिर की रचना करके चारों दिशाओं में जिनमन्दिर बनाये। कौशल, अंग, बंग आदि देश, नगर बनाकर प्रजा को बसाकर प्रभु की आज्ञा से इन्द्र स्वर्ग को चला गया। भगवान ने प्रजा को असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों का उपदेश दिया। उस समय भगवान सरागी थे। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की और अनेकों पाप रहित आजीविका के उपाय बताये। इसीलिये भगवान युगादि पुरुष, आदिब्रह्मा, विश्वकर्मा, स्रष्टा, कृतयुग विधाता और प्रजापति आदि कहलाये। उस समय इन्द्र ने भगवान का साम्राज्यपद पर अभिषेक कर दिया।

भगवान का वैराग्य और दीक्षा महोत्सव—

किसी समय सभा में नीलांजना के नृत्य को देखते हुए बीच में उसकी आयु के समाप्त होने से भगवान को वैराग्य हो गया। भगवान ने भरत का राज्याभिषेक करते हुए इस पृथ्वी को 'भारत' इस नाम से सनाथ किया और बाहुबली को युवराज पद पर स्थापित किया। भगवान महाराज नाभिराज आदि को पूछकर इन्द्र द्वारा लाई गई 'सुदर्शना' नामक पालकी पर आरूढ़ होकर 'सिद्धार्थक' वन में पहुंचे और वटवृक्ष के नीचे बैठकर 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः मन्त्र का उच्चारण कर पंचमुष्टि केशलोंच करके सर्व परिग्रह रहित मुनि हो गये। उस स्थान की इन्द्रों ने पूजा की थी इसीलिये उसका 'प्रयाग' यह नाम प्रसिद्ध हो गया अथवा भगवान ने वहां प्रकृष्ट रूप से त्याग किया था इसीलिये भी उसका नाम प्रयाग हो गया था[2]। उसी समय भगवान ने छह महीने का योग ले लिया। भगवान के साथ आये हुए चार हजार राजाओं ने भी भक्तिवश नग्न मुद्रा धारण कर ली।

पाखंड मत की उत्पत्ति-

भगवान के साथ दीक्षित हुए राजा लोग दो-तीन दिन में ही क्षुधा तृषा आदि से पीड़ित होकर अपने हाथ से वन के फल आदि ग्रहण करने लगे। इस क्रिया को देख वन देवताओं ने कहा कि मूर्खों! यह दिगम्बर वेष सर्वश्रेष्ठ अरहंत, चक्रवर्ती आदि के द्वारा धारण करने योग्य है। तुम लोग

१. श्रुत्वेतितद्वचो दीनं करुणाप्रेरिताशयः। मनः प्रणिदधावेवं भगवानादिपुरुषः।।१४२।।
पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता। सद्यः प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः।।१४३।।

२. प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तिनः। (पद्मपुराण)

इस वेष में अनर्गल प्रवृत्ति मत करो। यह सुनकर उन लोगों ने भ्रष्ट हुये तपस्वियों के अनेकों रूप बना लिये, वल्कल, चीवर, जटा, दण्ड आदि धारण करके वे पारिव्राजक आदि बन गये। भगवान ऋषभदेव का पौत्र मरीचिकुमार इनमें अग्रणी गुरु परिव्राजक बन गया। ये कुमार आगे चलकर अंतिम तीर्थंकर महावीर हुए हैं।

भगवान का आहार ग्रहण-

जगद्गुरु भगवान छह महीने बाद आहार को निकले परन्तु चर्याविधि किसी को मालूम न होने से छह माह और व्यतीत हो गये एक वर्ष बाद भगवान कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में पहुंचे। भगवान को आते देख राजा श्रेयांस को पूर्व भव का स्मरण हो जाने से राजा सोमप्रभ के साथ श्रेयांसकुमार ने विधिवत् पड़गाहन आदि करके नवधाभक्ति से भगवान को इक्षुरस का आहार दिया। वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का था जो आज भी 'अक्षय तृतीया' के नाम से प्रसिद्ध है।

भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति-

हजार वर्ष तपश्चरण करते हुए भगवान को पूर्वतालपुर के उद्यान में—प्रयाग में वटवृक्ष के नीचे ही फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन केवलज्ञान प्रकट हो गया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने बारह योजन प्रमाण समवसरण की रचना की। समवसरण में बारह सभाओं में क्रम से १.सप्तऋद्धि समन्वित गणधर देव और मुनिजन २. कल्पवासी देवियाँ ३. आर्यिकायें और श्राविकायें ४. भवनवासी देवियाँ ५. व्यन्तर देवियाँ ६. ज्योतिष्क देवियाँ ७. भवनवासी देव ८. व्यन्तर देव ९. ज्योतिष्क देव १०. कल्पवासी देव ११. मनुष्य और १२. तिर्यंच बैठकर उपदेश सुनते थे। पुरिमताल नगर के राजा श्री ऋषभदेव भगवान के पुत्र ऋषभसेन प्रथम गणधर हुए। ब्राह्मी भी आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में गणिनी हो गयी। भगवान के समवसरण में ८४ गणधर, ८४००० मुनि, ३५०००० आर्यिकायें, ३००००० श्रावक, ५००००० श्राविकायें, असंख्यातों देव देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच उपदेश सुनते थे।

ऋषभदेव का निर्वाण-

जब भगवान की आयु चौदह दिन शेष रही तब कैलाश पर्वत पर जाकर योगों का निरोध कर माघ कृष्ण चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के समय भगवान पूर्व दिशा की ओर मुँह करके अनेक मुनियों के साथ सर्वकर्मों का नाश कर एक समय में सिद्ध लोक में जाकर विराजमान हो गये। उसी क्षण इन्द्रों ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया था, ऐसे ऋषभदेव जिनेन्द्र सदैव हमारी रक्षा करें।

भगवान के मोक्ष जाने के बाद तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष व्यतीत हो जाने पर चतुर्थ काल प्रवेश करता है।

प्रथम तीर्थंकर का तृतीय काल में ही जन्म लेकर मोक्ष भी चले जाना यह हुंडावसर्पिणी के दोष का प्रभाव है।

महापुराण में भगवान ऋषभदेव के 'दशावतार' नाम भी प्रसिद्ध हैं।

१. विद्याधर राजा महाबल २. ललितांग देव ३. राजा वज्रजंघ ४. भोगभूमिज आर्य ५.श्रीधर देव ६. राजा सुविधि ७. अच्युतेन्द्र ८. वज्रनाभि चक्रवर्ती ९. सर्वार्थसिद्धिके अहमिन्द्र १०. भगवान ऋषभदेव

इन भगवान को ऋषभदेव, वृषभदेव, आदिनाथ, पुरुदेव और आदिब्रह्मा भी कहते हैं।

२. तीर्थंकर अजितनाथ

इस जम्बूद्वीप के अतिशय प्रसिद्ध पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर 'वत्स' नाम का विशाल देश है। उसके सुसीमा नामक नगर में विमलवाहन राजा राज्य करते थे। किसी समय राज्य लक्ष्मी से निःस्पृह होकर राजा विमलवाहन ने अनेकों राजाओं के साथ गुरु के समीप में दीक्षा धारण कर ली। ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त कर दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन करके तीर्थंकर नाम कर्म का बंध कर लिया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके विजय नामक अनुत्तर विमान में तेंतीस सागर आयु के धारक अहमिंद्र हो गये।

पंचकल्याणक वैभव-

इन महाभाग के स्वर्ग से पृथ्वी तल पर अवतार लेने के छह माह पूर्व से ही प्रतिदिन जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्रीय राजा जितशत्रु के घर में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की वर्षा की थी। ज्येष्ठ मास की अमावस के दिन विजयसेना ने सोलह स्वप्नपूर्वक भगवान को गर्भ में धारण किया और माघ शुक्ल दशमी के दिन अजितनाथ तीर्थंकर को जन्म दिया। देवों ने ऋषभदेव के समान इनके भी गर्भ जन्मकल्याणक महोत्सव मनाये। अजितनाथ की आयु बहत्तर लाख पूर्व की, शरीर की ऊँचाई चार सौ पचास धनुष की और वर्ण सुवर्ण सदृश था। एक लाख पूर्व कम अपनी आयु के तीन भाग तथा एक पूर्वांग तक उन्होंने राज्य किया। किसी समय भगवान महल की छत पर सुख से विराजमान थे तब उल्कापात देखकर उन्हें वैराग्य हो गया, पुनः देवों द्वारा आनीत 'सुप्रभा' पालकी पर आरूढ़

होकर माघ शुक्ल नवमी के दिन सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के समीप एक हजार राजाओं के साथ बेला का नियम लेकर दीक्षित हो गये।

प्रथम पारणा में साकेत नगरी के ब्रह्म राजा ने पायस का आहार देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये।

बारह वर्ष की छद्मस्थ अवस्था के बाद पौष शुक्ल एकादशी के दिन सायं के समय रोहिणी नक्षत्र में सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ हो गये। इनके समवसरण में सिंहसेन आदि नब्बे गणधर थे। एक लाख मुनि, प्रकुब्जा आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक, पांच लाख श्राविकायें और असंख्यात देव देवियाँ थीं। भगवान बहुत काल तक आर्य खंड में विहार करके भव्यों को उपदेश देकर अंत में सम्मेदाचल पर पहुँचे और एक मास का योग निरोध कर चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन प्रातःकाल के समय सर्वकर्म से छूटकर सिद्ध पद प्राप्त किया।

३. तीर्थंकर संभवनाथ

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर एक 'कच्छ' नाम का देश है। उसके क्षेमपुर नगर में राजा विमलवाहन राज्य करता था। एक दिन उसने किसी कारण से विरक्त होकर स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों को पढ़कर उन्हीं भगवान के चरण सान्निध्य में सोलह कारण भावनाओं द्वारा तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने वाला तीर्थंकर नाम कर्म का बंध कर लिया। संन्यासविधि से मरण कर प्रथम ग्रैवेयक के सुदर्शन विमान में तेतीस सागर आयु वाला अहमिन्द्र देव हो गया।

पंचकल्याणक वैभव-

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की 'श्रावस्ती' नगरी के राजा दृढ़राज इक्ष्वाकुवंशीय, काश्यपगोत्रीय थे। उनकी रानी का नाम सुषेणा था। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के दिन, मृगशिरानक्षत्र में रानी ने पूर्वोक्त अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया और कार्तिक शुक्ला पौर्णमासी के दिन मृगशिरा नक्षत्र में तीन ज्ञानधारी पुत्र को जन्म दिया। इन्द्र ने पूर्वोक्त विधि से गर्भकल्याणक मनाया था, उस समय जन्मोत्सव करके 'संभवनाथ' यह नाम रखा। इनकी आयु साठ लाख पूर्व की तथा ऊँचाई चार सौ धनुष थी। भगवान को राज्य सुख का अनुभव करते हुए जब चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वांग व्यतीत हो चुके तब किसी दिन मेघों का विभ्रम देखने से उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया। तब भगवान देवों द्वारा लाई गई 'सिद्धार्थ' पालकी में बैठकर सहेतुक वन में शाल्मली वृक्ष के नीचे जाकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। भगवान की प्रथम पारणा का लाभ श्रावस्ती के राजा

सुरेन्द्रदत्त ने प्राप्त किया था। संभवनाथ भगवान चौदह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में मौन से तपश्चरण करते हुए दीक्षा वन में शाल्मली वृक्ष के नीचे कार्तिक कृष्ण चतुर्थी के दिन मृगशिर नक्षत्र में अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर केवली हो गये। इनके समवसरण में चारुषेण आदि एक सौ पाँच गणधर थे। दो लाख मुनि, धर्मार्या आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकायें, असंख्यात देव देवियाँ और संख्यात तिर्यंच थे। अन्त में जब आयु का एक माह अवशिष्ट रहा तब उन्होंने सम्मेदाचल पर जाकर एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमायोग धारण किया तथा चैत्रमास के शुक्लपक्ष की षष्ठी के दिन सूर्यास्त के समय मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त किया। देवों द्वारा किये गये पंचकल्याणक महोत्सव को पूर्ववत् समझना चाहिए।

४. तीर्थंकर अभिनन्दननाथ

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक मंगलावती देश है उसके रत्नसंचय नगर में महाबल राजा रहता था। किसी दिन विरक्त होकर विमलवाहन गुरु के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंग का पठन करके सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया, तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके अन्त में समाधिमरणपूर्वक विजय नाम के अनुत्तर विमान में तेतीस सागर आयु वाला अहमिन्द्र देव हो गया।

पंचकल्याणक वैभव-

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अयोध्या नगरी के स्वामी इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्रीय 'स्वयंवर' नाम के राजा थे उनकी 'सिद्धार्था' महारानी थी। माता ने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन उस अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया और माघ शुक्ला द्वादशी के दिन उत्तम पुत्र को उत्पन्न किया। सौधर्म इन्द्र ने देवों सहित मेरु पर्वत पर जन्म महोत्सव मनाया और भगवान का 'अभिनन्दननाथ' नाम प्रसिद्ध करके वापस माता-पिता को सौंप गये। उनकी आयु पचास लाख पूर्व और ऊँचाई साढ़े तीन सौ धनुष की थी। कुमार काल के साढ़े बारह लाख पूर्व बीत जाने पर राज्य पद को प्राप्त हुए, जब राज्य काल के साढ़े छत्तीस लाख पूर्व वर्ष व्यतीत हो गये और आठ पूर्वांग शेष रहे तब वे एक दिन आकाश में मेघों का महल नष्ट होता देखकर विरक्त हो गये और देवनिर्मित 'हस्तचित्रा' नामक पालकी पर आरूढ़ होकर माघ शुक्ला द्वादशी के दिन वेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ जिनदीक्षा धारण कर ली उसी समय उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया। पारणा के दिन साकेत नगरी के राजा इन्द्रदत्त ने भगवान को क्षीरान्न का आहार कराया और पंचाश्चर्य को प्राप्त किया।

छद्मस्थ अवस्था के अठारह वर्ष बीत जाने पर दीक्षा वन में असन वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए। पौष शुक्ल चतुर्दशी के दिन शाम के समय पुनर्वसु नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इनके समवसरण में वज्रनाभि आदि एक सौ तीन गणधर, तीन लाख मुनि, मेरुषेणा आदि तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकायें, असंख्यातों देव देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच बारह सभा में बैठकर धर्मोपदेश श्रवण करते थे।

भगवान ने अन्त में सम्मेदशिखर पर पहुँच कर एक महीने का प्रतिमायोग लेकर वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय अनेक मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्रों के द्वारा किये गये सारे वैभव यहाँ भी समझना चाहिए।

५. तीर्थंकर सुमतिनाथ

धातकी खंड द्वीप में मेरुपर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नाम का देश है। उसकी पुंडरीकिणी नगरी में रतिषेण नाम का राजा था। किसी दिन राजा ने विरक्त होकर अपना राज्य अतिरथ पुत्र को देकर अर्हन्नन्दन जिनेन्द्र के समीप दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और दर्शनविशुद्धि आदि कारणों से तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

पंचकल्याणक वैभव-

वैजयन्त विमान से च्युत होकर वह अहमिन्द्र इसी भरत क्षेत्र के अयोध्यापति मेघरथ की रानी मंगलावती के गर्भ में आ गया, वह दिन श्रावण शुक्ल द्वितीया का था। तदनन्तर चैत्र माह की शुक्ला एकादशी के दिन माता ने सुमतिनाथ तीर्थंकर को जन्म दिया। वैशाख सुदी नवमी के दिन प्रातःकाल सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। छद्मस्थ अवस्था में बीस वर्ष बिताकर सहेतुक वन में प्रियंगु वृक्ष के नीचे चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन केवलज्ञान को प्राप्त किया। इनकी सभा में एक सौ सोलह गणधर, तीन लाख बीस हजार मुनि, अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकायें थीं। अन्त में भगवान ने सम्मेदाचल पर पहुँच कर एक माह तक प्रतिमायोग से स्थित होकर चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में शाम के समय निर्वाण प्राप्त किया। सारे पंचकल्याणक महोत्सव आदि पूर्ववत् समझना ।

६. तीर्थंकर पद्मप्रभदेव

धातकीखंड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीतानदी के दक्षिण तट पर वत्सदेश है। उसके सुसीमा नगर के अधिपति अपराजित थे। किसी दिन भोगों से विरक्त होकर पिहितास्रव जिनेन्द्र के पास दीक्षा धारण कर ली, ग्यारह अंगों का अध्ययन कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। अन्त में ऊर्ध्व ग्रैवेयक के प्रीतिंकर विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

पंचकल्याणक वैभव-

इसी जम्बूद्वीप की कौशाम्बी नगरी में धरण महाराज की सुसीमा रानी ने माघ कृष्ण षष्ठी के दिन उक्त अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया। कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन पुत्र रत्न को उत्पन्न किया। इन्द्रों ने जन्मोत्सव के बाद उनका नाम 'पद्मप्रभ' रखा। किसी समय दरवाजे पर बंधे हुए हाथी की दशा सुनने से उन्हें अपने पूर्व भवों का ज्ञान हो गया जिससे भगवान को वैराग्य हो गया। वे देवों द्वारा लाई गई 'निवृत्ति' नाम की पालकी पर बैठ मनोहर नाम के वन में गये और कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन दीक्षा ले ली। छह मास छद्मस्थ अवस्था के व्यतीत हो जाने पर चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन मध्याह्न में केवलज्ञान प्रकट हो गया। बहुत काल तक भव्यों को धर्मोपदेश देकर फाल्गुन कृष्ण चतुर्थी के दिन सम्मेदाचल से मोक्ष को प्राप्त कर लिया।

७. तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ

धातकी खंड के पूर्व विदेह में सीतानदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नाम का देश है, उसके क्षेमपुर नगर में नन्दिषेण राजा राज्य करता था। कदाचित् भोगों से विरक्त होकर नन्दिषेण राजा ने अर्हन्नन्दन गुरु के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन कर दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। सन्यास से मरण कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र नामक मध्यम विमान में अहमिन्द्र हो गये।

पंचकल्याणक वैभव-

इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष सम्बन्धी काशीदेश में बनारस नाम की नगरी थी उसमें सुप्रतिष्ठित महाराज राज्य करते थे। उनकी पृथ्वीषेणा रानी के गर्भ में भगवान भाद्रपद शुक्ल षष्ठी के दिन आ गये। अनन्तर ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन उस अहमिन्द्र पुत्र को उत्पन्न किया। इन्द्र ने जन्मोत्सव के बाद सुपार्श्वनाथ नाम रखा। सभी तीर्थंकरों को अपनी आयु के प्रारम्भिक आठ वर्ष

के बाद देशसंयम हो जाता है। किसी समय भगवान ऋतु का परिवर्तन देखकर वैराग्य को प्राप्त हो गये। तत्क्षण देवों द्वारा लाई गई 'मनोगति' पालकी पर बैठकर सहेतुक वन में जाकर ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन वेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। सोमखेट नगर के महेन्द्रदत्त राजा ने भगवान को प्रथम आहार दान दिया। छद्मस्थ अवस्था के नौ वर्ष व्यतीत कर फाल्गुन कृष्ण षष्ठी के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया। आयु अन्त के एक माह पहले सम्मेद शिखर पर जाकर एक माह का प्रतिमायोग लेकर फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन सूर्योदय के समय मोक्ष को चले गये।

८. तीर्थंकर चन्द्रप्रभदेव

इस मध्य लोक के पुष्कर द्वीप में पूर्व मेरु के पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर एक 'सुगन्धि' नाम का देश है। उस देश के मध्य में श्रीपुर नाम का नगर है। उसमें इन्द्र के समान कांति का धारक श्रीषेण राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी धर्मपरायणा श्रीकांता नाम की रानी थी। दम्पत्ति पुत्र रहित थे अतः पुरोहित के उपदेश से पंच वर्ण के अमूल्य रत्नों से जिन प्रतिमायें बनवाईं, आठ प्रातिहार्य आदि से विभूषित इन प्रतिमाओं की विधिवत् प्रतिष्ठा करवाई, पुनः उनके गंधोदक से अपने आपको और रानी को पवित्र किया और आष्टाह्निकी महापूजा विधि की। कुछ दिन पश्चात् रानी ने उत्तम स्वप्न पूर्वक गर्भधारण किया पुनः नवमास के बाद पुत्र को जन्म दिया। बहुत विशेष उत्सव के साथ उसका नाम 'श्रीवर्मा' रखा गया।

किसी समय 'श्रीपद्म' जिनराज से धर्मोपदेश को ग्रहण कर राजा श्रीषेण पुत्र को राज्य देकर दीक्षित हो गया। एक समय राजा श्रीवर्मा भी आषाढ़ मास की पूर्णिमा के दिन जिनपूजा महोत्सव करके अपने परिवार जनों के साथ महल की छत पर बैठा था कि आकस्मिक उल्कापात देखकर विरक्त होकर श्रीप्रभ जिनेन्द्र के समीप दीक्षा लेकर श्रीप्रभ पर्वत पर सन्यास मरण करके प्रथम स्वर्ग में श्रीप्रभ विमान में श्रीधर नाम का देव हो गया।

धातकीखंड द्वीप की पूर्व दिशा में जो इष्वाकार पर्वत है उसके दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र में एक 'अलका' देश है। उसमें अयोध्या नगर है उस नगर के अजितंजय राजा की अजितसेना रानी ने किसी समय उत्तम स्वप्न देखे और नवमास बाद श्रीधर देव को जन्म दिया। उसका नाम 'अजितसेन' रखा गया। पुण्य के उदय से अजितसेन ने चक्रवर्ती के चक्ररत्न और वैभव को प्राप्त कर लिया। श्रद्धा आदि गुणों से सम्पन्न राजा ने किसी समय एक मास का उपवास करने वाले अरिन्दम साधु को आहार दान देकर महान् पुण्य बन्ध कर लिया था। दूसरे दिन वह राजा गुप्तप्रभ जिनेन्द्र की वन्दना के लिए मनोहर नामक उद्यान में गया। भगवान के मुख से अपने पूर्व भव सुनकर

विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। आयु के अन्त में नभस्तिलक पर्वत के अग्रभाग पर शरीर छोड़कर सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र हो गया।

पूर्व धातकीखंड द्वीप में सीता नदी के दाहिने तट पर एक मंगलावती नाम का देश है। इसके रत्नसंचय नगर में कनकप्रभ राजा राज्य करते थे उनकी कनकमाला रानी थी। वह अच्युतेन्द्र वहाँ से आकर इन दोनों के पद्मनाभ नाम का पुण्यशाली पुत्र हुआ। किसी समय पद्मनाभ राजा श्रीधर मुनि के समीप धर्मोपदेश श्रवण कर दीक्षित हो गये, सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर ग्यारह अंग में पारंगत होकर सिंहनिःक्रीड़ित आदि कठिन-कठिन तप करने लगे। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके आयु के अन्त में विधिवत् मरण करके वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हो गये। इनके श्रीवर्मा, श्रीधरदेव, अजितसेन चक्रवर्ती, अच्युतेन्द्र, पद्मनाभ, अहमिन्द्र, चन्द्रप्रभ भगवान ये सात भव प्रसिद्ध हैं।

पंचकल्याणक वैभव-

अनन्तर जब इनकी छह माह की आयु बाकी रह गई तब जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में चन्द्रपुर नगर के महासेन राजा की लक्ष्मणा महादेवी के यहाँ रत्नों की वर्षा होने लगी। चैत्र कृष्ण पंचमी के दिन गर्भकल्याणक महोत्सव हुआ एवं पौष कृष्ण एकादशी के दिन भगवान चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ। किसी समय दर्पण में अपना मुख देख रहे थे कि भोगों से विरक्त होकर देवों द्वारा लाई गई 'विमला' नाम की पालकी पर बैठकर सर्वर्तुक वन में गये। वहाँ पौष कृष्ण एकादशी के दिन हजार राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। पारणा के दिन नलिन नामक नगर में सोमदत्त के यहाँ आहार हुआ था। तीन माह का छद्मस्थ काल व्यतीत कर भगवान दीक्षा वन में नाग वृक्ष के नीचे फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन केवलज्ञान को प्राप्त हो गये। ये चन्द्रप्रभ भगवान समस्त आर्य देशों में विहार कर धर्म की प्रवृत्ति करते हुए सम्मेदशिखर पर पहुँचे। एक माह तक प्रतिमायोग से स्थित होकर फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में सायंकाल के समय शुक्लध्यान के द्वारा सर्व कर्म को नष्ट कर सिद्ध पद को प्राप्त हो गये।

९. तीर्थंकर पुष्पदंतनाथ

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व दिग्भाग में जो मेरु पर्वत है उसके पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नाम का एक देश है उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में महापद्म नाम का राजा राज्य करता था। किसी दिन भूतहित जिनराज की वंदना करके धर्मोपदेश सुनकर विरक्तमना राजा

दीक्षित हो गया। ग्यारहअंगरूपी समुद्र का पारगामी होकर सोलह कारण भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया और समाधिमरण के प्रभाव से प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हो गया।

पंचकल्याणक वैभव-

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की काकन्दी नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्रीय सुग्रीव नाम का क्षत्रिय राजा था, उनकी जयरामा नाम की पट्टरानी थी। उन्होंने फाल्गुन कृष्ण नवमी के दिन 'प्राणतेन्द्र' को गर्भ में धारण किया और मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन पुत्र को जन्म दिया। इन्द्र ने बालक का नाम 'पुष्पदन्त' रखा। पुष्पदन्तनाथ राज्य करते हुए एक दिन उल्कापात से विरक्ति को प्राप्त हुए तभी लौकान्तिक देवों से स्तुत्य भगवान इन्द्र के द्वारा लाई गई 'सूर्यप्रभा' पालकी में बैठकर मगसिर सुदी प्रतिपदा को दीक्षित हो गये। शैलपुर नगर के पुष्पमित्र राजा ने भगवान को प्रथम आहार दान दिया था। छद्मस्थ अवस्था के चार वर्ष के बाद नाग वृक्ष के नीचे विराजमान भगवान को कार्तिक शुक्ल द्वितीया के दिन केवलज्ञान प्राप्त हो गया। आर्यदेश में विहार कर धर्मोपदेश देते हुए भगवान अन्त में सम्मेदशिखर पहुँचकर भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन सर्व कर्म से मुक्ति को प्राप्त हो गये।

१०. तीर्थंकर शीतलनाथ

पुष्करवर द्वीप के पूर्वार्ध भाग में मेरु पर्वत के पूर्व विदेह में सीता नदी के दक्षिण तट पर 'वत्स' नाम का एक देश है, उसके सुसीमा नगर में पद्मगुल्म नाम का राजा रहता था। किसी समय बसन्त ऋतु की शोभा समाप्त होने के बाद राजा को वैराग्य हो गया और आनन्द नामक मुनिराज के पास दीक्षा लेकर विपाकसूत्र तक अंगों का अध्ययन किया, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके आरण नामक स्वर्ग में इन्द्र हो गया।

पंचकल्याणक वैभव-

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में मलयदेश के भद्रपुर नगर का स्वामी दृढ़रथ राज्य करता था, उसकी महारानी का नाम सुनन्दा था। रानी सुनन्दा ने चैत्रकृष्णा अष्टमी के दिन उस आरणेन्द्र को गर्भ में धारण किया एवं माघ शुक्ल द्वादशी के दिन भगवान शीतलनाथ को जन्म दिया। भगवान ने किसी समय वन विहार करते हुए क्षणभर में पाले के समूह (कुहरा) को नष्ट हुआ देखकर राज्यभार अपने पुत्र को सौंपकर देवों द्वारा लाई गई 'शुक्रप्रभा' नाम की पालकी पर बैठकर सहेतुक वन में पहुंचे और माघ कृष्ण द्वादशी के दिन स्वयं दीक्षित हो गये। अरिष्ट नगर के पुनर्वसु राजा ने उन्हें प्रथम खीर का आहार दिया था। अनन्तर छद्मस्थ अवस्था के तीन वर्ष बिताकर पौष कृष्ण

चतुर्दशी के दिन बेल वृक्ष के नीचे केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। अन्त में सम्मेदशिखर पहुँच कर एक माह का योग निरोध कर आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन कर्म शत्रुओं को नष्ट कर मुक्तपद को प्राप्त हो गये।

११. तीर्थंकर श्रेयांसनाथ

पुष्करार्ध द्वीप सम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्र के सुकच्छ देश में सीता नदी के उत्तर तट पर क्षेमपुर नाम का नगर है। उसमें नलिनप्रभ नाम का राजा राज्य करता था। एक समय सहस्राम्रवन में श्री अनन्त जिनेन्द्र पधारे। उनके धर्मोपदेश से विरक्तमना राजा बहुत से राजाओं के साथ दीक्षित हो गया। ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके समाधिमरणपूर्वक अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में अच्युत नाम का इन्द्र हुआ।

पंचकल्याणक वैभव-

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सिंहपुर नगर का स्वामी इक्ष्वाकुवंश से प्रसिद्ध 'विष्णु' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी वल्लभा का नाम सुनन्दा था। ज्येष्ठ कृष्ण षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र में, उस अच्युतेन्द्र ने माता के गर्भ में प्रवेश किया। सुनन्दा ने नौ मास बिताकर फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन तीन ज्ञानधारी भगवान को जन्म दिया। इन्द्र ने उसका नाम 'श्रेयांसनाथ' रखा। किसी समय बसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर भगवान को वैराग्य हो गया, तदनन्तर देवों द्वारा उठाई जाने योग्य 'विमलप्रभा' पालकी पर विराजमान होकर मनोहर नामक उद्यान में पहुँचे और फाल्गुन शुक्ल एकादशी के दिन हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दूसरे दिन सिद्धार्थ नगर के नन्द राजा ने भगवान को खीर का आहार दिया। छद्मस्थ अवस्था के दो वर्ष बीत जाने पर मनोहर नामक उद्यान में तुंबुरु वृक्ष के नीचे माघ कृष्णा अमावस्या के दिन सायंकाल के समय भगवान को केवलज्ञान प्रगट हो गया। धर्म का उपदेश देते हुए सम्मेदशिखर पर पहुँच कर एक माह तक योग का निरोध करके श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन भगवान श्रेयांसनाथ निःश्रेयसपद को प्राप्त हो गये।

१२. तीर्थंकर वासुपूज्यदेव

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का देश है। उसके अतिशय प्रसिद्ध रत्नपुर नगर में पद्मोत्तर नाम का राजा राज्य करता था। किसी दिन मनोहर नाम के पर्वत पर युगन्धर जिनेन्द्र विराजमान थे। पद्मोत्तर राजा वहाँ जाकर भक्ति, स्तोत्र, पूजा आदि करके अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करते हुए दीक्षित हो गया। ग्यारह अंगों का अध्ययन

करके दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं की सम्पत्ति से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लिया। जिससे महाशुक्र विमान में महाशुक्र नाम का इन्द्र हुआ।

पंचकल्याणक वैभव-

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में चम्पानगर में 'अंग' नाम का देश है जिसका राजा वसुपूज्य था और रानी जयावती थी। आषाढ़ कृष्ण षष्ठी के दिन रानी ने पूर्वोक्त इन्द्र को गर्भ में धारण किया और फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी के दिन पुण्यशाली पुत्र को उत्पन्न किया। इन्द्र ने जन्म उत्सव करके पुत्र का 'वासुपूज्य' नाम रखा। जब कुमार काल के अठारह लाख वर्ष बीत गये तब संसार से विरक्त होकर भगवान जगत के यथार्थस्वरूप का विचार करने लगे। तत्क्षण ही देवों का आगमन हो जाने पर देवों द्वारा निर्मित पालकी पर सवार होकर मनोहर नामक उद्यान में गये और फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी के दिन छह सौ छिहत्तर राजाओं के साथ स्वयं दीक्षित हो गये। छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीत जाने पर भगवान ने कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठकर माघ शुक्ल द्वितीया के दिन सायंकाल में केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। भगवान बहुत समय तक आर्यखंड में विहार कर चम्पानगरी में आकर एक वर्ष तक रहे। जब आयु में एक माह शेष रह गया तब योग निरोध कर रजतमालिका नामक नदी के किनारे की भूमि पर वर्तमान चम्पापुर नगरी में स्थित मन्दारगिरि के शिखर को सुशोभित करने वाले मनोहर उद्यान में पर्यंकासन से स्थित होकर भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन चौरानवे मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए।

१३. तीर्थंकर विमलनाथ

पश्चिम धातकीखंड द्वीप में मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती नाम का एक देश है। उसके महानगर में पद्मसेन राजा राज्य करता था। किसी एक दिन राजा पद्मसेन ने प्रीतिंकर वन में स्वर्गगुप्त केवली के समीप धर्म का स्वरूप जाना और यह भी जाना कि 'मैं तीसरे भव में तीर्थंकर होऊँगा।' उस समय उसने ऐसा उत्सव मनाया कि मानों मैं तीर्थंकर ही हो गया हूँ। अनन्तर सोलह कारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। अन्त में सहस्रार स्वर्ग में सहस्रार इन्द्र हो गया।

पंचकल्याणक वैभव-

इसी भरत क्षेत्र के कांपिल्य नगर में भगवान ऋषभदेव का वंशज कृतवर्मा नाम का राजा राज्य करता था। जयश्यामा उसकी प्रसिद्ध महादेवी थी। उसने ज्येष्ठ कृष्ण दशमी के दिन उस इन्द्र को गर्भ में धारण किया, माघ कृष्ण चतुर्थी के दिन जयश्यामा ने तीन लोक के गुरु भगवान को जन्म

दिया। इन्द्र ने उनका नाम 'विमलनाथ' रखा।

एक दिन भगवान ने हेमन्त ऋतु में बर्फ की शोभा को तत्क्षण में विलीन होते हुए देखा, जिससे उन्हें पूर्व जन्म का स्मरण हो गया। तत्क्षण ही भगवान विरक्त हो गये। तदनन्तर देवों द्वारा लाई गई 'देवदत्ता' पालकी पर बैठ कर सहेतुक वन में गये और स्वयं दीक्षित हो गये, उस दिन माघ शुक्ला चतुर्थी थी। जब तपश्चर्या करते हुए तीन वर्ष बीत गये तब भगवान दीक्षावन में जामुन वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ होकर घातिया कर्मों का नाश कर माघ शुक्ल षष्ठी के दिन केवली हो गये। अन्त में सम्मेदशिखर पर जाकर एक माह का योग निरोध कर आठ हजार छह सौ मुनियों के साथ आषाढ़ कृष्ण अष्टमी के दिन सिद्धि पद को प्राप्त हो गये।

१४. तीर्थंकर अनन्तनाथ

धातकी खंड द्वीप के पूर्व मेरु से उत्तर की ओर अरिष्टपुर नगर में पद्मरथ राजा राज्य करता था। किसी दिन उसने स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समीप जाकर वंदना भक्ति आदि करके धर्मोपदेश सुना और विरक्त हो दीक्षा ले ली। ग्यारह अंगरूपी सागर का पारगामी होकर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। अन्त में सल्लेखना से मरण कर अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्रपद प्राप्त किया।

पंचकल्याणक वैभव-

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण में भरतक्षेत्र की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी सिंहसेन महाराज राज्य करते थे, उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा के दिन वह अच्युतेन्द्र रानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। नव माह के बाद ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन पुत्र उत्पन्न हुआ। इन्द्र ने पुत्र का नाम 'अनन्तनाथ' रखा। भगवान को राज्य करते हुए पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये तब एक दिन उल्कापात देखकर भगवान विरक्त हो गये। भगवान देवों द्वारा निर्मित पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में गये तथा ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। छद्मस्थावस्था के दो वर्ष बीत जाने पर चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। अन्त में सम्मेदशिखर पर जाकर एक माह का योग निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन परम पद को प्राप्त कर लिया।

१५. तीर्थंकर धर्मनाथ

पूर्व धातकी खंड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में नदी के दक्षिण तट पर एक वत्स नाम का देश है, उसमें सुसीमा नाम का महानगर है। वहां पर राजा दशरथ राज्य करता था। एक बार वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन सब लोग उत्सव मना रहे थे। उसी समय चन्द्रग्रहण पड़ा देख कर राजा दशरथ का मन भोगों से विरक्त हो गया। उसने दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके अन्त में सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गया।

पंचकल्याणक वैभव-

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक रत्नपुर नाम का नगर था उसमें कुरुवंशीय काश्यपगोत्रीय महाविभव सम्पन्न भानु महाराज राज्य करते थे उनकी रानी का नाम सुप्रभा था। रानी सुप्रभा के गर्भ में वह अहमिन्द्र वैशाख शुक्ल त्रयोदशी के दिन अवतीर्ण हुए और माघ शुक्ल त्रयोदशी के दिन रानी ने भगवान को जन्म दिया। इन्द्र ने धर्मतीर्थ प्रवर्तक भगवान को 'धर्मनाथ' कहकर सम्बोधित किया था। किसी एक दिन उल्का के देखने से भगवान विरक्त हो गये और नागदत्ता नाम की पालकी में बैठकर शालवन के उद्यान में पहुँचे। माघ शुक्ल त्रयोदशी के दिन एक हजार राजाओं के साथ स्वयं दीक्षित हो गये। तदनन्तर छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीत जाने पर दीक्षावन में सप्तच्छद वृक्ष के नीचे पौष शुक्ल पूर्णिमा के दिन केवलज्ञान को प्राप्त हो गये। आर्यखण्ड में सर्वत्र धर्मोपदेश देकर भगवान अन्त में सम्मेद शिखर पधारे और एक माह का योग निरोध कर आठ सौ नौ मुनियों के साथ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त हुए।

१६. तीर्थंकर शान्तिनाथ

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में रत्नपुर नाम का नगर है। उस नगर का राजा श्रीषेण था, उसके सिंहनन्दिता और अनिन्दिता नाम की दो रानियाँ थीं। इन दोनों के इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन नाम के दो पुत्र थे। उसी नगर की सत्यभामा नाम की एक ब्राह्मण कन्या अपने पति को दासी पुत्र जानकर उसे त्याग कर राजा के यहाँ अपने धर्म की रक्षा करते हुए रहने लगी थी। किसी एक दिन राजा श्रीषेण ने अपने घर पर आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारण मुनियों को पड़गाहन कर स्वयं आहार दान दिया और पंचाश्चर्य प्राप्त किये तथा दश प्रकार के कल्पवृक्षों के भोग प्रदान करने वाली उत्तरकुरु भोगभूमि की आयु बाँध ली। दान देकर राजा की दोनों रानियों ने तथा दान की अनुमोदना

---

१. ये अहमिन्द ही शान्तिनाथ तीर्थंकर हुये हैं।

से सत्यभामा ने भी उसी उत्तम भोगभूमि की आयु बाँध ली सो ठीक ही है क्योंकि साधुओं के समागम से क्या नहीं होता?

किसी समय इन्द्रसेन की रानी श्रीकांता के साथ अनन्तमति नाम की एक साधारण स्त्री आई थी उसके साथ उपेन्द्रसेन का स्नेह समागम हो गया। इस निमित्त को लेकर बगीचे में दोनों भाईयों का युद्ध शुरू हो गया। राजा इस युद्ध को रोकने में असमर्थ रहे, साथ ही अत्यन्त प्रिय अपने इन पुत्रों के अन्याय को सहन करने में असमर्थ रहे अतः वे विषपुष्प सूंघ कर मर गये, वही विषपुष्प सूंघ कर दोनों रानियां और सत्यभामा भी प्राण रहित हो गईं तथा धातकी खंड के पूर्वार्ध भाग में जो उत्तर कुरु प्रदेश है उसमें राजा तथा सिंहनन्दिता दोनों दम्पत्ती हुए और अनिन्दिता नाम की रानी आर्य तथा सत्यभामा उसकी स्त्री हुई इस प्रकार वे सब वहाँ भोगभूमि को भोगते हुए सुख से रहने लगे।

राजा श्रीषेण का जीव भोगभूमि से चयकर सौधर्म स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीप्रभ नाम का देव हुआ। रानी सिंहनन्दिता का जीव उसी स्वर्ग के श्रीनिलय विमान में विद्युतप्रभा नाम की देवी हुई। सत्यभामा ब्राह्मणी और अनिन्दिता नाम की रानी के जीव क्रमशः विमलप्रभ विमान में शुक्लप्रभा नाम की देवी और विमलप्रभ नाम के देव हुए।

विजयार्ध के राजा ज्वलनजटी के पुत्र अर्ककीर्ति थे। उस अर्ककीर्ति की ज्योतिर्माला रानी से राजा श्रीषेण का जीव श्रीप्रभ विमान से स्वर्ग में आकर अमित तेज नाम का पुत्र हुआ है। सिंहनन्दिता का जीव अमित तेज की ज्योतिः प्रभा नाम की स्त्री हुई। देवी अनिन्दिता का जीव श्री विजय हुआ और सत्यभामा का जीव अमित तेज की बहन सुतारा हुआ है। यह अमित तेज विद्याधर समस्त पर्वों में उपवास करता था। दोनों श्रेणियों का अधिपति होने से वह सब विद्याधरों का राजा था। किसी एक दिन दमवर नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि को विधिपूर्वक आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये।

किसी समय अमित तेज और विजय दोनों ने मुनि के मुख से अपनी आयु एक मास मात्र है ऐसा जानकर अपने पुत्रों को राज्य दे दिया और बड़े आदर से अष्टाह्निका पूजा की तथा नन्दन नामक मुनि के समीप चन्दन वन में सब परिग्रह त्याग कर प्रायोपगमन सन्यास धारण कर लिया। अन्त में समाधि मरण कर शुद्ध बुद्धि का धारक अमिततेज तेरहवें स्वर्ग के नन्द्यावर्त विमान में रविचूल नाम का देव हुआ और श्रीविजय भी इसी स्वर्ग के स्वस्तिक विमान में मणिचूल नाम का देव हुआ।

वहाँ के भोगों का अनुभव करके रविचूल नाम का देव नन्द्यावर्त विमान से च्युत होकर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी के राजा स्तिमित सागर और उनकी रानी वसुन्धरा के अपराजित नाम का पुत्र हुआ। मणिचूल देव भी स्वस्तिक विमान से च्युत होकर उसी राजा की अनुमति नाम की रानी के अनन्तवीर्य नाम का लक्ष्मी सम्पन्न पुत्र हुआ।

ये दोनों भाई बलभद्र और अर्द्धचक्री नारायण पद के धारक हुए तथा दमितारि नाम के प्रतिनारायण को मार कर चक्ररत्न को प्राप्त कर बहुत काल तक राज्य के उत्तम सुखों का अनुभव करते रहे।

किसी समय अनन्तवीर्य के मरण से बलभद्र अपराजित, पहले तो बहुत दुःखी हुए, जब प्रबुद्ध हुए तब अनन्तसेन नामक पुत्र के लिए राज्य देकर यशोधर मुनिराज के समीप दीक्षा धारण कर ली। वे तीसरा अवधिज्ञान प्राप्त कर अत्यन्त शान्त हो गये और तीस दिन का सन्यास लेकर अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए।

इधर अनन्तवीर्य नारायण नरक गया था वहाँ पर जाकर धरणेन्द्र ने उसे समझा बुझाकर सम्यक्त्व ग्रहण कराया। उसके प्रभाव से वह अनन्तवीर्य नरक से निकलकर जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के राजा मेघवाहन की रानी मेघमालिनी से मेघनाद नाम का पुत्र हो गया। कालान्तर में दीक्षा लेकर आयु के अन्त में मरकर तपश्चरण के प्रभाव से अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हो गये और इन्द्र के साथ उत्तम प्रीति रखकर स्वर्ग सुख का अनुभव करने लगे।

अपराजित का जीव जो पहले इन्द्र हुआ था वह पहले च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्र के रत्नसंचय नामक नगर में राजा क्षेमंकर तीर्थंकर की कनकचित्रा नाम की रानी से मेघ की बिजली के समान पुण्यात्मा श्रीमान 'वज्रायुध' नाम का पुत्र हुआ। इस पुत्र की उत्पत्ति में आधान, प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोद, प्रियोद्भव आदि क्रियायें की गई थीं। जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्ल पक्ष को पाकर कान्ति तथा चन्द्रिका से सुशोभित होता है उसी प्रकार वह वज्रायुध भी तरुण अवस्था पाकर राज्यलक्ष्मी तथा लक्ष्मीमती नामक स्त्री से सुशोभित हो रहा था। उन वज्रायुध और लक्ष्मी के अनन्तवीर्य (प्रतीन्द्र) का जीव सहस्रायुध नाम का पुत्र हुआ। इस प्रकार राजा क्षेमंकर पुत्र-पौत्र आदि परिवार से परिवृत होकर राज्य करते थे।

किसी समय क्षेमंकर तीर्थंकर वज्रायुध का राज्याभिषेक करके लौकान्तिक देवों द्वारा स्तुति को प्राप्त होते हुए तपोवन को चले गये और तपश्चरण के प्रभाव से केवलज्ञान को प्राप्त कर बारह सभाओं को दिव्यध्वनि द्वारा सन्तुष्ट करने लगे।

इधर वज्रायुध के यहाँ चक्ररत्न की उत्पत्ति हो गई और वे चक्रवर्ती हो गये। दिग्विजय करके षट्खंड पृथ्वी को जीतकर सार्वभौम राज्य करने लगे।

किसी समय नाती के केवलज्ञान का उत्सव देखने से वज्रायुध चक्रवर्ती को भी आत्मज्ञान हो गया जिससे उन्होंने सहस्रायुध पुत्र को राज्य देकर क्षेमंकर तीर्थंकर के समीप पहुंचकर दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा के बाद ही उन्होंने सिद्धिगिरि पर्वत पर जाकर एक वर्ष के लिये प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके चरणों का आश्रय पाकर सर्पों की बहुत सी वामियाँ तैयार हो गईं सो ठीक ही

है क्योंकि महापुरुष, चरणों में लगे हुए शत्रुओं को भी बढ़ाते हैं। उनके शरीर के चारों तरफ सघन रूप से जमी हुई लतायें भी मानों उनके परिणामों की कोमलता को प्राप्त करने के लिए उन मुनिराज के पास जा पहुँची थीं।

इधर वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध को भी किसी कारण से वैराग्य हो गया उन्होंने अपना राज्य शतबली को दे दिया, सब प्रकार की इच्छाएं छोड़ दीं और पिहितास्रव नाम के मुनिराज के पास उत्तम संयम धारण कर लिया। जब पिता वज्रायुध मुनि का एक वर्ष का योग समाप्त हो गया तब वे सहस्रायुध मुनि उन्हीं के समीप जा पहुँचे। पिता पुत्र दोनों ने चिरकाल तक दुःसह तपस्या की। अन्त में वे वैभार पर्वत के अग्र भाग पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने शरीर से स्नेह रहित हो सन्यास मरण किया और ऊर्ध्व ग्रैवेयक के नीचे के सौमनस नाम के विमान में बड़ी ऋद्धि के धारक अहमिन्द्र हुए।

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नाम का देश है उसकी पुंडरीकिणी नगरी में राजा घनरथ राज्य करते थे, उनकी मनोहरा नाम की सुन्दर रानी थी। वज्रायुध का जीव ग्रैवेयक से च्युत होकर उन्हीं दोनों के मेघरथ नाम का पुत्र हुआ उसके जन्म के पहले गर्भाधान आदि क्रियायें हुई थीं। उन्हीं घनरथ राजा की मनोरमा नाम की दूसरी रानी से सहस्रायुध का जीव (अहमिन्द्र) दृढ़रथ नाम का पुत्र हो गया। राजा घनरथ ने तरुण होने पर मेघरथ का विवाह प्रियमित्रा और मनोरमा के साथ किया था और दृढ़रथ का विवाह सुमतिदेवी से किया था। इस प्रकार पुत्र-पौत्र आदि सुख के समस्त साधनों से युक्त राजा घनरथ सिंहासन पर बैठकर इन्द्र की लीला धारण कर रहे थे।

इसी बीच में प्रियमित्रा पुत्रवधु की सुषेणा नाम की दासी घनतुंड नामक मुर्गा लाकर दिखलाती हुई बोली कि यदि दूसरों के मुर्गे इसे जीत लें तो मैं एक हजार दीनार दूंगी। यह सुनकर छोटी पुत्रवधु की कांचना नाम की दासी एक वज्रतुंड नामक मुर्गा ले आई । दोनों का युद्ध होने लगा वह युद्ध दोनों मुर्गों के लिए दुःख का कारण था तथा देखने वालों के लिये भी हिंसानन्द आदि रौद्रध्यान कराने वाला था अतः धर्मात्माओं के देखने योग्य नहीं, ऐसा विचार कर राजा घनरथ बहुत से भव्यजीवों को शान्ति प्राप्त कराने के लिये अपने पुत्र मेघरथ से उन मुर्गों के पूर्व भव पूछने लगे।

अवधिज्ञान के धारक मेघरथ ने बतलाया कि जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में रत्नपुर नाम का नगर है। उसमें भद्र और धन्य नाम के दो सगे भाई थे। दोनों ही गाड़ी चलाने का काम करते थे एक दिन दोनों भाई नदी के किनारे बैल के निमित्त लड़ पड़े और मरकर नदी के किनारे श्वेतकर्ण-ताम्रकर्ण नाम के जंगली हाथी हुए। वहाँ भी पूर्व वैर के संस्कार से लड़कर मरे और दोनों भैंसे हुए, पुनः लड़कर मरे और मेढ़ा हुए, मेढ़े भी परस्पर में लड़े और ये दोनों मुर्गे हुए हैं। दो

विद्याधर हम लोगों से मिलने के लिये यहाँ आये थे और विद्या से इन मुर्गों में प्रविष्ट होकर इन्हें और अधिक शक्तिशाली बना रहे हैं। इस तरह मेघरथ से सब समाचार सुनकर उन विद्याधरों ने अपना स्वरूप प्रकट किया राजा घनरथ और कुमार मेघरथ की पूजा की तथा गोवर्धन मुनिराज के समीप जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

उन दोनों मुर्गों ने भी अपना पूर्वभव का सम्बन्ध जानकर परस्पर का बंधा हुआ वैर छोड़ दिया और अन्त में साहस के साथ सन्यास धारण कर लिया एवं भूतरमण तथा देवरमण नामक वन में ताम्रचूल और कनकचूल नाम के भूतजातीय व्यन्तर हुए।

उसी समय वे देव पुंडरीकिणी नगरी में आये और प्रेम से मेघरथ युवराज की पूजा कर अपने मुर्गे के भव को बतलाकर परमोपकारी मान कर कुछ प्रत्युपकार करने की प्रार्थना करने लगे। अन्त में उन दोनों देवों ने कहा कि आप मानुषोत्तर पर्वत के भीतर विद्यमान समस्त संसार को देख लीजिये। हम लोगों के द्वारा आपका कम-से-कम यही उपकार हो जावे। देवों के ऐसा कहने पर कुमार ने जब 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति प्रदान कर दी तब देवों ने कुमार को उनके आप्त जनों के साथ अनेक ऋद्धियों से युक्त विमान में बैठाया और आकाश मार्ग में ले जाकर यथाक्रम से चलते-चलते सुन्दर देश दिखलाये।

वे बतलाते जाते थे कि यह पहला भरत क्षेत्र है, यह हैमवत है इत्यादि रूप से सभी क्षेत्र, पर्वतों को दिखलाते हुए मानुषोत्तर पर्वत के भीतर के सभी अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करा दी। तदनन्तर बड़े उत्सव से युक्त नगर में वापस आ गये। आचार्य कहते हैं कि जो मनुष्य अपने उपकारी का प्रत्युपकार नहीं करता है वह गन्धरहित पुष्प के सदृश जीवित भी मृतकवत् है।

घनरथ महाराज तीर्थंकर थे। किसी दिन विरक्त होकर दीक्षित हो गये। इधर मेघरथ महाराज ने दमवर नामक ऋद्धिधारी मुनि को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। कभी नन्दीश्वर पर्व में महापूजा कर रात्रि में प्रतिमा योग से ध्यान करते थे और इन्द्रों द्वारा पूजा को प्राप्त होते थे। किसी दिन घनरथ तीर्थंकर के समवसरण में धर्मोपदेश को सुनकर संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हो गये और अपने पुत्र को राज्य देकर दृढ़रथ भाई और अन्य सात हजार राजाओं के साथ दीक्षित होकर ग्यारह अंग के पाठी हो गये और सोलह कारण भावनाओं से तीर्थंकर नाम कर्म का बंध कर लिया। अत्यन्त धीर वीर मेघरथ ने दृढ़रथ के साथ 'नभस्तिलक' पर्वत पर जाकर एक महीने का प्रायोपगमन संन्यास धारण कर शरीर छोड़कर अहमिन्द्र पद प्राप्त कर लिया।

शान्तिनाथ का जन्म-

कुरुजांगल देश की हस्तिनापुर राजधानी में काश्यप गोत्रीय राजा विश्वसेन राज्य करते थे।

उनकी रानी का नाम ऐरावती था। भगवान शान्तिनाथ के गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही इन्द्र की आज्ञा से हस्तिनापुर नगर में माता के आँगन में रत्नों की वर्षा होने लगी और श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ माता की सेवा में तत्पर हो गईं। भादों वदी सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में रानी ने गर्भ धारण किया। उस समय स्वर्ग से देवों ने आकर तीर्थंकर पद्मापुरुष का गर्भ महोत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की।

नव मास व्यतीत होने के बाद रानी ऐरादेवी ने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन याम्ययोग में प्रातःकाल के समय तीन लोक के नाथ ऐसे पुत्र रत्न को जन्म दिया। उसी समय चार प्रकार के देवों के यहाँ स्वयं ही बिना बजाये शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घंटानाद होने लगे। सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़कर इन्द्राणी और असंख्य देवगणों सहित नगर में आया तथा भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक मनाया। अभिषेक के अनन्तर भगवान को अनेकों वस्त्रालंकारों से विभूषित करके उनका 'शान्तिनाथ' यह नाम रखा, इस प्रकार भगवान को हस्तिनापुर वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर पुनरपि आनन्द नामक नाटक करके अपने-अपने स्थान पर चले गये।

भगवान की आयु एक लाख वर्ष की थी। शरीर चालीस धनुष ऊँचा था। सुवर्ण के समान कांति थी। ध्वजा, तोरण, शंख, चक्र आदि एक हजार आठ शुभ चिह्न उनके शरीर में थे। उन्हीं विश्वसेन की यशस्वती रानी के चक्रायुध नाम का एक पुत्र हुआ। देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए भगवान शान्तिनाथ अपने छोटे भाई चक्रायुध के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। भगवान की यौवन अवस्था आने पर उनके पिता ने कुल, रूप, अवस्था, शील, कान्ति आदि से विभूषित अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

इस तरह भगवान के जब कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो गये तब महाराज विश्वसेन ने उन्हें अपना राज्य समर्पण कर दिया। क्रम से उत्तमोत्तम भोगों का अनुभव करते हुए जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये तब उनकी आयुधशाला में चक्रवर्ती के वैभव को प्रगट करने वाला चक्ररत्न उत्पन्न हो गया। इस प्रकार चक्र को आदि लेकर चौदह रत्न और नवनिधियाँ प्रगट हो गईं। इन चौदह रत्नों में चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे। काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीग्रह में प्रकट हुए थे। पुरोहित, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे और कन्या, गज तथा अश्व विजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ भी पुण्य से प्रेरित हुए इन्द्रों के द्वारा नदी और सागर के समागम पर लाकर दी गई थीं।

चक्ररत्न के प्रकट होने के बाद भगवान ने विधिवत् दिग्विजय करके छह खण्ड को जीतकर इस भरतक्षेत्र में एकछत्र शासन किया था। जहाँ पर स्वयं भगवान शान्तिनाथ इस पृथ्वी पर प्रजा

का पालन करने वाले थे वहाँ के सुख और सौभाग्य का क्या वर्णन किया जा सकता है? इस प्रकार चक्रवर्ती के साम्राज्य में भगवान की छ्यानवे हजार रानियाँ थीं। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा करते थे और बत्तीस यक्ष हमेशा चामरों को ढुराया करते थे। चक्रवर्तियों के साढ़े तीन करोड़ बन्धु कुल होते हैं। अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, तीन करोड़ उत्तम वीर, अनेकों करोड़ विद्याधर और अठासी हजार म्लेच्छ राजा होते हैं। छ्यानवे करोड़ ग्राम, पचहत्तर हजार नगर, सोलह हजार खेट, चौबीस हजार कर्वट, चार हजार मटंब और अड़तालीस हजार पत्तन होते हैं। इत्यादि अनेकों वैभव होते हैं।

चौदह रत्नों के नाम-

अश्व, गज, गृहपति, स्थपति, सेनापति, स्त्री और पुरोहित ये सात जीवित रत्न हैं एवं छत्र, असि, दण्ड, चक्र, काकिणी, चिन्तामणि और चर्म ये सात रत्न निर्जीव होते हैं।

नवनिधियों के नाम-

काल, महाकाल, पाण्डु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न ये नौ निधियाँ हैं। ये क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्यों, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य, आभरण और रत्नसमूहों को दिया करती हैं।

दशांग भोग-

दिव्यपुर, रत्न, निधि, सैन्य, भोजन, भाजन, शय्या, आसन, वाहन और नाट्य ये चक्रवर्तियों के दशांग भोग होते हैं।

इस प्रकार संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियों से वेष्टित भगवान शान्तिनाथ चक्रवर्ती के साम्राज्य को प्राप्त कर दस प्रकार के भोगों का उपभोग करते हुए सुख से काल व्यतीत कर रहे थे। भगवान तीर्थंकर और चक्रवर्ती होने के साथ-साथ कामदेव पद के धारक भी थे।

भगवान का वैराग्य-

जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष साम्राज्य पद में व्यतीत हो गये तब एक समय अलंकार गृह के भीतर अलंकार धारण करते हुए उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई दिये। उसी समय उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्व जन्म का स्मरण भी हो गया तब भगवान संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप का विचार करते हुए विरक्त हो गये। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर अनेकों स्तुतियों से पूजा स्तुति की। अनन्तर सौधर्म आदि इन्द्र सभी देवगणों के साथ उपस्थित हो गये। भगवान ने नारायण नाम के पुत्र का राज्याभिषेक करके सभी कुटुम्बियों को यथायोग्य उपदेश दिया।

भगवान का दीक्षा ग्रहण-

अनन्तर इन्द्र ने भगवान का दीक्षाभिषेक करके 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की पालकी में विराजमान करके हस्तिनापुर नगर के सहस्राम्र वन में प्रवेश किया। उसी समय ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर भगवान ने पंचमुष्टि लोंच करके 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके ध्यान में स्थिर होते ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त कर लिया।

भगवान का आहार-

मन्दिरपुर के राजा सुमित्र ने भगवान शान्तिनाथ को खीर का आहार देकर पंचाश्चर्य वैभव को प्राप्त किया। इस प्रकार अनुक्रम से तपश्चरण करते हुए भगवान के सोलह वर्ष व्यतीत हो गये।

भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति-

भगवान शान्तिनाथ सहस्राम्र वन में नंद्यावर्त वृक्ष के नीचे पर्यंकासन से स्थित हो गये और पौष कृष्ण दशमी के दिन अन्तर्मुहूर्त में दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का नाश कर बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का सर्वथा अभाव करके तेरहवें गुणस्थान में पहुंचकर केवलज्ञान से विभूषित हो गये और उन्हें एक समय में ही सम्पूर्ण लोकालोक स्पष्ट दिखने लगा। पहले भगवान ने चक्ररत्न से छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर साम्राज्य पद प्राप्त किया था अब भगवान ने ध्यान चक्र से विश्व में एकछत्र राज्य करने वाले मोहराज को जीत कर केवलज्ञानरूपी साम्राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने दिव्य समवसरण की रचना कर दी।

समवसरण का संक्षिप्त वर्णन-

यह समवसरण पृथ्वी तल से पाँच हजार धनुष ऊँचा था, इस पृथ्वीतल से एक हाथ ऊँचाई से ही इसकी सीढ़िया प्रारंभ हो गयी थीं। ये सीढ़ियां एक-एक हाथ की थीं और बीस हजार प्रमाण थीं। यह समवसरण गोलाकार रहता है। इसमें सबसे पहले धूलिसाल के बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ हैं। मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं। फिर निर्मल जल से भरी परिखा है। फिर पुष्पवाटिका (लतावन) है। उसके आगे पहला कोट है। उसके आगे दोनों ओर से दो-दो नाट्य शालाएँ हैं। उसके आगे दूसरा अशोक, आम्र, चंपक और सप्तपर्ण का वन है। उसके आगे वेदिका है। तदनन्तर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं। फिर दूसरा कोट है। उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है। उसके बाद स्तूप, स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं। फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है। उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभायें हैं। तदनन्तर पीठिका है और

पीठिका के अग्रभाग पर कमलासन पर चार अंगुल अधर ही अर्हन्त देव विराजमान रहते हैं। भगवान पूर्व या उत्तर की ओर मुँह कर स्थित रहते हैं फिर भी अतिशय विशेष से चारों दिशाओं में ही भगवान का मुँह दिखता रहता है। समवसरण में चारों ओर प्रदक्षिणा के क्रम से पहले कोठे में गणधर और मुनिगण, दूसरे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे में आर्यिकाएं और श्राविकाएं, चौथे में ज्योतिषी देवांगनायें, पाँचवे में व्यन्तर देवांगनाएँ, छठे में भवनवासी देवांगनायें, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तर देव, नवमें में ज्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में चक्रवर्ती आदि मनुष्य और बारहवें में पशु बैठते हैं।

समवसरण में भव्य जीवों का प्रमाण-

भगवान के समवसरण में चक्रायुध को आदि लेकर छत्तीस गणधर थे। बासठ हजार मुनिगण और साठ हजार तीन सौ आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकायें, असंख्यातों देव देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। इस प्रकार बारह गणों के साथ-साथ भगवान ने बहुत काल तक धर्म का उपदेश दिया।

भगवान का मोक्ष गमन—

जब भगवान की आयु एक माह शेष रह गई तब वे सम्मेद शिखर पर आये और विहार बंद कर अचल योग से विराजमान हो गये। ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन भगवान चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा चारों अघातिया कर्मों का नाश कर एक समय में लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हो गये। वे नित्य, निरंजन, कृतकृत्य सिद्ध हो गये। उसी समय इन्द्रादि चार प्रकार के देवों ने आकर निर्वाण कल्याणक की पूजा की और अन्तिम संस्कार करके भस्म से अपने ललाट आदि उत्तमांगों को पवित्र कर स्व-स्वस्थान को चले गये।

ये शान्तिनाथ भगवान तीर्थंकर होने से बारहवें भव पूर्व राजा श्रीषेण थे और मुनि को आहार दान देने के प्रभाव से भोगभूमि में गये थे। फिर देव हुये, फिर विद्याधर हुए, फिर देव हुए, फिर बलभद्र हुए, फिर देव हुए, फिर वज्रायुध चक्रवर्ती हुए। उस भव में इन्होंने दीक्षा ली थी और एक वर्ष का योग धारण कर खड़े हो गये थे तब इनके शरीर पर लताएँ चढ़ गई थीं। सर्पों ने वामी बना ली थीं। पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे और ये वज्रायुध मुनिराज ध्यान में लीन रहे थे। अनन्तर अहमिन्द्र हुए, फिर मेघरथ राजा हुए, उस भव में इन्होंने दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण करते हुए सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया था और उसके प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया था। फिर वहाँ से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, फिर वहाँ से आकर जगत् को शांति प्रदान करने वाले सोलहवें तीर्थंकर और पंचम चक्रवर्ती ऐसे शान्तिनाथ भगवान हुए।

उत्तरपुराण में श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि इस संसार में अन्य लोगों की बात जाने दीजिए श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र को छोड़कर भगवान तीर्थंकरों में ऐसा कौन है जिसने पूर्व के बारह भवों में से प्रत्येक भव में बहुत भारी धर्मवृद्धि प्राप्त की हो?

इसलिये हे विद्वान लोगों! यदि तुम शान्ति चाहते हो तो सबसे उत्तम और सबका भला करने वाले श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र का निरन्तर ध्यान करते रहो। यही कारण है कि आज भी भव्य जीव शांति प्राप्ति के लिए श्री शान्तिनाथ की आराधना करते हैं।

पुष्पदन्त तीर्थंकर से लेकर सात तीर्थंकरों तक उनके तीर्थकाल में धर्म की व्युच्छित्ति हुई अतः धर्मनाथ तीर्थंकर के बाद पौनपल्य अन्तर पावपल्य काल तक इस भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड में धर्म का विच्छेद हो गया अर्थात् हुण्डावसर्पिणी के दोष से उस पावपल्य प्रमाण काल तक दीक्षा लेने वालों का अभाव हो जाने से धर्मरूपी सूर्य अस्त हो गया था उस समय शान्तिनाथ ने जन्म लिया था। तब से आज तक धर्म परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। इसलिए उत्तरपुराण में भी गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि—

'भोगभूमि आदि कारणों से नष्ट हुआ मोक्षमार्ग यद्यपि ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरों के द्वारा पुनः पुनः दिखलाया गया था तो भी उसे प्रसिद्ध अवधि के अन्त तक ले जाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सका, तदनन्तर जो शांतिनाथ भगवान ने मोक्षमार्ग प्रकट किया वही आज तक अखण्डरूप से बाधारहित चला आ रहा है इसलिए इस युग के आद्यगुरु श्री शांतिनाथ भगवान ही हैं क्योंकि उनके पहले जो १५ तीर्थंकरों ने मोक्षमार्ग चलाया था वह बीच-बीच में विनष्ट होता जाता था।'

जिनके शरीर की ऊँचाई एक सौ आठ हाथ है जो पंचम चक्रवर्ती हैं और कामदेव पद के धारी है, जिनके हरिण का चिह्न है, जो भादों वदी सप्तमी को माता के गर्भ में आये, ज्येष्ठ वदी चौदस को जन्म लिया और ज्येष्ठ वदी चौदस को ही दीक्षा ग्रहण किया, पौष शुक्ल दशमी के दिन केवलज्ञानी हुए पुनः ज्येष्ठ वदी चौदस को ही मुक्ति धाम को प्राप्त हुए ऐसे शांतिनाथ भगवान सदैव हम सबको शांति प्रदान करें।

१७. तीर्थंकर कुंथुनाथ

इसी जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक वत्स नाम का देश है। उसके सुसीमा नगर में सिंहरथ राजा राज्य करता था। वह राजा किसी समय उल्कापात देखकर विरक्त हो गया और विरक्त होकर संयम धारण कर लिया। उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया। अन्त में समाधिमरण करके

सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये।

पंचकल्याणक वैभव-

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में कौरववंशी काश्यपगोत्रीय महाराज सूरसेन राज्य करते थे। उनकी पट्टरानी का नाम श्रीकान्ता था। उस पतिव्रता देवी ने देवों के द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त की थी। श्रावण कृष्ण दशमी के दिन रानी ने सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया। उस समय इन्द्रों ने आकर भगवान का गर्भमहोत्सव मनाया और माता की पूजा करके स्वस्थान को चले गये। क्रम से नवमास व्यतीत हो जाने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन पुत्ररत्न को जन्म दिया। उसी समय इन्द्रादि देवगण आये और बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर के महामहिम जन्माभिषेक महोत्सव करके, अलंकारों से अलंकृत किया एवं बालक का नाम 'कुन्थुनाथ' रखा। वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर देवगण स्वस्थान को चले गये। पंचानवे हजार वर्ष की उनकी आयु थी। पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर था और तपाये हुए स्वर्ण के समान शरीर की कान्ति थी।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार काल के बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ और इतना ही काल बीत जाने पर उन्हें वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन चक्रवर्ती की लक्ष्मी मिली। इस प्रकार वे बाधारहित, निरन्तर दस प्रकार के भोगों का उपभोग करते थे। सारा वैभव शान्तिनाथ के समान ही था। किसी समय भगवान षडंग सेना से संयुक्त होकर क्रीड़ा से वहाँ वापस लौट रहे थे कि मार्ग में उन्होंने किसी मुनि को आतप योग से स्थित देखा। देखते ही मंत्री के प्रति तर्जनी अंगुली से इशारा किया कि देखो-देखो, मंत्री! मंत्री उन मुनिराज को देखकर नतमस्तक हो गया और पूछने लगा कि देव इस तरह कठिन तप कर ये क्या फल प्राप्त करेंगे? चक्रवर्ती कुंथुनाथ हँसकर कहने लगे कि ये मुनि या तो इसी भव से कर्म काटकर निर्वाण प्राप्त करेंगे या तप के प्रभाव से शाश्वत धाम प्राप्त करेंगे। जो परिग्रह का त्याग नहीं करते वे संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं इत्यादिरूप से भगवान ने मंत्री को मोक्ष तथा संसार के कारणों का निरूपण किया। चक्रवर्ती पद के साम्राज्य का उपभोग करते हुए भगवान के तेइस हजार सात सौ पचास वर्ष व्यतीत हो गये।

किसी समय भगवान को पूर्व भव का स्मरण हो जाने से आत्मज्ञान प्राप्त हो गया और वे भोगों से विरक्त हो गये उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर प्रभु का स्तवन पूजन किया। उन्होंने अपने पुत्र को राज्य भार देकर इन्द्रों द्वारा किया हुआ दीक्षा कल्याणक उत्सव प्राप्त किया। देवों द्वारा लाई गई विजया नाम की पालकी में सवार होकर भगवान सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ तेला का नियम

लेकर वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन कृतिका नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी समय प्रभु को मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन हस्तिनापुर के धर्ममित्र राजा ने भगवान को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। इसी प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए भगवान के सोलह वर्ष बीत गये। किसी दिन भगवान तेला का नियम लेकर तप करने के लिए वन में तिलक वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वहाँ चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने समवसरण की रचना की। भगवान के समवसरण में स्वयंभू को आदि लेकर पैंतीस गणधर, साठ हजार मुनिराज, साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव देवी और संख्यात तिर्यंच थे। भगवान दिव्यध्वनि के द्वारा चिरकाल धर्मोपदेश देते हुए विहार करते रहे। भगवान का केवली काल तेईस हजार सात सौ चौंतीस वर्ष का था।

जब भगवान की आयु एक मास की शेष रह गयी तब वे सम्मेद शिखर पर पहुँचे और प्रतिमायोग धारण कर लिया। वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग में समस्त कर्मों से रहित, नित्य, निरंजन, सिद्ध पद को प्राप्त हो गये। ये कुंथुनाथ भगवान तीर्थंकर होने के तीसरे भव पहले सिंहरथ राजा थे, मुनि अवस्था में सोलह कारण भावनाओं के प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया पुनः सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए वहाँ से आकर कुंथुनाथ नाम के १७वें तीर्थंकर, छठे चक्रवर्ती और कामदेव पद के धारक हुए हैं।

तिलोयपण्णत्ती और उत्तरपुराण के अनुसार इन भगवान के भी गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चारों कल्याणक हस्तिनापुर में ही हुए हैं। भगवान का गर्भकल्याणक श्रावण कृष्णा दशमी को हुआ। दीक्षा कल्याणक चैत्र शुक्ला तृतीया को हुआ तथा जन्म, केवलज्ञान और मोक्षकल्याणक वैशाख शुक्ला प्रतिपदा को हुआ है। भगवान के शरीर की ऊँचाई १४० हाथ प्रमाण थी, बकरे का चिह्न था, ऐसे सत्तरहवें तीर्थंकर कुंथुनाथ भगवान हम और आपको शाश्वत सुख प्रदान करें।

१८. तीर्थंकर अरनाथ

इस जम्बूद्वीप में सीता नदी के उत्तर तट पर एक कच्छ नाम का देश है। उसके क्षेमपुर नगर में धनपति राजा राज्य करता था। किसी दिन उसने अर्हन्नन्दन तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से धर्मामृत का पान किया, जिससे विरक्त होकर शीघ्र ही जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। ग्यारह अंगरूपी महासागर का पारगामी होकर सोलह कारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया। अन्त में प्रायोपगमन संन्यास के द्वारा मरण करके जयंतिविमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

पंचकल्याणक वैभव-

इसी भरत क्षेत्र के कुरुजांगल देश में हस्तिनापुर नगरी है। यहाँ सोमवंश में उत्पन्न हुए काश्यप गोत्रीय राजा सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी मित्रसेना नाम की रानी थी। रानी ने रत्नवृष्टि आदि देव सत्कार पाकर फाल्गुन कृष्ण तृतीया के दिन गर्भ में अहमिन्द्र के जीव को धारण किया। उसी समय देवों ने आकर गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाया। रानी मित्रसेना ने नव मास के बाद मगसिर शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में पुत्र रत्न को जन्म दिया। देवों ने बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव करके भगवान का 'अरनाथ' नाम रखा। भगवान की आयु ८४ हजार वर्ष की थी। तीस धनुष ऊँचा अर्थात् १२० हाथ ऊँचा शरीर था। सुवर्ण के समान शरीर की कांति थी।

भगवान के कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें मंडलेश्वर के योग्य राज्य पद प्राप्त हुआ, इसके बाद इतना ही काल बीत जाने पर चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ। इस तरह भोग भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया तब शरद ऋतु के मेघों का अकस्मात् विलय होना देखकर भगवान को वैराग्य हो गया। लौकांतिक देवों के द्वारा स्तुत्य भगवान अपने अरविन्द कुमार को राज्य देकर देवों द्वारा उठाई हुई 'वैजयंती' नाम की पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में पहुँचे। तेला का नियम कर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में भगवान ने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली पारणा के दिन चक्रपुर नगर के अपराजित राजा ने भगवान को आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किया।

जब भगवान के छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बीत गये तब वे दीक्षावन में कार्तिक शुक्ल दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में आम्रवन के नीचे तेला का नियम लेकर विराजमान हुए और घातिया कर्मों का नाश कर केवली बन गये। देवों ने आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान की पूजा की। भगवान के समवसरण में तीस गणधर, पचास हजार मुनि, साठ हजार आर्यिकायें, एक लाख साठ हजार श्रावक, तीन लाख श्राविकायें, असंख्यात देव देवियां और संख्यातों तिर्यंच थे। इस तरह बारह सभाओं से घिरे हुए भगवान अरनाथ ने बीस हजार नौ सौ चौरासी वर्ष तक केवली अवस्था में व्यतीत किये।

जब एक माह की आयु शेष रही तब भगवान सम्मेदशिखर पर जाकर प्रतिमायोग से स्थित हो गये। चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्व भाग में सम्पूर्ण कर्मों से रहित अशरीरी होकर सिद्धपद को प्राप्त हो गये। ये अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ सातवें चक्रवर्ती थे। तीर्थंकर से पूर्व तीसरे भव में ये भगवान धनपति नाम के राजा थे, दीक्षा लेकर सोलह कारण

भावनाओं के बल से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया था पुनः जयन्त विमान में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से आकर अरनाथ तीर्थंकर हुए हैं। इनका मत्स्य का चिह्न है।

इन अरनाथ भगवान के भी गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान ये चारों कल्याणक हस्तिनापुर नगर में ही हुए हैं। इनको मुक्त हुए लगभग सौ अरब, पैंसठ लाख, छ्यासी हजार पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। ये अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ भगवान सदा हम सबकी रक्षा करें।

१९. तीर्थंकर मल्लिनाथ

इसी जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से पूर्व की ओर कच्छकावती नाम के देश में एक वीतशोक नाम का नगर है। उसमें 'वैश्रवण' नाम का उच्चकुलीन राजा राज्य करता था। किसी समय वह राजा वर्षा के प्रारम्भ में बढ़ती हुई वनावली को देखने के लिये नगर के बाहर गया। वहाँ किसी एक महान राजा के सदृश, अपनी शाखाओं और उपशाखाओं को फैलाकर तथा पृथ्वी को व्याप्त कर स्थित एक विशाल वटवृक्ष को देखा। उसको देख राजा ने समीपवर्ती लोगों से कहा कि देखो-देखो! इसका विस्तार तो देखो! यह ऊँचाई और बद्धमूलता को धारण करता हुआ मानो मेरा ही अनुकरण कर रहा है। इस प्रकार आश्चर्य के साथ बातचीत करता हुआ वह राजा दूसरे वन में चला गया। अनन्तर घूमकर वापस उसी मार्ग से आते हुए देखा कि वही वटवृक्ष वज्र गिरने के कारण तत्क्षण ही जड़ तक भस्म हो गया है। उसे देखकर यह विचार करने लगा कि इस जगत में मजबूत जड़ किसकी है? विस्तार किसका है? और ऊँचाई किसकी है? इत्यादि वट वृक्ष की स्थिति का विचार करते हुए विरक्त हुआ वह राजा नगर में वापस आकर अपने पुत्र को राज्य देकर श्रीनाग पर्वत पर विराजमान श्रीनाग मुनिराज के पास जाकर धर्मामृत का पान करके जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

अनेक प्रकार से तपश्चरण करते हुए ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। सोलह कारण भावनाओं के चिन्तवन से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। अन्त में संन्यास विधि से प्राण विसर्जन करके अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त कर लिया। वहाँ पर एक हाथ का ऊँचा शरीर था और तेंतीस सागर प्रमाण आयु थी।

पंचकल्याणक वैभव—

इसी भरत क्षेत्र के बंगदेश में मिथिला नगरी के स्वामी इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्रीय 'कुम्भ' नाम के महाराज धर्मनीतिपूर्वक राज्य संचालन कर रहे थे। उनकी रानी का नाम 'प्रजावती' था।

अहमिन्द्र की आयु छह मास की अवशिष्ट रहने पर ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने माता के

आँगन मे रत्न वर्षा प्रारम्भ कर दी थी।

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन सोलहस्वप्नविलोकनपूर्वक रानी प्रजावती ने अहमिन्द्र देव को गर्भ में धारण किया और मगशिर सुदी एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में पूर्ण चन्द्र सदृश पुत्र रत्न को जन्म दिया। सौधर्म इन्द्र ने समस्त देवों सहित महावैभव के साथ सुमेरु पर्वत पर तीर्थंकर बालक का जन्माभिषेक किया। अनन्तर मल्लिनाथ नामकरण करके मिथिला नगरी में जाकर महामहोत्सव पूर्वक माता-पिता को सौंप दिया।

अरहनाथ तीर्थंकर के बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जाने पर भगवान मल्लिनाथ हुए हैं। उनकी आयु भी इसी में शामिल थी। पचपन हजार वर्ष की उनकी आयु थी एवं पच्चीस धनुष ऊँचा सुवर्ण वर्णमय शरीर था। कुमार काल के सौ वर्ष बीत जाने पर एक दिन भगवान मल्लिनाथ ने देखा कि समस्त नगर हमारे विवाह के लिए सजाया गया है। सर्वत्र मनोहर वाद्य बज रहे हैं। उसे देखते ही उन्हें पूर्व जन्म के सुन्दर अपराजित विमान का स्मरण आ गया। वे विचार करने लगे कि कहाँ तो वीतरागता से उत्पन्न हुआ प्रेम और उससे प्रकट हुई महिमा और कहाँ सज्जनों को लज्जा उत्पन्न करने वाला यह विवाह? उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर भगवान की स्तुति की। अनन्तर सौधर्म आदि इन्द्रों ने देवों सहित आकर 'जयन्त' नामक पालकी पर भगवान को विराजमान किया और श्वेतवन के उद्यान में पहुँचे।

वहाँ पर भगवान ने मगसिर सुदी एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सायंकाल के समय सिद्ध साक्षी पूर्वक बेला का नियम लेकर तीन सौ राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया एवं अन्तर्मुहूर्त में ही मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त कर लिया। तीसरे दिन पारणा के लिये आये तब मिथिला नगरी के नंदिषेण राजा ने आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त कर लिये।

छद्मस्थ अवस्था के छह दिन व्यतीत हो जाने पर भगवान ने बेला का नियम लेकर उसी श्वेतवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यान लगाया। पौष वदी दूज के दिन अश्विनी नक्षत्र में प्रातःकाल चार घातिया कर्मों का नाश करके भगवान केवलज्ञानी हो गये। उनके समवसरण में विशाख को आदि लेकर अट्ठाईस गणधर थे। चालीस हजार मुनिराज, बन्धुसेना आदि पचपन हजार आर्यिकायें, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें थीं। भगवान ने बहुत काल तक आर्यखंड में विहार किया।

एक मास की आयु के अवशेष रह जाने पर वे भगवान सम्मेदाचल पर पहुंचे। वहां पाँच हजार मुनियों के साथ योग निरोध किया और फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन भरणी नक्षत्र में संध्या के समय लोक के अग्रभाग पर विराजमान हो गये। उसी समय देवों ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया।

२०. तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ

इसी भरत क्षेत्र के अंग देश के चम्पापुर नगर में हरिवर्मा नाम के राजा थे। किसी एक दिन वहाँ के उद्यान में 'अनन्तवीर्य' नाम के निर्ग्रन्थ मुनिराज पधारे। उनकी वन्दना करके राजा ने धर्मोपदेश श्रवण किया और तत्क्षण विरक्त होकर अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर आपने अनेक राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। उन्होंने गुरु के समागम से ग्यारह अंगों का अध्ध्यन किया और दर्शन-विशुद्धि आदि भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर गोत्र का बंध किया। चिरकाल तक तपश्चरण करते हुए अन्त में समाधिपूर्वक मरण करके प्राणत स्वर्ग में इन्द्र हो गये। वहाँ बीस सागर की आयु थी और उनका साढ़े तीन हाथ का ऊँचा शरीर था।

पंचकल्याणक वैभव—

इसी भरतक्षेत्र के मगध देश में राजगृह नाम का नगर है। उसमें हरिवंशशिरोमणि, काश्यपगोत्रीय, सुमित्र महाराज राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम सोमा था। श्रावण कृष्णा द्वितीया के दिन श्रवण नक्षत्र में रानी ने उन प्राणत इन्द्र को गर्भ में धारण किया अनुक्रम से नव मास के बाद रानी ने पुत्र रत्न को जन्म दिया। देवों ने भगवान का जन्मोत्सव मनाकर 'मुनिसुव्रत' नाम प्रकट किया। मल्लिनाथ के बाद चौवन लाख वर्षों के बीच जाने पर इनका जन्म हुआ। इनकी आयु तीस हजार वर्ष एवं ऊँचाई बीस धनुष की थी।

कुमार काल के सात हजार पाँच सौ वर्ष बीत जाने पर भगवान का राज्याभिषेक हुआ। राज्य अवस्था में प्रभु के पन्द्रह हजार वर्ष बीत जाने पर किसी दिन गर्जती हुई घन-घटा के समय उनके यागहस्ती ने वन का स्मरण कर खाना-पीना बन्द कर दिया। उस समय महाराज मुनिसुव्रतनाथ अपने अवधिज्ञान से उस हाथी के मन की सारी बातें जान गये। वे कुतूहल से भरे मनुष्यों के सामने हाथी का पूर्वभव कहने लगे कि यह हाथी पूर्वभव में तालपुर नगर का नरपति राजा था। अपने उच्च कुल के अभिमान सहित इसने अशुभलेश्याओं से सहित, मिथ्याज्ञानी, पात्र-अपात्र की परीक्षा से रहित किमिच्छिक दान दिया था, उसके फलस्वरूप यह हाथी हुआ है। इस समय भी यह अपने अज्ञान आदि का स्मरण न करता हुआ वन का स्मरण कर रहा है। इतना सुनते ही उस हाथी को अपने पूर्व भव का स्मरण हो गया और उसने प्रभु से संयमासंयम ग्रहण कर लिया।

इसी निमित्त से प्रभु को वैराग्य हो गया और लौकांतिक देवों द्वारा पूजा को प्राप्त भगवान अपराजित नामक पालकी पर बैठकर नील वन में पहुंचे। वहाँ वेला के उपवास का नियम लेकर वैशाख कृष्ण दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित

हो गये। उनकी प्रथम पारणा का लाभ राजगृह नगर के राजा वृषभसेन को प्राप्त हुआ था।

प्रभु के छद्मस्थ अवस्था के ग्यारह मास व्यतीत हो गये तब वे उसी नीलवन में पहुँचे और बेला के नियम से सहित ध्यानारूढ़ हो गये। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में शाम के समय प्रभु को केवलज्ञान प्रकट हो गया। भगवान के समवसरण में मल्लि को आदि लेकर अठारह गणधर थे, तीस हजार मुनिराज, पुष्पदन्ता को आदि लेकर पचास हजार आर्यिकायें, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें थीं। भगवान एक मास की आयु अवशेष रहने पर विहार बन्द करके सम्मेद शिखर पर जा पहुँचे एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग में लीन हो गये। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन रात्रि के पिछले भाग में शरीर से रहित अशरीरी सिद्ध हो गये। इन मुनिसुव्रत भगवान को मेरा नमस्कार होवे।

२१. तीर्थंकर नमिनाथ

इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र के वत्स देश में एक कौशाम्बी नाम की नगरी है। उसमें इक्ष्वाकुवंशी 'पार्थिव' नाम के राजा रहते थे और उनकी सुंदरी नाम की रानी थी। इन दोनों के सिद्धार्थ नाम का श्रेष्ठ पुत्र था। राजा ने किसी समय सिद्धार्थ पुत्र को राज्यभार देकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और आयु के अन्त में समाधिमरण पूर्वक स्वर्गस्थ हो गया। पिता के समाधिमरण का समाचार सुनकर राजा सिद्धार्थ विरक्त हो गये। मनोहर नाम के उद्यान में जाकर महाबल नामक केवली भगवान से धर्म का स्वरूप सुनकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया और शान्त संयमी मुनि हो गये। उन्होंने ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त करके सोलहकारण भावनाओं के बल से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। तपश्चरणपूर्वक कर्म की निर्जरा करते हुए अन्त में समाधिमरण करके अपराजित नाम के श्रेष्ठ अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हो गये। वहाँ तेतीस सागर की आयु थी और एक हाथ ऊँचा शरीर था।

पंचकल्याणक वैभव—

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत बंग देश में मिथिलानगरी है। वहाँ वर ऋषभदेव के वंशज काश्यपगोत्रीय विजय महाराज की रानी का नाम 'वप्पिला' था। आश्विन कृष्ण द्वितीया के दिन अश्विनी नक्षत्र में वप्पिला महादेवी के गर्भ में उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव आ गया। आषाढ़ कृष्ण दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र में रानी ने तीन ज्ञानधारी पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रों ने जन्मोत्सव के बाद पुत्र का नाम 'नमिनाथ' रखा। मुनिसुव्रतनाथ के बाद साठ लाख वर्ष के बीत जाने पर ये तीर्थंकर हुए हैं। प्रभु की आयु दश हजार वर्ष की थी और शरीर पन्द्रह धनुष ऊँचा था।

जब कुमार काल के ढाई हजार वर्ष बीत गये तब उनका राज्याभिषेक हुआ। राज्य करते

हुए पाँच हजार वर्ष के बीत जाने पर एक दिन प्रभु वर्षा ऋतु से बादलों के व्याप्त होने पर उत्तम हाथी पर बैठकर वन विहार को गये थे। उसी समय आकाश मार्ग से दो देवों ने आकर विनयपूर्वक नमस्कार करके कहना शुरू किया कि हे देव! इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में वत्सकावती देश है उसकी सुसीमा नगरी में अपराजित नाम के तीर्थंकर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। उस केवलज्ञान की पूजा महोत्सव में हम लोग आये थे। उनकी सभा में प्रश्न हुआ कि क्या इस समय भरतक्षेत्र में कोई तीर्थंकर हैं ? सर्वदर्शी भगवान ने कहा कि हाँ! बंग देश की मिथिला नगरी के राजा नमिनाथ तीर्थंकर होने वाले हैं। इस समय वे देवों द्वारा लाये गये भोगोपभोग का अनुभव करते हुए गृहस्थावस्था में विद्यमान हैं।

उन देवों की बात सुनते ही प्रभु नगर में वापस आ गये। विदेह क्षेत्रस्थ अपराजित तीर्थंकर तथा उनके साथ अपने पूर्व भव के सम्बन्ध का स्मरण कर भगवान संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हो गये। तत्क्षण ही लौकांतिक देवों ने उन महामना की पूजा की। देवों द्वारा आनीत 'उत्तरकुरू' नामक पालकी पर आरूढ़ होकर 'चैत्रवन' नामक उद्यान में पहुंचे। वहाँ वेला का नियम लेकर आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सायं समय एक हजार राजाओं के साथ 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' मंत्र का उच्चारण करते हुए दीक्षित हो गये।

वीरपुर नगर के राजा दत्त ने प्रभु की प्रथम पारणा का लाभ लिया था। छद्मस्थ अवस्था के नव वर्ष बीत जाने पर वे प्रभु एक दीक्षावन में पहुंचकर वेला के नियमपूर्वक वकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये। मगसिर शुक्ला एकादशी के दिन सायंकाल में लोकालोक प्रकाशी केवलज्ञान को प्राप्त हो गये।

उनके समवसरण में सुप्रभार्य आदि सत्रह गणधर थे। बीस हजार मुनि, मंगिनी आदि पैंतालीस हजार आर्यिकायें, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकायें थीं। विहार करते हुए एक मास की आयु अवशेष रहने पर भगवान नमिनाथ सम्मेद शिखर पर पहुँच गये। वहाँ एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग में लीन हुए। प्रभु को वैशाख कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम अश्विनी नक्षत्र में सिद्धपद प्राप्त हो गया। देवों ने आकर निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया। ऐसे वे नमिनाथ तीर्थंकर सदा हमारी रक्षा करें।

२२. तीर्थंकर नेमिनाथ

पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम सुमेरू की पश्चिम दिशा में जो महानदी (सीतोदा नदी) है उसके उत्तर तट पर एक गंधिल नाम का महादेश है। उसके विजयार्ध पर्वत की उत्तरश्रेणी में सूर्यनगर का स्वामी सूर्यप्रभ राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम धारिणी था दोनों के चिन्तागति, मनोगति और चपलगति नाम के तीन पुत्र हुए। उसी विजयार्ध की उत्तर श्रेणी के अरिन्दमन नगर में राजा अरिंजय की अजितसेना रानी से प्रीतिमती नाम की पुत्री हुई। उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि जो विद्या से मेरु की प्रदक्षिणा में मुझे जीत लेगा मैं उसी से विवाह करूँगी। उसने अपनी विद्या से चिन्तागति को छोड़कर समस्त विद्याधर कुमारों को मेरु पर्वत की तीन प्रदक्षिणा में जीत लिया।

तब चिन्तागति उसे अपने वेग से जीतकर कहने लगा कि तू रत्नों की माला से मेरे छोटे भाई को स्वीकार कर। प्रीतिमती बोली, जिसने मुझे जीता है उसके सिवाय मैं दूसरे का वरण नहीं करूँगी। चिन्तागति ने कहा, चूँकि तूने पहले उन्हें प्राप्त करने की इच्छा से ही मेरे छोटे भाई के साथ गति युद्ध किया था अतः तू मेरे लिये त्याज्य है। चिन्तागति के यह वचन सुनते ही वह विरक्त हो गई और विवृत्ता नाम की आर्यिका के पास जाकर दीक्षित हो गई। यह देख वहाँ बहुत से लोगों ने दीक्षा धारण कर ली। कन्या का यह साहस देखकर चिन्तागति ने भी अपने दोनों भाइयों के साथ दमवर नामक गुरु के पास दीक्षा ले ली। बहुत काल तक तपश्चरण करते हुये वे तीनों समाधिपूर्वक मरकर चौथे स्वर्ग में देव हो गये।

मनोगति और चपलगति नाम के दोनों छोटे भाई के जीव स्वर्ग से च्युत हुए। जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्र के पुष्कला देश में जो विजयार्ध पर्वत है उसकी उत्तर श्रेणी में गगनवल्लभ नगर के राजा गगनचन्द की गगनसुंदरी रानी से दोनों देव के जीव अमितगति और अमिततेज नाम के पुत्र उत्पन्न हो गये।

इसी जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में सीतोदा के उत्तर तट पर सुगंधिलादेश में एक सिंहपुर नाम का नगर है। उसके अर्हदासराजा की जिनदत्ता रानी से चिंतागति देव का जीव च्युत होकर पुत्र हो गया। माता-पिता ने उसका नाम अपराजित रखा था।

किसी दिन राजा अर्हदास ने मनोहर नामक उद्यान में पधारे हुए विमलवाहन तीर्थंकर की वंदना करके धर्मरूपी अमृत का पान किया। अनन्तर अपराजित पुत्र को राज्य देकर पाँच सौ राजाओं के साथ मुनि हो गये। कुमार अपराजित पिता के दिये हुए राज्य का संचालन करने लगे और सम्यग्दर्शन तथा अणुव्रत से विभूषित होकर धर्म का पालन करने लगे। किसी दिन उन्होंने सुना

कि 'हमारे पिता के साथ श्री विमलवाहन भगवान गंधमादन पर्वत से मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं।' यह सुनते ही उन्होंने प्रतिज्ञा की कि ' मैं विमलवाहन भगवान के दर्शन किये बिना भोजन नहीं करूँगा।' इस प्रतिज्ञा से उसे आठ दिन का उपवास हो गया। तदनंतर इन्द्र की आज्ञा से यक्षपति ने उस राजा को भगवान विमलवाहन का साक्षात्कार कराकर दर्शन कराया अर्थात् समवसरण बनाकर विमलवाहन का दर्शन कराया।

एक दिन बसंत ऋतु में अष्टाह्निका के समय बुद्धिमान राजा अपराजित जिन प्रतिमाओं की पूजा स्तुति करके वहीं पर बैठे हुए धर्मोपदेश कर रहे थे कि उसी समय आकाश से दो चारणऋद्धिधारी मुनिराज आकर वहीं पर विराजमान हो गये। राजा ने उनके सम्मुख जाकर बड़ी विनय से उनके चरणों में नमस्कार किया, धर्मोपदेश सुना अनन्तर पूछा कि हे पूज्य! मैंने पहले कभी आपको देखा है परंतु कहाँ देखा है? यह मुझे नहीं याद है। तब उनमें से एक मुनि ने कहा-राजन्! वह स्थान मैं कहता हूँ सो सुनो!

पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम मेरु संबंधी पश्चिम विदेह में गंधिल नाम का महादेश है। उसके विजयार्ध की उत्तर श्रेणी में सूर्यप्रभ नगर के राजा सूर्यप्रभ के चिंतागति, मनोगति और चपलगति नाम के तीन पुत्र थे। प्रीतिमती नाम के विद्याधर कन्या के गतियुद्ध के प्रसंग में हम तीनों ने दीक्षित होकर तपश्चरण करके चतुर्थ स्वर्ग को प्राप्त किया था।

वहाँ से च्युत होकर हम दोनों छोटे भाई पूर्व विदेह में अमितगति और अमिततेज नाम के विद्याधर हुए हैं। किसी एक दिन हम दोनों पुण्डरीकिणी नगरी गये। वहाँ श्री स्वयंप्रभ तीर्थंकर से हम दोनों ने अपने पिछले तीन जन्मों का वृत्तांत पूछा। तब भगवान ने सब भवावली बतलाई। अनन्तर हमने पूछा कि हमारा बड़ा भाई इस समय कहाँ है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा कि वह सिंहपुर का अपराजित नाम का राजा है। यह सुनकर हम दोनों तुम्हारे स्नेहवश यहाँ आये हैं। अब तुम्हारी आयु केवल एक माह की शेष रह गई है शीघ्र ही आत्म कल्याण करो। 'हे'[1] अपराजित! तुम इससे पाँचवें भव में भरत-क्षेत्र के हरिवंश नामक महावंश में 'अरिष्टनेमि' नाम के तीर्थंकर होवोगे।' यह सुनकर राजा ने बार-बार उन मुनियों की वंदना की और कहा कि आप यद्यपि निर्ग्रंथ अवस्था को प्राप्त हुए हैं तो भी जन्मांतर के स्नेह से आपने मेरा बड़ा ही उपकार किया। अनंतर मुनिराज के चले जाने के बाद राजा अपने पुत्र को राज्य देकर आप प्रायोपगमन संन्यास विधि से मरण करके सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हो गये।

वह पुण्यात्मा वहाँ के दिव्य भोगों का अनुभव कर आयु के अंत में वहाँ से च्युत हुआ। इसी जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र संबंधी कुरुजांगल देश में हस्तिनापुर के राजा श्रीचन्द्र की श्रीमती रानी से

१. हरिवंशपुराण, पृ. ४२२।

सुप्रतिष्ठ नाम का यशस्वी पुत्र हुआ। कालांतर में पिता द्वारा प्रदत्त राज्य का निष्कंटक उपभोग करते हुये किसी दिन यशोधर नाम के मुनिराज को आहारदान देकर पंचाश्चर्य को प्राप्त किया। किसी दूसरे दिन वह राजा रानियों के साथ राजमहल की छत पर बैठा हुआ दिशाओं की शोभा का अवलोकन कर रहा था कि इसी बीच अकस्मात् उल्कापात को देखकर विरक्त हो गया और सुमंदर नामक जिनेन्द्र भगवान के पास जाकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

"मुनिराज सुप्रतिष्ठ ने ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और सर्वतोभद्र को आदि लेकर सिंह निष्क्रीडितपर्यन्त अनेकों व्रतों का अनुष्ठान किया। हे यादव! श्रवणमात्र से ही पापों को नष्ट करने वाले उन उपवासों की महाविधि[1] को तुम स्थिर मन कर सुनो।" ऐसा हरिवंश पुराण में बताया है। यहाँ इन व्रतों की विधि न बतलाकर केवल कुछ नाममात्र दिये जाते हैं। विशेष जिज्ञासुओं को हरिवंश पुराण में ही देखना चाहिए।

"सर्वतोभद्र, वसंतभद्र, महासर्वतोभद्र त्रिलोकसागर, वज्रमाध्य, मृदंगमध्य, मुरजमध्य, एकावली द्विकावली, मुक्तावली, रत्नावली, रत्नमुक्तावली, कनकावली, द्वितीय रत्नावली, सिंहनिष्क्रीडित, मध्यमसिंहनिष्क्रीडित तथा उत्तम और जघन्य सिंहनिष्क्रीडित, नंदीश्वर पंक्ति, मेरुपंक्ति, विमानपंक्ति शातु कुंभ, चान्द्रायण, सप्तसप्तमतपोविधि, अष्टअष्टम, नवनवमादि, आचाम्लवर्धन, श्रुतविधि, दर्शनशुद्धि, तपःशुद्धि चारित्रशुद्धि, एककल्याण, पंचकल्याण, शीलकल्याण विधि, भावनाविधि, पंचविंशति-कल्याण भावनाव्रत, दुःखहरण कर्मक्षय, जिनेंद्रगुण संपत्ति, दिव्यलक्षणपंक्ति, धर्मचक्रविधि, परस्पर कल्याण, परिनिर्वाण, प्रातिहार्य प्रसिद्धि, विमान पंक्ति आदि व्रत।

"इस प्रकार विधिवत् इन व्रतों के कर्ता सुप्रतिष्ठ मुनिराज ने उस समय निर्मल सोलह कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का बंध कर लिया।"

जब आयु का अंत आया तब समाधि धारण कर एक महीने का संयास लेकर प्राणों का त्याग किया और जयंत नामक अनुत्तर विमान में अहमिंद्र पद प्राप्त कर लिया। वहां पर तेतीस सागर की आयु थी और एक हाथ ऊँचा शरीर था। उनको साढ़े सोलह माह के अंत में एक बार श्वास का ग्रहण होता है। तेतीस हजार वर्ष बीत जाने पर एक बार मानसिक आहार था। इस प्रकार सुख सागर में निमग्न उन अहमिंद्र ने वहां की आयु को समाप्त कर दिया।

नेमिनाथ का जन्म—

कुशार्ण देश के शौर्यपुर नगर में हरिवंशी राजा शूरसेन रहते थे। उनके वीर नाम के पुत्र की धारिणी रानी से अंधकवृष्टि और नरवृष्टि नाम के दो पुत्र हुए है। अंधकवृष्टि की रानी का

---

१. हरिवंशपुराण, पृ. ३४।

नाम सुभद्रा था। इन दोनों के समुद्रविजय, स्तिमितसागर, हिमवान्, विजय, अचल, धारण, पूरण, पूरितार्थीच्छ, अभिनंदन और वासुदेव ये दस पुत्र थे तथा कुन्ती और माद्री नाम की दो पुत्रियाँ थी।

समुद्रविजय की रानी का नाम शिवादेवी था। पिता के द्वारा प्रदत्त राज्य का श्री समुद्रविजय महाराज धर्मनीति से संचालन करते थे। छोटे भाई वसुदेव की रोहिणी से बलभद्र एवं देवकी रानी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था।

कारणवश श्रीकृष्ण तथा होनहार श्री नेमिनाथ तीर्थंकर के पुण्य प्रभाव से इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने एक सुन्दर 'द्वारावती' नामक नगरी की रचना की। जब जयंत विमान के इन्द्र की आयु छह मास की शेष रह गई तब काश्यपगोत्री, हरिवंश शिखामणि राजा समुद्रविजय की रानी शिवादेवी के आंगन में देवों द्वारा की गई रत्नों की वर्षा होने लगी। कार्तिक शुक्लाषष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वह अहमिंद्र का जीव रानी के गर्भ में आ गया।

हरिवंश पुराण में नेमिनाथ तीर्थंकर का जन्म सौर्यपुर में ही माना है। पश्चात् देवों द्वारा रची गई द्वारावती नगरी में श्री कृष्ण आदि के जाने की बात कही है।

अनंतर नवमास के बाद श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में ब्रह्मयोग के समय तीन ज्ञान के धारक भगवान का जन्म हुआ। इंद्रादि देवों ने जन्मोत्सव मनाकर तीर्थंकर शिशु का 'नेमिनाथ' नामकरण किया। भगवान नमिनाथ के बाद पाँच लाख वर्ष बीत जाने पर नेमिजिनेन्द्र उत्पन्न हुये हैं। उनकी आयु एक हजार वर्ष की थी, शरीर दश धनुष ऊँचा था। प्रभु के शरीर का वर्ण नील कमल के सदृश होते हुये भी इतना सुन्दर था कि इंद्र ने एक हजार नेत्र बना लिये फिर भी रूप को देखते हुये तृप्त नहीं हुआ था।

भगवान देवों द्वारा आनीत दिव्य भोगसामग्री का अनुभव करते हुये चिरकाल तक द्वारावती में रहे। किसी एक दिन मगध देश के कुछ व्यापारी उस नगरी में आ गये और वहाँ से श्रेष्ठरत्न खरीद कर अपने देश में ले गये तथा अर्धचक्री (प्रतिनारायण) राजा जरासंध को रत्न भेंट किये। राजा ने उन रत्नों को देखकर महान आश्चर्य चकित होकर उनसे पूछा कि आप ये रत्न कहाँ से लाये हो? उत्तर में उन लोगों ने श्रीकृष्ण और भगवान नेमिनाथ के वैभव का वर्णन कर दिया। यह सुनते ही जरासंध कुपित होकर युद्ध करने को तैयार हो गया।

'शत्रु चढ़कर आ गया है' यह समाचार सुनकर श्री कृष्ण को जरा भी चिंता नहीं हुई। वे भगवान नेमिनाथ के पास गये और बोले कि आप इस नगर की रक्षा कीजिये। सुना है कि राजा जरासंध हम लोगों को जीतना चाहता है सो मैं उसे आपके प्रभाव से घुने हुये जीर्णवृक्ष के समान शीघ्र ही नष्ट किये देता हूँ। श्रीकृष्ण के वचन सुनकर प्रभु ने अपने आप अवधिज्ञान से विजय को

निश्चित जानकर मुसकुराते हुये 'ओम्- शब्द कह दिया अर्थात् अपनी स्वीकृति दे दी। श्रीकृष्ण भी प्रभु की मुस्कान से अपनी विजय को निश्चित समझकर समस्त यादव और पांडव आदिकों के साथ कुरुक्षेत्र में आ गये।

इस भयंकर युद्ध में राजा जरासंध ने कुपित होकर चक्र श्रीकृष्ण पर चला दिया। वह चक्ररत्न भी श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा देकर उनकी दाहिनी भुजा पर ठहर गया बस क्या था श्रीकृष्ण ने उसी चक्र से जरासंध का काम समाप्त कर दिया और तत्क्षण ही देवों द्वारा पूजा को प्राप्त हुए। अर्धचक्री (नारायण) हो गये। अनंतर बड़े हर्ष से इन लोगों ने द्वारावती में प्रवेश किया और वहाँ पर राज्याभिषेक को प्राप्त हुए।

"किसी एक दिन कुबेर द्वारा भेजे हुए वस्त्राभरणों से अलंकृत युवा श्री नेमिकुमार, बलदेव तथा नारायण आदि कोटि-कोटि यादवों से भरी हुई कुसुम-चित्रा नाम की सभा में गये। राजाओं ने अपने-अपने आसन छोड़ प्रभु के सन्मुख आकर उन्हें नमस्कार किया। श्रीकृष्ण ने भी आकर उनकी अगवानी की। तदनंतर श्रीकृष्ण के साथ वे उनके आसन को अलंकृत करने लगे।

वहाँ वार्तालाप के प्रसंग में बलवानों की गणना छिड़ने पर किसी ने अर्जुन को, किसी ने युधिष्ठिर को इत्यादि रूप से किसी ने श्रीकृष्ण को अत्यधिक बलशाली कहा। तरह-तरह की वाणी सुनकर बलदेव ने लीलापूर्ण दृष्टि से भगवान की ओर देखकर कहा कि तीनों जगत में इनके समान दूसरा बलवान् नहीं है, ये गिरिराज को अनायास ही कंपायमान कर सकते हैं यथार्थ में ये जिनेंद्र हैं इनसे उत्कृष्ट दूसरा कौन हो सकता है?

इस प्रकार वचन सुनकर श्रीकृष्ण ने भगवान से कहा—भगवन्! यदि आपके शरीर का ऐसा उत्कृष्ट बल है तो बाहुयुद्ध में उसकी परीक्षा क्यों न ली जाये? भगवान ने कहा—हे अग्रज! यदि आपको मेरी भुजाओं का बल जानना ही है तो मल्लयुद्ध की क्या आवश्यकता है? सहसा इस आसन से मेरे इस पैर को ही विचलित कर दीजिये। श्रीकृष्ण उसी समय कमर कसकर जिनेंद्र भगवान को जीतने की इच्छा से उठ खड़े हुए, परन्तु पैर का चलाना तो दूर ही रहा वे एक अंगुली को भी नहीं हिला सके। वे पसीने से लथपथ हो गये, उनके मुख से गरम-गरम सांसें निकलने लगी। तब उन्होंने अहंकार छोड़कर स्पष्ट शब्दों में कहा—हे देव! आपका बल लोकोत्तर एवं आश्चर्यकारी है। उसी समय इन्द्र का आसन कंपित होने से देवों सहित इन्द्र ने आकर भगवान की अनेकों स्तुतियों से स्तुति और पूजा की। तदनंतर सब अपने-अपने महलों में चले गये। उसी समय से श्रीकृष्ण के मन में यह आशंका हो गई कि इन बलशाली जिनेंद्र के रहते हुए मेरा राज्यशासन स्थिर कैसे रहेगा? आश्चर्य है कि अज्ञानीजन जिनेंद्र भगवान के विषय में भी आशंका कर डालते हैं?"

नेमिनाथ का वैराग्य—

किसी समय मनोहर नामक उद्यान में भगवान नेमिनाथ तथा सत्यभामा आदि जलकेलि कर रहे थे। स्नान के अनंतर श्री नेमिनाथ ने सत्यभामा से कहा—हे नीलकमल के समान नेत्रों वाली! तू मेरा यह स्नान का वस्त्र ले। सत्यभामा ने कहा, मैं इसका क्या करूँ? नेमिनाथ ने कहा कि तू इसे धो डाल। तब सत्यभामा कहने लगी क्या आप श्रीकृष्ण हैं? वह श्रीकृष्ण, जिन्होंने कि नागशय्या पर चढ़कर शाङ्र्ग नाम का धनुष अनायास ही चढ़ा दिया था और दिग्दिगंत को व्याप्त करने वाला शंख पूरा था? क्या आपमें यह साहस है? यदि नहीं तो आप मुझसे वस्त्र धोने की बात क्यों करते हैं?

नेमिनाथ ने कहा कि 'मैं यह कार्य अच्छी तरह कर दूँगा' इतना कहकर वे गर्व से प्रेरित हो आयुधशाला में पहुँच गये। वहाँ नागराज के महामणियों से सुशोभित नागशय्या पर अपनी ही शय्या के समान चढ़ गये और शाङ्र्ग धनुष चढ़ाकर समस्त दिशाओं के अंतराल को रोकने वाला शंख फूंक दिया। उस समय श्रीकृष्ण अपनी कुसुमचित्रा सभा में विराजमान थे। वे सहसा ही यह आश्चर्य पूर्ण काम सुनकर व्यग्र हो उठे। बड़े आश्चर्य से किंकरों से पूछा कि यह क्या है? किंकरों ने भी पता लगाकर सारी बात बता दी।

उस समय अर्ध चक्री श्रीकृष्ण ने विचार करते हुये कहा कि आश्चर्य है, बहुत समय बाद कुमार नेमिनाथ का चित्त राग से युक्त हुआ है। अब इनका विवाह करना चाहिए। वे शीघ्र ही राजा उग्रसेन के घर स्वयं पहुँच गये और रानी जयावती से उत्पन्न राजीमति कन्या की श्री नेमिनाथ के लिए याचना की। राजा उग्रसेन ने कहा हे देव! आप तीन खण्ड के स्वामी हैं अतः आपके सामने हम लोग कौन होते हैं? शुभ मुहूर्त में विवाह निश्चित हो गया। अनंतर दुर्गति को जाने की इच्छा करने वाले श्रीकृष्ण का अभिप्राय माया और लोभ कषाय से कुत्सित हो गया। उनके मन में यह आशंका हो गई कि कहीं इन्द्रों द्वारा पूज्य ये नेमिनाथ हमारा राज्य न ले लें। इसी क्षण उन्हें विचार आया कि ये नेमिकुमार वैराग्य का कुछ कारण पाकर विरक्त हो जायेंगे। ऐसा विचार कर उन्होंने एक उपाय सोचा।

बड़े-बड़े शिकारियों द्वारा तमाम मृगों का समूह एक स्थान पर इकट्ठा करवा दिया और उसके चारों ओर बाड़ लगवा दी। उनके रक्षकों को नियुक्त कर समझा दिया कि अकस्मात् नेमिकुमार इधर आवें और इनका कारण पूछें तो कह देना कि आपके विवाह में मारने के लिए चक्रवर्ती ने यह पशुओं का समूह बुलाया है।

तदनंतर देवों द्वारा आनीत नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित भगवान नेमिनाथ,

समान वयवाले अनेक मंडलेश्वर राजपुत्रों से घिरे हुये चित्रा नाम की पालकी पर आरूढ़ होकर दिशाओं का अवलोकन करने के लिए निकले। वहाँ उन्होंने करुणस्वर से चिल्लाते हुये और इधर-उधर दौड़ते हुए, भूख, प्यास से व्याकुल हुए तथा अत्यंत भयभीत हुए, दानदृष्टि से युक्त मृगों को देख दयावश वहां के रक्षकों से पूछा कि यह पशुसमूह क्यों इकट्ठा किया गया है? नौकरों ने कह दिया कि आपके विवाह में ये मारे जायेंगे। उसी समय श्री नेमिकुमार को पशुओं के अत्याचार के प्रति करुणा जाग्रत हो गई और शीघ्र ही भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से श्रीकृष्ण के मायाचार को जान लिया और विरक्त चित्त हुए लौटकर अपने घर वापस आ गये। अपने अनेक पूर्व भवों का स्मरण कर भयभीत हो गये। अब तक प्रभु के कुमार काल के तीन सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

तत्क्षण ही लौकांतिक देवों से पूजा को प्राप्त हुए प्रभु को देवों ने देवकुरु नाम की पालकी पर बिठाया और सहस्राम्र वन में ले गये। श्रावण कृष्ण षष्ठी के दिन सायंकाल के समय तेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ जैनेश्वरी दीक्षा से विभूषित हो गये। उसी समय उन्हें चौथा मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया।

राजीमती ने भी प्रभु के पीछे तपश्चरण करने का निश्चय कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि शरीर की बात तो दूर ही रही, वचनमात्र से भी दी हुई कुलस्त्रियों का यही न्याय है।

पारणा के दिन द्वारावती नगरी में राजा वरदत्त ने पड़गाहन करके प्रभु को आहार दिया जिसके फलस्वरूप पंचाश्चर्य को प्राप्त हो गये अर्थात् देवों ने साढ़े बारह करोड़ रत्न वर्षाये। पुष्प वृष्टि, मन्द सुगन्ध वायु, दुन्दुभी बाजे और अहोदानं आदि प्रशंसा वाक्य होने लगे।

इस प्रकार तपश्चर्या करते हुये प्रभु के छद्मस्थ अवस्था के छप्पन दिन व्यतीत हो गये तब वे रैवतक पर्वत पर पहुँचे, तेला का नियम लेकर किसी बड़े भारी बाँस वृक्ष के नीचे विराजमान हो गये। आश्विन कृष्ण प्रतिपदा के दिन चित्रा नक्षत्र में प्रातः काल के समय प्रभु को लोकालोकप्रकाशी केवलज्ञान प्रकट हो गया। उनके समवसरण में वरदत्त को आदि लेकर ग्यारह गणधर थे, अठारह हजार मुनि, राजीमती आदि चालीस हजार आर्यिकाएं, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएं थीं। भगवान की सभा में बलभद्र और श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष आये। धर्म का स्वरूप सुना और अपने सभी भव-भवांतर पूछे।

किसी समय भगवान की दिव्यध्वनि से यह बात मालूम हुई कि 'द्वीपायन मुनि के क्रोध के निमित्त से इस द्वारावती नगरी का विनाश होगा' इस भावी दुर्घटना को सुनकर कितने ही महापुरुषों ने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इस प्रकार प्रभु नेमिनाथ ने छह सौ निन्यानवे वर्ष, नौ महीना

और चार दिन तक विहार किया था।

अनन्तर गिरनार पर्वत पर आकर विहार छोड़कर पाँच सौ तेतीस मुनियों के साथ एक महीने का योग निरोध करके आषाढ़ शुक्ला सप्तमी के दिन चित्रा नक्षत्र में रात्रि के प्रारम्भ में ही प्रभु ने अघातिया कर्मों का नाश कर मोक्ष पद प्राप्त कर लिया। उसी समय इंद्रादि देवों ने आकर बड़ी भक्ति से प्रभु का परिनिर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया। वे श्री नेमिनाथ भगवान हमारे अंतःकरण को पूर्णशांति प्रदान करें।

२३. तीर्थंकर पार्श्वनाथ

इसी जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में एक सुरम्य नाम का बड़ा भारी देश है। उसके पोदनपुर नगर में अतिशय धर्मात्मा अरविन्द राजा राज्य करते थे। उसी नगर में विश्वभूति ब्राह्मण की अनुन्धरी ब्राह्मणी से उत्पन्न हुए कमठ और मरुभूति नाम के दो पुत्र थे जोकि क्रमशः विष और अमृत से बनाये हुए के समान मालूम पड़ते थे। कमठ की स्त्री का नाम वरुणा तथा मरुभूति की स्त्री का नाम वसुन्धरा था। ये दोनों ही राजा के मन्त्री थे।

एक समय किसी राज्य कार्य से मरुभूति बाहर गया था तब कमठ मरुभूति की स्त्री वसुन्धरा के साथ व्यभिचारी बन गया। राजा अरविंद को यह बात पता चलते ही उन्होंने उस कमठ को दण्डित करके देश से निकाल दिया। वह कमठ भी मान भंग से दुःखी होकर किसी तापस आश्रम में जाकर हाथ में पत्थर की शिला लेकर कुतप करने लगा। भाई के प्रेम के वशीभूत हो मरुभूति भी कमठ को ढूंढ़ता हुआ उधर चल पड़ा। उसे आते देख क्रोध के आवेश में आकर कमठ ने वह हाथ की शिला उसके सिर पर पटक दी जिससे मरुभूति मरकर सल्लकी वन में वज्रघोष नाम का हाथी हो गया।

किसी समय अरविन्द ने विरक्त होकर राज्य छोड़ दिया और संयम धारण कर सब संघ की वंदना के लिये प्रस्थान किया। चलते-चलते वे उसी वन में पहुँच कर सामायिक के समय प्रतिमायोग से विराजमान हो गये। वह हाथी संघ में हाहाकार करता हुआ अरविन्द महाराज के सन्मुख आकर मारने के लिए दौड़ा, तत्क्षण ही उनके वक्षःस्थल में वत्स के चिन्ह को देखते ही उसे पूर्व भव संबंध का स्मरण हो आया तब वह पश्चाताप से शांत होता हुआ चुपचाप खड़ा रहा। अनंतर अरविन्द मुनिराज ने उसे धर्मोपदेश देकर श्रावक के व्रत ग्रहण करा दिये।

उस समय से वह हाथी पाप से डर कर दूसरे हाथियों द्वारा तोड़ी हुई वृक्ष की शाखाओं और सूखे पत्तों को खाने लगा। पत्थरों के गिरने से अथवा हाथियों के समूह के संघटन से जो पानी प्रासुक

हो जाता था उसे ही वह पीता था तथा प्रोषधोपवास के बाद पारणा करता था। इस प्रकार चिरकाल तक महान तपश्चरण करता हुआ वह हाथी अत्यन्त दुर्बल हो गया। किसी दिन वह हाथी पानी पीने के लिए वेगवती नदी के किनारे गया और कीचड़ में गिरकर फँस गया, निकल नहीं सका। वहाँ पर दुराचारी कमठ का जीव मरकर कुक्कुट सर्प हुआ था उसने पूर्व वैर के संस्कार से उसे काट खाया जिससे वह हाथी महामंत्र का स्मरण करते हुए मरकर बारहवें स्वर्ग में देव हो गया। इधर वह सर्प पाप से मरकर तीसरे नरक चला गया।

जंबूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश है उसके विजयार्ध पर्वत पर त्रिलोकोत्तम नगर में राजा विद्युत्गति राज्य करते थे। वह देव का जीव वहाँ से च्युत होकर राजा की विद्युन्माला रानी से रश्मिवेग नाम का पुत्र हो गया। रश्मिवेग ने युवावस्था में समाधिगुप्त मुनिराज के पास दीक्षा लेकर महासर्वतोभद्र आदि श्रेष्ठ उपवास किये। किसी समय हिमगिरि पर्वत की गुफा में वे योग धारण कर विराजमान थे कि कुक्कुट सर्प का जीव जो नरक से निकल कर अजगर हुआ था उसने उन्हें निगल लिया। मुनि का जीव मरकर सोलहवें स्वर्ग में देव हुआ और कालांतर में अजगर मरकर छठे नरक चला गया।

जंबूद्वीप के पूर्व विदेह सम्बन्धी पद्मादेश में अश्वपुर नगर है। वहाँ के राजा वज्रवीर्य और रानी विजया के वह स्वर्ग का देव मरकर वज्रनाभि नाम का पुत्र हुआ। वह पुण्यशाली वज्रनाभि चक्रवर्ती के पद का भोक्ता हो गया, अनंतर किसी समय विरक्त होकर साम्राज्य वैभव का त्यागकर क्षेमंकर गुरु के समीप जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। कमठ का जीव, जो कि अजगर की पर्याय में मरकर छठे नरक गया था वह कुरंग नाम का भील हो गया था। किसी दिन तपस्वी चक्रवर्ती वन में आतापन योग से विराजमान थे, उन्हें देखकर उस भील का वैर भड़क उठा, उसने मुनिराज पर भयंकर उपसर्ग किए। मुनिराज आराधनाओं की आराधना से मरण कर मध्यम ग्रैवेयक में श्रेष्ठ अहमिन्द्र हो गए तथा वह पापी भील आयु पूरी करके पाप के भार से पुनः नरक चला गया।

जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में कौशलदेश सम्बन्धी अयोध्या नगरी में काश्यपगोत्री इक्ष्वाकुवंशी राजा वज्रबाहु राज्य करते थे। उनकी रानी प्रभंकरी थी वह अहमिन्द्र च्युत होकर रानी के गर्भ से आनंद नाम का आनंददायी पुत्र हो गया। वह बड़ा होकर मंडलेश्वर राजा हुआ। किसी दिन आनंद राजा ने महामंत्री के कहने से आष्टान्हिक महापूजा कराई जिसे देखने के लिए विपुलमति नाम के मुनिराज पधारे। आनंदराज ने उनकी वंदना पूजा आदि करके उनसे पूछा कि हे भगवान्! जिनेन्द्र प्रतिमा अचेतन है उसकी पूजा से पुण्यबंध कैसे होता है? मुनिराज ने कहा—यद्यपि प्रतिमा अचेतन है तो भी महान पुण्य का कारण है जैसे चिंतामणि रत्न, कल्पवृक्ष आदि अचेतन होकर मनचिंतित और मनचाहे फल देते हैं वैसे ही प्रतिमाओं की वंदना, पूजा आदि से जो शुभ परिणाम होते हैं उनसे

सातिशय पुण्य बंध हो जाता है इत्यादि प्रकार से वीतराग प्रतिमा का वर्णन करते हुए मुनिराज ने राजा के सामने तीन लोक सम्बन्धी अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन करना शुरू किया। उसमें प्रारम्भ में ही सूर्य के विमान में स्थित जिनमंदिर की विभूति का अच्छी तरह वर्णन किया। उस असाधारण विभूति को सुनकर राजा आनन्द को बहुत ही श्रद्धा हो गई। उन दिन से वह प्रतिदिन हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर सूर्य विमान में स्थित जिन प्रतिमाओं की स्तुति करने लगा। उसने कारीगरों द्वारा मणि और सुवर्ण का एक सूर्य विमान बनवाकर उसके भीतर जिन मन्दिर बनवाया। अनन्तर शास्त्रोक्त विधि से आष्टान्हिक, चतुर्मुख, रथावर्त, सर्वतोभद्र और कल्पवृक्ष इन नाम वाली पूजाओं का 'अनुष्ठान' किया।

"उस राजा को इस तरह सूर्य की पूजा करते देखकर उसकी प्रामाणिकता से अन्य लोग भी स्वयं भक्तिपूर्वक सूर्य मंडल की स्तुति करने लगे। आचार्य कहते हैं कि इस लोक में उसी समय से सूर्य की उपासना चल पड़ी है।"

किसी दिन आनन्द राजा ने अपने शिर पर एक सफेद बाल देखा तत्क्षण विरक्त होकर पुत्र को राज्य वैभव देकर समुद्रगुप्त मुनिराज के पास अनेक राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। उन्होंने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और सोलहकारण भावनाओं के चिंतवन से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया। आयु के अंत समय वे धीर-वीर शांतमना मुनिराज प्रायोपगमन संन्यास लेकर ध्यान में लीन थे। पूर्व जन्म के कमठ का जीव नरक से निकलकर वहीं सिंह हुआ था। सो उसने आकर उन मुनि का कण्ठ पकड़ लिया। सिंहकृत उपसर्ग से विचलित नहीं होने वाले वे मुनिराज मरणकर अच्युत (सोलहवें) स्वर्ग के प्राणत नामक विमान में इन्द्र हो गए। वहाँ पर उनकी आयु बीस साल की थी, साढ़े तीन हाथ ऊँचा शरीर था। वे वहाँ दिव्य सुखों का अनुभव कर रहे थे। उधर सिंह का जीव भी आयु पूरी करके मरकर नरक चला गया और वहाँ के भयंकर दुःखों का चिरकाल तक अनुभव करता रहा।

गर्भावतार

इस जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र सम्बन्धी काशी देश में बनारस नाम का एक नगर है। उसमें काश्यप गोत्रीय राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ब्राह्मी था। जब उन सोलहवें स्वर्ग के इन्द्र की आयु छह मास की अवशेष रह गई थी तब इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने माता के आँगन में रत्नों की धारा बरसाना शुरू कर दी थी। रानी ब्राह्मी ने सोलहस्वप्नपूर्वक वैशाख कृष्णा द्वितीया के दिन इन्द्र के जीव को गर्भ में धारण किया था।

नवमास पूर्ण होने पर पौष कृष्णा एकादशी के दिन पुत्र का जन्म हुआ था। इन्द्रादि देवों ने सुमेरु

पर्वत पर ले जाकर तीर्थंकर शिशु का जन्माभिषेक करके 'पार्श्वनाथ' यह नामकरण किया था। श्री नेमिनाथ के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। इनकी आयु सौ वर्ष की थी जोकि इसी अंतराल में सम्मिलित है। प्रभु की कांति हरितवर्ण की एवं शरीर की ऊँचाई नौ हाथ प्रमाण थी, ये उग्रवंशी थे।

सोलह वर्ष बाद नवयौवन से युक्त भगवान किसी समय क्रीडा के लिये अपनी सेना के साथ नगर के बाहर गये। कमठ का जीव जो कि सिंह पर्याय से नरक गया था वह वहाँ से आकर महीपाल नगर का महीपाल नाम का राजा हुआ था। उसी की पुत्री ब्राह्मी (वामा देवी) भगवान पार्श्वनाथ की माता थीं। यह राजा (भगवान के नाना) किसी समय अपनी पत्नी के वियोग में तपस्वी होकर वहीं आश्रम के पास वन में पंचाग्नियों के बीच में बैठा तपश्चरण कर रहा था। देवों द्वारा पूज्य भगवान उसके पास जाकर उसे नमस्कार किये बिना ही खड़े हो गये। यह देखकर वह खोटा साधु क्रोध से युक्त हो गया और सोचने लगा "मैं कुलीन हूँ, तपोवृद्ध हूँ और इसका नाना हूँ" फिर भी इस अज्ञानी कुमार ने अहंकारवश मुझे नमस्कार नहीं किया हैं, क्षुभित हो उसने अग्नि में लकड़ियों को डालने के लिए पड़ी हुई लकड़ी को काटने हेतु अपना फरसा उठाया, इतने में ही अवधिज्ञानी भगवान पार्श्वनाथ ने कहा, "इसे मत काटो" इसमें जीव है किन्तु मना करने पर भी उसने लकड़ी काट ही डाली, तत्क्षण ही उसके भीतर रहने वाले सर्प और सर्पिणी निकल पड़े और घायल हो जाने से छटपटाने लगे।

यह देखकर, प्रभु के साथ स्थित सुभौमकुमार ने कहा कि तू अहंकारवश यह कुतप करके पाप का ही आस्रव कर रहा है। सुभौम के वचन सुन तपस्वी क्रुधित होकर अपने तपश्चरण की महत्ता प्रकट करने लगा। तब सुभौमकुमार ने अनेक युक्तियों से उसे समझाया कि सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के सिवाय कोई हितकारी नहीं है। जिनधर्म में प्रणीत सच्चे तपश्चरण से ही कर्म निर्जरा होती है। यह मिथ्याताप, जीव हिंसा सहित होने से कुतप ही है। यद्यपि वह तापसी समझ तो गया, किन्तु पूर्व बैर का संस्कार होने से अपने पक्ष के अनुराग से अथवा दुःखमय संसार के कारण से अथवा स्वभाव से ही दुष्ट होने से उसने स्वीकार नहीं किया प्रत्युत् यह सुभौमकुमार अहंकारी होकर मेरा तिरस्कार कर रहा है ऐसा समझ वह भगवान पार्श्वनाथ पर अधिक क्रोध करने लगा। इसी शल्य से मरकर 'शम्बर' नाम का ज्योतिषी देव हो गया।

इधर सर्प और सर्पिणी कुमार के उपदेश से शांतिभाव को प्राप्त हुए तथा मरकर बड़े ही वैभवशाली धरणेन्द्र और पद्मावती हो गये।

अनंतर भगवान जब तीस वर्ष के हो गये तब एक दिन अयोध्या के राजा जयसेन ने उत्तम घोड़ा

आदि की भेंट के साथ अपना दूत भगवान पार्श्वनाथ के समीप भेजा। भगवान ने भेंट लेकर उस दूत से अयोध्या की विभूति पूछी। उत्तर में दूत ने सबसे पहले भगवान ऋषभदेव का वर्णन किया पश्चात् अयोध्या का हाल कहा। उसी समय ऋषभदेव के सदृश अपने को तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ है, ऐसा सोचते हुए भगवान गृहवास से पूर्ण विरक्त हो गये और लौकांतिक देवों द्वारा पूजा को प्राप्त हुए। प्रभु देवों द्वारा लाई गई विमला नाम की पालकी पर बैठकर अश्ववन में पहुँच गये। वहाँ तेला का नियम लेकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन प्रातः काल के समय सिद्ध भगवान को नमस्कार करके प्रभु तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षित हो गये।

पारणा के दिन गुल्मखेट नगर के धन्य नामक राजा ने अष्ट मंगलद्रव्यों से प्रभु का पड़गाहन कर आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त कर लिये। छद्मस्थ अवस्था के चार मास व्यतीत हो जाने पर भगवान अश्ववन नाम दीक्षावन में पहुँचकर देवदारु वृक्ष के नीचे विराजमान होकर ध्यान में लीन हो गये। इसी समय कमठ का जीव शम्बर ज्योतिषी आकाशमार्ग से जा रहा था, अकस्मात् उसका विमान रुक गया, उसे विभंगावधि से पूर्व का बैरबंध स्पष्ट दिखने लगा। फिर क्या था, क्रोधवश उसने महागर्जना, महावृष्टि, भयंकर वायु आदि से महा उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया, बड़े बड़े पहाड़ तक लाकर समीप में गिराये, इस प्रकार उसने सात दिन तक लगातार भयंकर उपसर्ग किया।

अवधिज्ञान से यह उपसर्ग जानकर धरणेन्द्र अपनी भार्या पद्मावती के साथ पाताल लोक से बाहर निकला। धरणेन्द्र और पद्मावती ने भगवान को सब ओर से घेर कर अपनी फणाओं के ऊपर उठा लिया। आचार्य कहते हैं देखो, स्वभाव से ही क्रूर प्राणी इन सर्प सर्पिणी ने अपने ऊपर किये गये उपकार को याद रखा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष अपने ऊपर किये हुए उपकार को कभी नहीं भूलते हैं।

तदनंतर ध्यान के प्रभाव से प्रभु का मोहनीय कर्म क्षीण हो गया इसलिए बैरी कमठ का सब उपसर्ग दूर हो गया। मुनिराज पार्श्वनाथ ने चैत्र कृष्णा त्रयोदशी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में लोकालोकप्रकाशी केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्रों ने आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान की पूजा की। शंबर नाम का देव भी काललब्धि पाकर उसी समय शांत हो गया और उसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। यह देख, उस वन में रहने वाले सात सौ तपस्वियों ने मिथ्या दर्शन छोड़कर संयम धारण कर लिया, सभी शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो गये और बड़े आदर से प्रदक्षिणा देकर भगवान की स्तुति भक्ति की। आचार्य कहते हैं कि पापी कमठ के जीव का कहां तो निष्कारण वैर और कहां ऐसी पार्श्वनाथ की शांति! इसलिए संसार के दुःखों से भयभीत प्राणियों को वैर विरोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में स्वयंभू को आदि लेकर दस गणधर थे, सोलह हजार मुनिराज, सुलोचना को आदि लेकर छत्तीस हजार आर्यिकायें, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें थीं। इस प्रकार बारह सभाओं को धर्मोपदेश देते हुए भगवान ने पाँच मास कम सत्तर वर्ष तक विहार किया। अंत में आयु का एक माह शेष रहने पर विहार बंद हो गया। प्रभु पार्श्वनाथ सम्मेदाचल के शिखर पर छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमायोग से विराजमान हो गये। श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सिद्धपद को प्राप्त हो गये। इन्द्रों ने आकर मोक्ष कल्याणक उत्सव मनाया। ऐसे पार्श्वनाथ भगवान हमें भी सम्पूर्ण प्रकार के उपसर्गों को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

भगवान महावीर

पुरुरवा भील

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पर 'पुष्कलावती' नाम का देश है। उसकी 'पुण्डरीकिणी' नगरी में एक 'मधु' नाम का वन है। उसमें 'पुरुरवा' नाम का एक भीलों का राजा अपनी 'कालिका' नाम की स्त्री के साथ रहता था'। किसी दिन दिग्भ्रम के कारण 'श्री सागरसेन' नामक मुनिराज को इधर-उधर भ्रमण करते हुये देखकर यह भील उन्हें मारने को उद्यत हुआ उसकी स्त्री ने यह कहकर मना कर दिया कि 'ये वन के देवता घूम रहे हैं इन्हें मत मारो।' वह पुरुरवा उसी समय मुनि को नमस्कार कर तथा उनके वचन सुनकर शांत हो गया। मुनिराज ने उससे मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारों का त्याग करा दिया। मांसाहारी भील भी इन तीनों के त्यागरूप व्रत को जीवन पर्यन्त पालन कर आयु के अंत में मरकर सौधर्म स्वर्ग में एक सागर की आयु को धारण करने वाला देव हो गया। कहाँ तो वह हिंसक क्रूर भील पाप करके नरक चला जाता और कहाँ उसे गुरु का समागम मिला कि जिनसे हिंसा का त्याग करके स्वर्ग चला गया!

मरीचि कुमार

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी आर्यखंड के मध्य भाग में कौशल नाम का देश है। इस देश के मध्य भाग में अयोध्या नगरी है। वहां ऋषभदेव भगवान के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती की अनंतमती रानी से 'यह पुरुरवा भील का जीव देव' मरीचि कुमार नाम का पुत्र हुआ। अपने बाबा भगवान ऋषभदेव की दीक्षा के समय स्वयं ही गुरु भक्ति से प्रेरित होकर मरीचि ने कच्छ आदि चार हजार राजाओं के साथ दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। भगवान् तो छह महीने का उपवास

---

१. भगवान ऋषभदेव के जन्म के पूर्व इसी आर्यखंड में भोगभूमि की व्यवस्था थी। उस विदेह क्षेत्र की यह घटना है।

लेकर ध्यान में लीन हो गये। मरीचि आदि चार हजार राजा स्वयं ही फल, आवरण आदि को ग्रहण करने लगे तब वनदेवता ने प्रगट होकर कहा- "निर्ग्रंथ दिंगबर—जिनमुद्रा को धारण करने वालों का यह क्रम नहीं है अर्थात् यह अर्हंतमुद्रा तीनों लोकों में पूज्य है इसको धारण कर यह स्वच्छंद प्रवृत्ति करना कथमपि उचित नहीं है अतः तुम लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार अन्य वेष ग्रहण कर लो।"

ऐसा सुनकर प्रबल मिथ्यात्व से प्रेरित हुये मरीचि ने भी सबसे पहले परिव्राजक की दीक्षा धारण कर ली। वास्तव में जिनका संसार दीर्घ होता है उनके लिये यह मिथ्यात्व कर्म मिथ्यामार्ग ही दिखलाता है। उस समय उसे उन सब विषयों का ज्ञान भी स्वयं ही प्रगट हो गया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनों के समान दुर्जनों को भी अपने विषय का ज्ञान स्वयं ही हो जाता है। उसने तीर्थंकर भगवान के वचन सुनकर भी समीचीन धर्म ग्रहण नहीं किया था। वह मरीचि साधु सोचता रहता था कि जिस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अपने आप समस्त परिग्रहों कर त्याग कर तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने वाली सामर्थ्य प्राप्त की है उसी प्रकार मैं भी संसार में अपने द्वारा चलाये हुये दूसरे मत की व्यवस्था करूंगा और उसके मिमित्त से होने वाले बड़े भारी प्रभाव के कारण इन्द्र की प्रतीक्षा को प्राप्त करूंगा—इन्द्र द्वारा की हुई पूजा को प्राप्त करूंगा। मैं समझता हूं कि मेरे यह सब अवश्य होगा। इस प्रकार मान कर्म के उदय से वह पापबुद्धि सहित हुआ खोटे मत से विरक्त नहीं हुआ और अनेक दोषों से दूषित वही वेष धारण कर रहने लगा।

तभी कच्छ आदि चार हजार राजा जो दीक्षित हुये उन सभी मुनिवेषधारियों ने भी अनेक वेष बना लिये।

मरीचि का भवभ्रमण

मरीचिकुमार आयु के अंत में मरकर ब्रह्मस्वर्ग में दस सागर आयु वाला देव हो गया। वहाँ से आकर जटिल ब्राह्मण हुआ, पुनः पारिव्राजक बना पुनः मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ पुनः वहां से आकर अग्निसह ब्राह्मण होकर पारिव्राजक दीक्षा ले ली पुनः मरकर देव हुआ, वहां से च्युत होकर अग्निमित्र ब्राह्मण होकर पारिव्राजक तापसी हुआ पुनरपि माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से आकर भारद्वाज ब्राह्मण होकर त्रिदण्डी साधु बन गया और पुनरपि स्वर्ग में गया, वहां से च्युत होकर मिथ्यात्व के निमित्त से यह मरीचि कुमार त्रस-स्थावार योनियों में असंख्यात वर्ष तक परिभ्रमण करता रहा।

वह मरीचि कुमार का जीव इस तरह असंख्यात वर्षों तक इन कुयोनियों में भ्रमण करते हुये श्रांत हो गया। कुछ पुण्य से राजगृह नगर के शांडिल्य ब्राह्मण की पारशरी पत्नी से 'स्थावर' नाम का पुत्र हुआ। वहां भी सम्यग्दर्शन से शून्य पारिव्राजक की दीक्षा लेकर अंत में मरकर माहेन्द्र

स्वर्ग में सात सागर की आयु वाला देव हो गया।

विश्वनंदी

इसी मगधदेश के राजगृह नगर में 'विश्वभूति' राजा की 'जैनी' नामकी रानी से यह मरीचि कुमार का जीव स्वर्ग में आकर 'विश्वनंदी' नाम का राजपुत्र हो गया। विश्वभूति राजा का एक विशाखभूति नाम का छोटा भाई था, उसकी लक्ष्मणापत्नी से 'विशाखनन्दि' नाम का मूर्ख पुत्र हो गया। किसी दिन विश्वभूति राजा ने विरक्त होकर छोटे भाई विशाखभूति को राज्य देकर अपने पुत्र 'विश्वनन्दि' को युवराज बना दिया और स्वयं तीन सौ राजाओं के साथ श्रीधर मुनि के पास दीक्षित हो गये।

किसी दिन विश्वनंदी युवराज अपने 'मनोहर' नामक उद्यान में अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। उसे देख, चाचा के पुत्र विशाखनंदी ने अपने पिता के पास जाकर उस उद्यान की याचना की। विशाखभूति ने भी युवराज विश्वनंदी को 'विरुद्ध राजाओं को जीतने के बहाने' बाहर भेजकर पुत्र को बगीचा दे दिया। विश्वनंदी को इस घटना का तत्काल पता लग जाने से वह क्रुद्ध होकर वापस विशाखनंदी को मारने को उद्यत हुआ। तब विशाखनंदी कैथे के वृक्ष पर चढ़ गया, इसने कैथे के वृक्ष को उखाड़ दिया। तब वह भागा और पत्थर के खम्भे के पीछे हो गया, यह विश्वनंदी पत्थर के खंभे को उखाड़कर उससे उसे मारने को दौड़ा। विशाखनंदी वहां से डर कर भागा तब युवराज के हृदय में सौहार्द और करुणा जाग्रत हो गयी। उसने उसी समय उसे अभयदान देकर बगीचा भी दे दिया और स्वयं 'संभूत' नामक मुनि के पास दीक्षा धारण कर ली, तब विशाखभूति ने भी पापों का पश्चाताप कर दीक्षा ले ली।

किसी दिन मुनि विश्वनंदी अत्यन्त कृश शरीरी मथुरा में आहार के लिए आये, उस समय यह विशाखनंदि वेश्या के महल की छत से मुनि को देख रहा था। मुनि को गाय ने धक्के से गिरा दिया यह देख विशाखनंदि बोला 'तुम्हारा पत्थर का खम्भा तोड़ने वाला पराक्रम कहाँ गया'? मुनि ने यह दुर्वचन सुने उन्हें क्रोध आ गया अन्त में निदान सहित संन्यास से मरकर महाशुक्र स्वर्ग में देव हो गये, वहीं पर चाचा विशाखभूति भी देव हो गये। दोनों की आयु सोलह सागर प्रमाण थी।

अर्धचक्री त्रिपृष्ठकुमार

सुरम्य देश के पोदनपुर नगर में प्रजापति महाराज की जयावती रानी से 'विशाखभूति का जीव' विजय नाम का पुत्र हुआ और महाराज की दूसरी रानी मृगावती से 'विश्वनंदी का जीव' त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ। विजय बलभद्रपद के धारक हुये और ये त्रिपृष्ठ अर्धचक्री पद के धारक हुये। उधर विशाखनंदि का जीव चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता हुआ कुछ पुण्य से

विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव विद्याधर की नीलांजना रानी से 'अश्वग्रीव' पुत्र हुआ। यह प्रतिनारायण हुआ था। कालांतर में युद्ध में अश्वग्रीव के चक्ररत्न से ही अश्वग्रीव को मारकर त्रिखण्डाधिपति राजा त्रिपृष्ठ ने अपने भाई विजय के साथ बहुत काल तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग किया, अन्त में भोगलिप्सा में मरकर सप्तम नरक में चला गया क्योंकि सम्यग्दर्शन और पांच अणुव्रतों से रहित राज्य वैभव नरक का ही कारण है।

नरक में इस मरीचि कुमार के जीव ने क्या-क्या कष्ट सहे हैं उनको असंख्य जिह्वाओं से भी नहीं कहा जा सकता? करोंत से चीरना, कुंभी-पाक में पकाना, अग्नि में जलाना, तिल-तिल खंड करना आदि के अनेकों दुख भोगे फिर भी आयु पूर्ण हुये बिना मर नहीं सका। वहाँ पर तेंतीस सागरों की आयु भोगकर सिंह हुआ और गर्मी-सर्दी, भूख, प्यास आदि बाधाओं से दुःखी हुआ, वहाँ पर प्राणी हिंसा से मांसाहार करते हुये पुनः मरकर पहले नरक चला गया। वहाँ के दुःखों को भोगकर वहाँ से निकल कर पुनरपि इसी जम्बूद्वीप में सिंधुकूट की पूर्व दिशा में हिमवान् पर्वत के शिखर पर सुन्दर बालों से युक्त सिंह हुआ।

पुण्यशाली मृगेन्द्र

वह सिंह किसी समय एक हिरण को पकड़कर खा रहा था। उसी समय अतिशय दयालु 'अजितञ्जय' और 'अमितगुण' नामक दो चारणऋद्धिधारी मुनि आकाशमार्ग से उतरकर उस सिंह के पास पहुंचे और शिलातल पर बैठकर जोर-जोर से उपदेश देने लगे। उन्होंने कहा कि 'हे भव्य मृगराज! तू अर्धचक्री त्रिपृष्ठ के भव में पांचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन कर तृप्त नहीं हुआ तथा सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण तू नरक में चला गया, वहां अत्यन्त प्रचंड और लोहे के घनों की चोट से तेरा चूर्ण किया जाता था, इत्यादि दुःखों को भोगकर तू वहां से निकलकर सिंह हुआ पुनः हिंसा के पाप से मरकर नरक गया, वहां से निकलकर पुनः सिंह होकर हिंसा से रत है। तू ऋषभदेव के समय मरीचि के भव में तीर्थंकर वृषभदेव के वचनों का अनादर कर त्रसस्थावर योनियों में असंख्यात वर्ष तक भ्रमण करता रहा। अब इस भव से दसवें भव में तू अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह सब मैंने श्रीधर तीर्थंकर से सुना है। इन सब बातों को सुनते ही सिंह को जातिस्मरण हो गया। संसार के भयंकर दुःखों की स्मृति से उसका शरीर कांपने लगा तथा आंखों से अश्रु गिरने लगे। बहुत देर तक अश्रु गिरते रहने से ऐसा मालूम होता था कि मानों हृदय में सम्यक्त्व को स्थान देने की इच्छा से मिथ्यात्व ही बाहर निकल रहा है।

उसकी शांत भावना को देखकर मुनि ने उसे सम्यक्त्व और अणुव्रत ग्रहण कराये। सिंह ने मुनिराज की भक्ति से बार-बार प्रदक्षिणाएं दीं, बार-बार प्रणाम किया और तत्काल ही

काललब्धि के आ जाने से तत्त्वश्रद्धानपूर्वक श्रावक के व्रत ग्रहण किये। सिंह का मांसाहार के सिवाय और कोई आहार नहीं, अतः मांस का त्याग करने से उसने "निराहार व्रत" ग्रहण किया था।

सम्यग्दर्शन- सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और तत्वों का श्रद्धान करना।
अहिंसाणुव्रत- मनवचनकाय से किसी भी जीव को नहीं मारना।
सत्याणुव्रत- स्थूल झूठ नहीं बोलना।
अचौर्याणुव्रत- बिना दी हुई पर की वस्तु नहीं लेना।
ब्रह्मचर्याणुव्रत- अपनी स्त्री के सिवाय सबको माता, बहन समझना।
परिग्रह परिमाणाणुव्रत- धन-धान्य आदि परिग्रह का जीवन भर के लिए प्रमाण कर लेना।

तिर्यंचों के संयमासंयम के आगे व्रत नहीं हो सकते इसलिए वह देशव्रती कहलाया। वह सिंह सब कुछ त्याग कर शिलातल पर बैठकर चित्रलिखित (पत्थर की मूर्ति) के समान हो गया था। चारण मुनि उसे शिक्षा देकर बार-बार उसका स्पर्श करते हुये चले गये।

महावीर चरित[1] में लिखा है कि-

'यह मरा हुआ है ऐसा समझ मदोन्मत्त हाथियों ने उसकी जटाओं को नष्ट कर दिया, डांस, मक्खी और मच्छरों ने मर्म स्थानों को काट डाला, लोमड़ी और श्रृगाल मृतक समझकर उस सिंह को तीक्ष्ण नखों के द्वारा नोंच-नोंच कर खाने लगे तो भी उस सिंह ने अपनी परम समाधि नहीं छोड़ी, क्षमा भाव से सब सहन करता रहा। पूर्वोक्त प्रकार से एक महीने तक निश्चल रहकर अनशन धारण कर पाप रहित हुआ प्राणों से शरीर को छोड़ा।' इस प्रकार सन्यास विधि से मरा और शीघ्र ही सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नाम का देव हो गया वहां दो सागर तक उत्तम सुख भोगे।

पुनः मरीचि कुमार के जीव की जैनेश्वरी दीक्षा

स्वर्ग से आकर, धातकीखंड द्वीप के पूर्व मेरु सम्बंधी पूर्व विदेह के मंगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में कनकप्रभ नगर के राजा कनकपुंख विद्याधर और कनकमाला रानी के 'कनकोज्जवल' नाम का पुत्र हुआ। किसी दिन प्रियमित्र नाम के अवधिज्ञानी मुनि से दयामय जैनधर्म का उपदेश सुनकर दीक्षा ले ली। बहुत काल तक तपश्चरण करते हुये 'कनकोज्जवल' मुनिराज सन्यास विधि से मरकर सातवें स्वर्ग में देव हो गये। वहां के भोगों को भोगकर समाधिपूर्वक प्राण छोड़े और इसी अयोध्या के राजा वज्रसेन की रानी शीलवती 'हरिषेण' पुत्र हो गया। राज्य वैभव का अनुभव करके हरिषेण ने श्रुतसागर मुनि से दीक्षा ले ली। तपश्चरण के प्रभाव से महाशुक्र स्वर्ग में देव हो गये। वहां से चयकर धातकी खंड की

---

१. अशगकविकृत

पुंडरीकिणी नगरी के राजा सुमित्र की रानी मनोरमा से 'प्रियमित्र' नाम का पुत्र हो गया। यह प्रियमित्र चक्रवर्तीपद को प्राप्त हुआ, चक्ररत्न से छहखंड को जीतकर बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं से सेवित अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, छ्यानवे हजार रानियों के वैभव का अनुभव करते हुये क्षेमंकर जिनेन्द्र धर्मोपदेश सुनकर दीक्षित हो गया। यह प्रियमित्र मुनि आयु के अंत में समाधिकपूव्रक मरण करके सहस्रार स्वर्ग में 'सूर्यप्रभ' नाम के देव हुये। वहां पर अठारह सागर तक दिव्य सुखों का अनुभव कर जम्बूद्वीप के छत्रपुर नगर के राजा नंदिवर्धन की वीरवती रानी से 'नंद' नाम का एक सज्जन पुत्र हुआ। यहां भी अभिलषित राज्य का उपभोग कर 'प्रोष्ठिल' नाम के श्रेष्ठ गुरु के पास दीक्षा ले ली और ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

सिंहकेतु देव

वह सिंह सल्लेखना विधि से मरकर सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नाम का देव हो गया। वहां उसकी आयु दो सागर प्रमाण थी। स्वर्ग में देव उपपादशय्या से सोलह वर्ष के नवयुवक के समान शरीर से परिपूर्ण होकर उठकर बैठ जाते हैं। तभी वहां वाद्यों की ध्वनि आदि से अन्य परिवार देवगण-देवांगना आदि आकर जय-जयकार करते हुये नव आगत देव का स्वागत करते हैं।

वहां देव जन्म लेकर तत्क्षण सोचते हैं कि मैं यहाँ कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ ? इत्यादि सोचते ही उन्हें भवप्रत्यय नाम के अवधिज्ञान से सभी जानकारी मिल जाती है। इन सिंहकेतु देव ने भी जान लिया कि मैं सिंह की पर्याय में दिगंबर महामुनि के संबोधन से सम्यक्त्व और अणुव्रतों को प्राप्त कर समाधिपूर्वक मरण करके यहां प्रथम स्वर्ग में देवपद को प्राप्त हुआ हूँ। अनंतर अपने परिवार देवों का अवलोकन करके वस्त्राभरणों से अलंकृत हो अपने जिनमंदिर में गया, विधिवत् अभिषेक पूजन किया। कभी-कभी देव-देवांगनाओं के साथ सभा में नानाप्रकार की चर्चा किया करता था।

कभी-कभी वह देव अपने देव परिवार एवं देवांगनाओं के साथ मध्यलोक में आकर अनेक तीर्थों की वंदना किया करता था। कभी वह सिंहकेतु देव पंचमेरुओं की वंदना करके नंदीश्वर द्वीप में पहुंचकर बावन जिनमंदिरों की वंदना करने पहुंच जाता था।

नंदीश्वर द्वीप- मध्यलोक में सर्वप्रथम द्वीप का नाम जंबूद्वीप है एवं आठवें द्वीप का नाम नंदीश्वर द्वीप है। वहां चारों दिशाओं में एक-एक अंजनगिरि पर्वत हैं। इस अंजनगिरि के चारों तरफ एक-एक विशाल बावड़ियां हैं ये बावड़ियां चौकोन हैं। इन प्रत्येक बावड़ियों के मध्य एक-एक

'दधिमुख' पर्वत हैं। इस प्रकार चार अंजनगिरि संबंधी चार-चार दधिमुख पर्वत होने से सोलह दधिमुख माने हैं।

इन बावड़ियों के बाहिरी कोनों पर दो-दो रतिकर पर्वत हैं ऐसे ये रतिकर बत्तीस हो गये हैं।

इस प्रकार चार अंजनगिरि, सोलह दधिमुख एवं बत्तीस रतिकर ऐसे ४+१६+३२=५२ बावन पर्वतों पर एक-एक जिनमंदिर बने हुये हैं। ये अकृत्रिम जिनमंदिर हैं।

वह सिंहकेतु देव इन मंदिरों की वंदना किया करता था। इस प्रकार दो सागर की आयु पूर्ण कर वह देव वहां से च्युत होकर मध्यलोक में आ गया।

विद्याधर राजा कनकोज्ज्वल

तदनंतर वहां से च्युत होकर धातकीखंड द्वीप के पूर्वमेरू से पूर्व की ओर जो विदेहक्षेत्र है उसके मंगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अत्यंत श्रेष्ठ 'कनकप्रभ' नगर है। वहां के राजा कनकपुंख विद्याधर और उनकी महारानी कनकमाला के कनकोज्ज्वल नाम का पुत्र हुआ। कालांतर में राजा कनकपुंख ने पुत्र को राज्यभार सौंप दिया। एक दिन राजा कनकोज्ज्वल अपनी रानी कनकवती के साथ वंदना करने के लिये मंदरगिरि-सुमेरू पर्वत पर पहुंच गये। वहां भगवंतों की प्रतिमाओं के दर्शन करके महामुनि 'श्रीप्रियमित्र' गुरू के दर्शन किये वे मुनिराज अवधिज्ञानी थे। उन विद्याधर राजा कनकोज्ज्वल ने भक्तिपूर्वक महामुनि की तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार किया और प्रश्न किया-

हे भगवन्! धर्म का स्वरूप कहिए।

महामुनि ने कहा-

धर्मो दयामयो धर्मं, श्रय धर्मेण नीयसे। मुक्तिं धर्मेण कर्माणि, छिंधि धर्माय सन्मतिम्।।
देहि नापेहि धर्मात्त्वं, याहि धर्मस्य भृत्यताम्। धर्मे तिष्ठ चिरं धर्मं, पाहि मामिति चिंतय।।

हे वत्स! धर्म दयामय है, तुम धर्म का आश्रय करो, धर्म के द्वारा ही तुम मोक्ष के निकट पहुंच सकते हो, धर्म के द्वारा तुम कर्मबंधन का छेदन करो, धर्म के लिये सद्बुद्धि दो—लगावो, धर्म से पीछे मत हटो, धर्म की दासता स्वीकार करो, धर्म में स्थिर रहो और हे धर्म! तुम मेरी रक्षा करो। इस प्रकार धर्म का निश्चय करके सातों विभक्तियों के द्वारा धर्म का चिंतन करते रहो। ऐसा करने से तुम कुछ ही समय में—भवों में मोक्ष को प्राप्त कर लोगे।

राजा कनकोज्ज्वल मुनिराज से धर्मरूपी रसायन का पान कर ऐसे संतुष्ट हुये जैसे कि प्यासा मनुष्य जल पाकर संतुष्ट होता है। राजा ने उसी क्षण भोगों से विरक्त हो वैराग्य भावना का चिंतन किया और समस्त परिग्रह का त्यागकर गुरुदेव से दीक्षा ग्रहण कर ली।

बहुत दिनों तक अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हुये विहार किया। कभी वे वनों में आत्मा का ध्यान करते थे, कभी आतापन योग से स्थित हो संसार, शरीर और भोगों की असारता का चिंतन करते हुये चिच्चैतन्य स्वरूप आत्मा का चिंतन करते थे, कभी जिनमंदिरों में जाकर भगवंतों की वंदना करके नाना प्रकार की स्तुति करते हुये महान पुण्य का संचय किया करते थे।

इस प्रकार संयम की साधना करते हुये आयु के अंत में संन्यास विधि से मरण करके संयम के प्रभाव से सातवें स्वर्ग में देव हो गये।

सातवें स्वर्ग में देव

वहां देव उपपादशय्या से उठकर अवधिज्ञान को प्राप्त करके चिंतन करने लगे-

मैंने जैनेश्वरी दीक्षा लेकर जो संयम धारण किया था उसी के फलस्वरूप यह देवों का वैभव प्राप्त किया है अतः धर्म के फल का चिंतन करते हुये सर्वप्रथम भगवान के मंदिर में जाकर भक्तिपूर्वक भगवान की पूजा की। अनंतर अपने देवपरिवार के बीच में बैठकर सभासदों में चर्चा करते थे। कभी-कभी अप्सराओं के नृत्य को देखते हुये देवों के सुखों का अनुभव करते थे।

कभी-कभी मध्यलोक में आकर भगवान के समवसरण में पहुंचकर भगवान की स्तुति-वंदना करके कल्पवासी देवों की सभा में बैठ गये। भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर संतुष्ट हुये पुनः अपने पूर्वभवों को तथा अग्रिम भवों को पूछने लगे। भगवान की दिव्यध्वनि से अपने आगे के भवों को सुनकर अतीव प्रसन्न हुए कि मैं अब सातभवों के बाद नियम से संसार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर लूंगा।

कभी-कभी ये देव समवसरण के वैभव को देखकर चिंतन किया करते थे कि सचमुच में एक दिन भरतक्षेत्र के अंतिम तीर्थंकर के रूप में मेरा भी समवसरण देवों द्वारा बनाया जावेगा यह सब पुण्य की ही महिमा है।

कभी-कभी ये देव स्वर्ग में ही अपने नंदनवन में देव-देवांगनाओं के साथ जलक्रीड़ा, गीत, संगीत, नृत्य आदि करते हुये आमोद-प्रमोद में समययापन करते थे।

कभी तत्त्वचर्चा में निमग्न होते थे तो कभी अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करते हुये महान पुण्य का संचय करते थे।

पुनः पुनः मध्यलोक में आकर भगवान के समवसरण में नाना प्रकार के प्रश्नों से बारहगणों के भव्यों को भी संतुष्ट कर रहे थे। प्रश्नों के उत्तर में श्रीगणधर देव कहते थे-

भव्यात्माओं! सुनो, यह अहिंसा प्रधान धर्म चार प्रकार का है। जीवदया, रत्नत्रय, वस्तुस्वभाव और दशलक्षणस्वरूप। प्राणीमात्र के प्रति करुणा भावना, संकल्पीहिंसा का त्याग या

पूर्णरूपेण त्रस, स्थावरस्वरूप षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग करना 'अहिंसा धर्म- जीवदया धर्म है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय को स्वीकारना रत्नत्रय धर्म है।

जीवका स्वरूप ज्ञानदर्शनमय है, पुद्गल का स्वभाव अचेतन—जड़ है। इत्यादि प्रकार से द्रव्यों के स्वरूप का चिंतन करना। अनेकांत स्वरूप वस्तु का चिंतन करना वस्तु स्वभाव धर्म है।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दशधर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म हैं। श्रावक इन धर्मों का एकदेश पालन करते हैं और साधुगण इन्हें पूर्णरूप से पालन करते हुये उसी भव से या दो चार भवों से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार वहां सातवें—लांतव नामक स्वर्ग में तेरह सागर की आयु प्रमाण सुखों का अनुभव कर अंत में समाधिपूर्वक प्राणों को छोड़कर इस मध्यलोक में अवतीर्ण हो गये।

राजा हरिषेण

इसी जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में कौशल देश है। उसकी राजधानी साकेतपुरी—अयोध्या में राजा वज्रसेन की रानी शीलवती थीं। सातवें स्वर्ग से च्युत होकर उस देव का जीव रानी शीलवती के गर्भ में आ गया। रानी ने उत्तम-उत्तम दोहले प्राप्त किये। नव माह के बाद पुत्र का जन्म होते ही राजा ने पूरे शहर में उत्सव मनाया। पुत्र का नाम 'हरिषेण' रखा। बाल्यक्रीड़ाओं के द्वारा माता-पिता आदि परिवार के जनों को हर्षित करते हुये जहां राजमहल में आनंद की वृद्धि कर रहे थे वहीं पूरी अयोध्या के नागरिकों के आनंद समुद्र को बढ़ा रहे थे। युवावस्था में राजा वज्रसेन ने अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया।

कभी-कभी ये राजा हरिषेण अपनी राज्यसभा में नर्तकियों का नृत्य आदि देखते हुये आनंद विभोर हो जाते थे। कभी-कभी धर्मानुष्ठानों से प्रजा को धर्म में लगाकर आनंद का अनुभव करते थे। एक बार विरक्त होकर सारहीन माला के समान समस्त राज्यलक्ष्मी का त्याग कर दिया तथा उत्तम व्रत और शास्त्रज्ञान से सुशोभित श्री श्रुतसागर महामुनि के पास जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के समय उनके गुरु ने 'शिष्य हरिषेण' के मस्तक पर विधिवत् मंत्रों से अट्ठाईस मूलगुणों के संस्कार किये थे। दीक्षा के अनंतर कुछ समय गुरु के निकट रहकर पश्चात् गुरु की आज्ञा से जिनकल्पी एकलविहारी महामुनि बन गये।

तब ये हरिषेण मुनिराज पर्वतों की चोटी पर बैठकर ध्यान करते थे। गर्मी के दिनों में पर्वत की चोटी पर ध्यान करना आतापन योग है। वर्षाऋतु में वृक्षों के नीचे ध्यान लगाकर बैठ जाना

एवं शीतऋतु में खुले मैदान में ध्यान करना यह त्रिकाल योग कहलाता है। कहा भी है -

गिम्हे गिरिसिहरत्था वरिसायाले रुक्खमूलरयणीसु।
सिसिरे बाहिरसयणा ते साहू वंदिमो णिच्चं।।

ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर पर स्थित होकर, वर्षाकाल में रात्रि में वृक्षों के नीचे बैठकर एवं शीतकाल में खुले मैदान में स्थित होकर जो तपस्या करते हैं ऐसे साधुओं की हम नित्य ही वंदना करते हैं।

कभी-कभी ये महामुनि उद्यान में आये हुये शिष्यसमूह के लिये धर्म का उपदेश दिया करते थे। यह धर्मामृत की वर्षा सच्चे साधु ही कर सकते हैं। आज कल इस पंचमकाल में यहां इस भरतक्षेत्र में ऐसे सत्यधर्म के उपदेशक मुनि बहुत ही दुर्लभ हैं। कहा भी है-

कलिप्रावृड् मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित-क्वचित।।

इस कलिकालरूपी वर्षाकाल में चारों तरफ से मिथ्यात्व के बादल छाये हुये हैं। ऐसे समय में सच्चे धर्म के उपदेष्टा जुगुनू के समान कहीं-कहीं ही चमकते हैं। यह बड़े खेद की बात है।

किंतु महामुनि हरिषेण तो चतुर्थकाल में एक महान साधु हुये हैं। इन्होंने व्रतों की विशुद्धि को बढ़ाते हुये अंत में समाधिपूर्वक शरीर को छोड़ा और महाशुक्र नाम के दसवें स्वर्ग में देवपद को प्राप्त हो गये।

दसवें स्वर्ग में देव

वहां पर महाशुक्र स्वर्ग में हरिषेणचर देव अपनी देवांगनाओं और देवपरिवार के साथ अनेक दिव्यसुखों का अनुभव करते रहते थे। कभी-कभी वे मध्यलोक में संयम की मूर्ति महामुनियों के दर्शनार्थ आ जाते थे, यहां आकर मुनियों की वंदना, भक्ति करके उनके प्रवचन सुनते थे अनेक प्रकार के प्रश्नों से जिनधर्म का विशेष ज्ञान प्राप्त करते थे। कभी-कभी वे मध्यलोक के ४५८ जिनमंदिरों की वंदना करते थे। कभी-कभी जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के हिमवान पर्वत पर आकर पद्मसरोवर आदि के कमलों की सुंदरता देखते हुये 'श्रीदेवी' के महल में मंदिर का भी दर्शन करते थे। हिमवान पर्वत के ग्यारह कूटों में जो पूर्व दिशा का सिद्धकूट है वहां जाकर अकृत्रिम जिनमंदिर के जिन प्रतिमाओं की वंदना करते पुनः विजयार्ध पर्वत के नव कूटों में से जो पूर्व दिशा का एक सिद्धकूट है उसके जिनमंदिर की वंदना करके गंगा-सिंधु नदियों की रमणीयता देखते थे। जो भरतक्षेत्र की रचना है उसका अवलोकन करते हुये छह खण्डों का विभाजन एवं आर्यखंड में अयोध्या, सम्मेदशिखर जैसे शाश्वत तीर्थों की वंदना करके विजयार्ध के विद्याधरों की श्रेणियों में

भी जो कृत्रिम जिनमंदिर हैं तथा वहां जो केवली, श्रुतकेवली, महामुनि आदि तत्काल में विद्यमान थे उनके दर्शन करके प्रसन्न होते थे।

देवों में सम्यग्दृष्टि देवों का तो यह स्वभाव ही मानना चाहिये कि मध्यलोक में आकर धर्मायतनों के दर्शन करना, तीर्थंकरों के समवसरण में जाना,अकृत्रिम-कृत्रिम जैन मंदिर और जिनप्रतिमाओं के दर्शन करना।

जंबूद्वीप, धातकीखंड, पुष्करार्धद्वीप ऐसे ढ़ाई द्वीप के तथा नंदीश्वर द्वीप, कुंडलवर द्वीप और रुचकवर द्वीप के अकृत्रिम जिन मंदिरों की वंदना करना, सर्वत्र विक्रिया के बल से विचरण करते हुये भरतक्षेत्र आदि की सुंदरता को देखना इत्यादि आनंद के लिये ही नहीं प्रत्युत् महान सातिशय पुण्यबंध के लिये भी कारण माने गये हैं।

वर्तमान में यह जंबूद्वीप नाम के प्रथम द्वीप की सुंदर भव्य आकर्षक रचना हस्तिनापुर तीर्थ क्षेत्र पर बनी हुई है। इसे देखकर आप सभी भव्यात्मा जंबूद्वीप की, भरतक्षेत्र की एवं विदेहक्षेत्र आदि की सुंदरता का अनुमान लगा सकते हैं। आज जो महानुभाव हस्तिनापुर पहुँचकर जम्बूद्वीप का दर्शन करते हैं उनके मुख से एकबार सहसा यह वाक्य निकलता है कि -'अहो! हम तो स्वर्ग में आ गये! इससे अच्छा स्वर्ग भला और क्या होगा ?

जब कृत्रिम रचना को देखकर इतना आनंद होता है तब भला जो अकृत्रिम रचनाओं का साक्षात्कार करते होंगे उन्हें कितना आनंद प्राप्त होता होगा? वास्तव में देवगण ऐसे आनंद का अनुभव करते रहते हैं।

इस प्रकार यह हरिषेणचर देव वहां दसवें स्वर्ग में सोलह सागर की आयुपर्यंत दिव्यसुखों का अनुभव करके अंत में वहां की आयुपूर्ण कर वहां से च्युत होकर मध्यलोक में आ गया।

प्रियमित्र चक्रवर्ती

धातकी खंड द्वीप की पूर्वदिशा संबंधी विदेहक्षेत्र के पूर्वभाग में स्थित पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के राजा सुमित्र थे उनकी रानी का नाम मनोरमा था। इनके एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ उसका नाम 'प्रियमित्र' रखा गया। यह बालक धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त हुआ पुनः चक्रवर्ती पद को प्राप्त कर समस्त भोगों का उपभोग किया।

चक्रवर्ती का वैभव-

ऐरावत हाथी के समान चौरासी लाख हाथी, वायु के समान वेगशाली रत्नों से निर्मित चौरासी लाख रथ, पृथ्वी की तरह आकाश में भी गमन करने वाले अठारह करोड़ उत्तम घोड़े एवं

योद्धाओं का मर्दन करने वाले ऐसे चौरासी करोड़ पदाति—पियादे थे।

स्वयं चक्रवर्ती का शरीर वज्रमय—वज्रवृषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान का था। छहखंड के सभी राजाओं में जितना कुछ बल होता है उन सबसे अधिक बल उनके एक शरीर में था। उनके चक्ररत्न के प्रभाव से छह खंड के सभी राजा उनकी आज्ञा को सिर पर धारण करते थे। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके चरणों में नत थे।

चक्रवर्ती के छियानवे हजार रानियां थीं, जिनमें से बत्तीस हजार रानियां आर्यखंड की, बत्तीस हजार रानियां विद्याधरों की कन्यायें एवं बत्तीस हजार रानियां म्लेच्छ खंड में जन्में राजाओं की थीं। ये सब अप्सराओं के समान सुंदर थीं।

बत्तीस हजार नाट्यशालायें थीं जिनमें हमेशा गीत, नृत्य, वाद्य आदि चलते रहते थे। स्वर्गपुरी के समान बहत्तर हजार नगर, नंदनवन जैसे बगीचों से शोभायमान छियानवें करोड़ गांव थे, निन्यानवें हजार द्रोणमुख थे जो कि समुद्र के समीपवर्ती थे एवं धन धान्य से अतिशय समृद्ध थे, अड़तालीस हजार पत्तन जोकि रत्नों की खान होने से रत्नाकर के समान थे, सोलह हजार 'खेट' जोकि कोट, अटारी, खाई और परकोटों से शोभायमान थे, समुद्र के बीच में होने वाले और कुभोगभूमिज मनुष्यों से भरे छप्पन अंतर्द्वीप थे जिनके चारों ओर खाई थी ऐसे चौदह हजार संवाह अर्थात् पर्वतों पर बसने वाले शहर थे।

भोजनशाला में चावल पकाने के लिये एक करोड़ बड़े-बड़े हंडे थे जिनमें बीज बोने की नली लगी हुई है ऐसे एक करोड़ हल थे, सात सौ कुक्षिवास थे, अठारह हजार आर्यखंड के म्लेच्छ राजा थे।

नवनिधियां—काल, महाकाल, नैसर्प, पांडुक, पद्म, माणव, पिंगल, शंख और सर्वरत्न ये नवनिधियों के नाम हैं।

काल निधि—से काव्य, कोष, अलंकार, व्याकरण आदि शास्त्र और वीणा, बांसुरी, नगाड़े आदि मिलते रहते हैं।

महाकाल निधि से—असि, मषि, कृषि आदि छह कर्मों के साधन ऐसे समस्त पदार्थ और संपदायें निरंतर उत्पन्न होती रहती हैं।

नैसर्प निधि—शय्या, आसन, मकान आदि देती है।

पांडुक निधि—समस्त धान्य और छहों रसों को उत्पन्न करती है।

पद्मनिधि—रेशमी, सूती आदि वस्त्र प्रदान करती थी।

शंखनिधि—सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करने वाले सुवर्ण को देती है।

सर्वरत्ननिधि—इन्द्रनील, पद्मराग, वैडूर्य, स्फटिक आदि अनेक प्रकार के रत्नों को एवं नाना प्रकार की मणियों को देती है।

इन नवनिधियों के साथ चक्रवर्तियों के चौदह रत्न होते हैं। जिनमें सात सजीव होते हैं और सात निर्जीव माने हैं। ये सब रत्न पृथ्वी की रक्षा, विशाल ऐश्वर्य और उपयोग के साधन हैं। चक्र, छत्र, दण्ड, खड्ग, मणि, चर्म और कांकिणी ये सात निर्जीव रत्न हैं। सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, तक्ष-सिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न हैं।

प्रियमित्र चक्रवर्ती ने सुदर्शन नामक चक्ररत्न से छहों खंडों को जीत लिया था। उनका 'सूर्यप्रभ' नाम का छत्र राजसभा में जगमग ज्योति फैलाता हुआ सूर्य की प्रभा को भी लज्जित करता रहता था। दण्डरत्न से विजयार्ध पर्वत की गुफा का द्वार खोला गया था। सौजन्दक तलवार को देखकर वैरी राजा कंपित होकर चक्रवर्ती की शरण में आ जाते थे। मणि-चूड़ामणि रत्न अंधकार को दूर कर देता था। चर्मरत्न से मेघकृत जल के उपद्रव से सेना की रक्षा होती थी। कांकिणीरत्न से गुफा में सूर्यचंद्र के आकार बनाकर प्रकाश फैलाया जाता था। सेनापति रत्न दिग्विजय में सभी योद्धाओं से अजेय रहता था। कामवृष्टि नामक गृहपति रत्न घर के सारे काम काज संभालता था। विजयगिरि नाम का उत्तम हाथी रत्न चक्रवर्ती का वाहन था। पवनंजय नाम का अश्वरत्न (घोड़ा) स्थल के समान समुद्र में भी दौड़ लगाता था। युवति नाम की स्त्रीरत्न चक्रवर्ती के भोगसुख का साधन थी जोकि अपने हाथ की शक्ति से वज्र को भी चूर कर सकती थी। भद्रमुख नाम का तक्षरत्न दिग्विजय के समय स्थान-स्थान पर सुंदर महलों का निर्माण करता था और पुरोहित रत्न सभी निमित्तज्ञान आदि में प्रवीण हुआ संपूर्ण धार्मिक कार्यों को संपन्न कराता था।

दशांग भोग- चक्रवर्ती के रत्नों के साथ ही दशांग भोग माने गये हैं-

१. नवनिधियाँ २. पट्टरानियाँ ३. नगर ४. शय्या ५. आसन ६. सेना ७. नाट्यशालायें ८.भाजन ९.भोजन और १०. वाहन ये दश प्रकार के भोगोपभोग के साधन रहते हैं।

सोलह हजार गणबद्ध जाति के व्यंतर देव हाथ में तलवार लेकर निधिरत्न और चक्रवर्ती की रक्षा करने में तत्पर रहते थे। प्रियमित्र चक्रवर्ती ने पूर्वपुण्य के प्रभाव से ऐसे चक्रवर्ती के वैभव को प्राप्त किया।

उन्होंने चक्ररत्न के प्राप्त होने पर दिग्विजय के लिये प्रस्थान करके छहखंड पृथ्वी को जीत लिया पुनः न्यायनीतिपूर्वक एकछत्र शासन करते हुये प्रजा को पुत्र के समान सुख प्रदान किया।

एक दिन 'क्षेमंकर' भगवान के समवसरण में पहुंचकर भगवान के दर्शन किये। मनुष्यों के कोठे में बैठकर भगवान की दिव्यध्वनि से तत्वों का उपदेश सुना पुनः संसार के समस्त भोगों को

क्षणभंगुर मानकर विरक्त हो गये। वापस आकर 'सर्वमित्र' नाम के अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर एक हजार राजाओं के साथ प्रभु के श्रीचरणों में दीक्षित हो गये। उस समय पांच समितियों और तीन गुप्तियोंरूप आठ प्रवचनमातृकाओं के साथ-साथ अहिंसा महाव्रत आदि पांच महाव्रत उन मुनिराज में पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हुये थे। बहुत काल तक पृथ्वी तल पर विहरण करते हुये निर्जनवनों में ध्यान करते थे। कभी-कभी शरीर को रत्नत्रय का साधन मानकर श्रावक के घर में छ्यालीस दोष और बत्तीस अंतराय टालकर करपात्र में शुद्ध प्रासुक आहार ग्रहण करते थे पुनः वन में जाकर आत्मसिद्धि हेतु योगसाधना में लीन हो जाते थे। इस प्रकार मुनिचर्या का पालन करते हुये अन्त में समाधिपूर्वक शरीर को छोड़कर महान त्याग के प्रभाव से बारहवें स्वर्ग में देव हो गये।

बारहवें स्वर्ग के देव

प्रियमित्र चक्रवर्ती महामुनि ने सहस्रार स्वर्ग में देवपद प्राप्त किया, सूर्यप्रभ इनका नाम था। वहां उनकी आयु अठारह सागर प्रमाण थी। अणिमा, महिमा आदि अनेक ऋद्धियों से सहित थे। सबसे पहले ये देव जिनमंदिरों में पहुंचते हैं। जिनमंदिर में प्रतिमाओं की वंदना स्तुति करके पूजा की। इन जिनमंदिरों में एक सौ आठ जिनप्रतिमायें विराजमान रहती हैं। प्रत्येक मंदिर में झारी, कलश, दर्पण, चंवर, बीजना, सिंहासन, छत्र और ठो ये आठ मंगल द्रव्य एक सौ आठ-एक सौ आठ रहते हैं। इन मंदिरों में दुंदुभि, मृदंग, मर्दल, जयघंटा, भेरी, झांझ, वीणा और बांसुरी आदि वाद्यों के उत्तम-उत्तम शब्द सदैव होते रहते हैं।

प्रत्येक जिनप्रतिमायें आठ प्रातिहार्यों से सहित हैं। अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, छत्रत्रय, भामंडल और देव-दुंदुभि ये आठ प्रातिहार्य माने हैं।

सम्यग्दृष्टि देव कर्मक्षय के निमित्त गाढ़ भक्ति से सहित होकर विविध अष्ट द्रव्यों से जिनेंद्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

तीनों लोकों में अकृत्रिम जिनमंदिरों की संख्या का प्रमाण बताया है। अधोलोक में नरकधरा के ऊपर भवनवासी देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख जिनमंदिर हैं। मध्यलोक में जंबूद्वीप नाम के प्रथम द्वीप से लेकर रुचकवर' नाम के तेरहवें द्वीप तक चार सौ अट्ठावन मंदिर हैं । इनमें से जंबूद्वीप में सुमेरूपर्वत के १६, गजदंत के ४, जंबूवृक्ष शाल्मलिवृक्ष के २, सोलह वक्षारों के १६, चौंतीस विजयार्ध पर्वतों के ३४ एवं षट् कुलाचलों के ६ ये १६+४+२+१६+३४+६=७८ हुये। ऐसे पूर्वधातकी खंड़ के ७८, पश्चिम धातकी खंड के ७८, पूर्व पुष्करार्धद्वीप के ७८, पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप के ७८, इष्वाकार के ४, मानुषोत्तर पर्वत के ४, नंदीश्वर द्वीप के ५२, कुंडलवर द्वीप

के ४ और रुचकवर द्वीप के ४ ऐसे ७८+७८+७८+७८+७८+४+४+५२+४+४=४५८ हो गये।

ऊर्ध्वलोक के चौरासी लाख, सत्तानवे हजार तेईस हैं। स्वर्गों के एवं नवग्रैवेयक आदि के जितने विमान हैं उतने ही जिनमंदिर हैं। सौधर्मस्वर्ग में ३२ लाख, ईशान में २८ लाख, सानत्कुमार में १२ लाख, माहेन्द्र में ८ लाख, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल में ४ लाख, लांतव-कापिष्ठ में ५० हजार, शुक्र-महाशुक्र में ४० हजार, शतार सहस्रार में ६ हजार, आनत-प्राणत, आरण और अच्युत ऐसे चार कल्पों में सात सौ तीन अधोग्रैवेयक १११, तीन मध्यग्रैवेयक में १०७, तीन ऊर्ध्वग्रैवेयक में ९१, नव अनुदिश में ९ और पांच अनुत्तर में ५ ऐसे सब मिलाकर ३२००००० + २८००००० + १२००००० + ८००००० + ४००००० + ५०००० + ४०००० + ६००० + ७०० + १११ + १०७ + ९१ + ९ + ५ = ८४९७०२३ अकृत्रिम जिनमंदिर हैं। कुल मिलाकर ७७२००००० + ४५८ + ८४९७०२३ = ८५६९७४८१ अकृत्रिम जिनमंदिर हैं।

इसके आगे व्यंतर देवों के यहां और ज्योतिषी देवों के यहां असंख्यातों जिनमंदिर माने गये हैं। इन प्रत्येक जिनमंदिरों में १०८-१०८ जिनप्रतिमायें विराजमान हैं अतः उपर्युक्त जिनमंदिरों के जिन प्रतिमाओं की संख्या नव सौ पचीस करोड़ त्रेपन लाख, सत्ताइस हजार, नव सौ अड़तालीस हैं।

नव सौ पचीस कोटी त्रेपन, लाख सताइस सहस प्रमाण।
नव सौ अड़तालिस जिनप्रतिमा, शिवसुख हेतू करूँ प्रणाम।।

सम्यग्दृष्टि देव इन मंदिरों में से मध्यलोक के अकृत्रिम जिन मंदिरों की तो अतीव भक्ति से पूजा करते ही हैं जहां जहां संभव है वहां-वहां जाकर वे सूर्यप्रभ देव जिनप्रतिमाओं की वंदना किया करते हैं शेष जिनमंदिरों की परोक्ष से ही वंदना का पुण्य संचय किया करते थे।

कभी-कभी ये देव अपने देव परिवार के साथ मध्यलोक में आकर महामुनियों की वंदना करके उनके श्रीमुख से धर्मोपदेश सुन कर प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार धर्माराधना में समय व्यतीत किया करते हैं।

आयु के अंत में स्वर्ग में ही सुंदर उद्यान में कल्पवृक्ष के नीचे महामंत्र का स्मरण करते हुये ध्यान में लीन हो गये। देव शरीर से प्राण निकल गये और वैक्रियिक शरीर तत्क्षण ही कपूर जैसा विलीयमान हो गया। वे मध्यलोक में इसी भरत क्षेत्र के छत्रपुर नगर में रानी के पुत्र हो गये।

नंदनमहाराज

जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखंड में एक छत्रपुर नाम का नगर था। वहां के राजा नंदिवर्धन की रानी वीरवती के गर्भ में उपर्युक्त सूर्यप्रभ देव का जीव आ गया। नव माह के बाद रानी ने पुत्र को जन्म दिया। पूरे राज्य में आनंद मंगल होने से राजा ने पुत्र का नाम 'नंद' रखा

इसे नंदन भी कहते थे। नंदन बालक माता की अंगुली पकड़कर खेलते हुये महाराजा नंदिवर्धन का मनोरंजन किया करता था।

पुत्र के यौवनावस्था को प्राप्त होने पर राजा ने अपना राज्यभार पुत्र को सौंप दिया, क्योंकि यही सनातन परंपरा है। राजा नंद ने भी चिरकाल तक राज्य संचालन करते हुये प्रजा को खूब संतुष्ट किया। इष्ट—अभिलषित राज्य का उपभोग कर राजा नंद ने 'प्रोष्ठिल' नाम के गुरू के पास जैनेश्वरी दीक्षाग्रहण कर ली। मुनियों के संघ में धर्मोपदेश देकर सच्चे मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन कराते रहते थे।

इन्होंने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से गुरु के सान्निध्य में ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। अंग और पूर्वरूप श्रुत का ज्ञान गुरु के मुख से ही प्राप्त होता है कभी किसी को बिना गुरु के नहीं होता है।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध

अच्युतेन्द्र

नंद महामुनि समाधिमरण के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग में पुष्पोत्तर विमान में 'इन्द्र' हो गये। इस सोलहवें स्वर्ग का नाम अच्युत है अतः ये इन्द्र अच्युतेन्द्र कहलाते थे।

देवों की उत्पत्ति के बारे में मूलाचार में कहा है-

देहस्स य णिव्वत्ती भिण्णमुहुत्तेण होइ देवाणं।
सव्वंगभूसणगुणं जोव्वणमवि होदि देहम्मि।।

टीका में - जोव्वणं- यौवनं प्रथमवयः परमरमणीयावस्था सर्वालंकारसमन्विता अतिशयमतिशोभनं सर्वजननयनाल्हादनपरं, होदि- भवति, देहम्मि-देहे शरीरे। देवानां यौवनमपि शोभनं सर्वांगभूषणयुतं तेनैव भिन्नमुहूर्तेन भवतीति।

भवनवासी आदि चारों प्रकार के देवों के कुछ कम दो घड़ी के काल से—कुछ काम अंतर्मुहूर्त के काल से छहों पर्याप्तियां पूर्ण हो जाती हैं। सर्वकार्य करने में समर्थ शरीर भी पूर्ण बन जाता है। हाथ-पैर, मस्तक, कंठ आदि को विभूषित करने वाले वस्त्र आभूषण और नाना गुण भी पूर्ण हो जाते हैं। वह देव शरीर नव यौवन से संपन्न, परमरमणीय, सर्वालंकार से समन्वित, अतिशय सुंदर और सर्वजनों को आल्हादित करने वाला हो जाता है।

इन अच्युतेन्द्र की आयु बाईस सागर प्रमाण थी, तीन हाथ ऊंचा शरीर था, द्रव्य से- शरीर वर्ण से और भाव से दोनों ही शुक्ल लेश्यायें थीं, बाईस पक्ष में एक बार श्वास लेते थे। बाईस हजार

वर्ष में एक बार मानसिक अमृत का आहार था, सदा मानसिक प्रवीचार—कामसेवन था अर्थात् मन में ही देवांगनाओं का स्मरण करने से कामभोग की तृप्ति हो जाती थी। अणिमा, महिमा आदि दिव्य ऋद्धियों से नाना प्रकार के सुखों का अनुभव करते थे। उनका अवधिज्ञान छठी पृथ्वी तक की बातों को जान लेता था, उनके विक्रिया की सीमा थी अर्थात् उनके अवधिज्ञान क्षेत्र के बराबर थी। अपने सामानिक आदि देवों और देवांगनाओं से घिरे हुये वे इंद्रराज अपने पुण्य कर्म के विशेष उदय से सुखरूपी सागर में सदा निमग्न रहते थे।

कभी वे अपनी इन्द्रसभा में देव अप्सराओं का नृत्य देखते थे। कभी देव-देवियों के साथ मध्यलोक में जाकर द्वीप-समुद्रों की शोभा देखकर आनंद का अनुभव किया करते थे।

मध्यलोक में अकृत्रिम जिनमंदिर तेरह द्वीपों तक ही हैं अतः कभी-कभी ये इन्द्रराज रुचकवर द्वीप आदि में पहुंचकर १००८ दिव्य क्षीर सागर के जल से भरे कलशों से जिनप्रतिमाओं का महाभिषेक करके उत्सव मनाते थे, अष्टद्रव्य से पूजा करते थे और महान पुण्य का संचय कर लिया करते थे।

इस प्रकार ये अच्युतेन्द्र बाइस सागर पत दिव्य सुखों का अनुभव करके जब मनुष्य लोक में आने वाले थे, आयु में छह माह शेष रह गये तक सौधर्मेन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी कि इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखंड में कुंडलपुर नगर में अंतिम तीर्थंकर का जन्म होने वाला है अतः तुम जाकर जन्म से पंद्रह महिने पूर्व से ही रत्नों की वर्षा करना प्रारंभ कर दो। अच्युतेन्द्र सुरराज अपने पुष्पोत्तर विमान में ही थे और यहां कुंडलपुर का माहात्म्य बढ़ने लगा था।

पंचकल्याणक वैभव-

जब अच्युतेन्द्र की आयु छह मास बाकी रह गई तब इस भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश में कुंडलपुर[1] नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आँगन में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ प्रमाण रत्नों की धारा बरसने लगी। आषाढ़ शुक्ल षष्ठी के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में रानी प्रियकारिणी ने सोलह स्वप्न देखे और पुष्पोत्तर विमान से अच्युतेन्द्र का जीव च्युत होकर रानी के गर्भ में आ गया। प्रातःकाल राजा के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर रानी अत्यन्त संतुष्ट हुई। तदनंतर देवों ने आकर गर्भ कल्याणक उत्सव मनाकर माता-पिता का अभिषेक करके उत्सव मनाया।

नव मास पूर्ण होने के बाद चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन रानी त्रिशला ने पुत्र को जन्म दिया। भगवान महावीर का जन्म तेरस की रात्रि में हुआ है ऐसा जयधवला में वर्णित है-

"आषाढजोण्हपक्खछट्ठीए कुंडलपुरणगराहिव-णाहवंस-सिद्धत्थणरिंदस्स तिसिलादेवीए गब्भमागंतूण तत्थ अट्ठदिवसाहियणवमासे अच्छिय चइत्तसुक्कपक्ख-तेरसीए रत्तीए उत्तरफग्गुणीणक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो वड्ढमाणजिणिंदो[2]।।"

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४। २. कसायाहुड, पुस्तक १ पृ. ७७

आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन कुंडलपुर नगर के स्वामी नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की रानी त्रिशला देवी के गर्भ में आकर और वहां नव मास आठ दिन रहकर चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुये वर्द्धमान जिनेन्द्र ने जन्म लिया। उस समय देवों के स्थानों में अपने आप वाद्य बजने लगे, तीनों लोकों में सर्वत्र एक हर्ष की लहर दौड़ गई। सौधर्म इन्द्र ने बड़े वैभव के साथ सुमेरूपर्वत की पांडुकशिला पर क्षीरसागर के जल से भगवान का जन्माभिषेक किया। इन्द्र ने उस समय उनके "वीर" और "वर्धमान" ऐसे दो नाम रखे।

श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के बाद दो सौ पच्चास वर्ष बीत जाने पर श्री महावीर स्वामी उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी में शामिल है। कुछ कम बहत्तर वर्ष की आयु थी, सात हाथ ऊँचे, स्वर्ण वर्ण के थे। एक बार संजय और विजय नाम के चारणऋद्धिधारी मुनियों को किसी पदार्थ में संदेह उत्पन्न होने से भगवान के जन्म के बाद ही वे उनके समीप आकर उनके दर्शन मात्र से ही संदेह से रहित हो गये तब उन मुनि ने उन बालक का "सन्मति" नाम रखा। किसी समय संगम नामक देव ने सर्प बनकर परीक्षा ली और भगवान को सफल देखकर उनका "महावीर" यह नाम रखा।

तीस वर्ष के बाद भगवान को पूर्वभव का स्मरण होने से वैराग्य हो गया तब लौकान्तिक देवों द्वारा स्तुति को प्राप्त भगवान ने ज्ञातृवन में सालवृक्ष के नीचे जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और तत्काल मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त कर लिया। पारणा के दिन कूलग्राम की नगरी के कूल नामक राजा के यहाँ खीर का आहार ग्रहण किया। किसी समय उज्जयिनी के अतिमुक्तक वन में ध्यानारूढ़ भगवान पर महादेव नामक रुद्र ने भयंकर उपसर्ग करके विजयी भगवान का "महतिमहावीर" नाम रखकर स्तुति की। किसी दिन कौशाम्बी नगरी में सांकलों में बंधी चंदनबाला ने भगवान को पड़गाहन किया तब उसकी बेड़ी आदि टूट गई। मिट्टी का सकोरा स्वर्णपात्र बन गया एवं कोदों का भात शालीचावल की खीर बन गया तभी सती चंदना ने नवधाभक्ति पूर्वक महामुनि महावीर को आहार देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किया।

छद्मस्थ अवस्था के बारह वर्ष बाद जृंभिक ग्राम की ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में सालवृक्ष के नीचे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उस समय इन्द्र ने केवलज्ञान की पूजा की। भगवान की दिव्यध्वनि के न खिरने पर इन्द्र गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण को युक्ति से लाये तब उनका मान गलित होते ही वे भगवान से दीक्षित होकर मनःपर्यय ज्ञान और सप्तऋद्धि से विभूषित होकर प्रथम गणधर हो गये तब भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। श्रावण कृष्ण एकम के दिन दिव्यध्वनि को सुनकर गौतम गणधर ने सायंकाल में द्वादशांग श्रुत की रचना की। इसके बाद वायुभूति आदि ग्यारह गणधर हुए हैं। भगवान के

समवसरण में मुनीश्वरों की संख्या चौदह हजार थी, चंदना आदि छत्तीस हजार आर्यिकाएं थीं, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकायें, असंख्यात देव देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। बारह गणों से वेष्टित भगवान ने विपुलाचल पर्वत पर और अन्यत्र भी आर्य खंड में बिहार कर सप्ततत्व आदि का उपदेश दिया।

अंत में पावापुर नगर के मनोहर नामक वन में अनेक सरोवरों के बीच शिलापट्ट पर विराजमान होकर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को अंतिम प्रहर में स्वाति नक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। तब देवों ने मोक्ष कल्याणक की पूजा कर दीप मालिका जलायी थी। तब से लेकर आज तक कार्तिक कृष्णा अमावस्या को दीपावली पर्व मनाया जाता है।
भगवान के जीवन वृत्त से हमें यह समझना है कि मिथ्यात्व के फलस्वरूप जीव त्रस स्थावर योनियों में परिभ्रमण करता है। सम्यक्त्व और व्रतों के प्रसाद से चतुर्गति के दुखों से छूटकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है अतः मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यग्दृष्टि बन करके व्रतों से अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिए।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञानके अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य से दो भेद भी माने हैं। जिसमें अंग प्रविष्ट के द्वादशांग रूप बारह भेद और अंग बाह्य के अनेकों भेद होते हैं। द्वादशांग में प्रत्येक के दो पदों का प्रमाण बतलाया गया है जो कि श्रुतस्कंध यंत्र में स्पष्ट है और जिन अक्षरों के पद न बन सकें वे ही अंग बाह्य कहलाते हैं। उनके सामायिक, स्तव, वंदना आदि भेद वर्णित हैं।

गणधर[1] देव के शिष्य प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रंथ अंग बाह्य हैं। इसमें कालिक उत्कालिक आदि अनेकों भेद हैं। स्वाध्याय काल में जिनके पठन-पाठन का नियम है उन्हें कालिक एवं जिनके पठन-पाठन का नियत समय न हो उन्हें उत्कालिक कहते हैं।

भगवान की वाणी के चार अनुयोगरूप से भी विभाजित किया गया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग- चार पुरुषार्थों का आख्यान जिसमें है ऐसे ग्रन्थ—चरित ग्रन्थ, पुराण ग्रन्थ, पुण्योत्पादक शास्त्र, बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि के लिए खानस्वरूप शास्त्र प्रथमानुयोग कहलाते हैं। इस अनुयोग में मुख्य रूप से त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित का वर्णन किया जाता है।

---

१. 'आरातीयाचार्य कृतांगार्थप्रत्यासन्नरूपमंगबाह्यम्' ।।१३।। तत्त्वार्थवार्तिक

करणानुयोग-जो शास्त्र लोकालोक के विभाग को, युग के परिवर्तन और चतुर्गतियों को दिखलाने के लिए दर्पण के समान है वह करणानुयोग है।

चरणानुयोग- श्रावक और मुनियों के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का जिसमें वर्णन है वह चरणानुयोग है।

द्रव्यानुयोग- जिसमें जीव-अजीव, पुण्य-पाप और बंध मोक्ष का विस्तृत वर्णन है वे द्रव्यानुयोग शास्त्र हैं।[1]

वर्तमान काल के-

त्रेसठ शलाका पुरुषों के नाम

इस चतुर्थ काल में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलभद्र, ६ नारायण और ६ प्रतिनारायण ऐसे त्रेसठ महापुरुष होते हैं। इनमें से भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर और महाराज भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए हैं।

२४ तीर्थंकर-ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चंदप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुन्थु, अरनाथ, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व, और वर्धमान।

१२ चक्रवर्ती- भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त।

६ बलभद- विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नंदी, नंदिमित्र, रामचन्द्र और पद्म।

६ नारायण- त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण और श्रीकृष्ण।

६ प्रतिनारायण- अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुंभ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासन्ध।

ये शलाका पुरुष चतुर्थकाल में ही होते हैं। ऐसे ही ये महापुरुष पूर्वकाल में भी अनंतों हो चुके हैं और भविष्य में भी होते ही रहेंगे। इन्हीं में चौबीस तीर्थंकरों का इस ग्रन्थ में वर्णन किया गया है।

धर्म तीर्थ व्युच्छित्ति

पुष्पदंत से लेकर धर्मनाथपर्यंत सात तीर्थों में जिनधर्म की व्युच्छित्ति हुई है, शेष सोलह तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की परंपरा निरंतर रही है, अर्थात् पुष्पदंत भगवान के तीर्थ में पावपल्य, शीतलनाथ के तीर्थ में अर्द्धपल्य, श्रेयांसनाथ के तीर्थ में पौन पल्य, वासुपूज्य के तीर्थ में एक पल्य,

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार

विमलनाथ के तीर्थ में पौन पल्य, अनंतनाथ के तीर्थ में अर्द्धपल्य और धर्मनाथ के तीर्थ में पाव पल्य प्रमाण धर्मतीर्थ का उच्छेद रहा है। उस समय दीक्षा लेने वालों का अभाव होने से धर्मरूपी सूर्य अस्त हो गया था, हुंडावसर्पिणी के दोष से ये सात व्युच्छेद होते हैं।

कुदान की प्रथा

श्री शीतलनाथ के तीर्थ के अंतिम भाग में कालदोष से वक्ता, श्रोता और आचरण करने वालों का अभाव हो जाने से समीचीन धर्म का नाश हो गया। मदिल देश में मलय देश का राजा मेघरथ कुछ दान देना चाहता था उसने कुमार्गगामी परंपरा से आगत आहार, औषध, अभय और शास्त्र दान को छोड़कर मुंहशालायन ब्राह्मण के द्वारा कहे हुए कन्यादान, हस्तिदान, सुवर्णदान, अश्वदान, गोदान, दासीदान, तिलदान, रथदान, भूमिदान और गृहदान यह दश प्रकार का दान स्वेच्छा से चलाया।

हिंसा यज्ञ की उत्पत्ति

मुनिसुव्रतनाथ के मोक्ष जाने के बाद एक समय 'क्षीरकदंब' उपाध्याय के पास राजपुत्र वसु, गुरुपुत्र पर्वत और धर्मनिष्ठ श्रावक नारद इन तीनों ने विद्याध्ययन किया था। गुरु के दीक्षित होने के बाद किसी समय पर्वत ने सभा में कहा कि 'अजैर्यष्टव्यं' बकरों से होम करना चाहिए ऐसा अर्थ है तब नारद ने कहा 'अज' का अर्थ न उगने योग्य पुराने धान्य हैं उनसे यज्ञ करना चाहिए ऐसा गुरुदेव ने अर्थ किया था किंतु पर्वत ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। अंत में राजा वसु के राजदरबार में निर्णय गया। वसु ने यथार्थ जानते हुये भी गुरुपत्नी पर्वत की माता से वचनबद्ध होने से पर्वत के हिंसामय वचनों को सत्य कह दिया, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी में सिंहासन के धँसने से मरकर नरक गया। इधर पर्वत ने महाकाल नामक असुर की सहायता से यज्ञ में खूब हिंसा करायी और उसके फल से ये सब दुर्गति के पात्र हो गये किंतु नारद हिंसा का निषेध करने से स्वर्ग गया।

भगवान मुनिसुव्रत के तीर्थ में ही मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र हुए हैं। नेमिनाथ भगवान के समय उनके चचेरे बंधु श्रीकृष्ण नारायण हुए हैं।

तीर्थंकरों का अंतराल

भगवान ऋषभदेव के मोक्ष चले जाने के बाद पचास लाख करोड़ सागर बीत जाने पर अजितनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ था। इनकी आयु भी इसी अंतराल में शामिल थी।

आगे सर्वत्र अंतराल की संख्या में उन-उन तीर्थंकरों की आयु को सम्मिलित ही समझना। श्री अजितनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद तीस लाख करोड़ सागर बीत जाने पर संभवनाथ उत्पन्न हुए थे।

श्री संभवनाथ के बाद दश लाख करोड़ वर्ष का अंतराल बीत जाने पर अभिनंदननाथ अवतीर्ण हुए थे।

इनके बाद नौ लाख करोड़ सागर बीत जाने पर सुमतिनाथ उत्पन्न हुए थे।

इनके बाद नब्बे हजार करोड़ सागर बीत जाने पर पद्मप्रभ तीर्थंकर उत्पन्न हुए थे।

इनके अनंतर नौ हजार करोड़ सागर बीत जाने पर सुपार्श्वनाथ उत्पन्न हुए थे।

अनंतर नौ सौ करोड़ सागर का अंतर बीत जाने पर चंद्रप्रभ जिनेन्द्र ने जन्म लिया था।

इसके पश्चात नब्बे करोड़ सागर का अंतर निकल जाने पर पुष्पदंत तीर्थंकर हुए हैं।

इनके बाद नौ करोड़ सागर का अंतर बीत जाने पर शीतलनाथ ने जन्म लिया है।

इन शीतलनाथ के अनंतर जब सौ सागर तथा छ्यासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष कम एक सागर प्रमाण अंतराल निकल गया तब श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ है।

श्रेयांसनाथ के बाद जब चौवन सागर प्रमाण अंतर बीत चुका था और अंतिम पल्य के तृतीय भाग में जब धर्म की संतति का व्युच्छेद हो गया था तब वासुपूज्य का जन्म हुआ था।

इनके बाद जब तीस सागर वर्ष बीत गये और पल्य के अंतिम भाग में धर्म का विच्छेद हो गया था तब विमलनाथ का जन्म हुआ था।

विमलनाथ के मोक्ष चले जाने के बाद नौ सागर और पौन पल्य बीत जाने पर तथा अंतिम समय में धर्म का विच्छेद हो जाने पर श्री अनंतनाथ का जन्म हुआ था।

इनके बाद चार सागर प्रमाण काल बीत चुका और अंतिम पल्य का आधा भाग जब धर्म रहित हो गया तब धर्मनाथ का जन्म हुआ था।

धर्मनाथ के बाद पौन पल्य कम तीन सागर के बीत जाने पर तथा पाव पल्य तक धर्म का विच्छेद हो लेने पर श्री शांतिनाथ भगवान उत्पन्न हुए थे।

इनके बाद अर्धपल्य बीत जाने पर श्री कुंथुनाथ उत्पन्न हुए हैं।

इनके अनंतर एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्य का चतुर्थ भाग बीत जाने पर श्री अरनाथ उत्पन्न हुए है।

इनके बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जाने पर मल्लिनाथ उत्पन्न हुए हैं।

इनके बाद चौवन लाख वर्ष बीत जाने पर मुनिसुव्रतनाथ उत्पन्न हुए हैं।

इनके बाद साठ लाख वर्ष बीत जाने पर नमिनाथ उत्पन्न हुए हैं।

इनके बाद पाँच लाख वर्ष बीत जाने पर नेमिजिनेन्द्र उत्पन्न हुए हैं।

श्री नेमिनाथ भगवान के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर पार्श्वनाथ

जिनेन्द्र का जन्म हुआ है।

श्री पार्श्वनाथ के बाद दो सौ पचास वर्ष बीत जाने पर श्री महावीर स्वामी उत्पन्न हुए थे। इनकी आयु भी इसी में शामिल[1] थी[2]।

तीर्थंकर के वर्ण-

पद्मप्रभ, वासुपूज्य का रक्तवर्ण, चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत का श्वेतवर्ण, सुपार्श्व और पार्श्व का हरितवर्ण, नेमिनाथ और मुनिसुव्रत का नीलवर्ण एवं शेष सोलह तीर्थंकर का स्वर्ण वर्ण है।

बालयति-

वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान ये पाँच तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी रहे हैं। शेष उन्नीस तीर्थंकर विवाहित होकर राज्य करके दीक्षित हुए हैं।

वंश-

वीर प्रभु नाथवंशी, पार्श्वजिन उग्रवंशी, मुनिसुव्रत और नेमिनाथ हरिवंशी, धर्मनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ कुरुवंशी और शेष सत्तरह तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंश में हुए हैं।

रत्नवृष्टि-

समस्त तीर्थंकरों की आदि पारणाओं और वर्धमान स्वामी की सभी पारणाओं में नियम से रत्नवृष्टि हुआ करती थी। वह रत्नवृष्टि उत्कृष्टता से साढ़े बारह करोड़ और जघन्य रूप से साढ़े बारह लाख होती थी। इनमें से कितने ही दाता तो तपश्चरण कर उसी जन्म से मोक्ष चले गये और कितने ही जिनेन्द्र भगवान के मोक्ष जाने के बाद तीसरे भव में मोक्ष गये हैं।[3]

केवलज्ञान उत्पत्ति के समय उपवास-

ऋषभदेव, मल्लिनाथ, और पार्श्वनाथ को तेला के बाद, वासुपूज्य को एक उपवास के बाद और शेष तीर्थंकरों को बेला के बाद केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है।[4]

केवलज्ञान उत्पत्ति के स्थान- ऋषभनाथ को पूर्वताल नगर के शकटमुख वन में, नेमिनाथ को गिरनार पर्वत पर, पार्श्वनाथ को आश्रम के समीप, भगवान महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर और शेष तीर्थंकरों को अपने-अपने नगर के उद्यानों में ही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।[5]
प्रत्येक तीर्थंकरों ने जिस वृक्ष के नीचे दीक्षा ली है उसी वृक्ष के नीचे उन्हें केवलज्ञान हुआ है ऐसा उल्लेख है।

मुक्ति प्राप्ति के आसन-ऋषभनाथ, वासुपूज्य और नेमिनाथ पर्यंक आसन से तथा शेष

१. ऐसे ही सभी अंतरालों में तीर्थंकरो की आयु शामिल समझना।
२. यह अंतरालों का वर्णन उत्तर पुराण के आधार से है।
३-४-५. हरिवंश पु. पृ. ६०।

तीर्थंकर कायोत्सर्ग आसन से स्थित हो मोक्ष गए हैं।[1]

योग निरोध काल- ऋषभदेव ने मुक्ति के पूर्व चौदह दिन तक योग निरोध किया। महावीर स्वामी ने दो दिन और शेष तीर्थंकरों ने एक-एक मास तक योग निरोध किया है।[2]

वीर भगवान के निर्वाण होने के पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष काल के व्यतीत होने पर 'दुषमा' नामक पंचम काल प्रवेश करता है।

अनुबद्ध केवली- जिस दिन महावीर भगवान सिद्ध हुए उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। गौतम स्वामी के मुक्ति जाने के दिन श्री सुधर्म स्वामी केवली हुए और इनके मोक्ष जाने के दिन जंबूस्वामी केवली हुए। जंबूस्वामी के सिद्ध होने पर फिर कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुए। गौतम स्वामी से लेकर जंबूस्वामी तक काल ६२ वर्ष प्रमाण है।

श्रुतकेवली- नंदी, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच द्वादशांग ज्ञान के धारी श्रुतकेवली हुए हैं। इनका काल १०० वर्ष प्रमाण है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से दीक्षित, मुकुटधरों में अंतिम चन्द्रगुप्त सम्राट ने जिन दीक्षा ली थी, इसके बाद मुकुटबद्ध राजा मुनि नहीं हुए।

दशपूर्वी- विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य ग्यारह अंग और दश पूर्व के धारी 'दशपूर्वी' कहलाये। इनका काल १८३ वर्ष है।

ग्यारह अंगधारी- नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये पाँच मुनि ग्यारह अंगधारी हुए हैं। इनका काल २२० वर्ष है।

आचारांग धारी- सुभद्राचार्य , यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य एक आचारांग मात्र के धारी हुए हैं। इनका काल ११८ वर्ष है। गौतम स्वामी से लेकर लोहाचार्य तक ६३+१००+१८३+२२०+११८=६८३ वर्ष में अंगधारी हुए हैं। इनके बाद इस भरत क्षेत्र में भी आचार्य अंग पूर्व के धारक नहीं हुए हैं। उनके अंशों के जानने वाले अवश्य हुए हैं।

जो श्रुततीर्थ, धर्म की प्रवृत्ति में कारण है वह श्रुतपरंपरा बीस हजार तीन सौ सत्तरह (२०३१७) वर्षों तक यहाँ चलती रहेगी। अनंतर पंचम काल के अंत में व्युच्छेद को प्राप्त हो जावेगी। इतने मात्र समय में प्रायः चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा।[3] अर्थात् उपर्युक्त ६८३+२०३१७=२१००० वर्ष तक धर्मतीर्थ परंपरा अव्युच्छिन्न रहेगी। तात्पर्य यह हुआ कि पंचम काल के अंत तक धर्म व चतुर्विध संघ विद्यमान रहेगा।

१-२. हरिवंश पु. पृ. ६०। ३. तिलोयपण्णत्ति अ. ४, गा. १४९४.१४९५।

राज्य परंपरा

वीर प्रभु के निर्वाण के बाद 'पालक' नामक अवन्ति सुत का राज्याभिषेक हुआ। पालक का ६० वर्ष , विजय वंशियों का १५५ वर्ष, मुरुंडवंशियों का ४०, पुण्यमित्र का ३०, वसुमित्र-अग्निमित्र का ६०, गंधर्व का १००, नरवाहन का ४०, भृत्य-आंध्रों का २४२, गुप्तवंशियों का २३१ वर्ष प्रमाण राज्य काल रहा है पश्चात् इंद्र का सुत कल्की उत्पन्न हुआ, इसका नाम चतुर्मुख, आयु ७० वर्ष और राज्यकाल ४२ वर्ष रहा। श्री वीरप्रभु के सिद्ध होने के बाद छह सौ पाँच वर्ष और पाँच माह व्यतीत होने पर 'विक्रम' नामक शक राजा हुए हैं। उनके बाद तीन सौ चौरानवे वर्ष, सात माह व्यतीत होने पर प्रथम कल्की हुआ है[1]।"

आचारांगधरों के २७५ वर्ष पश्चात् कल्की राजा को पट्ट बांधा गया। ६८३+२७५+४२=१००० वर्ष। उस कल्की ने श्रमण साधु से प्रथम ग्रास को शुल्क रूप में माँगा तब मुनि 'यह अंतरायों का काल है" ऐसा समझकर निराहार चले गये, उस समय उनमें से किसी एक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया, तब कोई असुरदेव ने अवधिज्ञान से मुनिगणों के उपसर्ग को जानकर, उसे धर्म द्रोही मानकर उस कल्की को मार डाला पुनः अजितंजय नाम के उसके पुत्र ने 'मेरी रक्षा करो' ऐसा कहकर उस देव के चरणों में नमस्कार किया और उस देव ने 'धर्म पूर्वक राज्य करो' ऐसा कहकर उसकी रक्षा की और वह जैन धर्मी बन गया।

ऐसा हजार-हजार वर्ष में एक-एक कल्की और पाँच सौ, पाँच सौ वर्षों के पश्चात् उनके बीच-बीच में एक-एक उपकल्की होते हैं। प्रत्येक कल्की के समय पंचम कालवर्ती एक-एक साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उस समय चातुर्वर्ण्य संघ अल्प हो जाते हैं।

पंचम काल के अंत समय जलमंथन नामा अंतिम कल्की होगा, उस समय 'वीरांगज' नाम के मुनि, 'सर्वश्री आर्यिका, अग्निल श्रावक और पंगुश्री श्राविका होंगी। अंतिम कल्की मुनिराज के आहार का प्रथम ग्रास शुल्क रूप में माँगेगा तब मुनि उसे देकर अंतराय करके वापस जाकर अवधिज्ञान को प्राप्त करके आर्यिका, श्रावक और श्राविका को बुलाकर कहेंगे कि अब पंचम काल का अंत आ चुका है, हमारी और तुम्हारी तीन दिन की आयु शेष है। चारों सल्लेखना से मरण करके सौधर्म स्वर्ग जायेंगे और कुमार देव द्वारा मार दिये जाने पर वह कल्की नरक जायेगा। प्रातःकाल धर्म का नाश, मध्याह्न में राजा का नाश और सूर्यास्त समय अग्नि का अभाव हो जावेगा।

छठा काल

पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम दुषमा-दुषमा नाम

---

१. त्रिलोकसार

का छठा काल प्रविष्ट होगा। उस समय मनुष्यों की ऊँचाई तीन हाथ से एक हाथ तक, आयु बीस से सोलह वर्ष तक होगी। वे कंदमूल, फल, मत्स्य माँसादि खायेंगे, नंगे वनों में विचरेंगे। अंधे, गूंगे, बधिर, कुरूप आदि होंगे। नरक और तिर्यञ्चगति से आयेंगे और इन्हीं दो गतियों में जायेंगे।

उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्ष के बीतने पर संवर्तक नामक वायु से महा प्रलय होगा। उस समय बहत्तर युगल और भी संख्यात जीवों को देव विद्याधर दया से विजयार्ध की गुफा आदि में सुरक्षित रखेंगे। यहाँ ४९ दिन तक बर्फ, क्षार, विष, अग्नि आदि की वर्षा से सब पर्वत आदि समाप्त होकर एक योजन तक पृथ्वी जल जावेगी।

अनंतर उत्सर्पिणी काल प्रवेश करेगा। तब जल, दूध, घृत और अमृत की वर्षा होकर पृथ्वी अच्छी हो जावेगी। ये युगल जीव गुफाओं से निकलेंगे। धीरे-धीरे आयु, ऊँचाई, बल आदि बढ़ते-बढ़ते इक्कीस हजार वर्ष समाप्त होकर द्वितीय काल प्रवेश करेगा। इसके हजार वर्ष शेष रहने पर अर्थात् बीस हजार वर्ष बीत जाने पर कुलकरों की उत्पत्ति होगी पुनः अंतिम कुलकर से श्रेणिक का जीव 'महापद्म' नाम का तीर्थंकर होगा तब से पुनः धर्म की परंपरा चलेगी।

इस प्रकार भरत क्षेत्र में यह काल परिवर्तन चलता रहता है।

इस प्रकार "महावीर देशना" ग्रन्थ में
चौबीस तीर्थंकर के जीवन चरित्र
का वर्णन करने वाला
तृतीय अधिकार
पूर्ण हुआ।

चतुर्थ अधिकार

सुदं मे आउस्संतो

(दिगंबर जैन मुनिचर्या)

सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण, भयवदो महदिमहावीरेण, महाकस्सवेण, सव्वण्हुणा, सव्वलोयदरिसिणा सदेवासुरमाणुसस्स लोयस्स आगदि-गदि-चवणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणोमाणसियं भूतं (भुत्तं) कयं पडिसेवियं आदिकम्मं अरुहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणंता पस्संता विहरमाणेण, समणाणं पंचमहव्वदाणि, राइभोयण-वेरमणछट्ठाणि सभावणाणि, समाउग-पदाणि सउत्तर-पदाणि सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि। तं जहा-

पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं, विदिए महव्वदे मुसावादादो वेरमणं, तिदिए महव्वदे अदिण्णदाणादो वेरमणं, चउत्थे महव्वदे मेहुणादो वेरमणं, पंचमे महव्वदे परिग्गहादो वेरमाणं, छट्ठे अणुव्वदे राइभोयणादो वेरमणं चेदि।

अर्थ—श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित पाक्षिक यति प्रतिक्रमण प्रसिद्ध है। उसी में श्री गौतम स्वामी ने कहा है कि—

हे आयुष्मन्तों भव्यों! इस भरतक्षेत्र में भगवान महावीर की दिव्यध्वनि से श्रमणों—मुनियों के धर्म को मैंने सुना है।

जो देव, असुर और मनुष्यों से सहित लोक की—प्राणियों की आगति, गति, च्यवन, उपपाद, बंध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, द्युति, अनुभाग, तर्क, कला, मन की चेष्टा, पूर्व अनुभूत कृत, पुनः सेवित, आदिकर्म, अरुहकर्म को सर्वलोक में संपूर्ण जीवों को और उन के सर्वभावों को सर्वभावपर्यंत सर्व पर्यायों को युगपत् जानते हुये, देखते हुये तथा विहार करते हुये काश्यपगोत्रीय-महाकाश्यप श्रमण, भगवान, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, महतिमहावीर ने पच्चीस भावनाओं सहित, मातृकापद सहित, उत्तरपद-उत्तरगुणों सहित श्रमणों—मुनियों के लिए पांच महाव्रत और रात्रिभोजनविरतिरूप छठे अणुव्रतस्वरूप समीचीन धर्म का उपदेश दिया है। वह इस प्रकार है-

प्रथम महाव्रत में प्राणों की हिंसा से विरत होना, द्वितीय महाव्रत में असत्य से विरत होना, तृतीय महाव्रत में बिना दी हुई वस्तु से विरत होना, चतुर्थ महाव्रत में मैथुन से विरत

होना, पांचवें महाव्रत में परिग्रह से विरत होना एवं छठे अणुव्रत में रात्रिभोजन से विरत होना ये व्रत हैं।

विशेषार्थ- यहां सुदं मे—श्रुतं मे का अर्थ है मैंने भगवान की दिव्यध्वनि से सुना है। आयुष्मन्त संबोधन भी सर्व जनों के लिए इष्ट है। व्रतों के धर्मपने का प्ररूपण आयुष्मंतों के लिए ही सफल है क्योंकि वे आयुष्मन ही चिरकाल तक उन व्रतों का अनुष्ठान करते हैं और उनका प्रतिपादन करना भी उन्हीं भव्यों के लिए संभव है, अन्यों के लिए नहीं।

अब भगवान के विशेषण बतलाते हुये कहते हैं-

वे श्रमण—परमयति हैं "महति महावीर" उनका नाम है, वे काश्यपगोत्री होने से महाकश्यप हैं, केवलज्ञान से संपूर्ण पदार्थों को जानने वाले होने से सर्वज्ञ हैं, केवलदर्शन के द्वारा संपूर्ण लोक-अलोक को देखने वाले होने से सर्वदर्शी हैं।

देव—ऊर्ध्वलोकवर्ती समस्त प्राणी, असुर—अधोलोकवर्ती संपूर्ण प्राणी, मानुष्य, तिर्यग्लोक-मध्यलोकवर्ती संपूर्ण प्राणी, इन तीनों लोकों के संपूर्ण प्राणियों के आगति-गति आदि को जानते हुये प्रभु ने कहा है।

आगति—कर्म के वश से अन्यक्षेत्र- स्थान से-गति से इस क्षेत्र में वर्तमान पर्याय में आना आगति है। इस पर्याय से दूसरी पर्याय में जाना गति है। मृत्यु को प्राप्त कर जो जन्म होता है उस का च्यवन—उपपाद नाम है अर्थात् उभय लोक। बंध—कर्म का संबंध, मोक्ष—कर्मों से छूटना, ऋद्धि—चक्रवर्ती, सौ—धर्मेन्द्र आदि का वैभव, स्थिति—आयु की स्थिति, द्युति—तेज, तर्क—विचिंतित अर्थ अथवा तर्कशास्त्र, कला—बहत्तर कलाएं अथवा गणित, मन—पराया चित्त, मानसिक—मन की चेष्टाएं, भुक्त—पूर्व में अनुभूत, कृत—पूर्व में किया गया, प्रतिसेवित—पुनः सेवन किया गया, आदिकर्म-कर्मभूमि के प्रवेश के समय प्रथम ही प्रवृत्त हुयी असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प आदि कृत्रिम क्रियाएं, अरहकर्म—अकृत्रिम द्वीप, समुद्रादि ये तिरोहित न होने से सर्वदा प्रकटरूप हैं अथवा अर्हंत देव का कर्म—अनुष्ठन अरहकर्म है।

ये आगति आदि कहां हैं?

सर्वलोक में हैं—तीन सौ तेतालिस राजू प्रमाण जो यह तीन लोक है उनमें रहने वाले सभी जीवों को और उनकी सभी पर्यायों को तथा 'आगति' से लेकर 'सर्वभाव' पर्यंत सब कुछ को जानते हुये, देखते हुये तथा धर्मोपदेश के लिए विहार करते हुये भगवान ने श्रमण—मुनियों के लिए धर्म का उपदेश दिया है। वह धर्म पांच महाव्रतरूप है, छठे अणुव्रत से सहित है। पांच व्रतों की पांच-पांच भावनाएं ऐसी पच्चीस भावनाओं से सहित है। पांच समिति और तीन गुप्ति

के प्रतिपादक पदों को 'मातृकापद' कहते हैं इन्हें आठ प्रवचनमातृका भी कहते हैं उन मातृकापदों से सहित है, इन भावना एवं मातृकापद से अतिरिक्त जो भी उत्तरपद—उत्तरगुण हैं इन सभी से सहित जो महाव्रत हैं वे ही समीचीन धर्म हैं।

यहां छठे अणुव्रत में रात्रिभोजन से विरति कहा है तो यह अणुव्रत क्यों है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य देव कहते हैं-

"हिंसादिवदत्र सांकल्येन विरतेरभावात्, रात्रावेव हि भोजननिवृत्तिर्न पुनर्दिवसे, तत्र यथाकालं भोजने प्रवृत्तिसंभवात्।"

यहां हिंसा, असत्य आदि के समान पूर्णरूप से विरति—त्याग नहीं है रात्रि में ही भोजन का त्याग है न कि दिन में, दिन में तो आगम में कथित काल के अनुरूप भोजन में प्रवृत्ति संभव है अर्थात् मुनि भी रात्रि में ही भोजन का त्याग करते हैं। दिन में तो आगम में कहे गये समय के अनुसार एक बार भोजन लेते हैं अतः इस रात्रिभोजनत्याग को छठा अणुव्रत नाम दिया है।

ये दण्डक सूत्र श्री गौतमस्वामी के मुखकमल से निकले हुये हैं न कि सामान्य मुनियों के, तथा यहां समाधान भी टीकाकार श्रीप्रभाचंद्राचार्य ने किया है।

मूलाचार में भी छठे अणुव्रत का वर्णन है।

इसी पाक्षिक प्रतिक्रमण में श्रीगौतमस्वामी ने अट्ठाईस मूलगुणों के नाम भी दिये हैं। यथा-

वदसमिदिंदियरोधो, लोचो आवासयमचेलमण्हाणं। खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।१।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता। एत्थ पमादकदादो अइचारादो णियत्तो हं।।२।।
छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं।

अर्थ— पांच व्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियों का निरोध, लोच, छह आवश्यक, अचेलकता, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त ये मूलगुण श्रमण—मुनियों के लिए श्री जिनेंद्रदेव ने प्रतिपादित किये हैं। इन अट्ठाईस मूलगुणों में प्रमाद से जो अतिचार हुये हैं उनसे मैं निवृत्त होता हूँ—उनको मैं छोड़ता हूं, मेरा छेदोपस्थापन होवे।

दिगम्बर जैन मुनिदीक्षा में आचार्यों द्वारा शिष्यों की जो अट्ठाईस मूलगुण प्रदान किये जाते हैं। उन्हीं का यहां संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

---

१. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी। पृ. ९७-१०२।

दिगम्बर जैन मुनिचर्या

सिद्धपद के इच्छुक जो महापुरुष पंचेन्द्रिय के विषयों की इच्छा समाप्त करके सम्पूर्ण आरम्भ और परिग्रह का त्याग कर देते हैं तथा ज्ञान, ध्यान और तप में सदैव तत्पर रहते हैं, वे ही मुक्तिपथ के साधक होने से सच्चे साधु कहलाते हैं। वे महामना दिगम्बर अवस्था को धारण कर लेते हैं। उनकी चर्या स्वावलम्बी होती है। उनकी जितनी भी क्रियाएं रहती हैं उनसे किसी भी मनुष्य को अथवा तिर्यंच को या किसी भी पशु-पक्षी आदि जन्तुओं को यहां तक कि क्षुद्र कीट आदिकों को भी बाधा नहीं पहुंचती है, बल्कि सभी को सुख, शांति और अभय मिलता है। किसी संप्रदाय विशेष को भी इन दिगम्बर मुनियों द्वारा बाधा नहीं पहुंचती है, क्योंकि किसी न किसी रूप में सभी संप्रदायों में त्याग को और यथाजात प्रकृति रूप (नग्नत्व) को महत्व दिया ही है। इसलिए ये दिगम्बर मुनि सर्वत्र और सभी के द्वारा पूज्य होते हैं। विश्व के सभी संप्रदाय के मनुष्य ही क्या व्याघ्र, सर्प आदि क्रूर तिर्यंच पशु भी इनके आश्रय में शांति का अनुभव करते हैं। कहा भी है-

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नंदनी व्याघ्रपोतं।
मार्जारी हंसवालं प्रणयपरवशा केकिकांता भुजंगीं।।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जंतवोऽन्ये त्यजंति।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्[1]।।

कलुषता को शांत कर देने वाले मोहरहित और एक साम्यभाव में आरूढ़ हुये ऐसे योगी का आश्रय लेकर हरिणी सिंह के बच्चे को पुत्र के भाव से स्पर्श करती है गाय व्याघ्र के बच्चे को, बिल्ली हंस के शिशु को और मयूरनी सर्प के बालक को बड़े प्रेम से खिलाती है यहां तक कि अन्य जन्तु भी मदरहित होते हुये जन्मजात बैर को भी छोड़ देते हैं।

योगी तीन प्रकार के होते हैं—निष्पन्न, घटमान और प्रारब्धमान्। जो पूर्णतया योग में सफल हो चुके हैं, जिनमें उपर्युक्त विशेषताएं आ जाती हैं, वे निष्पन्न कहलाते हैं। दूसरे योगसिद्धि की मध्यम स्थिति तक पहुंचे हुये घटमान हैं और तीसरे योग के अभ्यास में तत्पर होने से प्रारब्धमान् हैं। वर्तमान में यद्यपि तृतीय श्रेणी वाले साधु होते हैं, फिर भी उनसे जनता का हित ही होता है अहित नहीं।

---

१. ज्ञानार्णव

इन तीनों प्रकार के साधुओं को स्वर्ग के इन्द्र, देव और दानव भी नमस्कार करते हैं। यही कारण है कि इस धरती पर विचरण करते हुये ये विश्ववंद्य 'धरती के देवता' माने जाते हैं।

इस पृथ्वी तल पर विहार करते हुये ये मुनि पंचेन्द्रिय से लेकर वनस्पति—वृक्ष, अग्नि आदि एकेन्द्रिय जीवों तक की रक्षा करते हैं उन्हें अभयदान—जीवनदान देते हैं ये परमकारुणिक मुनि विश्ववंद्य, जगद्गुरू भी कहलाते हैं क्योंकि इनका धर्म सभी जीवों का हित करने वाला होने से वह सार्वधर्म या विश्वधर्म कहलाता है। इन मुनियों की चर्या कैसी होती है देखिए-

जीवनचर्या-

ये जिन गुणों का पालन करते हैं उन्हें मूलगुण कहते हैं। जैसे मूल के बिना वृक्ष की एवं नींव के बिना महल की स्थिति नहीं है उसी प्रकार से इन गुणों के बिना कोई भी व्यक्ति वेष मात्र से साधु नहीं हो सकता है। इन मूलगुणों के अट्ठाईस भेद होते हैं—

पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिरोध, केशलोंच, षट् आवश्यक, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त।

जो महान—सर्वोत्तम व्रत हैं अथवा जो तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के द्वारा भी पाले जाते हैं अथवा जो महान पुरुषार्थ अर्थात अंतिम मोक्ष पुरुषार्थ के लिए कारण हैं वे महाव्रत कहलाते हैं। पूर्णरूप से पांचों पापों का त्याग कर देना ही महाव्रत है।

सम—सम्यक् प्रकार से इति—प्रवृत्ति समिति कहलाती है अर्थात् चलने, बोलने, भोजन करने आदि प्रवृत्तियों में प्रमाद छोड़कर सावधानी से प्रवृत्ति करना ही समिति है।

स्पर्शन, रसना आदि इंद्रियों को अपने वश में रखना उनके इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग द्वेष नहीं करना ही इन्द्रियनिरोध व्रत है।

अवश्य करने योग्य क्रियाएं आवश्यक कहलाती हैं। इसके समता—सामायिक, वंदना आदि छह भेद हैं।

अन्य शेष जो सात गुण हैं उनके नाम के अनुसार ही उनका अर्थ है। प्रत्येक का स्पष्टीकरण देखिये—

१. अहिंसा महाव्रत— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की हिंसा का मन, वचन, काय और कृत , कारित, अनुमोदना से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है। इस महाव्रत में सम्पूर्ण आरंभ और परिग्रह का त्याग हो जाता है।

२. सत्य महाव्रत— राग, द्वेष, क्रोध आदि से युक्त असत्य वचनों का त्याग करना और अन्य को संतापकारी ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलना सत्य महाव्रत है।

३. अचौर्य महाव्रत— बिना दिये हुये किसी की किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत— कामसेवन का त्यागकर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना। बालिका, युवती और वृद्धा में पुत्री, बहन और माता के समान भाव रखना यह त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

५. अपरिग्रह महाव्रत— धन-धान्य आदि बहिरंग और मिथ्यात्व आदि अंतरंग परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

६. ईर्यासमिति—निर्जंतुक मार्ग से सूर्योदय के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना ईर्या समिति है।

७. भाषासमिति—चुगली, हंसी, कर्कश, परनिंदा आदि से रहित हित-मित-प्रिय और संदेह रहित वचन बोलना भाषा समिति है।

८. एषणासमिति— छ्यालीस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित, नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक निर्दोष पवित्र आहार लेना एषणासमिति है।

९. आदाननिक्षेपणसमिति—पुस्तक, कमंडलु, पाटा, चटाई आदि को रखते या उठाते समय कोमल पिच्छिका से परिमार्जन करके रखना, उठाना आदाननिक्षेपणसमिति है।

१०. उत्सर्ग समिति—हरीघास, चिंवटी आदि या उनके बिलों से रहित निर्जंतुक एकांत स्थान में मलमूत्रादि विसर्जित करना उत्सर्ग समिति है।

११. स्पर्शनेन्द्रियनिरोध— कोमल स्पर्शादि या कंकरीली भूमि आदि में हर्ष-विवाद नहीं करना स्पर्शन इन्द्रिय निरोधव्रत है।

१२. रसनेन्द्रियनिरोध— सरस—मधुर भोजन में या नीरस—शुष्क भोजन में आनंद या खेद नहीं करना रसना इन्द्रियनिरोध व्रत है।

१३. घ्राणेन्द्रियनिरोध— सुगन्धित या दुर्गंधित वस्तु में राग-द्वेष नहीं करना घ्राणेन्द्रिय विजय व्रत है।

१४. चक्षुइन्द्रियनिरोध— स्त्री आदि के सुन्दररूप या विकृत वेष आदि में रागभाव और द्वेषभाव नहीं करना चक्षुइन्द्रिय निरोध है।

१५. कर्णेन्द्रिय निरोध— सुन्दर-सुन्दर गीत, वाद्य तथा असुन्दर-निंदा, गाली आदि के वचनों में हर्षविषाद नहीं करना कर्णेन्द्रिय निरोध व्रत है।

१६. समता—जीवन, मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख आदि में हर्ष नहीं करना—समान भाव रखना समता है। इसे ही सामायिक आवश्यक कहते हैं त्रिकाल में देववंदना करना भी

सामायिक है। यह कम से कम ४८ मिनट तक की जाती है।

१७. स्तव— ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तुति आवश्यक है।

१८. वंदना—अर्हंत, सिद्ध एवं उनकी प्रतिमा, जिनवाणी और गुरु को कृतिकर्म (विधिवत् भक्ति पाठ) पूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

१९. प्रतिक्रमण— व्रतों में अतिचार आदि लगने पर उनका शोधन करना प्रतिक्रमण है। इसके दैवसिक आदि सात भेद हैं।

२०. प्रत्याख्यान— भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार के अनंतर गुरु के पास पुनः आहार करने तक जो चतुराहार का त्याग किया जाता है अथवा किसी भी वस्तु का जो त्याग किया जाता है वह भी प्रत्याख्यान है।

२१. कायोत्सर्ग— काय—शरीर से ममत्व का उत्सर्ग—त्याग करना कायोत्सर्ग है। यह सत्ताईस आदि उच्छवासों में णमोकार मंत्र के स्मरणरूप होता है।

२२. लोंच— हाथों से सिर, दाढ़ी और मूंछों के केशों का उखाड़ना केशलोंच है।

२३. अचेलकत्व—सूती, रेशमी आदि वस्त्रों का त्याग करना अचेलकत्व है।

२४. अस्नानव्रत—स्नान, उबटन आदि का त्याग करना अस्नान व्रत है।

२५. क्षितिशयन—निर्जंतुक भूमि में या शिला पर या घास-पाटा अथवा चटाई पर शयन करना क्षितिशयनव्रत है।

२६. अदंतधावन—दंत मंजन आदि नहीं करना अदंतधावन व्रत है।

२७. स्थितिभोजन—पावों में चार अंगुल का अंतराल रखकर खड़े होकर हाथ की अंजुली में आहार ग्रहण करना स्थितिभोजन व्रत है।

२८. एकभक्त—सूर्योदय से तीन घड़ी बाद से सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक के काल में से दिन में एक बार आहार लेना एकभक्तव्रत है।

जब कोई भी व्यक्ति मुनिपद में दीक्षित होना चाहता है तब गुरुदेव उसे जैन समाज के समक्ष विधिवत् दीक्षा देते हुये अट्ठाईस मूलगुणों को पालन करने का नियम देते हैं। जीव दया हेतु मयूर पंख से निर्मित पिच्छी, शुद्धि के लिए काठ (लकड़ी या नारियल) का कमंडलु और सच्चे ज्ञानवर्धन के लिए शास्त्र देते हैं।

समाचार विधि—सम्—सम्यक् मूलगुणों का आचार—आचरण समाचार है अथवा सभी साधुओं के साथ समान आचार समाचार कहलाता है। इसके दो भेद हैं- औधिक और पदविभाणिक। सामान्य आचार को औधिक समाचार कहते हैं। इसके दशभेद हैं तथा सूर्योदय

से लेकर अहोरात्रि तक मुनियों का जितना भी आचार है वह पदविभाजी है उसके अनेक भेद हैं। इनका वर्णन आगे पांचवें अधिकार में किया गया है।

आहार के ४६ दोष और ३२ अंतराय का वर्णन भी पांचवें अधिकार में है।

मुनि के बाह्य चिन्ह-

आचेलक्य, लोंच, शरीरसंस्कारहीनता और प्रतिलेखन दिगम्बर मुनियों के ये चार चिन्ह माने गये है।

आचेलक्य—सूत के वस्त्र, रेशम के वस्त्र, ऊन के वस्त्र, चर्म के वस्त्र (मृगछाला आदि) तथा वृक्षों की छाल, बल्कल, पत्ते और तृण आदि के वस्त्र ऐसे पांचों प्रकार के वस्त्रों का त्याग करना आचेलक्य व्रत है। यह व्रत स्वयं एक मूलगुण ही है।

प्रश्न— मुनि यदि एक लंगोटी लगा ले तो क्या बाधा है क्योंकि नग्नत्व से प्रायः बहुत से लोग लज्जा, ग्लानि, अरुचि और असभ्यता का अनुभव करते हैं।

उत्तर—नग्नत्व में गुण तो अगणित हैं किन्तु दोष अणुमात्र भी नहीं है। आगम में कहा है—

"आचेलक्कं—वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नग्नत्वमात्रं वा। तच्च संयमशुद्धींद्रियजयकषायाभाव ध्यानस्वाध्यायनिर्विघ्नता निर्ग्रन्थता वीतरागद्वेषता शरीरानादरस्ववशचेतोविशुद्धिप्राकट्य-निर्भयत्व-सर्वत्र विस्रब्धत्वप्रक्षालनोद्वेष्टनादिपरिकर्मवर्जनविभूषामूर्च्छत्वलाघव-तीर्थकराचरितत्वानिगूढबलवीर्य ताद्यपरिमितगुणग्रामपि लंभात्।"

वस्त्रादि परिग्रह का अभाव अथवा नग्नत्व मात्र को आचेलक्य कहते हैं। वस्त्रों के धोने आदि में अनेक जीवों की हिंसा होती है इसलिए उसके त्याग में संयम की शुद्धि है। लज्जनीय शरीर के विकार का निरोध करने के लिए दृढ़ता से प्रयत्न किया जाता है। इसलिए इन्द्रिय विजय होता है। चोरादि के द्वारा वंचना आदि न होने से कषायों का अभाव होता है। सुई, डोरा, कपड़े आदि का अन्वेषण, उनके ग्रहण आदि की चिंता न होने से स्वाध्याय और ध्यान निर्विघ्न होता है। ममत्वादिरूप परिणाम अभ्यंतर ग्रन्थि है और वस्त्रादि परिग्रह बाह्य ग्रंथि—गांठ है इन दोनों प्रकार की ग्रंथियों का त्याग हो जाने से निर्ग्रंथता होती है। रुचिकर और अरुचिकर वस्त्रों का त्याग हो जाने से रागद्वेष के अभावरूप वीतरागता और वीतद्वेषता होती है। हवा, आतप, धूप आदि की बाधा सहन करने से शरीर में अनादर होता है। देशांतर गमन आदि में सहाय की अपेक्षा न होने से स्ववशता—स्वाधीनता रहती है। लंगोटी आदि से गुह्य अंग का प्रच्छादन न करने से चित्त की विशुद्धि—निर्विकारता प्रकट होती है। चोरादि के

द्वारा ताड़न आदिरूप भय का अभाव होने से निर्भयता रहती है। अपहरण करने योग्य वस्तु अपने पास न रहने से सर्वत्र विश्वस्तता रहती है। वस्त्र के न रहने से उनके धोने, सुखाने, तह करके रखने, संभालने आदि संबंधी क्रियाओं का अपने आप त्याग हो जाता है। नग्न रहने से शरीर को अलंकार आदि से विभूषित करने का सवाल ही नहीं आता है। शरीर से निर्मूर्च्छा—ममत्व भी घट जाता है। वस्त्रमात्र भी अपने पास न होने से लघुता—हलकापन रहता है तीर्थंकरों के आचरण का अनुसरण भी नग्नता से ही होता है। आत्मा में ही छिपे हुये बल, पराक्रम का प्रादुर्भाव अथवा सिद्धि—वृद्धि भी इसी से हो सकती है इत्यादि अपरिमितगुण इस नग्नता के द्वारा सिद्ध होते हैं। श्रीपद्मनंदि आचार्य ने भी कहा है—

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारंभतः संयमो। नष्टेःव्याकुलचित्ततोथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्।।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते। तन्नित्यं शुचि रागहच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मंडलम्।।

साधु यदि कौपीन मात्र भी वस्त्र धारण करते हैं तो कितना उन्हें कष्ट होता है और उनकी महानता तथा संयम में कितने दोष आते हैं? सो देखिये—कौपीन के मलिन होने पर उसे धोना पड़ेगा और फिर उसके लिए जल लाने आदि का आरंभ भी करना ही होगा। ऐसी अवस्था में संयम कहाँ रहा? कदाचित् कौपीन गिर जाये, हवा से उड़ जाये या फट जाये तो मन में व्याकुलता आये बिना नहीं रह सकती अथवा उसके लिए दूसरे से प्रार्थना भी करनी ही पड़ेगी पुनः ऐसी अवस्था में याचना के निमित्त से उसकी महानता में लघुता आये बिना नहीं रह सकती है। यदि कदाचित् उसको कोई चुरा ले जाये अथवा छीन ले तो क्रोध आये बिना नहीं रहेगा। अतएव परमशांति की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं को यही उचित है कि वे दिशाओं को ही वस्त्र के स्थान पर धारण करें। यह दिशारूपी अम्बर—वस्त्र नित्य है—नैसर्गिक होने से कभी भी नष्ट होने वाला या चोरी जाने वाला नहीं है एवं रागद्वेष को दूर करने वाला है। इसके निमित्त से याचना आदि के द्वारा लघुता प्राप्त नहीं होती है और न याचना के व्यर्थ जाने पर मानभंग आदि के द्वारा चित्त में किसी प्रकार की कलुषता ही उत्पन्न होती है अतः संयमियों को यह निर्विकार वस्त्र ही धारण करना चाहिए।

श्री सोमदेव आचार्य ने भी कहा है—

विकारे विदुषां द्वेषो, नाविकारानुवर्त्तने। तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे, को नाम द्वेषकल्मषः।।
नैष्किंचन्यमहिंसा च, कुतः संयमिनां भवेत्। ते संगाय यदीहंते, बल्कलाजिनवाससाम्।।

विकार में ही विद्वान लोग दोष समझते हैं न कि निर्विकाररूप अवस्था के धारण करने में। अतएव ऐसा कौन विवेकी पुरुष होगा जो कि नैसर्गिक—जन्मजात या प्रकृति से प्रदत्त ऐसी

नग्नता के विषय में द्वेष के वश होकर कलुषता को धारण करेगा? अर्थात् इस प्राकृतिक अवस्थारूप नग्नता में किसी को भी द्वेषभाव संभव नहीं है। संयमी साधुओं का आकिंचन्य—अपरिग्रह और अहिंसा व्रत कैसे हो सकता है? यदि बल्कल, चर्म या किसी भी तरह के वस्त्र के परिग्रह को धारण करने का प्रयत्न करते हैं या उसका भाव भी करते हैं अर्थात् किंचित्मात्र भी परिग्रह के रखने से अपरिग्रह और अहिंसा की पूर्णता नहीं हो सकती है।

वास्तव में अंतरंग में विकार उत्पन्न होने पर उसे ढकने के लिए ही वस्त्र धारण किये जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो बालक नग्न ही घूमते रहते हैं, न उनको स्वयं विकार या लज्जा का अनुभव होता है और न देखने वाले ही विकार, लज्जा या ग्लानि आदि का अनुभव करते हैं। इसलिए यह नग्नता निर्विकारता की कसौटी है और अपरिग्रह की चरम सीमा है। यदि किंचित् मात्र भी विकार मुनि के मन में उत्पन्न हो जावे तो वह बाहर में प्रगट दिख सकता है किन्तु हजारों स्त्रियां, युवतियां उनके दर्शन को आती हैं, स्तुति, वंदन आदि करती हैं किन्तु मुनि निर्विकार रहते हैं। उनकी सौम्य मुद्रा से किसी को भी विकार उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि कचादित् कोई स्त्री अपनी दुर्भावना से मुनियों को विकारी करने का प्रयत्न करे अर्थात् हाव-भाव, कटाक्ष आदि के द्वारा उन्हें ब्रह्मचर्य से च्युत करने का प्रयत्न करे या कोई देवांगना मुनि की दृढ़ता की परीक्षा हेतु भी नृत्य, विलास आदि करे तो मुनि भी परीषह या उपसर्ग समझकर अपनी जितेन्द्रियता रखते हैं और अपने ब्रह्मचर्य में स्वप्न में भी मलिनता नहीं लाते हैं इसलिए ये हमेशा बालकवत् निर्विकार और निर्भय रहते हैं।

परिग्रह एक प्रकार की ग्रंथि है। अंतरंग-बहिरंग परिग्रहरूपी ग्रंथि—गांठ को नहीं रखने से ये 'निर्ग्रन्थ' कहलाते हैं। जन्म के समय जो रूप रहता है उसी रूप को धारण करने से ये 'यथाजात' कहलाते हैं। प्रकृति के द्वारा प्रदत्त रूप को धरने से प्राकृतिक रूपधारी कहलाते हैं। नग्नता यह स्वाभाविक अवस्था है। इसे धारण करने से 'स्वाभाविक मुद्राधारी' या 'नैसर्गिक मुद्राधारी' कहलाते हैं। तीर्थंकर जिनेन्द्रदेव नग्नमुद्रा धारण करके ही कर्मो का नाश करते हैं अतएव इसे 'जिनमुद्रा''जिनरूप, जिनलिंग' आदि भी कहते हैं। दिशारूपी वस्त्र को धारण करने से ये दिक् अंबर—वस्त्र ऐसे दिगम्बर आशांबर, कष्ठांबर आदि नामों से भी जाने जाते है। प्राणिमात्र की दया पालने से और इन्द्रियों को वश में रखने से ये 'संयमी', 'यमी' 'संयत' आदि कहलाते हैं। रत्नत्रय की साधना करने से साधु माने जाते हैं। अवधिज्ञान आदि ज्ञानों की विशेषता से मुनि कहलाते हैं। अनेक ऋद्धियों के प्राप्त कर लेने से 'ऋषि' कहलाते हैं। श्रेणी में आरोहण करने में प्रयत्नशील—तत्पर होने से 'यति' कहलाते हैं। आगार—घर का

त्याग कर देने से 'अनगार' कहे जाते हैं। योग की साधना करने से योगी कहलाते हैं। भिक्षावृत्ति से अर्थात् बिना मांगे पड़गाहन विधि से भोजन करने से 'भिक्षुक' कहे जाते हैं। ये याचना नहीं करते हैं अतः इन्हें याचक नहीं कह सकते हैं। गृहस्थों के घर निमंत्रण से आकर भोजन नहीं करते हैं। अनायास किसी दिन भी आ जाते हैं अतः इनके आने की तिथि निश्चित न होने से ये 'अतिथि' कहलाते हैं, व्रतों के पालन करने से 'व्रती' कहे जाते हैं, अनशन आदि तपश्चरण करने से 'तपस्वी' कहलाते हैं।

पूज्य होने से 'भट्टारक' कहलाते हैं। गुणों से या सभी में महान होने से 'गुरू' कहलाते हैं। स्वयं पांच आचारों का पालन करने से और शिष्यों को शिक्षा-दीक्षा आदि देकर पंचाचार का पालन कराने से 'आचार्य' चतुर्विध संघ के अधिपति होने से गणधर, गणी, सूरि, आदि अनेक नामों से कहे जाते हैं। अध्ययन-अध्यापन में कुशल होने से 'उपाध्याय' कहलाते हैं। इत्यादि अनेकों नाम इन जैन साधुओं के माने गये हैं।

मुख्य रूप से दिगम्बर जैन साधुओं में आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन पद माने गये हैं पूर्वोक्त कथित अट्ठाईस मूलगुण सभी में समान हैं किन्तु आचार्य और उपाध्याय में और भी गुण आवश्यक रहते हैं फिर भी ये सभी अचेलक अर्थात् नग्नमुद्रा धारी ही होते हैं।

२. लोच—स्नान नहीं करने से और केशों में तेल डालना आदि संस्कार न करने से उसमें जू, लीख आदि उत्पन्न हो जाती है पुनः खाज आदि होने से उनकी रक्षा संभव नहीं है। यदि नाई से बाल बनवाये तो पैसा चाहिए, यदि गृहस्थों से मांगे तो याचना दोष होगा। अतः जीवहिंसा, परिग्रह, याचकवृत्ति और दीनता दोष से बचने के लिए साधु अपने हाथ से केशों को उखाड़कर फेंक देते हैं। केशलोंच करते समय गोमय की भस्म (गाय या भैंस के गोबर की राख) को अंगुलियों में लगाते हैं इसका हेतु यही है कि पसीना और केशोत्पाटन से रक्त आ जाने से अंगुली फिसल जाती है। इसलिए ये राख का सहारा लेते हैं। केशलोंच करने से शरीर से निर्ममता भी प्रगट होती है तथा परीषह और उपसर्गरूप कष्टों को सहन करने का अभ्यास होता है।

यह केशलोंच दो महीने में करने से उत्तम, तीन महीने में मध्यम और चार महीने में जघन्य माना जाता है। चार महीने के ऊपर नहीं होना चाहिए ऐसा विधान है। यह केशलोंच भी स्वयं में एक मूलगुण है।

३. शरीर संस्कारहीनता—स्नान न करने से, उबटन आदि संस्कार न करने से, दन्तधावन (दातौन, मंजन आदि) न करने से शरीर रुक्ष एवं मलिन हो जाता है। जिससे अपने में भी

वैराग्य की वृद्धि होती है यही कारण है कि ब्रह्मचर्य से पवित्र होने से इन्हें स्नान की आवश्यकता नहीं रहती है।

देह में आत्म बुद्धि—अपनत्व भाव होना ही संसार के दुखों का मूल कारण है। इसलिए मुनि सुगंधित माला, इत्र आदि से शरीर को संस्कारित न करके धूलिधूसरित शरीर को धारण करते हुये अपने संयम, ब्रह्मचर्य, अहिंसाव्रत, वैराग्य आदि की रक्षा करते हैं, अस्नान और अदंतधावन दो मूलगुणों में यह शामिल हो जाता है। कदाचित् मल, चर्मादि अशुद्ध वस्तु या अशुद्ध जन स्पर्श हो जाने से मुनि दण्डस्नान करके प्रायश्चित ग्रहण करते हैं।

४. प्रतिलेखन—कार्तिक मास में मयूर स्वयं अपने पंखों को गिरा देता है। ऐसे अति कोमल अर्थात् जिसका नेत्र में भी स्पर्श होने से पीड़ा न हो ऐसे इन मयूर पंखों की पिच्छिका प्रतिलेखन कहलाती है। यह संयम का उपकरण है अर्थात् मुनि प्रत्येक वस्तु—कमंडलु, पुस्तक, पाटा आदि को पहले नेत्र से देखकर पुनः इस कोमल पिच्छी से परिमार्जित करके ही उठाते या रखते हैं जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों को भी बाधा नहीं पहुंचती है। इसमें पांच गुण होते हैं—

यह धूलि को ग्रहण नहीं करती है, पसीने से खराब नहीं होती है, अत्यन्त मृदु है, सुकुमार—नमनशील है और लघु—हल्की है। यही कारण है कि तीर्थंकरों ने इसे संयम की रक्षा के लिए उपकरण मानकर जैन मुनियों का चिन्ह बतलाया है।

यदि मुनि बिना पिच्छी के सात कदम से ऊपर गमन कर लें तो प्रायश्चित लेना होता है। अतः यह जिनमुद्रा का एक चिन्ह है। कहा भी है-

मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते।

मुद्रा ही सर्वत्र मान्य होती है। मुद्रारहित व्यक्ति मान्य नहीं होता है। यदि कोई नग्न हो जावे किन्तु उसके पास पिच्छी न हो तो वह दिगम्बर जैन साधु नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार संक्षेप में जैन साधु के ये चार चिन्ह बतलाये हैं जो कि बाहर में प्रकटरूप से दिखते हैं।

दैनिक चर्या-

मुनि प्रातः, मध्यान्ह और सायं इन तीनों ही संधि कालों में सामायिक करते हैं। संधिकाल अर्थात् सूर्योदय के पहले की दो घड़ी से लेकर सूर्योदय होने के दो घड़ी तक ऐसे चार घड़ी काल छोड़कर पूर्वान्ह में, ऐसे ही मध्यान्ह के अनंतर अपरान्ह में, पूर्व रात्रि में और पश्चिम रात्रि में ऐसे चार काल स्वाध्याय करते हैं। दिवस के अंत होते समय दैवसिक और रात्रि के अंत होते समय रात्रिक ऐसे दो बार प्रतिक्रमण करते हैं, दिवस के अंत में रात्रियोग ("रात्रि में इसी वसतिका में रहूंगा" ऐसा नियम) ग्रहण करके रात्रि के अंत में रात्रिक

प्रतिक्रमण करके उसे समाप्त कर देते हैं।

जब उन्हें भक्तगण नमस्कार करते हैं तब वे आशीर्वाद प्रदान करते है। भक्तों के आग्रह पर उन्हें धर्मोपदेश देते हैं। तीर्थयात्रा, गुरूवंदना या धर्मभावना आदि के लिए ईर्यापथ से पैदल विहार करते हैं। आहार के लिए पिच्छी, कमंडलु हाथ में लेकर श्रावकों की बस्ती में विचरण करते हैं। उस समय श्रावक भक्ति से "हे स्वामिन्! नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु अत्र तिष्ठ तिष्ठ"ऐसा बोलकर पड़गाहन करते हैं, तब ये मुनि अपने नियम के अनुसार वहां खड़े हो जाते हैं। श्रावकगण उनको तीन प्रदक्षिणा देकर, भक्ति से घर के अंदर ले जाकर, उच्चासन पर बिठाकर, उनके चरण प्रक्षालन करके, उनकी पूजा करके, थाली में शुद्ध भोजन परोसकर कहते हैं कि हे भगवन्!मन वचन काय शुद्ध है, आहार जल शुद्ध है, भोजन ग्रहण कीजिये। तब ये मुनि पूर्व दिन ग्रहण किये हुये अपने प्रत्याख्यान को समाप्त करके खड़े होकर हाथ की अंजुलि बनाकर उसमें आहार लेते हैं। सरस, नीरस, ठण्डा, गर्म, रूक्ष, स्निग्ध आदि भोजन में रागद्वेष परिणति नहीं करते हुये मात्र संयम, ज्ञान और ध्यान के लिए ही आहार ग्रहण करते हैं। मुनि अपने गुरू की आज्ञा के अनुसार ही प्रत्येक कार्य करते हुये आपस में साधुओं के साथ वंदना, प्रतिवंदना, विनय और अनुकूलता को रखते हुये प्रवृत्ति करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि इन साधुओं को वनों में ही विचरण करना चाहिए, गांव या शहर में नहीं, उनको इन साधुओं की चर्या पर ध्यान देना चाहिए। देखिये-

जिनकल्पी-स्थविरकल्पी—

मुनियों में दो भेद हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी।

जो मुनि उत्तम संहनन (वज्र के सदृश कठोर हड्डियों के) धारी हैं, ग्यारह अंग और पूर्वादि शास्त्रों के ज्ञाता हैं, उपसर्ग और परीषह सहने में समर्थ हैं, वर्षाऋतु आदि में छह-छह महीने तक एक जगह ध्यान में खड़े रह सकते हैं, प्रायः पर्वत की चोटी पर, कंदराओं में, गुफाओं में निवास करते हैं, आहारार्थ गांव या शहर में आते हैं, पुनः वन में चले जाते हैं। कदाचित् गांव या शहर में भी रहते हैं किन्तु प्रायः इनका निवास वन में ही रहता है, ये जिनकल्पी कहलाते हैं। इनसे अतिरिक्त हीन संहनन (हीन शक्ति) वाले मुनि अति परीषह और उपसर्गों को सहन करने में असमर्थ होते हुये संघ में रहते हैं, शक्ति के अनुसार प्रतिमायोग और ध्यानादि करते हैं। वर्तमान में पंचमकाल में उत्तम संहनन का अभाव होने से कोई भी साधु जिनकल्पी नहीं हो सकते हैं। शास्त्र में कहा है कि-

इस दुःषमकाल में संहनन हीन होने से मुनि पुर, नगर और ग्राम में निवास करते हैं।

ये साधु स्थविरकल्प में स्थित हैं[1] ये साधु संघ के साथ विहार करते हुये धर्म की प्रभावना करते हैं, भव्यों को धर्मोपदेश देते हैं, शिष्यों को बनाकर उनका संरक्षण करते हैं।

वर्तमान में मुनियों का अस्तित्वः—

दिगम्बर संप्रदाय में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व अनादि काल से चला आ रहा है और अनंतकाल तक चलता रहेगा। इस भरत क्षेत्र में युग की आदि में ऋषभदेव भगवान ने प्रयाग में वटवृक्ष के नीचे दिगम्बर दीक्षा लेकर मुनिमार्ग प्रकट किया था यह बात अन्य संप्रदाय वालों ने भी स्वीकार की है तब से लेकर आज तक ये परंपरा चली आ रही है। आज भी दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व है और पंचम काल के अंत तक रहेगा ऐसा कथन है। अंतिम कल्की राजा जब मुनि के हाथ का पहला ग्रास कर रूप (टैक्स) में मांगेगा तब मुनि आहार छोड़ कर अंतराय करके चले जायेंगे। वे चतुर्विध संघ सहित समाधिपूर्वक मरण करके स्वर्ग प्राप्त करेंगे। उसी दिन धर्म का, राजा का और अग्नि का नाश हो जायेगा पुनः छठा काल प्रारम्भ हो जायेगा। उस काल में लोग मांसभक्षी, धर्म, कर्म से हीन दुराचारी, दुखी तथा घर और परिवार से रहित होंगे। पशुवत जीवन व्यतीत करके दुर्गति में जावेंगे अतः वर्तमान में मुनियों का अस्तित्व है ही है और भविष्य में भी रहेगा ही रहेगा। श्रीकुंदकुंद स्वामी ने कहा है--

भरहे दुस्समकाले, धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स। तं अप्पसहावठिदे, ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।७६।।
अज्जवि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं। लोयंतियदेवत्तं, तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।७७।।

इस भरतक्षेत्र में दुःषमकाल में साधु आत्मा के स्वभाव में स्थित होते हैं और उनके धर्मध्यान होता है ऐसा जो नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं। आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इंद्रपद को अथवा लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहां से च्युत होकर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। श्री सोमदेवसूरि ने भी कहा है-

कलौ काले चले चित्ते, देहे चान्नादिकीटके। एतच्चित्रं यदद्यापि, जिनरूपधरा नराः।।

इस कलिकाल में चित्त चंचल है और शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसी स्थिति में भी जिनरूप के धारण करने वाले मनुष्य विद्यमान हैं और भी अनेकों उदाहरण हैं।

खास बात यह समझने की है कि इतने हीन संहनन में भी जैन साधुओं की चर्या में, अट्ठाईस मूलगुणों में परिवर्तन नहीं हो सकता है और न इनमें संशोधन करने का किसी को

१. संहणणस्स गुणेण य, दुस्समकालस्स तव पहावेण। पुरणयरगामवासी थविरे, कप्पे ठिया जादा।।१२७।।
(भावसंग्रह पृ. ९२)

अधिकार ही है। चूंकि ये मूलगुण जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये हैं।

पूर्व काल में साधु तपस्या के बल से अनेकों ऋद्धियों को प्राप्त कर लिया करते थे, जिससे उनके शरीर से स्पर्शित हवा से भी लोगों का विष उतर जाता था। कोई-कोई अक्षीणऋद्धि के धारक होते थे तो जिसके यहां आहार करते थे उसके घर में उस दिन चक्रवर्ती का कटक भी जीम जाये तो भी भोजन घटता नहीं था। उनके वचन अमृत के समान गुणकारी हुआ करते थे। इनके सिर पर अंगीठी जला देने पर भी, शेरनी आदि के द्वारा शरीर के खाए जाने पर भी ये अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते थे, तभी ये कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लिया करते थे।

आज के युग में यद्यपि ऋद्धियाँ नहीं हैं, फिर भी अनेक साधुओं में अनेकों चमत्कार देखे जाते हैं। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज कोन्नूर की गुफाओं में ध्यान करते थे तब उनके शरीर पर सर्प बहुत देर तक क्रीड़ा करता रहा था। जयपुर खानिया के पर्वत पर आचार्यकल्प चंद्रसागर महाराज के पास सिंह आकर बैठकर उनका भक्ति पाठ श्रवण करते थे, इत्यादि अनेकों उदाहरण हैं। परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने अपने पैंतीस वर्ष के मुनि जीवन में लगभग साढ़े पच्चीस वर्ष उपवास में व्यतीत किये अर्थात् एक दो आदि से लेकर कभी दस, कभी सोलह आदि उपवास करते रहते थे। कई साधु मासोपवासी भी हो चुके हैं।

आचार्य शांतिसागर जी के चरण प्रक्षालित जल से एक व्यक्ति का श्वेत कुष्ठ नष्ट हो गया था आदि अनेकों साधुओं के अनेकों उदाहरणों को उनके जीवन परिचय से जाना जा सकता है आज भी साधुओं के आशीर्वाद से या उनके आहारदान आदि से लोग धन, जन से सम्पन्न, सुखी, समृद्धिशाली होते हुये देखे जाते हैं। ध्यान में आचार्य नेमिसागर जी महाराज प्रसिद्ध भी हो चुके हैं।

पूर्व काल में भी साधु जिन मंदिरों में, वसतिका या धर्मशालाओं में रहते थे ऐसे उदाहरण हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जब अयोध्या का राज्य कर रहे थे उस काल में द्युति[1] नाम के आचार्य ने अपने संघ सहित श्रीमुनिसुव्रतनाथ भगवान के मंदिर में चातुर्मास किया था। ऐसे अनेकों उदाहरण शास्त्र में देखे जाते हैं। इसलिए आज भी साधु गांव या शहर के मंदिरों में या धर्मशालाओं में रहते हैं। उनसे किसी को कोई बाधा नहीं आती है। प्रत्युत् लाभ ही रहता है।

महाभारत में कहा है कि युद्ध के लिए प्रस्थान के समय श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-"आरोरुह रथं पार्थ! गाँडीवं चापि धारय। निर्जिताँ मेदिनीं मन्ये निर्ग्रन्थो गुरुरग्रतः।" हे अर्जुन! तुम रथ पर चढ़ जाओ और गांडीव—धनुष को भी धारण करो। मैं इस पृथ्वी को जीती हुई ही समझ रहा हूं चूंकि निर्ग्रंथ मुनि सामने दिख रहे हैं।

---

१. पद्मपुराण

ज्योतिष शास्त्र में भी कहा है-

पद्मिनी राजहंसाश्च, निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः। यद्देशमभिगच्छंति, तद्देशे शुभमादिशेत्।

पद्मिनी स्त्रियाँ, राजहंस और निर्ग्रन्थ तपोधन जिस देश में पहुंचते हैं उस देश में शुभ—मंगल हो जाता है।

यद्यपि श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में साधु वस्त्रादि ग्रहण करते हैं फिर भी उनके पुरातन ग्रंथ दिगम्बर वेष को प्राचीन और श्रेष्ठ मानते हैं।

[1]कल्पसूत्र में ऐसा कथन है कि "भगवान ऋषभदेव" ने दिगम्बर धर्म का पालन किया था। आचारांग में कहा है कि दिगम्बर वेष इतर वेषों से श्रेष्ठ है। ठाणांग में कहा है कि "भगवान[2] महावीर कहते हैं कि श्रमण निर्ग्रन्थ को नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, अदंत-धावन, छत्र नहीं करना, पगरखी नहीं पहनना, भूमिशय्या, फलक शय्या, काष्ठ शय्या, केशलोंच, ब्रह्मचर्य पालन, अन्य के गृह में भिक्षार्थ जाना, आहार की वृत्ति जैसे मैंने कही वैसे ही महापद्म अरिहंत भी कहेंगे।

श्वेतांबराचार्य आत्माराम जी ने भी अपने तत्वनिर्णयप्रासाद में निर्ग्रन्थ शब्द की व्याख्या दिगम्बर भाव पोषक रूप में दी है। यथा-

"कंथाकौपीनोत्तरा संगादीनां त्यागिनो यथाजात रूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः।

कंथा, कौपीन, उत्तरीय, परिग्रह आदि के त्यागी यथाजात रूपधारी निष्परिग्रही ही निर्ग्रन्थ होते हैं। और भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

अन्य सम्प्रदाय में नग्नता—

वैदिक संप्रदाय के ग्रंथों में भगवान ऋषभदेव को आठवां अवतार माना है और वे नग्न दिगम्बर साधु हुये ऐसा कहा है। यथा-

[3]कुलादिबीजं सर्वेषा-माद्यो विमलवाहनः। चक्षुष्मांश्च यशस्वी, चाभिचंद्रोऽथ प्रसेनजित्।।
मरुदेवश्च नाभिश्च, भरते कुलसत्तमः। अष्टमो मरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः।।
दर्शयन् वर्त्मवीराणां, सुरासुरनमस्कृतः। नीतित्रयाणां कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः।।

सबसे प्रथम कुल के आदि बीज विमलवाहन हुये। उनके पश्चात्-चक्षुष्मान्, यशस्वी,

---

१. "दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि" पृ. ६३

२. " से जहानमए अज्जोमए समणाण णिग्गंथाण नग्गाभावे मुंडभावे अण्हाणए अदंतवणे अच्छत्तए अणुवाहणए भूमिसेज्जा फलनगसेज्जा कटुसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे लद्धावलद्धवित्तीओ जाव पण्णत्ताओ एवामेव महापडमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथाणं नग्गाभावे जाव लद्धावद्धवित्तीओ जाव। " ठाणा पृ० ८१३।

३. मनुस्मृति में।

अभिचंद्र और प्रसेनजित् कुलकर हुये। भरतक्षेत्र में छठे कुलकर मरुदेव और सातवें नाभिराज हुये। नाभिराज की पत्नी मरुदेवी से आठवें कुलकर ऋषभदेव हुये, ये वीरों का मार्ग दिखलाते हुये सुरासुरों से नमस्कृत तीन प्रकार की नीतियों के कर्ता थे और युग की आदि में प्रथम जिन हुये हैं। जैनों के यहां ये नाभिराज चौदहवें कुलकर थे और ऋषभदेव प्रथम जिन—तीर्थंकर थे। और देखिए-

[1]"तस्मिन्नेव विष्णु भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानां ऋषीणां ऊर्ध्वमंथिनां शुक्लया तन्वावतार।"

अर्थात् यज्ञ में परम ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर हे विष्णुदत्त परीक्षित! स्वयं श्री विष्णु भगवान् महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए इनके रनिवास में महारानी मरुदेवी के गर्भ में आये। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया। यहां 'वातरशना' शब्द वायु ही जिनके वस्त्र हैं ऐसे दिगम्बर मुनियों के लिए प्रयुक्त है।

अन्य ग्रंथों में भी नग्नत्व को महत्व दिया है।

परमहंसोपनिषद् के निम्न वाक्य देखिए-

[2]"तदेतद्विद्याय ब्राह्मज्ञः पात्र कमण्डलुं कटिसूत्रकौपीनं च तत्सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरचरेदात्मानमन्विच्छद। यथाजातरूपधरो निर्द्वंद्वो निष्परिग्रहस्तत्वब्रह्ममागर्गेसम्यक् सम्पन्नशुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले पंचगृहेषु करपात्रयोयाचिता हारमाहरन् लाभालाभे समो भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः परमहंसः पूर्णानंदैक् बोधःतद् ब्रह्मोऽहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन् भ्रमरकीटकन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृत्य देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषद्।"

ऐसा जानकर ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) पात्र, कमंडलु, कटिसूत्र और लंगोटी इन सब चीजों को जल में विसर्जित कर जातरूप अर्थात् नग्नरूप होकर विचरण करे और आत्मा का अन्वेषण करे। जो यथाजातरूपधारी (दिगम्बर) निर्द्वंद्व, निष्परिग्रही तत्व ब्रह्ममार्ग में भले प्रकार सम्पन्न शुद्ध हृदय, प्राणधारण के निमित्त यथोक्त समय पर पांच घरों में विहार कर करपात्र में अयाचित भोजन लेने वाला लाभ-अलाभ में समचित् होकर निर्मम रहने वाला 'शुक्लध्यानपरायण' अध्यात्मनिष्ठ शुभाशुभ कर्मों के निर्मूलन करने में तत्पर परमहंसयोगी पूर्णानंद का अद्वितीय अनुभव करने वाला 'वह ब्रह्म मैं हूँ।' ऐसे ब्रह्म प्रणव का स्मरण करता

---

१. भागवत पृ ५-३-२०। २. दिगम्बर और दिगम्बर जैन मुनि पृ. १८।

हुआ भ्रमर कीटक न्याय से तीनों शरीरों को छोड़कर देह त्याग करता है। वह कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा उपनिषदों में कहा है।

तुरीयातीतोपनिषद् में भी-''संन्यस्य[1] दिगम्बरो भूत्वा' इत्यादि वाक्य हैं। ऐसे ही परमहंस [2] परिव्राजकोपनिषद और याज्ञ-वल्क्योपनिषद् में भी दिगम्बर होने का आदेश दिया है।

महर्षि बाल्मीकि ने लिखा है कि श्रमण मुनि महाराजा जनक के यहां आहार को जाया करते थे। यथा 'श्रमणाश्च'[3] भुंजते' इसकी टीका में 'श्रमणा दिगम्बरा श्रमणा वातरशना, इति ऐसा वाक्य है।

राजा दशरथ भी श्रमणों को आहार देते थे। -'तापसा [4] भुंजते तथा।' योगवशिष्ठ [5] में श्री रामचन्द्र 'जिन' होने की इच्छा प्रगट करते हैं। यथा—

नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मनः। शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा।।

स्कंधपुराण[6] में शिव को दिगम्बर लिखा है यथा—

वामनोऽपि ततश्चक्रे, तत्र तीर्थावगाहनम्।यादृगूरूपः शिवो दृष्टः, सूर्यबिंबे दिगम्बरः।।

श्री भर्तृहरि वैराग्यशतक में लिखते हैं-

एकाकी निस्पृहः शांतः, पाणिपात्रो दिगम्बरः। कदा शंभो! भविष्यामि, कर्मनिर्मूलनक्षमः।।

हे शम्भो! मैं अकेला, इच्छा रहित, शांत, पाणिपात्र भोजी और दिगम्बर होकर कर्मों का नाश करने में समर्थ कब हो सकूंगा?

वे और भी कहते हैं-

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी, शांतिश्चिरं गेहिनी।
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी, भ्राता मनः संयमः।।
शय्या भूमितलं दिशैकवसनं, ज्ञानामृतं भोजनं।
एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे! कस्माद् भयं योगिनः।।

जिनके धैर्य ही पिता हैं, क्षमा माता हैं, शांति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया बहन है, मन का संयम ही भाई है, पृथ्वी तल ही शय्या है और दिशाएं ही वस्त्र हैं, ज्ञानामृत ही भोजन है। हे मित्र! जिन योगियों के ये कुटुम्बीजन विद्यमान हैं उन्हें भय कैसे हो सकता है? अर्थात् वे हमेशा निर्भय हैं।

---

१. दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि पृ. २८।२. दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि पृ. २८, २९।
३. बाल्मीकि रामायण १४।१२। ४. बाल्मीकि रामायण बालकांड सर्ग १४ श्लोक २२।
५. योगवशिष्ट अ. १५, श्लोक ८। ६. स्कंधपुराण प्रभास खंड, पृ. २२१।

इस प्रकार से अनेकों पुराणों में, वेदों में, स्मृतिग्रंथों में दिगम्बर का पोषण आया है। वेदों में तो अनेकों मंत्र तीर्थंकर अर्हंत के वाचक पाये जाते हैं। यथा-"अर्हंत ये सुदानवो नरो-" इत्यादि।

"[1]नमं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनम्। ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थंकरान्। ऋषभाद्यान् वर्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये।

बौद्ध ग्रंथों में भी भगवान् महावीर को दिगम्बर मानकर उनकी प्रशंसा की है।

"मज्झिम[2] निकाय में उन्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा है। दीर्घनिकाय में भी कहा है कि "निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र (महावीर) संघ के नेता हैं, गुणाचार्य हैं, दर्शन विशेष के प्रणेता हैं, विशेष विख्यात हैं, तीर्थंकर हैं, बहुत मनुष्यों द्वारा पूज्य हैं, अनुभवशील हैं, बहुत काल से साधु अवस्था का पालन करते हैं और अधिक वय प्राप्त हैं।

"नेपाल[3] में गूढ़ और तांत्रिक नाम की एक बौद्ध धर्म की शाखा है। मि. हागसन ने लिखा है कि इस शाखा में नग्नयति रहा करते हैं।"

बौद्धों के और भी ग्रंथों में-विनय पिटक 'जातक' आदि में भगवान महावीर को 'अचेलक नाथ पुत्र' निर्ग्रंथ पुत्र नामों से उल्लेख किया है।

'बौद्ध"[4] ग्रंथों में कई जगह लिखा है कि 'दिगम्बर मुनि उस समय बाजार, घर, शहर आदि में विचरण करते रहते थे।'

इस्लाम धर्म में भी नग्नत्व को आदर दिया है यथा—'तुर्किस्तान[5] में 'अब्दुल' नामक दरवेश मादरजात नंगे रहकर अपनी साधना में लीन बताये गये हैं।"

ईसाइयों में भी दिगम्बरत्व का महत्व है बाइबिल ने स्पष्ट कहा है-

"उसी समय[6] प्रभु ने अमोज के पुत्र ईसायियों से कहा, जा और अपने वस्त्र उतार डाल और अपने पैरों से जूते निकाल डाल और उसने यही किया, नंगा और नंगे पैरों हो वह विचरने लगा।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि बाइबिल भी मुमुक्षु को दिगम्बर हो जाने का उपदेश देती है और कितने ही ईसाई साधु दिगम्बर वेष में रह भी चुके हैं।

भद्रबाहु चरित्र और वृहत्कथाकोश आदि में मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त को दिगम्बर मुनि हुये माना है।

---

१. वृद्धारण्यके। २. "निगण्ठो, आवुसो नाथ पुत्तो सव्वज्ञु सव्वदस्सावी अपरिसेसं ज्ञाणं दसव परिजानाति'। निगण्ठो नातपुत्रो सघी चेव गणीच गणाचार्यो च ज्ञातो यसस्सी तित्थकरो साधु समस्तो बहु जनस्स रन्तस्सु चिर पव्वजितो अद्धगतो वयो अनुप्पन्ता।--दीर्घ निकाय।

३. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि टिप्पण में-पृ. ८६। ४. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि। पृ. १००।

५. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि। पृ. ३६। ६. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि।४५ (ईसाम्या २०/२)।

'यूनानी' राजदूत मेगस्थनीज भी चन्द्रगुप्त को श्रमणभक्त प्रगट करता है। अशोक[२] ने अपने एक स्तम्भलेख में स्पष्टतः निर्ग्रंथ साधुओं की रक्षा का आदेश निकाला था। तथा 'सम्राट[३] संप्रति पूर्णतः जैनधर्म परायण थे। उन्होंने जैन मुनियों के विहार और धर्म प्रचार की व्यवस्था न केवल भारत में ही की बल्कि विदेशों में भी उनका विहार कराकर धर्म प्रचार किया था।"

जब सिकन्दर[४] ससैन्य यूनान को लौटा तब 'कल्याण मुनि' उनके साथ हो लिये थे, ये दिगम्बर मुनि थे।

सुंग और आंध्र राज्यों में दिगम्बर मुनि विचरण करते थे। ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में मुनियों का विहार हो रहा था। एक दिगम्बर जैनाचार्य[५] यूनान गये थे।

हर्षवर्धन[६] तथा ह्वेनसांग के समय में भी दिगम्बर मुनि निर्बाध विहार करते थे।

राजा भोज ने अपनी राजधानी उज्जयिनी में स्थापित की थी। उस समय भी उज्जयिनी अपने 'दिगम्बर जैन संघ के लिए प्रसिद्ध थी। उस समय तक उस संघ में ईस्वी सन् ७०८ से लेकर १०५८ तक, अनंतकीर्ति आचार्य से लेकर महीचन्द्र आचार्य तक १६ आचार्य हुये थे[७]।

ईस्वी सन् ६-१० शताब्दी में जब अरब का सुलेमान नामक यात्री भारत में आया तो उसने भी यहां नग्न साधुओं को एक बड़ी संख्या में देखा था[८]। सारांशतः मध्यकालीन हिन्दू काल में दिगम्बर मुनियों का भारत में बाहुल्य था।

पुरातत्व में भी दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व अंकित है।

मथुरा का पुरातत्व ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी तक का है। वहां पर प्रायः सभी मूर्तियां नग्न दिगम्बर हैं। एक स्तूप के चित्र में नग्न जैनमुनि, पिच्छी व कमण्डलु लिये हुये दिखाये गये हैं उन पर लिखे लेख दिगम्बर मुनियों के द्योतक हैं।

राजगृह (बिहार) आदि के पुरातत्वों में भी दिगम्बर मुनियों की मूर्तियां और लेख उपलब्ध हैं। महाराष्ट्र, दक्षिण, केरल, गुजरात आदि में दिगम्बरों का अस्तित्व अतिप्राचीन सिद्ध है।

अजंता और एलोरा की गुफाओं में दिगम्बर मूर्तियां अगणित हैं। श्रवणबेलगोल के प्रायः सभी शिलालेख दिगम्बर मुनियों की ही कीर्ति गा रहे हैं।

"लंका[९] में ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी में सिंहल नरेश पांडुकाभय ने वहां के राजनगर अनिरुद्धपुर में एक जैन मंदिर और जैन मठ बनवाया था। इक्कीस राजाओं के राज्य तक वह

१. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. १०६। २. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. १०८। ३. कुणाल सूनूस्त्रि खण्ड भरताणिपः परमहितो अनार्ड्य देशे-एवपि प्रवर्तितश्रमणविहारः संप्रति महाराजा सौऽभवत्। (दिगम्बरत्व और मुनि पृ. १०६) ४. दिगम्बरत्व.....पृ. १११। ५. दिगम्बरत्व.....पृ. ११७। ६. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. १३३। ७. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. १४३। ८. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. १५३। ९. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. २४५।

मंदिर और मठ मौजूद रहा, किन्तु ईस्वी पूर्व ३८ में राजा वट्टमामिनी ने उन्हें नष्ट कराकर उनके स्थान पर बौद्ध विहार बनवाया था।"

मुसलमानी बादशाहत में भी दिगम्बर मुनियों का विहार निर्बाध था। बादशाह[1] अलाउद्दीन के दरबार में दिगम्बर जैनाचार्य ने षट्दर्शन वादियों से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की थी।

बादशाह[2] औरंगजेब ने भी दिगम्बर मुनियों का सम्मान किया था।

ब्रिटिश[3] शासन काल में दिगम्बरों का विहार बेरोक-टोक था। महारानी विक्टोरिया ने अपनी १ नवम्बर सन् १८५८ की घोषणा में यह बात स्पष्ट कह दी थी कि ब्रिटिश की छत्र-छाया में प्रत्येक जाति और धर्म के अनुयायी को अपनी परम्परागत धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं को पालन करने में पूर्ण स्वाधीनता होगी और कोई भी सरकारी कर्मचारी किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेगा।'

आज भी दिगम्बर मुनियों का विहार भारत के कोने-कोने में निराबाध रूप से हो रहा है। सन् १९३४ में दिगम्बर आचार्य शांतिसागर महाराज ने दिल्ली में चातुर्मास किया था। आज भी दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, इन्दौर, जयपुर आदि शहरों में दिगम्बर साधुओं के चातुर्मास होते रहते हैं।

निष्कर्ष यही निकलता है कि सभी संप्रदायों में दिगम्बरत्व—नग्नत्व को निराकुलता का और आत्मशांति का साधन स्वीकार किया है और इस वेष को महत्व दिया है।

इसलिए तो गुणभद्रस्वामी लिखते हैं कि-

अर्थिनो धनमप्राप्य, धनिनोप्यवितृप्तितः। कष्टं सर्वेऽपि सीदंति परमेको मुनिः सुखी।।

धन के इच्छुक (निर्धन) धन को नहीं प्राप्त करके दुखी होते हैं और धनी भी तृप्ति के न होने से दुखी हैं। हा! बड़े खेद की बात है कि संसार में सभी दुखी हो रहे हैं किन्तु उनमें एक मुनि ही सुखी हैं।

क्योंकि इनकी चर्याएं स्वावलम्बी होने से वर्तमान में भी इनको सुख देने वाली हैं और परलोक में तो वे सुखी होते ही हैं तथा परम्परा से सर्वकर्म बंधन से छूटकर पूर्ण स्वातंत्र्य सुख प्राप्त करके सदा-सदा के लिए पूर्ण सुखी हो जाते हैं।

अभी ये धरती पर पूज्य होने से "धरती के देवता हैं", कालांतर में तीनों जगत् के गुरु भगवान बनकर त्रिभुवन के देव परम पिता परमात्मा हो जाते हैं और उनका आश्रय लेने वाले भक्तगण भी कभी न कभी उन्हीं के सदृश पूर्ण सुखी हो जाते हैं।

---

१. दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि २५१। २. दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि. २६०। ३. दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि २६५।

दिगम्बर जैन मुनियों के भेद

(आचार्य-उपाध्याय-साधु)

दिगंबर मुनियों में मुख्यरूप से आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन भेद होते हैं। इन तीनों का संक्षिप्त लक्षण देखिये।

आचार्य-"जो पांच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण कहते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं वे 'आचार्य' कहलाते हैं। जो चौदह विद्याओं के पारंगत, ग्यारह अंग के धारी अथवा आचारांगमात्र के धारी हैं अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारंगत हैं, मेरु के समान निश्चल, पृथ्वी के समान सहनशील, समुद्र के समान दोषों को बाहर फेंक देने वाले और सात प्रकार के भय से रहित हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, जो शिष्यों के संग्रह और उनपर अनुग्रह करने में कुशल हैं, सूत्र के अर्थ में विशारद हैं, यशस्वी हैं, तथा सारण—आचरण, वारण-निषेध और शोधन—व्रतों की शुद्धि करने वाली क्रियाओं में उद्युक्त (उद्यमशील) हैं वे ही आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं[1]।"

संघ के आचार्य जब सल्लेखना ग्रहण के सम्मुख होते हैं तब वे अपने योग्य शिष्य को विधिवत् चतुर्विधसंघ के समक्ष आचार्यपद[2] देकर नूतन पिच्छिका समर्पित कर देते हैं और ऐसा कहते हैं कि "आज से प्रायश्चित्त शास्त्र का अध्ययन करके शिष्यों को दीक्षा, प्रायश्चित्त आदि आचार्य का कार्य तुम्हें करना है[3]।" उस समय गुरु उस आचार्य को छत्तीस गुणों के पालन का उपदेश देते हैं।

आचार्य के छत्तीण गुण—आचारवत्त्व आदि ८, १२ तप, १० स्थितिकल्प और ६ आवश्यक ये छत्तीस गुण होते हैं।

आचारवत्त्व आदि ८ गुण—आचारवत्त्व, आधारवत्त्व, व्यवहारपटुता, प्रकारकत्व, आयापायदर्शिता, उत्पीलन, अपरिस्रवण और सुखावहन।

आचारवत्त्व-आचार के पांच भेद हैं-दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार।

---

१. पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः चतुर्दशविद्यास्थानपारगः एकादशांगधरः आचारांगधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिक्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः। "देसकुलजाइसुद्धो.... संग्गहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती। सारणवारणसोहण-किरियुवज्जुत्तो हु आइरियो।।-धवला पुस्तक प्र., पृ. ४६।

२. आचार्यपद देने की विधि यतिक्रियामंजरी में प्रकाशित हो चुकी है। उसी के आधार से आचार्य पद की दीक्षा देते हैं।

३. "आचार्यपदं अद्य प्रभृति भवता रहस्यशास्त्राध्ययनदीक्षादानादिकमाचार्यकार्यमाचर्यमिति गणसमक्षं भाषमाणेन गुरुणा समर्प्यमाणपिच्छग्रहणलक्षणम्।"-अनगार, पृ० ६६६।

दर्शनाचार—जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना अथवा सम्यक्त्व को पचीस मलदोष रहित—निर्दोष करना यह दर्शनाचार है। दर्शनशुद्धि के आठ भेद हैं-

निःशंकित–तत्त्वों में शंका नहीं करना।

निःकांक्षित–उभयलोक संबंधी भोगों की आकांक्षा नहीं करना।

निर्विचिकित्सा–अस्नानव्रत, नग्नता आदि में अरुचि नहीं करना।

अमूढ़दृष्टि–मूढ़ता या मिथ्या परिणामों से रहित होना।

उपगूहन–चतुर्विध संघ के दोषों का आच्छादन करना।

स्थितिकरण–रत्नत्रय से च्युत होने वाले को उपदेशादि द्वारा स्थिर करना।

वात्सल्य–साधर्मियों में अकृत्रिम स्नेह रखना।

प्रभावना–"दान, पूजन, व्याख्यान, वाद, मंत्र, तंत्र, आदि से मिथ्यामतों का निरसन कर अर्हंत के शासन को प्रकाशित करना[1]।"

"ये निःशंकित आदि आठ गुण हैं इन्हें दर्शनशुद्धि कहते हैं। इनके विपरीत इतने ही अतिचार हो जाते हैं[2]।

ज्ञानाचार–जिससे आत्मा का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिससे मनोव्यापार रोका जाता है और जिससे आत्मा कर्ममल से रहित होती है वही सम्यग्ज्ञान है। उसको आठ भेद सहित पालन करना ज्ञानाचार है। ये भेदज्ञान की आठ शुद्धिरूप है।

काल शुद्धि–स्वाध्याय की बेला में पठन, सच्चे शास्त्रों को पुनः पुनः पढ़ना—अभ्यास करना, व्याख्यान आदि करना कालशुद्धि है।

विनय शुद्धि–मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक अत्यर्थ विनय से श्रुत का पठन पाठन करना।

उपधान शुद्धि–कुछ नियम लेकर अर्थात् 'जब तक यह ग्रन्थ पूरा न हो तब तक मेरा दूध का त्याग है' इत्यादि नियम लेकर पढ़ना।

बहुमान शुद्धि–पूजा-सत्कारपूर्वक पठन आदि करना।

अनिन्हव शुद्धि–जिस गुरु से शास्त्र पढ़ा है उसका नाम प्रकाशित करना अथवा जिस ग्रन्थ से ज्ञान हुआ है उसको नहीं छिपाना।

व्यंजन शुद्धि–वर्ण, पद, वाक्यों को शुद्ध पढ़ना।

---

१. "प्रभावना वादपूजादानव्याख्यानमंत्रतंत्रादिभिः सम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टिरोधं कृत्वा अर्हत्प्रणीतशासनोद्योतनं।" -मूलाचार टीका, पृ० १७४।

२. ते एते निःशंकितादयो गुणाः। अट्ठ–अष्टौ वेदितव्याः। एतेषां वैपरीत्येन तावन्तोऽतीचारा व्यतिरेकद्वारेण कथिताः। मूलाचार टीका, पृ. १७४।

अर्थशुद्धि–पदों का अनेकांत रूप अर्थ करना।

तदुभय शुद्धि–शब्द और अर्थ को शुद्धिपूर्वक पढ़ना।

इस प्रकार कालादि शुद्धि के भेद से ज्ञानाचार के भी आठ भेद होते हैं।

चारित्राचार–पाप क्रिया से निवृत्ति चारित्र है। उसके पांच भेद हैं–प्राणिवध, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापों का सर्वथा त्याग कर देना ये पाँच चारित्राचार हैं।

"पांच महाव्रतों की रक्षा के लिये रात्रिभोजन का भी त्याग किया जाता है। इसे छठा अणुव्रत भी कहते हैं।" अन्यत्र—साधुओं के प्रतिक्रमण में भी कहा है—'रात्रिभोजन से विरक्त होना छठा अणुव्रत है'।[1]

अथवा पांच समिति और तीन गुप्तिरूप आठ प्रकार का चारित्राचार है।

"चंपापुरी, पावापुरी, गिरनार आदि तीर्थयात्रा हेतु, साधुओं के संन्यास निमित्त, देव, धर्म आदि के हेतु अथवा शास्त्रों को सुनने-सुनाने के लिये अथवा प्रतिक्रमण आदि सुनने-सुनाने के लिये अपररात्रिक स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और देववंदना करके सूर्योदय हो जाने पर प्रासुकमार्ग में चार हाथ आगे जमीन देखते हुए गमन करना ईर्यासमिति है[2]।" क्योंकि साधु किसी भी लौकिक कार्य के लिए या व्यर्थ गमन नहीं करते हैं ऐसे ही शास्त्रानुकूल बोलना, आहार करना, कुछ वस्तु रखना, उठाना और प्रासुक स्थान में मलमूत्रादि विसर्जन करना ये पांच समितियां हैं।

अशुभ मन, वचन और काय का गोपन करना अर्थात्–मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना गुप्ति है। अथवा स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हुए मुनि के जो मन, वचन, काय का संवरण होता है उसी का नाम गुप्ति है। इसके मन, वचन, काय की अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं।

इन्हें "अष्टप्रवचनमातृका' भी कहते हैं क्योंकि ये मुनियों के रत्नत्रय की रक्षा करती हैं जैसे कि माता अपने पुत्र की रक्षा करती है।[3]"

पांच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार का चारित्र भी माना है, इनका पालन करना-कराना ही चारित्राचार है।

"पांच महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजननिवृत्तिरूप छठा अणुव्रत, आठ प्रवचन

---

१. तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणाणियत्ति। -मूलाचार, पृ. १६०।

२. "कैलाशोर्जयंतचंपापावादितीर्थयात्रासंन्यासदेवधर्मादिकारणेन शास्त्रश्रावणादिकेण वा सप्रतिक्रमणश्रवणादिप्रयोजनेन वोदिते सवितरि.. गतंव्यं। मूलाचार टीका पृ. २५०।

३. एताओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं। रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ।।–मूलाचार, पृ. २७३।

मातृकाएं और पच्चीस भावनाएं मानी गयी हैं[1]।"

उसमें से सभी का लक्षण स्पष्ट है। अब पांच व्रतों की पच्चीस भावनाओं को कहते हैं—

भावना—व्रतों की पूर्णता हेतु या स्थिरता हेतु जो पुनः पुनः भावित की जाती हैं, पाली जाती हैं वे भावनाएँ हैं। पांच व्रतों में प्रत्येक की पांच-पांच भावनाएँ होने से पच्चीस भावनाएं हो जाती हैं।

अहिंसा व्रत की ५ भावना—एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोकितपानभोजन ये पांच भावनाएं हैं। इनको भाने वाला साधु जीवदया का प्रतिपालन करता है अर्थात् प्रथम महाव्रत परिपूर्ण करता है। इसलिए अहिंसा महाव्रत की साधनरूप ये भावनाएं हैं ऐसा समझो। इसमें से चार का लक्षण आ चुका है। आलोकितपानभोजन में सूर्य के प्रकाश में चक्षु इंद्रिय से देखकर आगम के ज्ञानपूर्वक भोजनपान करना चाहिए।

सत्यव्रत की ५ भावना—क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग करना तथा अनुवीचि—सूत्र के अनुकूल वचन बोलना[2] ये पांच भावनायें सत्यव्रत की पूर्णता हेतु हैं।

अचौर्यव्रत की ५ भावना—किसी की वस्तु, पुस्तक आदि को उनसे मांग कर लेना 'याचना' है, किसी की वस्तु उनकी अनुमति से ग्रहण करना और परोक्ष में लेने पर उन्हें वापस कर देना, "समनुज्ञापना" है, ग्रहण की हुई परवस्तु में आत्मभाव नहीं करना "अनन्यभाव" है, त्यक्त प्रतिसेवा और सहधर्मी साधुओं के उपकरण-पुस्तक, पिच्छी और सूत्रानुकूल सेवन करना इस प्रकार यांचा, समनुज्ञापना, अनन्यभाव, त्यक्त प्रतिसेवी और साधर्मी के उपकरण का अनुवीचि सेवन ये पांच भावनायें अचौर्यव्रत को पूर्ण करने वाली हैं।

ब्रह्मचर्यव्रत की ५ भावना—महिलाओं को कामविकार से नहीं देखना, पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना, रागभाव के कारण भूत पदार्थों से संसक्त वसतिका में नहीं रहना अथवा असंयमी लोगों के साथ नहीं रहना, श्रृंगारिक कथा-विकथा आदि नहीं करना, बल और दर्प उत्पन्न करने वाले रसों का सेवन नहीं करना ये पांच भावनायें ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण करने वाली हैं।

परिग्रहत्याग की ५ भावना--पंच इन्द्रियों के प्रिय और अप्रिय विषय जो कि शब्द, रस, स्पर्श, और गंध में परिग्रह रहित मुनि रागद्वेष नहीं करते हैं इसलिये इन पांच भावनाओं से परिग्रहमहाव्रत पूर्ण होता है।

'इन पच्चीस भावनाओं की भावना करने वाला साधु सोता हुआ भी अथवा मूर्छा को प्राप्त हुआ भी अपने सभी व्रतों में किंचित् मात्र भी पीड़ा-विराधना को नहीं करता है पुनः सावधान

---

१. तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती। अट्ठय पवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ।।६८।। -मूलाचार

२. अनुवीचिभाषणं चैव सूत्रानुसारेण भाषणं। -मूलाचार टीका, पृ० २७४।

रहते हुए–जाग्रत रहते हुए की तो बात ही क्या है ? वह साधु स्वप्न में भी इन भावनाओं को ही देखता है किंतु व्रतों की विराधना को नहीं देखता है[1]।"

तप आचार—"जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है–दहन करता है, वह तप है[2]।" यह कर्मों को दहन करने में समर्थ है। इसके दो भेद हैं– बाह्य और अभ्यंतर। इन दोनों के भी छह-छह भेद होने से बारह भेद हो जाते हैं। इन बारह प्रकार के तपों का अनुष्ठान करना तप आचार है। इसका विस्तृत वर्णन आगे मुनियों के उत्तरगुणों में किया जावेगा।

वीर्याचार—अपने बल और वीर्य को न छिपा कर जो साधु यथोक्त आचरण में अर्थात् प्राणिसंयम-इन्द्रियसंयम के पालन और तपश्चरण में अपने आपको लगाते हैं, कायरता प्रगट न करके हमेशा चारित्र के आचरण में और तप में उत्साहित रहते हैं। यही वीर्याचार है।

इन पांच आचारों का पालन करना-कराना ही आचारवत्त्व है।

२. आधारवत्त्व—जिस श्रुतज्ञानरूपी संपत्ति की कोई तुलना नहीं कर सकता उसको, अथवा नौ पूर्व, दशपूर्व या चौदह पूर्व तक के श्रुतज्ञान को अथवा कल्पव्यवहार के धारण करने को आधारवत्त्व कहते हैं।

३. व्यवहारपटुता—व्यवहार नाम प्रायश्चित्त का है, वह पांच प्रकार का है। इसकी कुशलता ही व्यवहारपटुता है। जिन्होंने अनेक बार प्रायश्चित्त देते हुए देखा है, स्वयं ग्रहण किया है, दूसरों को दिलवाया है वे ही व्यवहारपटु हैं।

व्यवहार—प्रायश्चित्त के ५ भेद–आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।

ग्यारह अंगशास्त्रों में प्रायश्चित्त वर्णित है अथवा उनके आधार से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसको आगम कहते हैं।

चौदहपूर्व में बताये हुए या तदनुसार दिये हुए प्रायश्चित्त को श्रुत कहते हैं। कोई आचार्य समाधिमरण के लिये उद्युक्त हैं, उनकी जंघा का बल घट गया–वे दूर तक विहार नहीं कर सकते, वे आचार्य किसी योग्य आचार्य के पास अपने योग्य ज्येष्ठ शिष्य को भेजकर उसके द्वारा ही अपने दोषों की आलोचना कराकर प्रायश्चित्त मंगाकर ग्रहण करते हैं उसको आज्ञा कहते हैं।

कोई आचार्य उपर्युक्त स्थिति में हैं और उनके पास शिष्यादि भी नहीं हैं तो वे स्वयं अपने दोषों की आलोचना कर पहले के अवधारित (जाने हुए) प्रायश्चित्त को ग्रहण करते हैं वह धारणा प्रायश्चित्त है।

---

१. ण करेदि भावणाभाविदो हु पीलं वदाण सव्वेसि। साधु पासुत्तो स मणागावि किं दाणि वेदंतो।।१४५।।

२. "तपति दहति शरीरेंद्रियाणि तपः बाह्याभ्यंतरलक्षणं कर्मदहनसमर्थं।"-मूला.टी., पृ० १७२।

बहत्तर पुरुषों की अपेक्षा जो प्रायश्चित्त बताया जाता है उसको जीत कहते हैं। इनमें निष्णात आचार्य व्यवहारपटु कहलाते हैं।

४. प्रकारकत्व—जो समाधिमरण कराने में या उसकी वैयावृत्य करने में कुशल हैं उन्हें परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं यह गुण प्रकारकत्व कहलाता है।

५. आयापायदर्शिता—आलोचना करने के लिये उद्यत हुए क्षपक (समाधिमरण करने वाले साधु) के गुण और दोषों के प्रकाशित करने को आयापायदर्शिता अथवा गुणदोषप्रवक्तृता कहते हैं।

६. उत्पीलन—कोई साधु या क्षपक यदि दोषों को पूर्णतया नहीं निकालता है तो उसके दोषों को युक्ति और बल से बाहर निकाल लेना उत्पीलन गुण है।

७. अपरिस्रवण—शिष्य के गोप्य दोष को सुनकर जो प्रकट नहीं करते हैं उनके अपरिस्रवण गुण होता है।

८. सुखावहन—क्षुधादि से पीड़ित साधु को जो उत्तम कथा आदि के द्वारा शांत करके सुखी करते हैं वे सुखावह गुण के धारी हैं।

इस प्रकार इन आठ गुण के धारी आचार्य आचारी, आधारी, व्यवहारी, प्रकारक, आयापायदिक्, उत्पीडक, अपरिस्रावी और सुखावह होते हैं।

स्थितिकल्प के दश भेद—

आचेलक्य, औद्देशिकपिंडत्याग, शय्याधरपिंडत्याग, राजकीयपिंडत्याग, कृतिकर्म, व्रतारोपण योग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता और योग, इस प्रकार स्थितिकल्पगुण दश हैं।

१. आचेलक्य–वस्त्रादि संपूर्ण परिग्रह के अभाव को अथवा नग्नता को आचेलक्य कहते हैं। नग्न दिगंबर साधु लंगोटीमात्र को भी नहीं रखते हैं चूंकि उसे धोना, सुखाना, संभालना, फटने पर याचना करना आदि अनेक आकुलताएँ होती हैं जिससे ध्यान-अध्ययन की पूर्णतया सिद्धि असंभव है तथा तीर्थंकरों के आचरण का अनुसरण भी नग्नता से ही होता है।

२. औद्देशिकपिंड त्याग–जो मुनियों के उद्देश्य से तैयार किया गया है ऐसे भोजन पान आदि द्रव्य को ग्रहण नहीं करना औद्देशिक पिंड–आहार का त्याग गुण होता है।

३. शय्याधरपिंड त्याग–वसतिका बनवाने वाला, उसका संस्कार करने वाला और वहां पर व्यवस्था आदि करने वाला ये तीनों ही शय्याधर शब्द से कहे जाते हैं। इनके आहार, उपकरण आदि न लेने को शय्याधरपिंड त्याग कहते हैं। अभिप्राय यह है कि किसी ने वसतिका दान किया, साधु वहां ठहरे पुनः "यदि मैं आहार नहीं दूँगा तो लोग क्या कहेंगे कि इसने साधु को ठहरा तो लिया किंतु उन्हें आहार नहीं दिया" इत्यादि भावना से संक्लिष्ट

परिणाम करके आहार देने से दोषास्पद है। यदि कोई गृहस्थ मान कषाय या भय, संकोच आदि रहित होकर मात्र पात्रदान की भावना से वसतिका दान देकर आहारदान भी देता है तो उसमें कोई दोष नहीं है।

कोई आचार्य इसको शय्यागृहपिंडत्याग कहकर इसका ऐसा अर्थ करते हैं कि विहार करते हुए मार्ग में रात्रि को जिस गृह या वसति में ठहरें या शयन आदि करें वहां दूसरे दिन आहार नहीं लेना अथवा वसतिका संबंधी द्रव्य के निमित्त से जो भोजन तैयार किया गया हो उसको नहीं लेना यह शय्यागृहपिंडोज्झा गुण है।

४. राजकीय पिंड त्याग–इक्ष्वाकु कुल आदि में जन्मे अथवा अन्य राजाओं के यहाँ आहार नहीं लेना राजकीयपिंडत्याग गुण है। अभिप्राय यह है कि ऐसे घरों में भयंकर कुत्ते आदि जन्तु घात कर सकते हैं या पशु-गाय, भैंस आदि या गर्विष्ठ नौकर चाकर आदि अपमान कर सकते हैं इत्यादि बाधक कारणों के प्रसंग से राजाओं के यहाँ का आहार नहीं लेना चाहिये। उपर्युक्त दोषों से रहित यदि होवे तो लेने में कोई दोष नहीं है। भरतसम्राट् आदि महाराजाओं के यहां तो आहार होते ही थे।

५. कृतिकर्म–विधिवत् आवश्यकों का पालन करना अथवा गुरुजनों का विनयकर्म करना कृतिकर्म है।

६. व्रतारोपणयोग्यता–शिष्यों में व्रतों के आरोपण करने की योग्यता होना यह छठा गुण है।

७. ज्येष्ठता–जो जाति, कुल, वैभव, प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्थों में महान् रहे हैं, जो ज्ञान और चर्या आदि में उपाध्याय और आर्यिका आदि से भी महान् हैं, क्रियाकर्म के अनुष्ठान में भी श्रेष्ठ हैं उनके यह सातवां गुण होता है।

८. प्रतिक्रमण–प्रतिक्रमण के नाना भेदों को समझने वाले और विधिवत् करने कराने वाले आचार्य इस गुण के धारी होते हैं।

९. मासैकवासिता–जिनके तीन दिन-तीन रात्रि तक एक ही स्थान में या ग्राम में रहने का व्रत हो उनके यह मासैकवासिता गुण होता है। चूंकि अधिक दिन एक जगह रहने से उद्गम आदि क्षेत्र में ममता, गौरव में कमी, आलस, शरीर में सुकुमारता, भावना का अभाव, ज्ञातभिक्षा का ग्रहण आदि दोष होने लगते हैं।

मूलाराधना में इसका ऐसा अर्थ किया है कि "चातुर्मास के एक महीने पहले और पीछे उसी ग्राम में रहना[1]।"

१.मासैकवासिता त्रिंशदहोरात्रमेकत्र ग्रामादौ वसति तद्व्रतः तद्भावः।"–अन., पृ० ६७४।

१०. योग —वर्षाकाल में चार महीने एक जगह रहना। चूंकि वृष्टि के निमित्त से त्रस-स्थावर जीवों की बहुलता हो जाती है, इससे विहार में असंयम होगा, वृष्टि से ठंडी हवा चलने से आत्मविराधना–शरीर में कष्ट, व्याधि, मरण आदि आ जावेंगे। जल, कीचड़ आदि के निमित्त से गिर जाना आदि संभव है। इत्यादि कारणों से चातुर्मास में एक सौ बीस दिन तक एक ग्राम में रहना यह उत्सर्ग (उत्कृष्ट) मार्ग है। अपवाद मार्ग की अपेक्षा विशेष कारण उपस्थित होने पर अधिक अथवा कम दिन भी निवास किया जा सकता है। अधिक में आषाढ़ शुक्ला दशमी से कार्तिकशुक्ला पूर्णिमा के ऊपर तीस दिन तक निवास किया जा सकता है। अत्यधिक जलवृष्टि, श्रुत का विशेष लाभ, शक्ति का अभाव और किसी की वैयावृत्ति आदि के विशेष प्रसंग आ जाने पर, इन प्रयोजनों के उद्देश्य से एक स्थान में अधिक दिन निवास किया जा सकता है। यह उत्कृष्ट काल का प्रमाण है।

इस प्रकार से आचार्य के ये स्थितिकल्प नाम के दश गुण बताये हैं।

छह आवश्यकों का वर्णन हो चुका है। इस प्रकार आचारवत्त्वादि ८ + तपश्चरण १२+, स्थितिकल्प १० + और आवश्यक ६=३६ गुणों का पालन करने वाले आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

अन्यत्र अन्य प्रकार से भी बताये हैं। यथा–"१२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति ये आचार्य के ३६ गुण होते हैं[1]।"

बारह तप —जो कर्म निर्जरा हेतु तपा जाता है वह तप है। उसके दो भेद हैं–बाह्य और अभ्यन्तर । इन दोनों के भी छह-छह भेद होने से बारह भेद हो जाते हैं। बाह्य तप के छह भेद–अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशयनासन।

१. अनशन —चतुराहार का त्याग अनशन कहलाता है। इसके दो भेद हैं–इत्तिरिय और यावज्जीवन। इत्तिरिय को साकांक्ष–सापेक्ष या सावधि भी कहते हैं और यावज्जीवन अनशन को निराकांक्ष–निरपेक्ष या निरवधि भी कहते हैं।

एक दिन में भोजन की दो बेला मानी है। उसमें से एक बेला के भोजन का त्याग करके एक बार भोजन करना एकभक्त है। उपवास के पहले दिन और अगले दिन एकभुक्ति करके एक-एक भक्त का त्याग करना तथा बीच के दिन दोनों भोजन का त्याग करना, इस प्रकार चार भक्त का त्याग चतुर्थ–उपवास है। ऐसे ही दो दिन उपवास और अगले–पिछले दिन एक-एक भक्त का त्याग इसे षष्ठ–बेला कहते हैं।

ऐसे ही एक, दो, तीन, चार, पाँच उपवास अथवा पक्षोपवास, मासोपवास आदि रूप से

१.द्वादशतप दशधर्मजुत, पालें पंचाचार। षट् आवश्य त्रयगुप्ति गुण, आचारज पदसार।।१६।। -इष्टछत्तीसी, बुधजनकविकृत।

उपवास के अनेक भेद हैं। तथा कनकावली, एकावली, विमानपंक्ति, सिंहनिष्क्रीडित आदि अनेक प्रकार से तपों का अनुष्ठान करना। छह महीने तक के उपवास को उत्कृष्ट अनशनतप कहते हैं। इनमें 'इतने कालतक मैं आहार का त्याग करूँगा' ऐसी काल की अपेक्षा होने से साकांक्ष तप है। इस तपोविधि को 'सिद्धिप्रासादव्रत' कहते हैं, क्योंकि ऐसी तपोविधि से सिद्धि-मुक्तिरूपी राजमहल की प्राप्ति होती है।

सल्लेखना के समय जीवनपर्यंत के लिए जो आहार का त्याग किया जाता है वह निराकांक्ष अनशन है। इसके भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन ये तीन भेद हैं। और भी इसी प्रकार के उपवास को निराकांक्षतप कहते हैं।

२. अवमोदर्यतप —पुरुषों का आहार बत्तीस कवल प्रमाण है और स्त्रियों का अट्ठाईस कवलमात्र है। अर्थात् एक हजार चावल[1] का एक कवल होता है ऐसे बत्तीस कवल मात्र ही एक पुरुष का स्वाभाविक आहार है इससे न्यून-कम ग्रहण करना अवमोदर्य तप है। उपवास करने की शक्ति नहीं होने से एक ग्रास, दो ग्रास आदि कम करके अल्प भोजन किया जाता है। इसमें कम करते-करते एक चावल तक भी ग्रहण करना अवमोदर्य है। ध्यान-स्वाध्याय की सिद्धि हेतु तथा प्रमाद परिहार के लिये यह तप किया जाता है।

३. रसपरित्याग —दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक इन रसों का, इनमें से किसी एक, दो आदि का त्याग करना रसपरित्याग तप है तथा तिक्त, कटु, कषायला, आम्ल और मीठा इन रसों में से त्याग करना तप है। ये पदार्थ प्रासुक हैं फिर भी तपोबुद्धि से इनका त्याग किया जाता है।

नवनीत-मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चार महाविकृतियाँ हैं। साधु तो क्या श्रावक भी इनका जीवनपर्यंत के लिये त्याग कर देते हैं क्योंकि ये त्रसजीवों के पिंड हैं।

४. वृत्तपरिसंख्यान —आहार के लिये जाते समय साधु कुछ भी अटपटा नियम, घरों का, दातार का या अशन आदि का नियम कर लेते हैं उसे वृत्तपरिसंख्यान तप कहते हैं। 'जैसे कोई वृद्ध पड़गाहन करेगा' तो ही आज आहार लेंगे, या कांसे के पात्र से अथवा सुवर्ण पात्र या मिट्टी के पात्र से आहार देंगे तभी लेंगे अन्यथा नहीं। ऐसा नियम करना वृत्तपरिसंख्यान है।

५. कायक्लेश-कायोत्सर्ग करना, एकपार्श्व से या दण्डाकार सोना, उत्कुटिकासन, पर्यंकासन, मकरमुखासन आदि अनेक प्रकार के आसन से ध्यान करना, इत्यादि प्रकारों से शास्त्रानुसार जो शरीर को कष्ट दिया जाता है उसे कायक्लेश तप कहते हैं। वृक्षमूल, अभ्रावकाश, आतापन

---

१. विद्वान् लोग चावल से माप का चावल लेते हैं ।

आदि योगों के द्वारा शरीर को क्लेश देना यह सब कायक्लेश तप है। इस तप से शरीर से ममत्व नष्ट होता है और सहनशीलता बढ़ते हुए अनेकों उपसर्ग- परीषहों को विजय करने की शक्ति आती है।

६. विविक्त शयनासन-पशु, स्त्री, वेश्या, व्यंतरिणी आदि से रहित, गृहस्थी के संसर्ग से भी रहित ऐसे स्थान में शयन करना और बैठना, यह विविक्तशयनासन तप है। इससे स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि होती है।

ये छह प्रकार के तप बाह्य —गृहस्थ और मिथ्यादृष्टि आदि सभी में प्रसिद्ध हैं इसलिये बाह्य कहे जाते हैं। साधु अपनी शक्ति के अनुसार आत्मविशुद्धि हेतु इन तपों का अनुष्ठान करते रहते हैं। अभ्यन्तर तप के भी छह भेद होते हैं-प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

७. प्रायश्चित्त-पूर्वकृत अपराध का शोधन करना प्रायश्चित्त है। इसके दस भेद हैं-

आलोचना- आचार्य के अथवा जिनेन्द्र देव के पास जाकर चारित्राचारपूर्वक उत्पन्न हुए अपराधों का निवेदन करना।

प्रतिक्रमण-दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करना।

तदुभय-आलोचना और प्रतिक्रमणपूर्वक दोषों का निराकरण करना।

विवेक-कदाचित् कोई अप्रासुक वस्तु ग्रहण करने या कराने में आ जाय अथवा त्यागी हुई प्रासुक भी वस्तु यदि भूल से ग्रहण करने में आ जाय तो उसको छोड़ देना विवेक है।[1]

व्युत्सर्ग-दुःस्वप्न आदि अतिचार शोधन हेतु कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है।

तप-अपराधजन्य दोष दूर करने हेतु उपवास आदि करना।

छेद-एक दिन, दो दिन, मास, वर्ष आदि की दीक्षा छेद देना —कम कर देना।

मूल-सम्पूर्ण दीक्षा छेदकर पुनः दीक्षा देना।

परिहार-कुछ दिन के विभाग से साधु को अलग कर देना परिहार है।

श्रद्धान-तत्त्व में रुचि करना अथवा क्रोधादि का परित्याग करना।

प्रमाद से या अज्ञान से साधुओं को भी व्रतों में कुछ न कुछ छोटे या बड़े दोष लग जाया करते हैं। तब साधु आचार्य के निकट एकान्त में बैठकर विधिवत्-दशदोष रहित अपने दोषों की आलोचना करते हैं। तब गुरु भी अपरिस्रावी आदि गुणों से संयुक्त हुए उपर्युक्त दश भेदों में से यथायोग्य प्रायश्चित्त देते हैं। लघु दोषों में आलोचना आदि प्रायश्चित्त देते हैं ओर बड़े दोषों में छेद,

---

१. विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्राहणे वाऽपरस्य वा। प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवको वा विसर्जनम्॥५०॥-अन०, पृ० ५०२।

मूल आदि प्रायश्चित्त देते हैं। "अर्हंतगेह, सिद्धक्षेत्र आदि प्रशस्त स्थानों में शुभ दिन, शुभ नक्षत्रों में प्रायश्चित्त देते हैं पुनः उसके दोष को कभी किसी के सामने प्रगट नहीं करते हैं[1]।"

आलोचना प्रायश्चित्त में एक बात विशेष समझने की है कि यदि मुनि अपने दोषों की आलोचना करते हैं तो आचार्य के पास एकांत में करते हैं और यदि आर्यिकायें करती हैं तो वे अकेली आचार्य के पास नहीं बैठती हैं। उनके साथ या तो एक आर्यिका रहती है या आचार्य के निकट एक मुनि बैठते हैं। आलोचना करते समय दश दोषों का त्याग करना चाहिये।

उन दश दोषों के नाम—आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुल, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवित।

१. आचार्य बड़ा प्रायश्चित्त न दे दें इस भय से और शंका से उन्हें उपकरण आदि देकर अथवा किसी अन्य उपाय से उनको थोड़ा प्रायश्चित्त देने के लिए अपने अनुकूल करने का नाम आकंपित दोष है।

२. प्रार्थना करने पर मुझे थोड़ा ही प्रायश्चित्त देंगे इस हेतु से 'उन वीर पुरुषों को धन्य है जो महान् तप करते हैं, मैं तो शक्तिहीन हूँ इत्यादि' प्रकार से अपनी अशक्ति प्रगट कर अपना अपराध कहना अनुमानित दोष है।

३. यदि अपना अपराध किसी ने देख लिया है तो गुरु के पास कह दिया अन्यथा नहीं, यह दृष्ट दोष है।

४. गुरु के पास छोटे-छोटे दोष छिपाकर बड़े-बड़े को कहना बादर दोष है।

५. स्थूल दोषों को छिपाकर केवल सूक्ष्म दोषों को ही कहना सूक्ष्म दोष है।

६. अपने दोष को न कहकर युक्ति से गुरु से पूछना कि भगवन्! इस अपराध के हो जाने पर क्या प्रायश्चित्त है? उत्तर सुनकर अपने आप चुपके से वह अनुष्ठान कर लेना छन्न दोष है।

७. पक्षादि प्रतिक्रमण के समय जब बहुत से लोगों का शब्द हो रहा हो उस समय कोलाहल में ही गुरु के समक्ष अपने दोष प्रगट करना शब्दाकुल दोष हैं।

८. बहुत साधु मिलकर जो आलोचना करते हैं वह बहुजन दोष है।

९. अपने से ज्ञान या संयम में जो हीन हैं उनसे प्रायश्चित्त लेना अव्यक्त दोष है।

१०. अपने समान अपराधी पार्श्वस्थ से प्रायश्चित्त लेना तत्सेवित दोष है।

साधु इन दश दोषों से रहित आलोचना करके गुरुमुख से प्रायश्चित्त ग्रहण कर दोषों से

---

१. अर्हत्सिद्धसमुद्राब्जसरःक्षीरफलाकुलम्। तोरणोद्यानसद्मादि,यक्षवेश्मबृहद्गृहम्।। सुप्रशस्तं भवेत्स्थान-मन्यदप्येवमादिकम्। सूरिरालोचनां तत्र, प्रतीच्छत्यस्य शुद्धये।। – अन०, पृ० ४९७।

मुक्त हो जाते हैं।

८. विनय —अनुद्धत वृत्ति अर्थात् विनम्रता को विनय कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं–दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और औपचारिक।

दर्शन विनय —निर्दोष सम्यक्त्व का पालन करना, पंचपरमेष्ठी की भक्ति, पूजा करना, उनके अवर्णवाद–असत्य आरोपों को दूर करना और उनकी आसादना–अवज्ञा आदि को दूर करना। इत्यादि कार्यों से दर्शन विनय होता है।

ज्ञान विनय —काल शुद्धि आदि आठ प्रकार से ज्ञान की आराधना ज्ञान का विनय है।

चारित्र विनय —इन्द्रिय और कषायों के व्यापार से हटना, गुप्ति समिति का पालना इत्यादि चारित्र का विनय है।

तपोविनय —तप में, उत्तरगुणों में अनुराग और उत्साह रखना, तप से अधिक साधु में भक्ति करना और तप से हीन की अवहेलना नहीं करना इत्यादि तपोविनय है।

उपचार विनय —इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। उसमें भी मन, वचन, काय की अपेक्षा दोनों के तीन भेद हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष विनय —गुरु को सामने आते हुए देखकर उठकर खड़े हो जाना, कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करना, आसन देना, चलते समय उनके पीछे चलना, उनसे नीचे बैठना इत्यादि कायिक विनय है।

हे भगवन् ! इत्यादिरूप से पूजा-सत्कारसूचक वचन बोलना, हित, मित, मधुर, आगमानुकूल, अनिष्ठुर–मृदु, कर्कशता रहित अच्छे वचन बोलना वाचनिक विनय है। गुरु के अपमान आदि के परिणाम या पापरूप परिणाम नहीं करना प्रत्युत् सम्यग्ज्ञानादि में परिणाम लगाना मानसिक विनय है।

परोक्ष विनय —गुरुजनों के परोक्ष में की जाने वाली विनय परोक्ष विनय है। काय से–हाथ जोड़कर कृतिकर्म पूर्वक वन्दना करना, उनके प्रति आदर सूचक वचन कहना, मन में भक्ति रखना, उनकी आज्ञा का पालन करना आदि परोक्ष विनय है।

"साधुजन अपने से एक रात्रि भी दीक्षा में बड़े ऐसे मुनियों की, अपने से लघु मुनियों की, आर्यिकाओं की और श्रावकों की भी यथायोग्य[1] विनय करते हैं।" अर्थात् बड़ों को नमस्कार करना, वैयावृत्ति आदि से लघु मुनियों की प्रतिवंदना, वैयावृत्य, मधुर भाषण आदि से ऐसे आर्यिका और श्रावकों के प्रति यथायोग्य व्यवहार, आदरभाव, वात्सल्य भाव आदिरूप विनय करते हैं क्योंकि

---

१. रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ, अज्जासु चेव गिहिवग्गे विणओ जहारिहो सो, कायव्वो अप्पमत्तेण।।

अपने से दीक्षा में लघु को या आर्यिका, श्रावक आदि को मुनि नमस्कार नहीं करते।

६. वैयावृत्य—अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना वैयावृत्ति है। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर इनकी तथा बाल-वृद्ध मुनियों से व्याप्त जो गच्छ-साधु-संघ है इनकी, सर्वसामर्थ्य से वैयावृत्ति करनी चाहिये अर्थात् आहार, उपकरण, औषधि, पुस्तक आदि के द्वारा इनका उपकार करना चाहिये। जो अपने से गुणों में अधिक हैं, तपस्वी हैं, शास्त्र शिक्षण में तत्पर हैं, दुर्बल हैं या व्याधिग्रस्त हैं ऐसे मुनियों की तथा चतुर्विध संघ की सेवा करना।

कोई साधु मार्ग से थके हुए आये हैं या शत्रु, पशु, राजा आदि के द्वारा त्रास हुआ हैं ऐसे साधुओं को वसतिका देना, आसन आदि देकर आहार आदि की व्यवस्था कराकर और भी यथोचित शुश्रूषा करना, शास्त्र सुनाना, 'सोंठ, पीपल आदि औषधि'[1] दिलाना इत्यादि सभी वैयावृत्ति तप है।

"जो अपने समान रत्नत्रय साधन करने वालों के ऊपर आई हुई आपत्ति को देखकर भी सो जाता है-दूर करने की चेष्टा नहीं करता है वह समस्त सम्पत्तियों के विषय में भी सो जाता है। क्योंकि अर्हंत देव ने अन्तरंग और बहिरंग सम्पूर्ण तपस्याओं का हृदय तप ही बतलाया है।[2]"

१०. स्वाध्याय—स्व-अपने लिये हितकर जो श्रुत का सम्यक् अध्ययन है वह स्वाध्याय है। इसके वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पाँच भेद हैं। यह भी कर्मनिर्जरा और ध्यानसिद्धि के लिये मुख्यतया साधन होने से अन्तरंग तप है।

"बाह्याभ्यंतर भेद युक्त बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान तप न हुआ है न होगा[3]।"

११. ध्यान—एकाग्रचिंतानिरोध का नाम ध्यान है अर्थात् किसी एक विषय पर उपयोगी का स्थिर होना। इसके चार भेद हैं-आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल।

१२. व्युत्सर्ग—परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। इसके दो भेद हैं-अभ्यंतर और बाह्य। क्रोधादि कषायें ४, मिथ्यात्व १, वेद ३ और हास्यादि ६, ऐसे चौदह प्रकार के अभ्यंतर परिग्रह हैं तथा क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयनआसन, कुप्य और भांड ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं इनका त्याग करना व्युत्सर्ग है।

"अथवा शरीर से भिन्न अपनी आत्मा को देखते हुए तीन गुप्ति का आश्रय लेना और

---

१. औषधेन शुंठिपिप्पल्यादिकेन।-मूला० टी०, पृ० ३०८।

२. सधर्मापदि यः शेते, स शेते सर्वसंपदि वैयावृत्यं हि तपसो, हृदयं ब्रुवते जिनाः।।८०।।-अनगार०, पृ० ५२०।

३. वारसविधम्हि वि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे। णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं।।

-मूलाचार, पृ० ३२१।

शरीर में भी निःस्पृह होकर ध्यान करना व्युत्सर्ग है।"[1]

दशधर्म का वर्णन

उत्तमक्षमा–आहार के लिये अथवा विहार के लिये साधु भ्रमण करते हैं, उस समय कोई दुष्टजन अपशब्द, उपहास अथवा तिरस्कार कर देते हैं या मारपीट देते हैं तो भी मन में कलुषता का न होना उत्तमक्षमा है।

उत्तममार्दव–जाति, कुल, विद्या आदि का घमंड नहीं करना उत्तममार्दव है।

उत्तमआर्जव–मन, वचन, और काय को सरल रखना आर्जव है।

उत्तम शौच–प्रकर्षप्राप्त लोभ का त्याग करना उत्तम शौच है।

उत्तम सत्य–अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना।

उत्तम संयम–प्राणियों की हिंसा और इन्द्रियों के विषयों का परिहार करना।

उत्तम तप–कर्मक्षय हेतु बारह प्रकार का तपश्चरण करना।

उत्तम त्याग–संयत के योग्य ज्ञान आदि का दान करना।

उत्तम आकिंचन्य–जो शरीर आदि हैं उनमें भी संस्कार को दूर करने के लिये 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना।

उत्तम ब्रह्मचर्य–स्त्रीमात्र का त्याग करना "अथवा स्वतंत्रवृत्ति का त्याग करने के लिये गुरुकुल में निवास करना ब्रह्मचर्य है[2]।"

ख्याति, पूजा आदि की अपेक्षा के बिना आत्मविशुद्धि हेतु इन धर्मों को पालने के लिये ही इनमें उत्तम विशेषण लगाया गया है। यहां तक आचार्य के ३६ गुणों का वर्णन दो प्रकार से हो चुका है।

---

१. देहादिविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयीं श्रितः स्वांगेऽपि निःस्पृहो योगी व्युत्सर्गं भजते परम् ।।९५।। .....यावज्जीवं तनुस्त्यागस्तत्राद्योऽर्हादिभावभाक्।।९८।।–अनगार०, पृ०५३०-३१।

२. स्वतंत्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासी ब्रह्मचर्यम्।–सर्वार्थसिद्धि पृ., ४१३।

उपाध्याय परमेष्ठी

"चौदह विद्यास्थान—चौदह पूर्व के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह और अनुग्रह आदि गुणों को छोड़कर मेरु के समान निश्चलता आदिरूप आचार्य के गुणों से समन्वित होते हैं[1]।"

अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठी केवल पठन-पाठन में ही लगे रहते हैं। बाकी शिष्यों का संग्रह करना, उन्हें दीक्षा देना, प्रायश्चित्त देना, उनका संरक्षण करना, संघ की व्यवस्था संभालना आदि कार्य आचार्य के हैं सो ये नहीं करते हैं।

अन्यत्र उपाध्याय के मुख्य पच्चीस गुण माने हैं–

"ग्यारह अंग और चौदह पूर्व को आप पढ़ते हैं और अन्य को पढ़ाते हैं। ये पच्चीस गुण उपाध्याय परमेष्ठी के होते हैं।[2]"

ग्यारह अंग—१. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. स्थानांग ४. समवायांग ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति ६. ज्ञातृकथांग ७. उपासकाध्ययनांग ८. अंतःकृद्दशांग ९. अनुत्तरोत्पाददशांग १०. प्रश्नव्याकरणांग ११. विपाकसूत्रांग।

चौदह पूर्व—१. उत्पादपूर्व २. अग्रायणीयपूर्व ३. वीर्यानुवादपूर्व ४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ५. ज्ञानप्रवादपूर्व ६. कर्मप्रवादपूर्व ७. सत्यप्रवादपूर्व ८. आत्मप्रवादपूर्व ९. प्रत्याख्यानपूर्व १०. विद्यानुवादपूर्व ११. कल्याणवादपूर्व १२. प्राणवायपूर्व १३. क्रियाविशालपूर्व और १४. लोकविंदुसारपूर्व।

आज इन अंगपूर्वों का ज्ञान न रहते हुए भी उनके कुछ अंशरूप षट्खंडागम, कसायपाहुड़ आदि ग्रन्थ तथा उन्हीं की परम्परा से आगत समयसार, मूलाचार आदि ग्रन्थ विद्यमान हैं। तत्कालीन सभी ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने वाले भी उपाध्याय परमेष्ठी हो सकते हैं। 'धवलाटीका' में "तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा" इस पद से स्पष्ट किया है।

---

१. चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायः तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः।"–धवला. प्र., पु. पृ. ५१। २. चौदह पूरब को धरें, ग्यारह अंग सुजान।उपाध्यायपच्चीस गुण, पढे पढावे ज्ञान।।२५।।

साधु परमेष्ठी

"जो अनंतज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पांच महाव्रतों को धारण करते है–तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं[1]।"

प्रारंभ में जो अट्ठाईस मूलगुणों का वर्णन किया गया है वे ही इनके मूलगुण हैं। यथा– ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इंद्रियनिरोध, १ केशलोंच, ६ आवश्यक, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एक भक्त, ये उनके नाम हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों ही प्रकार के दिगम्बर गुरुओं में ये मूलगुण अवश्य ही रहते हैं पुनः आचार्य अपने दिगम्बर शिष्य को ही आचार्यपद देते हैं। पठन-पाठन में कुशल-योग्य साधु को उपाध्यायपद देते हैं। आचार्यपद और उपाध्यायपद देने की विधि क्रियाकलाप ग्रन्थ में है। उस विधि से आचार्य दीक्षा या उपाध्याय दीक्षा होने पर ही प्रमाणता आती है। धवला में इन तीनों गुरुओं की पूज्यता के विषय में बहुत ही सुन्दर समाधान है। यथा-

आचार्य आदि को नमस्कार करना क्या ?

शंका—जिन्होंने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहंत और सिद्ध को नमस्कार करना योग्य है, किंतु आचार्यादि तीन परमेष्ठियों को नमस्कार करना योग्य नहीं है, चूँकि उन्होंने अभी आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं किया है इसलिये उनमें देवपने का अभाव है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि तीन रत्न ही देव हैं जो कि अपने-अपने भेदों से अनंत भेदरूप हैं और उन रत्नत्रय से विशिष्ट जीव भी देव हैं, अन्यथा-यदि ऐसा नहीं मानोगे तो अशेष जीवों को भी देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जायेगी। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्य आदि भी रत्नत्रय के यथायोग्य धारक होने से देवें हैं, क्योंकि अरिहंतादि से आचार्यादि में रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् जिस तरह अरिहंत और सिद्धों में रत्नत्रय पाया जाता है उसी तरह आचार्यादि में भी रत्नत्रय का सद्भाव पाया जाता है।

आचार्यादि परमेष्ठियों में स्थित तीन रत्नों का सिद्ध परमेष्ठी में स्थित रत्नों से भी भेद नहीं है। यदि दोनों के रत्नत्रय में भेद मानोगे, तो आचार्यादिक में स्थित रत्नों के अभाव का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् जब आचार्यादिक के रत्नत्रय सिद्ध परमात्मा के रत्नत्रय से भिन्न सिद्ध हो जावेंगे, तो आचार्यादि के रत्न ही नहीं कहलावेंगे।

---

१. अनंतज्ञानादि शुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः पंचमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः।"–धवला प्र० पु०, पृ० ५२।

शंका—संपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णता को प्राप्त रत्नत्रय ही देव हैं, रत्नों का एकदेश देव नहीं हो सकता।

समाधान—ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि रत्नों के एकदेश में देवपना के होने पर रत्नों की समग्रता में भी देवपना नहीं बन सकता है अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेश में नहीं देखा जाता वह उसकी समग्रता में कहाँ से आ सकता है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार पलालराशि का दाहरूप अग्नि समूह का कार्य अग्नि के एक कण से भी देखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर समझना चाहिये। इसलिये आचार्य आदि भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है[1]।"

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि महामंत्र णमोकार के अन्तर्गत अरिहंत, सिद्ध के अनन्तर ये आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी माने गये हैं वे भी देव हैं अतः पूज्य हैं।

यहां तक संक्षेप में आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के मूलगुणों का वर्णन हुआ है। इस प्रकार से ये तीनों तरह के साधु दिगम्बर मुनि ही होते हैं किंतु आचार्य, उपाध्याय और साधु के गुणों की अपेक्षा से इनके तीन भेद हो जाते हैं।

---

१. युक्तः प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कारः, नाचार्यादीनां, अप्राप्तात्मस्वरूपत्वतस्तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदानन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापतेः। तत आचार्यादयोऽपि देवाः, रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात्। नाचार्यादिस्थितरत्नानां सिद्धस्थरत्नेभ्यो भेदः, रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्तेः। "संपूर्णरत्नानि देवों न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापतेः। न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तृणि, रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलंभात्। तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम्।" –धवला प्र० पु०, पृ० ५३-५४।

वर्षायोग

जैन मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका आदि चतुर्विध संघ वर्षा ऋतु में एक जगह रहने का नियम कर लेते हैं, अन्यत्र विहार नहीं करते हैं इसलिए इसे वर्षायोग कहा है तथा सामान्यतया श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक इन चार महीनेपर्यंत एक जगह रहना होता है अतः इसे चातुर्मास भी कहते हैं।

इस वर्षायोग को ग्रहण करने की तथा इसे समाप्त करने की तिथियां कौन सी हैं?

[1]"आषाढ़ सुदी चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में सिद्धभक्ति आदि विधिपूर्वक इस वर्षायोग को साधुजन ग्रहण करें और कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में विधिपूर्वक उस वर्षायोग को समाप्त कर देवें।"

आगे इसी शास्त्र में और भी विशेष बताते हैं कि-

[2]"श्रमण संघ हेमंत आदि ऋतुओं में अर्थात् मगसिर, पौष आदि महीनों में किसी गांव नगर आदि एक स्थान पर एक-एक महीने तक रह सकता है पुनः वह आषाढ़ मास में वर्षायोग करने के स्थान पर पहुंच जावे और मगसिर मास पूर्ण हो जाने पर वहाँ नहीं ठहरे अर्थात् मगसिर के बाद अन्यत्र विहार कर जावे तथा प्रयोजनवश भी श्रावण कृष्णा चतुर्थी का उल्लंघन न करे अर्थात् किसी विशेष कारणवश यदि साधु संघ आषाढ़ सुदी चतुर्दशी को वर्षायोग स्थान पर नहीं पहुंच सके तो श्रावणवदी चतुर्थी तक भी वहां पहुंचकर वर्षायोग स्थापना करे ऐसा विधान है किन्तु इस चतुर्थी का उल्लंघन करना उचित नहीं है। आगे कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में वर्षायोग निष्ठापन—समाप्त कर देने पर भी कार्तिक शुक्ला पंचमी के पहले विहार न करे।

यदि कदाचित् दुर्निवार उपसर्ग आदि के निमित्त से इस उपर्युक्त योग का उल्लंघन हो जावे अर्थात् यदि विहार करना ही पड़ जावे तो साधु शास्त्रविहित प्रायश्चित ग्रहण करें ऐसा विधान है।"

---

१. ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती। चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीर्गुरुस्तुतिम्।।६६।।
शांति भक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्। ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम्।६७।।
...आषाढ़शुक्ल चतुर्दश्यारात्रेः प्रथम प्रहरोद्देशे... पश्चिमयामोद्देशे। कस्यां? ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां कार्तिकस्य कृष्णचतुर्दशीतिथौ। (अनगार धर्मामृत अ. ९ पृ. ६६५)

२. मासं वासोऽयकदैकत्र योगक्षेत्रं सुचौ व्रजेत्। मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत्।।६८।।
नभश्चतुर्थी तद् यावे कृष्णां शुक्लोजपंचमीम्। यावनन्न गच्छेतच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत्।।६९।। (अनगार ध.अ.०, पृ. ६६५)

अभिप्राय यह हुआ कि साधु और साध्वीगण चातुर्मास के सिवाय अन्य दिनों में एक-एक महीने तक किसी भी गांव, नगर या शहर में रह सकते हैं अनंतर चातुर्मास काल में आषाढ़ सुदी चतुर्दशी की पूर्व रात्रि में चातुर्मास स्थापना कर लेते हैं पुनः कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में चातुर्मास समाप्त करके वीर निर्वाण संबंधी क्रिया आदि करते हैं पुनः पंचमी के बाद विहार कर सकते हैं ऐसी आगम की आज्ञा है।

चातुर्मास के लिए कम से कम १०० दिन या अधिक से अधिक १६५ दिनों की आगम व्यवस्था है-

आचार्य के छत्तीस गुणों के अंतर्गत दश स्थितिकल्प गुण माने हैं। उनके नाम क्रमशः आचेलक्य, औद्देशिकपिंडत्याग, शय्याधर पिंडत्याग, राजकीय पिंडत्याग, कृतिकर्म, व्रतारोपण योग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता और योग हैं। उनमें से मासैकवासिता नाम के नवमें स्थितिकल्प का लक्षण निम्नलिखित है:-

[1]"तीस अहोरात्र—एक महीने तक किसी एक ग्राम आदि में निवास करना ऐसा जो व्रत है वह मासैकवासिता है।"

मूलाराधना ग्रंथ में इसी का अर्थ ऐसा किया है कि [2]"वर्षायोग के पहले और वर्षायोग के अनंतर उस स्थान में एक महीना तक रहना।"

मूलाचार में इन्हीं दश स्थितिकल्पों का नाम श्रमणकल्प है। वहां पर भी इस नवमें 'मास' नामक श्रमणकल्प का ऐसा ही अर्थ है। यथा—[3]"वर्षायोग ग्रहण करने के पहले एक महीने तक वहां पर रहकर वर्षाकाल में योग ग्रहण करना चाहिए तथा योग को समाप्त करके एक महीने तक वहां रहना चाहिए। ऐसा क्यों? तो लोकस्थिति को समझने के लिए और अहिंसा आदि व्रतों के परिपालन हेतु पहले एक मास तक रहने का विधान है तथा श्रावक जनों के संक्लेश आदि को दूर करने के लिए वर्षायोग समाप्ति के अनंतर भी एक महीने तक वहां रहने का विधान है।"

---

१. ::मासैकवासिता त्रिंशदहोरात्रमेकत्र ग्रामादै वसति तद्व्रतः तद्भावः।"(अनगार धर्मामृत अ.९पृ. ६७४)

२. "टिप्पनके तु योगग्रहणादौ योगावसाने च तस्मिन् स्थाने मासमात्रं तिष्ठति इति मासं नाम नवमः कल्पः।
(मूलाराधना पृ. ६१८)

३. मासौः योगग्रहणात्प्राङ्मासमात्रमवस्थानं कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योगं समाप्य मासमात्रमवस्थानं कर्तव्यं। लोकस्थितजिज्ञापनार्थमहिंसादिव्रतपरिपालनार्थं च योगात् प्राङ्गमासमात्रमवस्थानस्य (मु) पश्चाच्च मासमात्रावस्थानं श्रावकलोकादि संक्लेश परिहरणाय।"
(मूलाचार सटीक, सभयसाराधिकारा पृ. १०४)

अभिप्राय यह निकला कि साधुगण वर्षायोग के स्थान में एक महीने पहले इसलिए रहें कि वहां के वातावरण का निरीक्षण हो जावे कि यह स्थान चातुर्मास के लिए उपयुक्त है या नहीं? हमारे संयम में किसी प्रकार से बाधा तो नहीं आयेगी तथा कभी-कभी वर्षा भी पहले से ही शुरू हो जाती है अतः वहां के धार्मिक अनुकूल वातावरण को समझने के लिए और अहिंसा महाव्रत आदि के पालन हेतु वे एक महीने पहले से वहां स्थान पर रह सकते हैं तथा चातुर्मास समाप्ति के अनंतर भी यदि श्रावकों की विशेष भक्ति अथवा धर्म प्रभावना आदि निमित्त है तो वहां पुनरपि एक महीने तक रह सकते हैं अन्यथा श्रावकों के आग्रह करने पर भी यदि साधु विहार कर जाते हैं तो उन्हें संक्लेश हो जाता है इत्यादि कारणों से वे वहां रह सकते हैं।

मूलाराधना ग्रंथ में इन दश स्थितिकल्प को श्रमणकल्प नाम दिया है तथा नवमें 'मास' श्रमणकल्प का ऐसा अर्थ किया है कि-

'छहों ऋतुओं में से एक-एक ऋतु में एक-२ मास पर्यंत एक जगह रहना और अन्यथा एक-एक मास विहार करना यह नवमां स्थितिकल्प है'' तथा दशवें 'पर्या' नामक श्रमण कल्प का लक्षण इस प्रकार किया है कि-

''दशवां पर्या नाम का श्रमण कल्प है। वर्षाकाल में चार महीने एक जगह रहना, भ्रमण का त्याग करना यह इसका अर्थ है। चूंकि वर्षाकाल में यह पृथ्वी स्थावर और त्रस जीवों से सहित हो जाती है, ऐसे समय में यदि मुनि विहार करेंगे तो महान असंयम होगा अथवा जल-वर्षा और शीत हवा के निमित्त से उनकी आत्मा का विघात होगा अर्थात् रोग आदि हो जाने से अपघात आदि हो सकता है। इस मौसम में पृथ्वी पर जल की बहुलता होने से कहीं पर यदि जल के गड्ढे आदि ढके हुये हैं—ऊपर से नहीं दिख रहे हैं, उन पर घास या रेत आदि पड़ गयी है उन गड्ढों पर पैर पड़ जाने से उनमें गिरने आदि की संभावना हो सकती है अथवा पैर आदि फिसल जाने से कहीं भी बावड़ी गड्ढे आदि में पड़ सकते हैं अथवा ठूंठ, कांटे आदि से या जल वृष्टि से भी बाधा हो सकती है इत्यादि दोषों से बचने के लिए एक

---

१. ''ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवमः स्थितिकल्पः।'.....पज्जो समणकप्पो नाम दशमः। वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिः। तदा भ्रमणे महानसंयमः वृष्ट्या शीतवातपातेन वात्मविराधना। पतेद्वाप्यादिषु स्थाणुकंटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यते इति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्युत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वावस्थानं संयतानां आषाढ़ शुक्लदशम्यां स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिक पौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं। वृष्टिबहुलता श्रुतग्रहणं शक्त्यभाववैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टः कालः। मार्यां दुर्भिक्षे ग्राम जनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशांतरं याति। अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति। पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रांतायां प्रतिपदादिनेषु याति। यावच्च त्यक्त्वा विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एष दशमः स्थितिकल्पः। (मूलाराधना पृष्ठ ६१८)

सौ बीस दिन तक एक स्थान पर रहना यह उत्सर्ग नियम है। कारणवश इससे कम या अधिक दिवस भी निवास किया जाता है।

संयतजन आषाढ़ सुदी दशमी से लेकर कार्तिक सुदी पूर्णिमा के अनन्तर भी और एक मास तक अर्थात् मगसिर सुदी पूर्णिमा तक भी वहां पर रह सकते हैं। वृष्टि की बहुलता, श्रुत का अध्ययन, शक्ति का अभाव, अन्य साधुओं की वैयावृत्ति आदि प्रयोजनों के निमित्त से अधिक दिन भी रहा जा सकता है।

मारी रोग के हो जाने पर, दुर्भिक्ष के आ जाने पर, ग्राम के अथवा देश के लोगों का अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र जाने का प्रसंग आ जाने पर, संघ के विनाश होने के निमित्तों के उपस्थित हो जाने पर इत्यादि कारणों से मुनि वर्षायोग में भी अन्यत्र जा सकते हैं। यदि वे वहीं पर रहते हैं तो रत्नत्रय की विराधना हो जायेगी। इसलिए आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के व्यतीत हो जाने पर भी प्रतिपदा आदि तिथि में वे अन्यत्र चले जाते हैं अर्थात् "प्रतिपदा" से चतुर्थी तक चार दिन में कहीं अन्यत्र योग्य स्थान में पहुंच सकते हैं। इसलिए एक सौ बीस दिनों में बीस दिन कम किए जाते हैं। इस तरह काल की हीनता का विधान है।" यह सब दशवें स्थितिकल्प का वर्णन है।

अभिप्राय यह हुआ कि श्रमण संघ आषाढ़ सुदी चतुर्दशी से लेकर कार्तिक सुदी पूर्णिमा तक चार महीने के एक सौ बीस दिन तक एकत्र निवास करता है यह उत्सर्ग अर्थात् राजमार्ग है और इसी कारण से इसे चातुर्मास भी कहते हैं किन्तु कारणवश अधिक दिन अर्थात् आषाढ़ सुदी दशमी से लेकर मगसिर सुदी पूर्णिमा तक भी एक जगह रहते हैं। अथवा वर्षायोग ग्रहण के एक मास पहले और एक मास अनन्तर भी रहने का विधान होने से आषाढ़ वदी एकम से मगसिर वदी अमावस्या तक ऐसे साढ़े पांच महीने अर्थात् एक सौ पैंसठ दिन भी रहते हैं जैसा कि पहले मूलाचार में कथित नवम स्थिति कल्प के लक्षण से स्पष्ट है अर्थात् वर्षायोग की समापन विधि कार्तिक वदी चतुर्दशी को हो जाती है, इस हिसाब से साढ़े पांच महीने लिया है। अथवा चातुर्मास के सामान्यतया चार महीने लेने से तथा उसके आदि अंत के एक-एक को ले लेने से छः महीने भी एकत्र रह सकते हैं। ऐसा परंपरागत अर्थ लिया जाता है। इसी प्रकार से चातुर्मास में कदाचित् अधिक मास के आ जाने से भी एक मास और अधिक हो जाता है। यह सब अधिक दिनों की गणना में सम्मिलित है।

कम दिनों के वर्णन में एक सौ बीस दिन में बीस दिन घटाने से सौ दिन का भी वर्षायोग होता है। श्रावण कृष्णा चतुर्थी से कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी तक सौ दिन ही होते हैं। यथा श्रावण कृष्णा ५ से पूर्णिमा तक २५, भाद्रपद और आश्विन के ३०-३० तथा कार्तिक वदी एकम से अमावस्या तक १५ ऐसे २५+३०+३०+१५=१०० दिनों का भी वर्षायोग आगम से मान्य है। इस तरह से चातुर्मास का हेतु और उसमें अधिक से अधिक तथा कम से कम दिनों का वर्णन किया गया है।

चातुर्मास के दिनों में विशेष कारणवश साधुओं को विहार करने की आगम आज्ञा-

चातुर्मास में साधु विशेष धर्मकार्य या सल्लेखना आदि निमित्त से अड़तालीस कोश तक विहार कर सकते हैं। स्पष्टीकरण-

'वर्षा ऋतु में देव और आर्ष संघ संबंधी कोई बड़ा कार्य आ जाने पर यदि साधु बारह योजन तक चला जाये तो कोई दोष नहीं है।"[1]

अर्थात् चातुर्मास में यदि कहीं अन्यत्र किसी साधु ने सल्लेखना ग्रहण कर ली है अथवा और कोई विशेष ही कार्य है तो साधु बारह योजन अर्थात् एक योजन में चार कोश होने से १२ x ४=४८ कोश तक विहार करके जा सकता है।

इस प्रकार से वर्षायोग की स्थापना करने वाले मुनिगण या आर्यिकाएं आदि सल्लेखना आदि विशेष प्रसंगों में छ्यानवे मील तक विहार कर सकते हैं पुनः वे वापस वहीं आ जाते हैं।

कम से कम दिन वर्षायोग ग्रहण करने वाले श्री पुष्पदंत और भूतबली महामुनि-

सौराष्ट्र देश में गिरिनगरपुर के निकट ऊर्जयंतगिरि प्रसिद्ध है जो कि भगवान नेमिनाथ की निर्वाणभूमि है। उस पर्वत की चंद्रगुफा में निवास करने वाले महातपस्वी परममुनियों में श्रेष्ठ धरसेनाचार्य हुये हैं। वे अग्रायणीय नामक दूसरे पूर्व की पंचम वस्तु के महाकर्म प्रकृति प्राभृत नामक चतुर्थ अधिकार के ज्ञाता थे। उन्होंने अपनी आयु को अल्प जानकर मन में विचार किया कि मैंने जितने भी श्रुत का अध्ययन किया है मेरे अनंतर इसका व्युच्छेद न हो जाये ऐसा कुछ उपाय करना चाहिए। देशेन्द्र नामक देश में एक वेणाकतटीपुर है। उस समय वहाँ महामहिमा महान् महोत्सव के प्रसंग में मुनियों का संघ एकत्रित हुआ था। आचार्यवर्य श्रीधरसेन ने एक ब्रह्मचारी के द्वारा उन मुनियों के पास एक पत्र भेजा।

---

१. वर्षास्वतुच्छकार्येण.....। योजनानि दश द्वे च कार्ये गच्छन्न दोषभाक्।।५८।। (प्रायश्चित समुच्चय)

उन मुनियों ने ब्रह्मचारी द्वारा प्रदत्त पत्र को पढ़ा। उसमें लिखा था कि "स्वस्तिश्रीमान् ऊर्जयंत तट निकट चंद्र गुफावास से धरसेनगणी वेणाकतट में आये हुये यतियों की अभिवंदना करके यह कार्य सूचित करते हैं कि मेरी आयु अब कुछ दिनों की अवशिष्ट है। इसलिए मेरे द्वारा गृहीत शास्त्रज्ञान का विच्छेद न हो जाये इसलिए आप मेरे श्रुत को ग्रहण और धारण करने में समर्थ तीक्ष्ण बुद्धि वाले दो मुनीश्वरों को हमारे पास भेज दो।" इस लेख के अर्थ को अच्छी तरह समझ इस संघ के आचार्य ने भी सुयोग्य दो मुनियों को उनके पास जाने की आज्ञा दे दी।

वहां से दो मुनिराज विहार करते हुये आ रहे हैं। इधर रात्रि के पिछले प्रहर में श्री धरसेनाचार्य ने स्वप्न देखा कि श्वेतवर्ण वाले सुन्दर सुडौल दो बैल मेरे चरणों में नमस्कार कर रहे हैं और उसी दिन ही ये दो शिष्य गुरू के चरण कमल के निकट पहुंचकर यथोचित वंदना विधि करते हैं। शास्त्रोक्त विधि से तीन दिन विश्राम करके ये गुरू से अपने आने का हेतु निवेदित करते हैं। गुरुदेव ने यद्यपि इन्हें योग्य समझ लिया था फिर भी उनकी बुद्धि की परीक्षा हेतु दोनों को एक-एक विद्या देकर कहा कि नेमीश्वर जिनराज की सिद्धशिला पर जाकर विधिवत् इस विद्या को सिद्ध करके लाओ। गुरु की आज्ञा से उन दोनों मुनियों ने वैसा ही किया। विद्या सिद्ध होते ही एक मुनि के सामने कानी देवी आकर खड़ी हो गयी और दूसरे मुनि के सामने बड़े दांतों वाली देवी आ गई। ऐसा देखकर उन मुनियों ने सोचा कि देवियों का यह स्वरूप नहीं है अतः मंत्र में कुछ अशुद्धि अवश्य है पुनः उन्होंने विद्या और मंत्र शास्त्र के व्याकरण के अनुसार मंत्र को शुद्ध किया जिनके सामने कानी देवी आई थी उनके मंत्र में एक अक्षर कम था और दूसरे मुनि के मंत्र में एक अक्षर अधिक था। दोनों ने अपने-अपने मंत्रों को शुद्ध करके पुनः विद्या सिद्ध की, तब देवियां सुन्दर रूप में प्रकट होकर बोलीं भगवन्! हमें क्या आज्ञा है?

मुनियों ने कहा—हमने केवल गुरु की आज्ञा से विद्या सिद्ध की है अतः हमें कुछ कार्य आपसे नहीं है। वे देवियाँ नमस्कार करके अपने-अपने स्थान चली गयीं। दोनों मुनियों ने आकर गुरुदेव से सारी बातें बता दी। गुरु ने उन्हें अतियोग्य समझकर सुप्रशस्त मुहूर्त में उन्हें श्रुत का अध्ययन कराना शुरू कर दिया। उन मुनियों ने भी निष्प्रमादी होकर ज्ञान विनय और गुरु विनय को करते हुये थोड़े ही दिनों में गुरु के श्रुत को पढ़ लिया, वह दिन आषाढ़ सुदी एकादशी का था। उसी दिन देवों ने आकर इन दोनों मुनियों की पूजा की और एक मुनि की दांतों की विषम पंक्तियों को ठीक करके कुंदपुष्प के समान कर दिया और उनका 'पुष्पदंत'

ऐसा नाम रख दिया तथा दूसरे मुनि की भूतजाति के देवों ने गंध, माला, धूप आदि से और वाद्य विशेषों से पूजा करके उनका 'भूतबलि' यह नाम प्रसिद्ध कर दिया ।

श्रीधरसेनाचार्य ने अपनी मृत्यु निकट जानकर और इन्हें संक्लेश न हो, इस हेतु से प्रियहित वचनों से उन्हें शिक्षा देकर दूसरे ही दिन अर्थात् आषाढ़ सुदी द्वादशी को वहां से कुरीश्वर देश की तरफ विहार करा दिया। उन मुनिराज ने नव दिन में वहां पत्तन में आकर के आषाढ़ कृष्णा[1] पंचमी को (श्रावण कृष्णा पंचमी) वर्षायोग ग्रहण कर लिया। वर्षाकाल बिताकर वे दोनों दक्षिण की तरफ विहार कर गये[2]। पुष्पदंत मुनिराज ने करहाटक देश में 'जिनपालित' नामक अपने भानजे को घर से निकालकर दीक्षा देकर उन्हें साथ ले लिया।

भूतबलि मुनिराज तो मथुरा में रहे और पुष्पदंत मुनिराज ने भी छह खंडों में कर्म प्रकृति प्राभृत ग्रंथ को बनाने की इच्छा रखते हुये जिनपालित नामक मुनि को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। बीस प्ररूपणा सूत्र ग्रन्थ को बनाते हुये उन्होंने सबसे प्रथम सत्प्ररूपणा से युक्त *'जीवस्थान' नामक अधिकार को बनाया। उन संबंधी सौ सूत्रों का अध्ययन कराकर जिनपालित मुनि को भूतबलि गुरु के पास उनके अभिप्राय को समझने हेतु भेज दिया। भूतबलि* महामुनि ने भी जिनपालित द्वारा पठित सत्प्ररूपणा को सुनकर अतीव हर्ष व्यक्त किया और साथ ही साथ पुष्पदंत मुनिराज का षट्खंडागम ग्रन्थ रचना का अभिप्राय भी समझ लिया तथा पुष्पदंत मुनिराज की भी अल्प आयु जानकर और आगे के मनुष्यों को अल्पबुद्धि वाले समझकर उन्होंने पूर्वसूत्रों सहित द्रव्यप्ररूपणा आदि अधिकारों को पांच खंडों में एवं महाबंध नामक अधिकार को छठे खंड में रचकर तैयार किया।

इस प्रकार भूतबलि आचार्य ने षट्खंडागम की रचना करके और उसे लिपिबद्ध करके ज्येष्ठ सुदी पंचमी के दिन चतुर्विध संघ सहित उस ग्रंथराज की महापूजा विधि की। उसी समय से आज तक यह तिथि श्रुतपंचमी के नाम से प्रख्यात हो गई। आज भी जैन लोग श्रुत पंचमी के दिन षट्खंडागम ग्रंथराज की और समस्त उपलब्ध श्रुत की पूजा करके अपने जीवन को कृतार्थ कर लेते हैं।

तात्पर्य यह है कि इन पुष्पदंत और भूतबलि नामक महामुनियों ने गुरु धरसेनाचार्य की आज्ञानुसार श्रावण कृष्णा पंचमी को चातुर्मास स्थापित किया था।

---

१. दक्षिण देश में प्रत्येक मास का शुक्ल पक्ष पहले होता है फिर कृष्ण पक्ष होता है। जैसे कि यहां पर आषाढ़ सुदी के बाद आषाढ़ वदी ली गयी हैं। किन्तु उत्तर में कृष्ण पक्ष के अनंतर शुक्ल पक्ष आता है अतः आषाढ़ सुदी के पहले पक्ष को ही आषाढ़ वदी कहते हैं। यह सौरमास और चांद्रमास की व्यवस्था है।

२. स्वासन्न मृतिं ज्ञात्वा.... तौ अपि नवमिर्दिवसैर्गत्वां तत्पत्तनमवाप्य।
योगं प्रगृह्य तत्राषाढ़े 'मास्यसितिपक्षपंचम्यां। वर्षाकालं कृत्वा विहरंतौ दक्षणाभिमुखम्।।१३१।।(श्रुतावतार)

जिनकल्पी मुनि का चातुर्मास

आगम में मुनि के सामान्यतया दो भेद किये हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। उसमें से पहले आप जिनकल्पी मुनि की चर्या देखिए—

"ये जिनकल्पी मुनि उत्तम संहननधारी होते हैं, यदि जिनकल्पी मुनियों के पैर में कांटा लग जाये अथवा नेत्रों में धूलि पड़ जावे तो वे महामुनि अपने हाथ से न तो कांटा निकालते हैं और न धूलि ही निकालते हैं। यदि अन्य कोई दूसरा मनुष्य उस कांटे या धूलि को निकालता है तो वे मौन रहते हैं। जब वर्षाऋतु आ जाती है और मुनियों का गमन करना बंद हो जाता है उस समय वे जिनकल्पी महामुनि छह महीने तक निराहार रहते हैं और छह महीने तक कायोत्सर्ग धारण कर किसी एक ही स्थान पर खड़े रहते हैं अर्थात् उनका उत्तम संहनन होता है, अस्थि आदि सब वज्रमय होती है इसीलिए उनमें इतनी शक्ति होती है। वे महामुनि ग्यारह अंग के पाठी होते हैं, धर्मध्यान वा शुक्लध्यान में लीन रहते हैं, समस्त कषायों के त्यागी होते हैं, मौनव्रत को धारण करने वाले होते हैं और पर्वतों की गुफा-कंदराओं में रहते हैं, बाह्य-अभ्यंतर समस्त परिग्रहों के त्यागी होते हैं, स्नेहरहित परम वीतराग होते हैं और समस्त इच्छाओं से सर्वथा रहित होते हैं। ऐसे ये यतीश्वर महामुनि भगवान् जिनेंद्र के समान सदाकाल विहार करते रहते हैं, इसलिए ये जिनकल्पी मुनि कहलाते हैं[1]।"

इन जिनकल्पी महामुनियों के कतिपय उदाहरण देखिए—

जंबूद्वीप के पूर्वविदेह में रत्नसंचय नगर में वज्रायुध नाम के चक्रवर्ती हुये हैं। उन्होंने क्षेमंकर तीर्थंकर के पास दीक्षा लेकर सिद्धिगिरि नामक पर्वत पर जाकर एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके चरणों का आश्रय पाकर बहुत सी सर्पों की वामियां तैयार हो गईं और उनके शरीर को चारों तरफ से लताओं ने वेष्ठित कर लिया था। एक वर्ष का योग समाप्त होने के बाद ये मुनिराज अन्यत्र चिरकाल तक विहार करते हुये घोराघोर तपश्चरण करते रहे। अंत में समाधिपूर्वक मरण करके ऊर्ध्व ग्रैवेयक में अहमिंद्र हो गये। ये ही महापुरुष इस वज्रायुध चक्रवर्ती के भव से पांचवें भव में भगवान शांतिनाथ तीर्थंकर हुए हैं, जोकि पुनरपि यहां भरतक्षेत्र के पांचवें चक्रवर्ती हुये हैं।

---

१. सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स।।११६।।
जल वरिसणवायाई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं।अच्छंति णिराहारा काओसग्गेण छम्मासं।।१२१।।
जिण इव विहरंति सदा ते जिणकप्पे ठिया सवणा।।१२३।। (भावसंग्रह पृ. ६३)
दधाना सततं मौनं आद्यसंहननाश्रिताः। कंदर्यां कानने शैले वसंति तटनीतटे।।१०७।।
षण्णसमवतिष्ठंते प्रवृट्कालेगिसंकुले। जाते मार्गे निराहाराः कायोत्सर्गं समाश्रिताः।।१०८।। (भद्रबाहुचरित परिच्छेद ४)

भगवान बाहुबलि

इस भरत क्षेत्र में भगवान ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र भगवान बाहुबली ने भी एक वर्ष का योग धारण किया था।' वे भावलिंगी मुनि थे। उन्हें अनेक ऋद्धियां प्रगट हो गयी थीं और मनःपर्ययज्ञान भी प्रकट हो गया था। यह मनःपर्ययज्ञान द्रव्यलिंगी मुनि के असंभव है। उनके मन में मिथ्याशल्य न होकर यह विकल्प अवश्य हो जाया करता था कि 'भरत चक्रवर्ती को मुझसे क्लेश हो गया है।' यही कारण था कि भरत सम्राट् के द्वारा पूजा होते ही उनका विकल्प दूर हो गया और वे क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके केवली हो गये। भगवज्जिनसेनाचार्य ने इस बात को आदिपुराण में स्पष्टरूप से कहा है। यथा-

मतिज्ञान की प्रकर्षता से उन्हें बुद्धि आदि ऋद्धियां प्रकट हो गयी थीं, श्रुतज्ञान की प्रकर्षता से समस्त अंगों और पूर्वों के जानने आदि की शक्ति का विस्तार हो गया था, अवधिज्ञान में वे परमावधि को उल्लंघन कर सर्वावधि को प्राप्त हुये थे और मनः पर्ययज्ञान में विपुलमति मनःपर्यय के स्वामी हो गये थे।

वह भरतेश्वर मुझ से संक्लेश को प्राप्त हो गया है' यह विचार बाहुबली के हृदय में विद्यमान रहता था, इसलिए केवलज्ञान ने भरत द्वारा पूजा की अपेक्षा की थी अर्थात् भरत के द्वारा पूजा होते ही उनका उपर्युक्त विकल्प दूर हो गया और उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया था। ये बाहुबली भगवान भी जिनकल्पी सदृश ध्यान में तत्पर रहे थे[1]।

महामुनि सिद्धार्थ और सुकौशल

अयोध्या नगरी के प्रसिद्ध सेठ सिद्धार्थ अपनी बत्तीस स्त्रियों में से सेठानी जयावती पर अधिक प्रेम करते थे किन्तु इन स्त्रियों में से किसी के संतान नहीं थी। जयावती संतान के लिए हमेशा कुदेवों की उपासना किया करती थी। एक दिन कुदेवों की पूजा करते हुये दिगम्बर मुनिराज ने उसे देखा और सम्यक्त्व का उपदेश दिया। मुनिराज कहने लगे हे भद्रे! धन, पुत्र आदि लौकिक सुख भी धर्म के प्रसाद से ही मिलते हैं अतः तू जिनधर्म पर विश्वास करते हुए सदैव पुण्य का अर्जन कर, तेरी इच्छा अवश्य पूरी होगी

---

१. मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्धयादयोऽभवन्। श्रुतज्ञानेन विश्वांगपूर्ववित्त्वादिविस्तरः।।१४६।।
परमावधिमुल्लंघ्य स सर्वावधिमासदत्। मनः पर्ययबोधे च संप्रापद् विपुलां मतिम्।।१४७।।
संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति तत्किल। हृद्यस्य हार्दं तेनासीत तत्पूजापेक्षि केवलम्।। (आदि पु. पृ. ३६)

तथा अंत में चलते समय मुनिराज ने कहा कि तुझे सात माह के भीतर ही पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी।

मुनिराज के सदुपदेशमयी अमृत को पीकर सेठानी ने अतीव आनंद का अनुभव किया। कालांतर में उसने पुत्ररत्न को जन्म दिया किंतु सेठ सिद्धार्थ पुत्र के मुख का अवलोकन कर उसे तत्क्षण ही अपने पद पर स्थापित करके आप विरक्त हो नयंधर मुनिराज से दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगे। जयावती को पति के वियोग का असह्य दुःख हुआ इससे वह आर्तध्यान से पीड़ित रहने लगी। उसे मुनिराज सिद्धार्थ पर ही नहीं किन्तु सभी मुनियों पर कषाय हो गयी। उसने अपने घर में मुनियों का आना जाना बंद कर दिया। वयप्राप्त होने पर सुकौशल की भी बत्तीस कन्याओं से शादी हो गयी। सुकौशल भी महान् पुण्य से प्राप्त असीम सम्पत्ति और सुख का भोग करते हुये समय व्यतीत कर रहे थे।

किसी समय सुकौशल, माता जयावती, अपनी स्त्री और धाय के साथ महल की छत पर बैठे हुये अयोध्या की शोभा देख रहे थे। उन्होंने सामने से आते हुये एक मुनिराज को देखा। ये मुनि इनके पिता सिद्धार्थ ही थे। अकस्मात् जीवन में पहली बार दिगम्बर मुनि को देखकर सुकौशल आश्चर्य चकित होकर मां से पूछते हैं कि मातः! ये कौन हैं? सिद्धार्थ को देखते ही जयावती के क्रोध भड़क उठा अतः उसने उपेक्षा और ग्लानि से कहा कि होगा कोई भिखारी, तुझे इससे क्या मतलब? अपनी मां के इस उत्तर से सुकौशल को संतोष नहीं हुआ। पुनः प्रश्न किया मातः! ये तो कोई महापुरुष अतितेजस्वी मालूम पड़ रहे हैं तुम इन्हें भिखारी कैसे कह रही हो? उस समय जयावती के दुर्भाव को देखकर सुनंदा धाय से न रहा गया, उसने वास्तविक परिचय देना चाहा किन्तु जयावती के संकेत से वह पूरा नहीं बोल सकी। तब सुकौशल ने भोजन के समय भोजन न करने का हठ धर लिया और वास्तविक परिचय जानना चाहा अनंतर सुनंदा धाय ने सारी बातें बता दीं।

सुकौशल उसी समय विरक्त होकर अपनी सुभद्रा पत्नी के गर्भस्थ बालक को ही अपना श्रेष्ठीपद संभलाकर पिता के पास पहुंचे और उनसे जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। अपने प्रियपुत्र के भी दीक्षित हो जाने से जयावती अतीव दुःख से पागल जैसी हो गयी। इस चिंता और आर्तध्यान से मरणकर वह व्याघ्री हो गई।

"एक समय सिद्धार्थ और सुकौशल मुनिराज (पिता और पुत्र) मौद्गिल पर्वत पर वर्षायोग ग्रहण करके स्थित हो गये। अनंतर योग पूर्ण करके चार मास उपवास के बाद वे दोनों महामुनि आहार के लिए पर्वत से नीचे उतरे। उस समय व्याघ्री ने (जयावती के जीव ने) पूर्व जन्म के क्रोध के संस्कारवश उन्हें शत्रु समझकर उनका भक्षण करना शुरू कर दिया। वे दोनों मुनि समाधिमरण से शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हो गये। आगे मनुष्य लोक में आकर उसी भव से निर्वाण को प्राप्त करेंगे[1]।"

इस प्रकार जिनकल्पी मुनियों के चातुर्मास आदि के अनेक उदाहरण आगम में भरे हुये हैं।

स्थविरकल्पी मुनि के चातुर्मास

जिनेंद्रदेव ने स्थविरकल्पी का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि जो मुनि पांचों प्रकार के वस्त्रों का अर्थात् सूत, रेशम, ऊन, चर्म और वृक्ष की छाल से बने वस्त्रों का सर्वथा त्याग कर देते हैं, अकिंचन व्रत धारण करते हैं और मयूर पंख की पिच्छिकारूप प्रतिलेखन ग्रहण करते हैं पांच महाव्रतों को धारण करते हैं, बिना याचना किये, श्रावक द्वारा भक्तिभाव से दिये गये आहार को खड़े होकर करपात्र में ग्रहण करते हैं। बाह्य और अभ्यंतर तप को करने में उद्यमी रहते हैं, हमेशा छह आवश्यक क्रियाओं में तत्पर रहते हैं, क्षितिशयन और केशलोंच मूलगुणों का पालन करते हुए वे जिनेंन्द्र देव के समान ही माने जाते हैं।

"इस[2] दुःषमकाल में शरीर के संहनन उत्तम-बलवान नहीं होते हैं। इसलिए वे मुनि किसी नगर, गांव या किसी पुर में रहते हैं और अपने तपश्चरण आदि के प्रभाव से स्थविर कल्प में स्थित होने से स्थविरकल्पी कहलाते हैं" वे मुनि अपने उपकरण ऐसे

---

१. मौद्गिले पर्वते योगं गृहीत्वा भुवनोत्तमौ।।३३।।
चतुर्मासोपवासांते पूर्णयोगे जगद्धितौ। चर्यार्थं निर्गतौ तौ च दृष्ट्वा व्याघ्री दुराशया।।३४।।
संन्यासेन स्थितौ यावत् तथा तावत्क्रमेण च। भक्षितौ मरणं प्राप्य तदा सार समाधिना।।३५।।
जातौ सर्वार्थसिद्धौ तौ सिद्धार्थाख्यसुकौशलौ। (आराधना कथा कोश पृ. २७२)

२. विहरंति गणैः साकं नित्यं धर्मप्रभावनां। कुर्वंति च शिष्याणां ग्रहणं पोषणं तथा।।११७।।
स्थविरादिव्रतित्राताण पोषण चेतसः। ततः स्थविर कल्पस्याः प्रोच्यंते सूरिसत्तमैः।।११८।।
सांप्रतं कलिकालेऽस्मिन् हीनसंहननत्वतः। स्थानीय नगर ग्राम जिनसद्म निवासिनः।।११९।।
कालोऽयं दुःसहो हीनं शरीरं तरलं मनः। मिथ्यामतमतिव्याप्तं तथापि संयमोद्यताः।।१२०।।(भद्रबाहु चरि परि. ४)

रखते हैं कि जिससे उनके चारित्र का किसी प्रकार से भंग न हो। वे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार किसी के द्वारा दिये गये शास्त्र को ग्रहण करते हैं। इस पंचमकाल में ये मुनि संघ में रहकर समुदाय रूप से विहार करते हैं, अपनी शक्ति के अनुसार धर्म प्रभावना करते हुये भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देते हैं तथा शिष्यों का संग्रह करते हैं और उनका पालन करते हैं। यह काल दुःषम है इस काल में शरीर के संहनन अत्यन्त नीच होते हैं, मन अत्यन्त चंचल रहता है, तथापि धीर वीर पुरुष महाव्रतों का भार धारण करने में अत्यन्त उत्साहित रहते हैं यह भी एक आश्चर्य की बात है। पहले समय में जितने कर्मों को मुनि लोग अपने शरीर से हजार वर्ष में नष्ट करते थे उतने ही कर्मों को आजकल स्थविर कल्पी मुनि अपने हीन संहनन वाले शरीर से एक वर्ष में ही क्षय कर डालते हैं।"

इसी प्रकार से अन्यत्र भी स्थविर कल्पी मुनि के विषय में कहा गया है कि ये मुनि स्थविर-वृद्ध साधुओं के रक्षण तथा पोषण में सावधान रहते हैं, इसीलिए महर्षि लोग इन्हें स्थविरकल्पी कहते हैं। इस भीषण दुःषमकाल में हीन संहनन के होने से ये मुनि स्थानीय नगर, ग्राम आदि के जिनालय में रहते हैं। यद्यपि यह काल दुःसह है, शरीर का संहननहीन है, मन अत्यन्त चंचल है और मिथ्यामत सारे संसार में व्याप्त हो रहा है। तो भी ऐसे समय में ये मुनि संयम के पालन करने में तत्पर रहते हैं, यही एक विशेषता है।"

वर्तमान काल के मुनि

उपर्युक्त स्थविरकल्पी के लक्षण के अनुसार आजकल के मुनि हीन संहनन वाले होने से स्थविरकल्पी ही होते हैं अतः जिनागम की आज्ञा के अनुसर ये ग्राम नगर आदि के मंदिरों में या वसतिकाओं में वर्षायोग की स्थापना करते हैं और रहते हैं। कोई-कोई मुनि अपने को जिनकल्पी समझकर संघ में रहने वाले साधुओं की या संघ की व्यवस्था संभालने वाले आचार्य की अवहेलना और निंदा भी करते हैं तथा कोई-कोई श्रावक भी संघ के आचार्य की निंदा किया करते हैं जो कि आगम की ही अवहेलना करते हैं ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

क्या तीर्थंकर भगवान वर्षायोग करते हैं?

तीर्थंकर भगवान् साक्षात् जिन कहलाते हैं जिनके बारे में कहा है कि[1]"" जिण इव विहरंति सदा ते जिणकप्पे ठिया सवणा।" अर्थात् जो जिन के समान सदा विहार करते हैं वे

---

१. भावसंग्रह पृ. ६३।

जिनकल्प में स्थित श्रमण जिनकल्पी हैं। इस कथन के अनुसार ये तीर्थंकर भगवान ही जिन कहलाते हैं। उनके समान सदा विहार करने वाले मुनि जिनकल्पी कहलाते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट है कि तीर्थंकर महामुनि की चर्या जिनकल्पी मुनियों के लिए उदाहरणस्वरूप है अतः पर्वतों की कंदरा, गुफा, श्मशान आदि में निवास करने वाले तीर्थंकर भगवान किसी शहर, ग्राम, मंदिर या वसतिका आदि में वर्षायोग स्थापित करते हैं यह बात असंभव है। दिगम्बर संप्रदाय के प्रथमानुयोग ग्रंथों में भी तीर्थंकरों के वर्षायोग अर्थात् चातुर्मास करने का विधान, प्रमाण या उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है।

वास्तव में तीर्थंकर भगवान को दीक्षा लेते ही अंतर्मुहूर्त में मनःपर्ययज्ञान प्रकट हो जाता है तथा वे छद्मस्थ अवस्था में केवलज्ञान होने तक मौन ही रहते हैं और अकेले ही विचरण करते हैं, न उनके पास शिष्यपरिकर रहता है, न संघ व्यवस्था रहती है वे निर्द्वंद्व रहते हुये विचरण करते हैं और निर्जन स्थान आदि में ध्यान करते हैं।

जिनकल्पी मुनियों में जिन शब्द में कल्प प्रत्यय हुआ है वह उनके किंचित् न्यून अर्थ को सूचित करता है। तथा-"ईषदसमाप्तौ कल्पदेश्यदेशीया[1]।।५५६।।"

ईषत— किंचित् अपरिसमाप्ति के अर्थ में कल्प, देश्य और देशीय प्रत्यय होते हैं जैसे ईषत् अपरिसमाप्तः पटुः-पटुकल्पः। अर्थात् किंचित परिपूर्णता में किंचित कमी रहते हुये के अर्थ में कल्प प्रत्यय होता है अतः जो जिनकल्पी की चर्या कही गई उनके लिए उदाहरण स्वरूप और उनकी अपेक्षा भी जो विशेष हैं परिपूर्ण हैं वे ही 'जिन' होते हैं वे ही तीर्थंकर हैं अतः इनके वर्षायोग का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है, न ही आगम में प्रमाण ही मिलता है।

जब परिहारविशुद्धिसंयमी मुनि वर्षायोग नहीं करते हैं तब तीर्थंकर महामुनि वर्षायोग कैसे कर सकते हैं?

महल के उद्यान में मुनि का चातुर्मास

प्रश्न- क्या चतुर्थकाल में मुनि ग्राम, उद्यान, मंदिर या वसतिकाओं में रहते थे?

उत्तर- हां, ग्राम, उद्यान आदि में रहते भी थे, वर्षायोग भी करते थे और वे साधारण मुनि न होकर महामुनि थे। आगम के उदाहरण देखिये।

"एक[2] समय गुणधराचार्य (जो कि सुकुमाल के मामा थे) सुकुमाल की आयु थोड़ी समझकर उज्जयिनी नगरी में आकर सुकुमाल कुमार के महल के निकट उन्हीं के उद्यान में

१. कातंत्ररूपमाला का सूत्र।

२. अथैकदा अगत्पूज्यः सुकुमालस्य मातुलः। नाम्ना गणधराचार्यो जैनतत्वविदांवरः।।१२४।।
ज्ञात्वा श्रीसुकुमालस्य स्वल्पायुर्मुनिसत्तम। तदीयोद्यानमागत्य सुधीर्योगं गृहीतवान्।।१२५।।(आराधनाकथा कोशः)

ठहर गये और वहीं वर्षायोग स्थापन कर लिया। यह जानकर सुकुमाल की माता यशोभद्रा ने आकर मुनिराज से प्रार्थना की कि हे मुनिवर! आप चातुर्मास में उच्च स्वर से स्वाध्याय आदि का पाठ नहीं करें। तदनुसार मुनिराज ने वैसा ही किया। अनंतर वर्षायोग की समाप्ति पर मुनिराज ने रात्रि में वर्षायोग निष्ठापन क्रिया करके उच्च स्वर से ऊर्ध्वलोक प्रज्ञप्ति का पाठ करना शुरू कर दिया जिसको सुनकर सुकुमाल को जातिस्मरण हो गया और उन्होंने वहां आकर गुरू को नमस्कार करके उपदेश श्रवणकर तथा अपनी आयु तीन दिन की जानकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली[1]।"

इस प्रकार से महामुनि गुणधर आचार्य ने महल के उद्यान में वर्षायोग व्यतीत किया था और वे अपने भानजे सुकुमाल के आत्महित में निमित्त बने थे। जब तक मुनियों की सराग चर्या रहती है, आहार-विहार आदि में प्रवृत्ति करते हैं तब तक परोपकार को भी अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं।

शहर के निकट और मंदिर में मुनि का वर्षायोग

किसी समय सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिचय, सर्वसुन्दर, जयवान, विनयलालस और जयमित्र नाम के सप्तऋषि महामुनि अयोध्या नगरी में विधिपूर्वक भ्रमण करते हुये अर्हदत्त सेठ के घर पहुंचे। उन मुनियों को देखकर सेठ ने मन में सोचा कि इन मुनियों ने इस अयोध्या नगरी में वर्षायोग स्थापना नहीं की है पुनः ये मुनि वर्षाऋतु में यहां कैसे आ गये? ये अनर्गल प्रवृत्ति करने वाले दिखते हैं। इस नगरी के आसपास पर्वत की कन्दराओं में, नदी के तट पर, वृक्ष के मूल में, सूने घर में, जिनालय में तथा अन्य स्थानों पर जो भी मुनिराज स्थित हैं वे वर्षायोग पूरा किये बिना इधर-उधर भ्रमण नहीं करते हैं इत्यादिरूप से विचार करके सेठ ने उन्हें आहार नहीं दिया किन्तु उनकी पुत्रवधू ने उन मुनियों को आहारदान देकर अक्षय पुण्य संपादन कर लिया।

आहार के बाद वे निर्दोष प्रवृत्ति वाले मुनि अनेक मुनियों से व्याप्त श्री मुनिसुव्रत भगवान के मंदिर में दर्शनार्थ पहुँचे। ये पृथिवी से चार अंगुल ऊपर चल रहे थे। ऐसे इन ऋद्धिधारी मुनियों को मंदिर में विद्यमान द्युति भट्टारक अर्थात् द्युति नामक आचार्य ने देखा और खड़े होकर इनकी वंदना करके रत्नत्रय कुशल आदि पूछकर विनय भक्ति की। द्युति आचार्य के शिष्यों ने उन सप्तऋषियों की निंदा करते हुये मन में विचार किया कि अहो! ये हमारे आचार्य चाहे किसी की

---

१. पद्म पु. पर्व ६२, पु. १८१।

वंदना करने लग जाते हैं पुनः वे सातों ऋषि जिनेंद्रदेव की स्तुति करके आकाश मार्ग से अपने स्थान को विहार कर गये। उन्हें आकाश मार्ग से जाता देख अन्य मुनियों ने उन्हें चारण ऋद्धिधारी समझकर उनके प्रति किये गये दुर्भावों की निंदा करते हुये अपने अपराध की शुद्धि की।

इसी बीच मंदिर में अर्हदत्त सेठ आ गये। द्युति भट्टारक ने उनसे पूछा कि आज आपने उत्तम महामुनि के दर्शन किये होंगे? वे मथुरा के निवासी, आकाश ऋद्धिधारी महातपस्वी थे। आचार्य के मुख से उन मुनियों की महिमा को सुनकर सेठ का हृदय पश्चात्ताप से संतप्त हो गया। वह विचार करने लगा कि यथार्थ को नहीं समझने वाले मुझ मिथ्यादृष्टी को धिक्कार हो! मेरे समान अनिष्ट, अनुचित आचरण युक्त अधार्मिक कौन होगा? मुझ से बढ़कर अन्य मिथ्यादृष्टी और कौन होगा? हाय! मैंने उठकर उन मुनियों की पूजा नहीं की तथा नमस्कार कर उन्हें आहार से संतुष्ट नहीं किया। जो मुनि को देखकर आसन नहीं छोड़ता है वरन् देखकर उनका अपमान करता है वह मिथ्यादृष्टी कहलाता है[1]। इत्यादि रूप से अपनी निन्दा करते हुये वह सोचता है कि जब तक मैं हाथ जोड़कर उन मुनियों की वंदना नहीं कर लेता तब तक मेरे मन की दाह शांत नहीं होगी। अहंकार से उत्पन्न हुये इस पाप का प्रायश्चित उन मुनियों की वंदना के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता।

अनंतर कार्तिक सुदी पूर्णिमा को निकट जानकर उस महासम्यग्दृष्टी, वैभवशाली सेठ ने सप्तऋर्षियों की पूजा के लिए अपने बंधुओं के साथ मथुरा नगरी की ओर प्रस्थान कर दिया। कार्तिक शुक्ला सप्तमी के दिन वहां पहुँचकर मुनियों की वंदना करके पूजन हेतु महान उत्सव किया। इन सप्तर्षि मुनियों ने मथुरा नगरी के समीप वटवृक्ष के नीचे वर्षायोग धारण किया था। फिर भी ये ऋद्धि के प्रभाव से आकाश मार्ग से बहुत दूर पोदनपुर, विजयपुर, अयोध्या आदि स्थानों में जाकर पाणिपात्र में शुद्ध भिक्षा ग्रहण किया करते थे। इनके प्रभाव से मथुरा नगरी की महामारी शांत हो गई थी। उस समय वहां का राजा शत्रुघ्न था जो कि रामचन्द्र जी का लघु भ्राता था। आगे इन्हीं "सप्तर्षियों ने राजा शत्रुघ्न को जिनमंदिर बनवाने का एवं स्थल-स्थल पर सप्तर्षि प्रतिमा बनवाकर विराजमान करने का उपदेश दिया है तथा घर-घर में चैत्यालय बनवाने का भी उपदेश दिया है।"

(१) इस कथानक से हमें यह देखना है कि ऋद्धिधारी महामुनियों ने नगरी के समीप उद्यान में वर्षायोग किया था तथा श्रावकों को मूर्ति मंदिर, मुनि प्रतिमा, घर में चैत्यालय आदि बनवाने का उपदेश दिया था।

---

१. साधुरूपं समालोक्य न मुंचत्यासनं तु यः। दृष्ट्वापमन्यते यश्च स मिथ्यादृष्टिरुच्यते।। (पद्म पु. पर्व ९२)

(२) दूसरी बात यह देखनी है कि महान आचार्य द्युतिगुरुदेव अपने संघ सहित अयोध्या में मुनिसुव्रत भगवान के मंदिर में वर्षायोग धारण कर चातुर्मास कर रहे थे।

(३) तीसरी बात यह है कि चारण ऋद्धिधारी मुनि वर्षाकाल में भी आहार आदि निमित्त अन्यत्र विहार कर सकते हैं। कारण यही है कि उनके द्वारा आकाश मार्ग से गमन करने में पृथ्वी तल के जीवों को बाधा नहीं पहुंचती है।

अभिप्राय यह है कि जब ऐसे ऋद्धिधारी सप्तर्षि जिनके प्रभाव से महामारी रोग समाप्त हो गया है उन्होंने भी जब मथुरा नगरी के निकट उद्यान में चातुर्मास किया था और द्युति आचार्य ससंघ अयोध्या के जिन मंदिर में चातुर्मास कर रहे थे, जबकि श्रीमुनिसुव्रत तीर्थंकर का तीर्थकाल था और मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र इस पृथ्वी का पालन कर रहे थे, पुनः यदि आज के हीनसंहनन वाले मुनि ग्राम के मंदिर आदि में चातुर्मास करते हैं तो क्या बाधा है?

क्या परिहारविशुद्धि वाले मुनि वर्षायोग में अन्यत्र गमन करते हैं?

परिहार विशुद्धि संयम धारण करने वाले महामुनि भी तीनों कालों की संध्याओं को छोड़कर दो गव्यूति प्रमाण विहार करते रहते हैं। यथा—"पांच प्रकार के संयम में से अभेदरूप से अथवा भेदरूप से एक संयम से युक्त सर्वसावद्य का सर्वथा परित्याग करने वाले साधु पांच समिति और तीन गुप्ति से सहित होते हुये परिहारविशुद्धि संयम को प्राप्त होते हैं। जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदा सुखी रहकर पुनः दीक्षा लेकर श्री तीर्थंकर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नवमें पूर्व का अध्ययन करने वाले के यह संयम होता है। इस परिहार विशुद्धि संयम वाले मुनि तीन संध्याकालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस पर्यंत गमन करते हैं। रात्रि को गमन नहीं करते हैं।

इनके वर्षाकाल में गमन करने या न करने का कोई नियम नहीं है। चूंकि जीव राशि में विहार करते हुये भी इन मुनियों से जीवों को बाधा नहीं होती है, अतएव इन साधुओं के लिए वर्षायोग का कोई नियम नहीं है।

गृहस्थ के घर में मुनि का चातुर्मास

शंका-" क्या मुनि गृहस्थों के घर में निवास कर सकते हैं?

समाधान- हां, कारणवश ऐसे उदाहरण आगम में उपलब्ध हैं।" देखिए-

किसी समय [1]मणिमाली नाम के एक मुनिराज उज्जयिनी नगरी की श्मशान भूमि में

१. आराधना कथाकोश-अभयदान की कथा।

मुर्दे के समान आसन लगाकर ध्यान कर रहे थे। रात्रि में एक मंत्रवादी ने आकर उनके शरीर को मृतक समझकर उनके मस्तक पर एक चूल्हा रखकर मृतक के कपाल में दूध और चावल डालकर खीर पकाने लगा। अग्नि की ज्वाला से मुनि के मस्तक और मुख में तीव्र वेदना होने से मुनिराज का मस्तक हिलने लगा, इस निमित्त से वह हांडी अकस्मात् गिर गई। यह देख वह मंत्रवादी डरकर भाग गया। प्रातः जब सेठ जिनदत्त ने यह घटना सुनी, वे तत्क्षण ही वहां आकर मुनिराज को अपने स्थान पर ले गये। भक्तिपूर्वक उनका उपचार किया कुछ दिन बाद वे मुनि स्वस्थ हो गये और तभी वर्षाकाल का समय भी आ गया। सेठ जिनदत्त आदि के आग्रह से मुनिराज ने वहीं पर चातुर्मास धारण कर लिया।

सेठ का पुत्र दुर्व्यसनी था। एक दिन सेठ जिनदत्त ने पुत्र के भय से अपने धन को एक घड़े में भरकर उस घड़े को लाकर मुनिराज के सिंहासन के नीचे एक गहरा गड्ढा खोदकर उसमें गाड़ दिया, किन्तु उसके पुत्र ने यह सब कार्य छुप कर देख लिया था अतः उसने एक दिन चुपके से वह धन निकाल लिया।

चातुर्मास समाप्ति के अनंतर, मुनिराज विहार कर गये। तब सेठ ने अपना धन का घड़ा निकालना चाहा, किन्तु वहां न मिलने पर वह मुनिराज पर ही संदेह करने लगा। पुनः मणिमाली मुनिराज के पास जाकर उनसे कहने लगा भगवन्! आपके विहार करके चले आने से उज्जयिनी की जनता बार-बार आपका स्मरण कर रही है आप कृपा कर एक बार पुनः दर्शन दीजिये। सेठ जी के अतीव आग्रहवश मुनिराज पुनः विहार करके वहीं पर आ गये। अब सेठ ने मुनिराज से कुछ कथा कहने को कहा। मुनिराज ने भी सेठ की चेष्टाओं से उसके मन के संदिग्ध अभिप्राय को जान लिया और तदनुसार कथा के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि बिना विचारे लोग सदोष को भी निर्दोष समझ लेते हैं। तब सेठ ने भी कथा सुनाई जिसका आशय यह था कि कुछ लोग उपकारी के उपकार का बदला अपकार से चुकाते हैं। ऐसे ही बहुत समय तक मुनि और सेठ के मध्य कथाओं का तांता चलता रहा तब सेठ के पुत्र ने सारी घटना देखकर धन और जन से अतिशय विरक्त होकर वह धन का घड़ा दोनों के बीच में लाकर रख दिया और बोला कि इस निकृष्ट धन को धिक्कार हो कि जिसके लोभ में मेरे पूज्य पिताजी परम धार्मिक मुनिभक्त होकर भी महामुनि पर ही संदेह कर रहे हैं। हे गुरुदेव! अब मुझे इस धन की आवश्यकता नहीं है मैं संसार के दुःखों से अतिशय रूप से भयभीत हो चुका हूँ। अब आप मुझे संसार समुद्र से पार करने वाली जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कीजिये।

अपने पुत्र का ही अपराध और पुनः ऐसा विरक्त परिणामरूप साहस देखकर सेठ जी एकदम पश्चात्ताप से आहत हो गये। वे अपनी निंदा करने लगे कि हाय! हाय! मैंने यह क्या कर डाला? पुनः उन्होंने भी उस धन को जीर्णतृणवत् छोड़कर उन्हीं गुरुदेव के पादमूल में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। अर्थात् वे सेठ जिनदत्त अपने पुत्र के साथ दीक्षित हो गये।

कहने का मतलब यही है कि चतुर्थकाल में जब मुनि शिरोमणि दो गुप्तियों से विभूषित परम तपस्वी साधु श्रावकों के घर में चातुर्मास कर लेते थे। यह घटना उस समय की है जबकि राजा श्रेणिक और रानी चेलना में धर्म का संघर्ष चल रहा था और राजा दिगम्बर मुनियों की परीक्षा करना चाहता था पुनः आज कोई मुनि कारणवश श्रावक के स्थानों में ठहर जाते हैं और चातुर्मास भी कर लेते हैं तो क्या दोषास्पद ही है? अर्थात् दोषास्पद नहीं भी है तथा राजमार्ग भी नहीं है। हां! उन्हें अपने संयम में बाधा नहीं लाना चाहिए।

धर्मशाला में भी मुनियों के ठहरने का उदाहरण

[1]मालव देश के अंतर्गत घटगांव में एक देविल नाम का धनी कुंभार और एक धर्मिल नाम का नाई रहता था। ये दोनों आपस में परम मित्र थे। एक बार इन दोनों ने मिलकर यात्रियों के ठहरने के लिए एक धर्मशाला बनवाई। एक दिन देविल ने एक मुनि को उस धर्मशाला में ठहरा दिया। धर्मिल को मालूम होते ही उसने आकर मुनि को वहां से निकाल दिया और सन्यासी को लाकर वहां ठहरा दिया। मुनिराज ने धर्मशाला से निकलकर एक वृक्ष के नीचे ठहर कर रात्रि वहीं व्यतीत की और शांतभाव से डांस-मच्छर वगैरह का परिषह सहन किया। देविल ने प्रातः आकर धर्मशाला में मुनि को न पाकर जब बाहर एक वृक्ष के नीचे देखा तब उसे धर्मिल मित्र पर अत्यंत क्रोध हो आया। यहां तक कि दोनों में आपस में खूब घमासान मारा-मारी हो गयी। दोनों ही मरकर क्रम से सूकर और व्याघ्र हो गये।

किसी समय दो मुनिराज वन के मध्य गुफा में विराजे थे। देविल के जीव सूकर ने उनके दर्शन करके जाति स्मरण को प्राप्त होकर मुनिराज के उपदेश को सुना और उनसे कुछ व्रत ग्रहण कर लिया। इधर धर्मिल के जीव व्याघ्र ने भी अकस्मात् वहां आकर मुनियों का भक्षण करना चाहा, किन्तु गुफा के द्वार पर ही सूकर ने उसके साथ युद्ध करना शुरू कर दिया। दोनों खून से लथपथ होकर अंत में मर गये। सूकर मुनिरक्षा के अभिप्राय से मरकर

---

१. पद्मपुराण पर्व १२३, पुस्तक ३, पृ. ४१७।

देवगति को प्राप्त हो गया और व्याघ्र नरक चला गया।

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि उस समय मुनियों को धर्मशाला में भी ठहराया जाता था। जैसा कि देविल कुंभार ने ठहराया था पुनः आज भी मुनियों को धर्मशाला, वसतिका आदि में ठहराया जाता है।

मुनियों को वसतिका में ठहरने के लिए विधान तो मूलाचार, मूलाराधना, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों में स्पष्टतया किये गये है।

चातुर्मास में श्रावकों द्वारा आहार दान

प्रश्न-क्या श्रावक मुनियों के आहारदान हेतु अन्यत्र से आकर चातुर्मास में मुनियों को आहार दान दे सकते हैं?

उत्तर- अवश्य दे सकते हैं। यदि श्रावक आहार दान में भक्ति रखते हैं और उनके गांव में उस समय मुनि आदि नहीं हैं अथवा किन्हीं संघ या आचार्य आदि के प्रति उन्हें विशेष अनुराग है, तो उनके निकट जाकर भी आहार दान देते हैं अथवा कदाचिद् किन्हीं मुनियों की आहारादि व्यवस्था के अभाव में भी उनके पास जाकर आहार-दान देकर पुण्य लाभ लेते हैं। पद्मपुराण में एक उदाहरण बहुत ही सुन्दर मिलता है। यथा—

"अयोध्या नगरी में राजा के समान वैभव को धारण करने वाला अनेक करोड़ सम्पत्ति का धनी वज्रांक नाम का एक सेठ रहता था। सीता के निर्वासन समाचार को सुनकर वह इस प्रकार चिंता को प्राप्त हुआ कि 'अत्यंत सुकुमारांगी तथा दिव्य गुणों से अलंकृत सीता वन में किस अवस्था को प्राप्त हुई होगी? इस चिंता से वह अत्यंत दुखी हुआ और परम वैराग्य को प्राप्त होकर अयोध्या में ही विराजमान द्युति नामक आचार्य के पास दैगंबरी दीक्षा ग्रहण कर ली। इसकी दीक्षा का हाल घर के लोगों को विदित नहीं हुआ था। सेठ वज्रांक के अशोक और तिलक नाम के दो विनयवान पुत्र थे सो वे किसी समय निमित्तज्ञानी द्युति मुनिराज के पास अपने पिता का हाल पूछने के लिए आये। वहीं पिता को देखकर स्नेह अथवा वैराग्य के कारण अशोक और तिलक ने भी उन्हीं द्युति आचार्य के पादमूल में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। द्युति मुनिराज परम तपश्चरण कर तथा आयु के अंत में शिष्य जनों को उत्कंठा प्रदान करते हुये ऊर्ध्व ग्रैवेयक में अहमिंद्र हो गये।

अनंतर पिता और दोनों पुत्र ये तीनों ही मुनि मिलकर गुरु के कहे अनुसार प्रवृत्ति करते हुये जिनेंद्र भगवान की वंदना के लिए ताम्रचूड़पुर की ओर चले। बीच में पचास योजन

प्रमाण बालू का समुद्र (रेगिस्तान) मिलता था सो वे इच्छित स्थान तक नहीं पहुंच पाये। बीच में वर्षाकाल आ गया। उस रेगिस्तान में जिसका मिलना अत्यंत कठिन था तथा जो अनेक शाखाओं उपशाखाओं से युक्त था ऐसे एक वृक्ष को पाकर उसके आश्रययुक्त तीनों मुनिराज ठहर गये। जहां पर आहार का कोई ठिकाना नहीं था।

उसी काल में अयोध्यापुरी को जाते समय जनक के पुत्र भामंडल ने उन तीनों मुनिराजों को वहां रेगिस्तान में देखा। तत्क्षण ही उस पुण्यात्मा के मन में विचार आया कि ये मुनि आचार की रक्षा के निमित्त इस निर्जन वन में ठहर गये हैं परन्तु प्राणधारण के लिए ये आहार कहां ग्रहण करेंगे? ऐसा विचार कर सद्विद्या की उत्तम शक्ति से युक्त भामंडल ने बिल्कुल पास में एक सुन्दर नगर बसाया अर्थात् विद्या के प्रभाव से एक सुन्दर नगर की रचना कर ली। जो सब प्रकार की सामग्री से सहित था, उसमें स्थान-स्थान पर अहीर आदि के रहने के ठिकाने दिखलाये। तदनंतर अपने स्वाभाविक रूप में स्थित होकर उसने विनयपूर्वक मुनियों को नमस्कार किया। वह अपने परिजनों के साथ वहीं रहने लगा तथा योग्य देश काल में दृष्टि-गोचर हुये सत्पुरुषों को भावपूर्वक न्याय के साथ हर्षसहित आहार कराने लगा।

इस निर्जन वन में जो मुनिराज थे उन्हें तथा पृथ्वी पर उत्कृष्ट संयम को धारण करने वाले जो अन्य विपत्ति से ग्रसित साधु थे, उन सबको वह आहार आदि देकर संतुष्ट करने लगा। मुनिजन तो पुण्यरूपी सागर में व्यापार करने वाले हैं और भामंडल उनके सेवक के समान है।

कतिपय दिनों के अनंतर किसी समय भामंडल उद्यान में अपनी मालिनी नामक भार्या के साथ शय्या पर शयन कर रहे थे कि अकस्मात् वज्रपात से उनकी मृत्यु हो गई। वे भामंडल मुनिदान के माहात्म्य से मेरु पर्वत के दक्षिण में विद्यमान देवकुरु नामक उत्तम भोग भूमि में अपनी पत्नी के साथ युगलिया हो गये। उनकी आयु तीन पल्य की थी और उनका शरीर दिव्य लक्षणों से युक्त था। जो मनुष्य उत्तम पात्रों को आहार आदि दान देते हैं वे उत्तम भोग भूमि के सुखों का अनुभव कर नियम से देव पर्याय को प्राप्त होते हैं। पश्चात् क्रम से मोक्ष सुख को भी प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार से भाक्तिक श्रावकगण कहीं भी जाकर मुनियों को आहार दान देकर अपने संसार की स्थिति को कम करते हुये परम्परा से निर्वाण लाभ करते ही हैं।

वर्षायोग धारण समापन विधि

वर्षायोग प्रतिष्ठान विधि के पूर्व

वर्षायोग प्रारम्भ के प्रथम दिवस अर्थात् आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन मध्याह्न काल में सिद्धभक्ति, चैत्य भक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति इन भक्तियों द्वारा मंगलगोचर करना चाहिए।

इसकी प्रयोग विधि-

मुनिचर्या पुस्तक में यह विधि वर्णित है अर्थात् नित्य देववंदना विधि में चैत्यभक्ति के पूर्व सिद्धभक्ति और पंचगुरूभक्ति के बाद शांतिभक्ति भी बोलना होता है। इस वंदना की प्रतिज्ञा में निम्न वाक्य का प्रयोग किया जाता है।

"अथ मंगलगोचरमध्यान्हवन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं सिद्धभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहं।"

ऐसे ही चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांति भक्ति की प्रतिज्ञा में भी बोला जाता है।

इस वंदना में मंगलगोचर शब्द लगाने का मतलब यही है कि साधुओं के लिए वर्षायोग जैसे महान् (बड़े) कार्य के प्रारंभ और अंत के आहार को मंगलमय श्रेष्ठ उत्तम या विशेष मान कर उसके पूर्व की देव वंदना में ऐसा प्रयोग किया जाता है। शास्त्र में साधुओं के आहार का समय मध्यान्ह देववंदना के अनंतर[1] ही कहा गया है। पुनः सभी साधु गुरुवंदना करके आहारार्थ जाते हैं और आहार करके आकर गुरु के पास वर्षायोग हेतु चतुर्दशी का उपवास ग्रहण करने के लिए वृहत् (बड़ी) प्रत्याख्यान विधि करते हैं। नित्य प्रति में लघु भक्तियों का प्रयोग था सो यहां बड़ी भक्तियों का प्रयोग करना होता है पुनः शान्ति भक्ति की जाती है।

वृहत्प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन प्रयोग विधि-

"अथ मंगलगोचरभक्तप्रत्याख्यानक्रियायां....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" (विधिवत् सामायिकदंडक, नौ जाप्य और थोस्सामि करके वृहत्सिद्धभक्ति पढ़ें)।

"अथ मंगलगोचरभक्तप्रत्याख्यानक्रियायां....योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" (विधिवत् कायोत्सर्ग करके योगिभक्ति पढ़ें)। पुनः गुरु से प्रत्याख्यान (उपवास) ग्रहण करके आगे की भक्ति पढ़ें।

"अथ मंगलगोचरभक्तप्रत्याख्यानक्रियायां आचार्यवंदनायां आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" (विधिवत् कायोत्सर्ग करके बड़ी आचार्य भक्ति पढ़ें)।

---

१. वर्तमान में साधु ९ बजे से १२ बजे के बीच में आहार ग्रहण कर अनंतर सामायिक करते हैं।

''अथ मंगलगोचरभक्तप्रत्याख्यानक्रियायां शांतिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं''
(विधिवत्-कायोत्सर्ग करके शांतिभक्ति बोलें)।

यह क्रिया त्रयोदशी के दिन हो जाती है पुनः चतुर्दशी की पूर्व रात्रि में सभी साधु मिलकर वर्षायोग प्रतिष्ठापन की क्रिया करते हैं। इसके पूर्व स्थानीय श्रावकगण आकर साधुओं से अपने यहां चातुर्मास स्थापना करने हेतु प्रार्थना करते हैं। अनंतर साधु स्वीकृति प्रदान करके विधिवत् भक्तिपाठ द्वारा वर्षायोग ग्रहण कर लेते हैं।

वर्षायोग प्रतिष्ठापन विधि—

सभी साधु मिलकर सिद्धभक्ति, योगिभक्ति पढ़ते हैं पुनः चारों दिशाओं में प्रदक्षिणापूर्वक लघु चैत्यभक्ति करते हैं, अनंतर पंचगुरूभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर वर्षायोग स्वीकर कर लेते हैं।

प्रयोगविधि-

''अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां....योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं। (योगिभक्ति पढ़े)

यावंति जिनचैत्यानि, विद्यन्ते भुवनत्रये।
तावंति सततं भक्त्या, त्रिःपरीत्य नमाम्यहं।

इस श्लोक को बोलकर ''स्वयंभुवा भूतहितेन'' इत्यादि स्वयं भूस्तोत्र की वृषभ और अजितनाथ की दो स्तुति पढ़कर-

अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापन क्रियायां..... चैत्यभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

ऐसी प्रतिज्ञा करके विधिवत् कायोत्सर्ग पूर्वक ''वर्षेषु वर्षातरपर्वतेषु'' इत्यादि लघु चैत्यभक्ति का पाठ करें। यह पूर्वदिक् चैत्य वंदना हुई।

पुनः दक्षिण दिशा में भी पूर्वोक्त श्लोक पढ़कर संभव और अभिनंदन जिनेंन्द्रदेव की स्तुति पढ़कर विधिवत् लघु चैत्यभक्ति का पाठ करें।

इसी तरह पश्चिम और उत्तर दिशा में भी पूर्वोक्त श्लोक बोलकर सुमति-पद्मप्रभ तथा सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ देव की स्तुति करके विधिवत् लघु चैत्यभक्ति करें।

साधुगण चारों दिशाओं में भाव से ही प्रदक्षिणा करें और वहां पर स्थित लोग ही योग तंदुल का प्रक्षेपण करें, ऐसा उल्लेख है।

अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापन क्रियायां....

पंचगुरुभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं। (पंचगुरुभक्ति पढ़ें)

अथ वर्षायोग प्रतिष्ठापनक्रियायां...शांतिभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं (शांतिभक्ति पढ़ें) पुनः

अथ वर्षायोग प्रतिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भाव पूजावंदनास्तवसमेतं श्रीसिद्धयोगिचैत्यपंचगुरुशांतिभक्तीः कृत्वा तद्धीनाधिकत्वादिदोषविशुद्धयर्थं आत्मपवित्रीकरणार्थं समाधिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

(विधिवत् कायोत्सर्ग करके समाधिभक्ति पढ़ें)

वर्षायोग निष्ठापना विधि-

वर्षायोग समाप्ति के प्रारंभ में कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन मध्यान्ह में मंगलगोचर मध्यान्ह देववंदना करके, आहार करके आकर सभी साधु मंगलगोचर वृहत्प्रत्याख्यानविधि से बड़ी सिद्धभक्ति, योगभक्ति द्वारा वर्षायोगनिष्ठापन हेतु चतुर्दशी का उपवास ग्रहण करते हैं पुनः आचार्यभक्ति पढ़कर आचार्यवंदना करके शांतिभक्ति का पाठ करते हैं।

अनंतर कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में पूर्वोक्त विधि से भक्तियों का पाठ करते हुये वर्षायोग समापन कर देते हैं। उसमें अन्तर केवल इतना ही रहता है कि "वर्षायोग प्रतिष्ठापनक्रियायां" पाठ के स्थान पर "वर्षायोग निष्ठापनाक्रियायां" पाठ बोलते हैं।

वर्षायोग निष्ठापना के बाद सभी साधु मिलकर ही वीर निर्वाण क्रिया करते हैं, उसमें सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति का पाठ पढ़ते हैं अनंतर नित्य देववंदना अर्थात् सामायिक करते हैं।

वार्षिक प्रतिक्रमण—

आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को साधु वार्षिक प्रतिक्रमण करते हैं तथा प्रत्येक पक्ष में चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा को पाक्षिक प्रतिक्रमण करते हैं। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी या अमावस्या को भी पाक्षिक प्रतिक्रमण होता है। पुनः कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण होता है। ऐसे ही फाल्गुन के अंत में चतुर्दशी या पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया जाता है। अर्थात् पन्द्रह दिन के दोषों के शोधन हेतु पाक्षिक, चार महीने के दोष विशोधन हेतु चातुर्मासिक और वर्ष भर के दोषों की शुद्धि हेतु वार्षिक प्रतिक्रमण किये जाते हैं।

वर्तमान में कुछ संघों में दीपावली के दिन वार्षिक प्रतिक्रमण करने की परम्परा चल रही है वह आगम सम्मत नहीं है।

नूतन पिच्छिका ग्रहण—

वर्षायोग समाप्ति के अनंतर वर्तमान साधुओं को नूतन पिच्छिका ग्रहण करने की परम्परा है अर्थात् श्रावक अथवा साधु—साध्वियां कार्तिक मास में स्वयं पतित ऐसे मयूर पंखों की पिच्छिका का निर्माण करते हैं और उन्हें लाकर आचार्यश्री के सामने रख देते हैं संघस्थ प्रमुख साधु अर्थात् आचार्य के प्रमुख शिष्य या अन्य कोई प्रमुख श्रावक सबसे पहले आचार्य-श्री को पिच्छिका प्रदान करते हैं तब आचार्य देव नूतन पिच्छिका ग्रहण कर पुरानी पिच्छिका का त्याग कर देते हैं। अनंतर आचार्य महाराज क्रमशः अपने शिष्यों को—मुनियों को, आर्यिकाओं को और क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं को नूतन पिच्छिका देते हैं। सभी साधु नूतन पिच्छिका ग्रहण कर पुरानी पिच्छिका को छोड़ देते हैं।

श्रावकगण आवश्यकतानुसार साधुओं को कमंडलु, शास्त्र आदि भी प्रदान करते हैं। आर्यिकाओं, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं को वस्त्र भी देते हैं।

वर्षायोग के प्रारंभ और अंत में श्रावकगण चतुर्विध संघ की भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं।

चातुर्मास में विविध पर्व—

वर्षाकाल में पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं, यात्राएं, विवाह आदि कार्य नहीं होते हैं तथा वृष्टि की बहुलता से श्रावकों का व्यापार भी मंदगति से चलता है। यही कारण है कि श्रावकजन भी साधुओं के चातुर्मास से अत्यधिक लाभ ले लिया करते हैं। इन चार महीनों के अंतर्गत अनेक धार्मिक पर्व आ जाते हैं जिनके निमित्त से विशेष धार्मिक आयोजन, विधि-विधान, उत्सव तथा धर्मोपदेश का लाभ मिलता है।

वर्षायोग प्रारम्भ होते ही सर्वप्रथम श्रावण बदी एकम को वीर शासन जयंती दिवस आ जाता है। छ्यासठ दिन बाद विपुलाचल पर्वत पर गौतम स्वामी के आते ही भगवान् महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि इसी दिन प्रगट हुई थी। वीर प्रभु का धर्मशासन इसी दिन से चला है इसलिए इस पर्व को मनाते हैं। पुनः श्रावण सुदी एकम से सप्तमी तक सात दिन सप्त परमपद की प्राप्ति हेतु सप्त परमस्थान व्रत किया जाता है। सज्जाति, सद्गार्हस्थ्य, पारिव्राज्य, सुरेंद्रता, साम्राज्य, आर्हन्त्य और परिनिर्वाण ये सात पद परमस्थान के नाम से कहे गये है। अनंतर श्रावण शुक्ला सप्तमी को ही इसी दिन बहुत सी महिलाएं और कन्याएं मुकुट सप्तमी व्रत करती हैं। पुनः श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों की रक्षा की खुशी में रक्षाबंधन पर्व मनाया जाता है। इसी दिन श्रीविष्णुकुमार मुनि और अकंपनाचार्यादि मुनियों

की पूजा करके उनकी कथा सुनाई जाती है।

भाद्रपद तो व्रतों का भंडार ही है। भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा से ही तीर्थंकर प्रकृति बंध के लिए कारणस्वरूप ऐसी षोडश कारण भावनाओं की उपासना एक मास तक चलती हैं। बहुत से श्रावक, श्राविकागण सोलहकारण व्रत करते हैं भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा, दूज और तीज इन तीन दिन लब्धि विधान व्रत किया जाता है। तीन महिलाओं ने इस व्रत को करके कालांतर में इन्द्रभूति, वायुभूति और अग्निभूति होकर भगवान महावीर के गणधर के पद को प्राप्त किया है। भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन आकाश पंचमी व्रत होता है। इसी दिन से उत्तम क्षमा आदि धर्मों की उपासना हेतु दश दिन दशलक्षण पर्व मनाया जाता है। इसी पंचमी से नवमी तक पांच दिन पंचमेरु के चैत्यालयों की उपासना के हेतु पुष्पांजलि व्रत होता है। पुनः दशमी को सुगंधदशमी व्रत होता है। तेरस, चौदस और पूर्णिमा को रत्नत्रय व्रत किया जाता है। अनंतचतुर्दशी व्रत को तो प्रायः किसी न किसी रूप से सभी समाज मनाती हैं। अनंतर सोलह कारण व्रत के अंतिम दिन आसोज वदी प्रतिपदा को सर्वत्र मंदिरों में पूर्णाभिषेक होता है और इस दिन क्षमावणी पर्व बड़े पवित्र भावों से मनाया जाता है। इस भाद्रपद में और भी अनेक व्रत होते हैं जो कि व्रत विधान की पुस्तकों से जाने जाते हैं।

आश्विन सुदी पूर्णिमा के दिन भी धार्मिक कार्यक्रम होते हैं। पुनः कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रभात में वीर प्रभु का निर्वाण दिवस बहुत ही उल्लास पूर्ण वातावरण में सम्पन्न होता है उसी दिन शाम को गौतम गणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था, इसी की स्मृति में उसी दिन शाम को गौतम गणधर के केवलज्ञान लक्ष्मी की पूजा करके गणधर देव की पूजा करते हैं तथा इस पूजा को नूतन वर्ष के प्रारंभ में मंगलकारी मानकर पूजा करके नवीन बही आदि में स्वस्तिक बनाते हैं। इस बात को न समझकर कुछ अज्ञानी लोग बही की पूजा हेतु गणेश और लक्ष्मी की पूजा करने लगे हैं वास्तव में गौतम गणधर ही गणों के ईश होने से गणेश हैं और केवलज्ञान लक्ष्मी ही महालक्ष्मी है। इनकी पूजा ही संपूर्ण मंगल की देने वाली है। धन धान्य समृद्धि को करते हुये परम्परा से केवलज्ञान लक्ष्मी और मुक्ति लक्ष्मी को भी प्राप्त कराने वाली है।

कार्तिक शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा पर्यंत आठ दिन महानंदीश्वर पर्व मनाया जाता है। इस पर्व में श्रावक प्रायः सिद्धचक्र विधान आदि प्रारंभ कर देते हैं, अतः साधु संघ को भी आग्रहपूर्वक रोक लेते हैं और रथयात्रा आदि उत्सवपूर्वक चातुर्मास सम्पन्न करते हैं।

इन चार महीनों में वर्तमान आचार्य परम्परा के मूलस्रोत प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज (दक्षिण) का आषाढ़ वदी छठ को जन्म दिवस और भाद्रपद शुक्ला द्वितीया को सल्लेखना दिवस आ जाता है। आचार्य श्री वीरसागर महाराज का आषाढ़ सुदी पूर्णिमा को जन्म दिवस और आश्विन वदी अमावस को सल्लेखना दिवस मनाया जाता है। इसी आश्विन की अमावस के दिन ही आचार्य पायसागर जी महाराज का भी सल्लेखना दिवस है। इसी प्रकार से और भी अनेक पर्व और व्रत इन दिनों में आते हैं, जिन्हें श्रावक उत्सव के साथ मनाते हैं।

चातुर्मास के पर्व और व्रत एक दृष्टि में-

१. आषाढ़ सुदी अष्टमी से पूर्णिमा तक	आष्टान्हिकपर्व
२. आषाढ़ सुदी चतुर्दशी की पूर्व रात्रि में	वर्षायोग स्थापना
३. आषाढ़ के अंतिम रविवार से भाद्रपद के अंतिम रविवार तक,	रविवार व्रत
४. आषाढ़ सुदी पूर्णिमा	आ. वीरसागर जन्म दिवस (गुरु पूर्णिमा)
५. श्रावण कृष्णा प्रतिपदा	वीर शासन जयंती
६. श्रावण शुक्ला प्रतिपदा से सप्तमी तक	सप्त परमस्थान व्रत
७. श्रावण शुक्ला सप्तमी	पार्श्व प्रभु निर्वाण दिवस और मुकुट सप्तमी व्रत
८. श्रावण शुक्ला पूर्णिमा	रक्षाबंधन पर्व
९. भाद्रपद एकम से आश्विन वदी एकम तक	सोलहकारण पर्व
१०. भाद्रपद सुदी एकम से तीज तक	लब्धि विधान व्रत
११. भाद्रपद सुदी द्वितीया	आ. शांतिसागर का सल्लेखना दिवस
१२. भाद्रपद सुदी पंचमी से चौदस तक	दशलक्षण पर्व
१३. भाद्रपद सुदी पंचमी से नवमी तक	पंचमेरु व्रत
१४. भाद्रपद शुक्ला पंचमी	आकाश पंचमी व्रत
१५. भाद्रपद शुक्ला दशमी	सुगंध दशमी व्रत
१६. भाद्रपद शुक्ला ग्यारस से चौदस तक	अनंत चतुर्दशी व्रत
१७. भाद्रपद शुक्ला तेरस से पूर्णिमा तक	रत्नत्रय व्रत
१८. आश्विन कृष्णा प्रतिपदा	क्षमावाणी पर्व

---

१. गणिनी ज्ञानमती माताजी का जन्मदिन

१९. आश्विन कृष्णा अमावस्या आ. वीरसागर एवं पायसागर का सल्लेखना दिवस
२०. आश्विन शुक्ला पूर्णिमा शरद पूर्णिमा'
२१. कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में वर्षायोग निष्ठापना
२२. कार्तिक कृष्णा अमावस्या के उषाकाल में वीर निर्वाण पूजा
२३. कार्तिक कृष्णा अमावस्या के सायंकाल में गौतम गणधर के केवलज्ञान की पूजा
२४. कार्तिक शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा तक आष्टान्हिक पर्व

इस प्रकार से साधुओं के वर्षायोग में ग्राम, नगर या शहर का संपूर्ण वातावरण धर्ममय बन जाया करता है। कई एक भव्य जीव गुरुओं से धार्मिक शिक्षा, उपदेश ग्रहण करते हैं। कई एक जीव विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले लेते हैं। महिलाएं भी मुनि या आर्यिकाओं से प्रेरणा पाकर आर्यिकाएं बन जाती हैं। इस प्रकार चातुर्मास में दीक्षा के प्रसंग भी आ जाते हैं। अनेक नर-नारी बृहत्पल्यव्रत, जिनगुणसंपत्ति व्रत, णमोकार मंत्र आदि व्रतों को ग्रहण कर लेते हैं। विद्वान् साधुओं के उपदेश से जैन, अजैन समाज अधिक रूप से धर्मपीयूष का पान करके संसार ताप को शांत कर लेता है।

इस प्रकार "महावीर देशना" ग्रंथ में
'सुदं मे आउस्संतो' नाम से मुनि-
चर्या का वर्णन करने वाला
चतुर्थ अधिकार
पूर्ण हुआ।

पंचम अधिकार

आर्यिका चर्या

(दिगम्बर जैन साध्वी चर्या)

स्वयंसिद्ध जैनधर्म अनादिनिधन है, इसको किसी ने स्थापित नहीं किया है। अनंतानंत काल व्यतीत हो चुका है और आगे भी अनंतानंत प्रमाण काल आवेगा, तथा जो वर्तमान काल चल रहा है इन तीनों कालों में और तीनों लोकों में यह प्राणीमात्र का हित करने वाला है अतएव यह सार्वधर्म भी कहलाता है। अर्थात् 'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' जो कर्म शत्रुओं को जीतते हैं वे 'जिन' कहलाते हैं और 'जिनो देवता अस्येति जैनः' जिन देवता हैं जिसके वह जैन कहलाता है। तथा 'सर्वेभ्यो हितं सार्वः' इस निरुक्ति के अनुसार यह सबका हित करने वाला होने से ही सार्वधर्म है।

वैराग्य भावना-

इस जैन सिद्धान्त के अनुसार जब किसी भी बालिका[1], सौभाग्यवती महिला या विधवा को संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य हो जाता है तब वह विचार करती है कि यह संसार अनादि निधन है। इसमें अनादिकाल से प्रत्येक जीवात्मा के साथ कर्म का संबंध हो रहा है। उस कर्मोदय के निमित्त से प्रत्येक जीव कभी एकेन्द्रियपर्याय में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि शरीरों को धारण करता है। कभी दो इंद्रिय आदि में लट, चिंवटी, मक्खी, पशु-पक्षी आदि योनियों में चला जाता है, तो कभी मनुष्य पर्याय, स्त्री, पुरुष या नपुंसक अवस्था को प्राप्त कर लेता है अथवा कदाचित् देवगति में जाकर देवों के या देवांगनाओं के सुन्दर शरीर को प्राप्त कर सुखों का भी अनुभव करता है किंतु फिर भी वहाँ से च्युत होकर संसार में भटकता रहता है। जब कोई जीव पुरुषार्थ के बल से कर्मों का नाश कर देता है तब वही पूर्व का संसारी आत्मा मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा बन जाता है। जैन मत के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बनने की शक्ति से सहित है।

मेरी आत्मा स्त्री नहीं है न मनुष्य ही है किंतु चैतन्य स्वरूप है यद्यपि यह व्यवहार नय से स्त्री पर्याय को धारण किये हैं फिर भी निश्चयनय से मेरी आत्मा सिद्धों के सदृश शुद्ध है। अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य से संयुक्त है अर्थात् शक्ति रूप से ये अनंतचतुष्टय मेरे में विद्यमान हैं। जैसे बीज में अंकुर की शक्ति है, दूध में घी शक्तिरूप में विद्यमान है वैसे ही इस देहरूपी देवालय में भगवान् आत्मा शक्तिरूप से विराजमान है। यह शरीर महान् अपवित्र विनाशीक है, पुद्गल से रचा गया है। मेरी आत्मा अशरीरी, पवित्र और शाश्वत है। एक शरीर

१. आठ वर्ष की उम्र के बाद अणुव्रत अथवा दीक्षा ले सकती हैं ऐसी आगम की आज्ञा है।

के छूटने के बाद द्वितीय शरीर को ग्रहण कर लेता है किन्तु मरता नहीं है।

इस प्रकार से चिंतवन करते हुये उसके मन में सहसा आत्मा को शरीर से पृथक् करने के लिये पुरुषार्थ करने का भाव उमड़ आता है। तब वह महिला अपने माता-पिता अथवा पति, पुत्रादि कुटुंबियों से आज्ञा मांगती है और अब तक के हुये छोटे या बड़े अपराधों की क्षमा कराती है तथा स्वयं भी क्षमा करती है। यदि अज्ञानी या मोही कुटुंबीजन आज्ञा नहीं देते हैं तो भी यदि वह दृढ़प्रतिज्ञ है तो दीक्षा लेने के लिये गुरु के पास जाकर उनके चरणों का आश्रय ग्रहण करती है।

वास्तव में संसार में अनंतानंत काल तक भ्रमण करते हुये इस जीव ने किसको तो अपना माता-पिता नहीं बनाया है या किसको कौन सा संबंधी नहीं बनाया है अथवा किनके साथ कौन सा संबंध प्राप्त नहीं किया है अर्थात् सभी के साथ सभी कुछ संबंध हो चुके हैं। इस जीव ने भव-भव में इतने माता-पिता पुत्रादिकों को रोते हुये छोड़े हैं और स्वयं भी इतनों के लिये रोया है कि यदि वह अश्रुजल इकट्ठा किया जावे तो लवण-समुद्र से भी अधिक हो जावे।

दीक्षा—

ऐसा विचार करते हुये वह वैराग्यशील महिला किसी के प्रति मोह न रखते हुये आचार्य संघ में प्रवेश करती है। संघ में जो प्रमुख-गणिनी आर्यिका हैं उनके शासन में अपने को समर्पित करके उनसे प्रार्थना करती है कि हे मातः! अब आप मुझे हस्तावलंबन देकर मेरी आत्मा का कल्याण कीजिये।

ऐसा इसलिये है कि गणिनी की जिम्मेदारी के बिना आचार्य देव स्त्रियों को दीक्षा नहीं प्रदान कर सकते हैं क्योंकि स्त्रियों की सुरक्षा स्त्रियों पर ही निर्भर है। वे आचार्य भी प्रौढ़ उम्र के धारक, गंभीर, महामना, सर्वशास्त्र में निपुण और शास्त्र की मर्यादा के सच्चे प्रतिपालक होते हैं।

जब गणिनी आर्यिका उस नववैराग्यशालिनी महिला को कुछ दिन अपने पास में रखकर उसके मन की दृढ़ता को, शारीरिक क्षमता को और उसमें आर्यिका दीक्षा की योग्यता को देख लेती हैं तब वे स्वयं उसको साथ लेकर आचार्यश्री के पास जाकर निवेदन करती हैं कि हे भगवन्! यह भव्य-जीव संसार समुद्र से पार होने के लिये जहाज के समान ऐसी जैनी दीक्षा को चाहता है अतः आप इसे दीक्षा देकर अनुगृहीत करें। भविष्य में मैं इसका संरक्षण करूंगी और विद्या-शिक्षा में निपुण करके स्वपर कल्याण करने में कुशल बना दूंगी।

अनंतर आचार्य महाराज शुभ मुहूर्त में दीक्षा देने की घोषणा कर देते हैं। तब भाक्तिक धर्म स्नेही श्रावक या उस दीक्षार्थी के कुटुंबीजन कुछ दिन पूर्व से ही धर्म उत्सव प्रारंभ कर देते हैं। जिसमें जिनमंदिर में सिद्धचक्र विधान, चारित्रशुद्धि, रत्नत्रय या गणधरवलय विधान की पूजा कराई

जाती है जिसमें वह दीक्षार्थिनी भी भाग लेती है अथवा यदि वह पूर्व में संपन्न परिवार की है तो स्वयं अपने द्रव्य से पूजन विधान करती है।

इससे पूर्व यदि तीर्थ यात्राओं की इच्छा है तो तीर्थ यात्रा कर लेती है पुनः उत्तम आदि पात्रों को इच्छानुसार और शक्ति के अनुसार चतुर्विध दान देकर अपने मन को पवित्र बना लेती है।

कहीं-कहीं श्रावक लोग दीक्षार्थिनी की शोभायात्रा निकालकर शहर में धर्म की प्रभावना करते हुये यह प्रगट कर देते हैं, कि यह बहन अमुक दिन साध्वी के पद पर आरोहण करने वाली हैं पुनः कोई एक श्रावक दीक्षा दिलाने के लिये निश्चित किये जाते हैं वे सपत्नीक विधान आदि उत्सवों में भाग लेते हुये अपनी धार्मिक भावना व्यक्त करते हैं।

दीक्षा के शुभमुहूर्त के अवसर पर विशाल सभामंडप में सौभाग्यवती महिलायें दीक्षार्थिनी को मंगल स्नान कराकर गणिनी को आगे करके उत्सव के साथ सभा मंडप में लाती हैं। वहां पर सौभाग्यवती महिलायें तंदुल का चौक पूरकर उस पर पीले तंदुल से स्वस्तिक बनाकर उस पर नूतन, श्वेत शुचिवस्त्र को बिछा देती हैं।

दीक्षार्थिनी महिला वहीं पर सभा मंडप में विराजमान देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान की पूजादि करके हाथ में श्रीफल लेकर आचार्यश्री से दीक्षा ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करती हैं कि हे भगवन्! इस संसार के परिभ्रमण से अब मेरा जी ऊब चुका है अब मुझे चारित्ररूपी जहाज पर बिठाकर आप कर्णधार होइये।

उस समय आचार्य महाराज पहले उस दीक्षार्थी से कहते हैं, कि तुम्हें संघ की मर्यादा में और गणिनी के अनुशासन में रहना होगा, एकाकिनी विहार नहीं करना होगा इत्यादि। जब वह दीक्षार्थिनी महिला सभी बातों को स्वीकार कर लेती है तब आचार्य महोदय अपने संघस्थ साधु-साध्वी वर्गों से, उनके कुटुंबियों से और वहां पर उपस्थित सभी श्रावक-श्राविकाओं से पूछते हैं कि क्या इसे दीक्षा दी जावे? तब सभी साधुवर्ग भी धर्म वृद्धि से हर्षितमना होते हुये सहर्ष स्वीकृति देते हैं और श्रावकगण व दीक्षार्थिनी के कुटुंबी वर्ग भी दुःखमिश्रित हर्षपूर्वक जय-जयकार की ध्वनि से सभा को गुंजायमान करते हुये स्वीकृति देते हैं।

बस फिर क्या है, गणिनी उस दीक्षार्थी महिला को मंगल चौक पर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बिठा देती हैं और आप भी वहीं पर बैठकर अन्य साध्वियों की सहायता से सबसे प्रथम उसका केशलोंच प्रारंभ कर देती हैं।

अनंतर 'क्रियाकलाप, में मुद्रित बृहद्दीक्षा विधि के द्वारा आचार्य महाराज उसका संस्कार करते हैं अथवा आचार्य की आज्ञा से प्रमुख आर्यिका संस्कार करती हैं, उसके मस्तक पर बीजाक्षर

लिखकर पीले तंदुल और लवंग से उसके मस्तक पर मंत्रों का आरोपण करती हैं। उसके हाथ में बीजाक्षर लिखकर तथा दोनों हाथों की अंजुली में तंदुल भरकर उसमें। श्रीफल आदि द्रव्य रखकर पुनः उन्हें अट्ठाईस[1] मूलगुण प्रदान करती हैं।

पुनः गुर्वावली को पढ़कर नामकरण करके मंत्रों द्वारा ही संयम के उपकरण रूप मयूर पंख की पिच्छिका, शौच के लिये उपकरणस्वरूप काष्ठ या नारियल का कमंडलु और ज्ञान के लिए उपकरण-स्वरूप शास्त्र देती हैं। शिष्या भी विनयपूर्वक दोनों हाथों से पिच्छिका को, बायें हाथ से कमंडलु को और दोनों हाथों से शास्त्र को ग्रहण करती हैं।

पुनः नवदीक्षिता साध्वी गुरुभक्ति से गुरु को नमोस्तु करके अन्य मुनियों को नमोस्तु एवं अपनी गणिनी आर्यिका आदि सभी आर्यिकाओं को 'वंदामि' करके बैठ जाती है। जब तक व्रतारोपण विधि नहीं होती है तब तक सभी आर्यिकायें प्रतिवंदना नहीं करती हैं।

सभी प्रमुख श्रावकगण श्रीफल आदि चढ़ाकर उस नवदीक्षिता को नमस्कार करते हैं। आचार्य महोदय अथवा अन्य मुनि या आर्यिकायें सभा में उपदेश के द्वारा दीक्षा के महत्त्व को और व्रतों के महत्त्व को समझाते हुये दर्शकों के मन को कुछ क्षण के लिये वैराग्य से ओत-प्रोत कर देते हैं। इस प्रकार यह वैराग्यपूर्ण दृश्य सभी दर्शकों के मन में वैराग्य की लहर दौड़ा देता है। अनन्तर उसी पक्ष में या द्वितीय पक्ष में व्रतारोपण विधि करने के लिये रत्नत्रय की पूजा कराके पाक्षिक प्रतिक्रमण पढ़कर पूर्ववत् व्रतों को दिया जाता है और उसके साथ कोई एक पल्यविधान, कर्मदहन आदि व्रत देते हैं। दातार जनों को भी कुछ न कुछ व्रतादि देते हैं। अनंतर बड़ी आर्यिकायें प्रतिवंदना[2] विधि करती हैं।

दीक्षा के दिन दीक्षार्थी महिला का उपवास रहता है। द्वितीय दिवस गुरुओं के आहार के लिये निकल जाने के बाद गणिनी आदि मुख्य आर्यिकाओं के पीछे वह आहार के लिये श्रावकों के यहाँ जाती है। वहाँ पर श्रावक विधिवत् पड़गाहन करके नवधाभक्ति से आहार दान देकर अपना जन्म सफल समझते हैं। अब इनके अट्ठाईस मूलगुण, दैनिक चर्या और विहार आदि व्यवस्थायें तथा इनके निषिद्ध कार्यों का क्रम से वर्णन किया जावेगा।

---

१. आगे खुलासा होगा। २. इसका विवरण आगे है।

अट्ठाईस मूलगुण

मुनियों के प्रधान आचरण को मूलगुण कहते हैं। मूल शब्द के अनेक अर्थ होते हैं फिर भी यहां मूल का प्रधान या मुख्य ऐसा अर्थ लेना चाहिये। गुण शब्द से भी यहां पर आचरण विशेष अर्थ लेना है। ये मूलगुण इस लोक और परलोक में हितकर हैं। इस लोक में सर्वजन मान्यता, गुरुपना, सर्वजनों के साथ मैत्रीभाव आदि गुण होते हैं और परलोक में देवों का ऐश्वर्य, तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती पद आदि प्राप्त होते हैं।

मूलगुण अट्ठाईस होते हैं—पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिरोध, षट् आवश्यक क्रिया तथा लोच, आचेलक्य, स्नान का त्याग, क्षितिशयन, दंतधावनत्याग, स्थिति भोजन और एक भक्त। मूलगुणों की वृद्धि करने वाले उत्तर गुण कहलाते हैं। ये उत्तर गुण चौंतीस हैं—बारह तप और बाईस परीषह जय।

मूलव्रतों को महाव्रत कहते हैं। महान् का अर्थ है प्रधान और व्रत अर्थात् हिंसादि पापों का त्याग करना। तीर्थंकरादि महापुरुषों द्वारा पाले जाने से अथवा जो स्वतः मोक्ष प्राप्ति करने में हेतु होने से महान् हैं ऐसे व्रतों को महाव्रत कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनका पूर्णतया त्याग करने से पांच महाव्रत हो जाते हैं।

१. अहिंसा महाव्रत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये छह काय हैं, इन छह कायिक जीवों की हिंसा का मन-वचन-काय से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है। इस महाव्रत वाले संपूर्ण आरंभ और परिग्रह से रहित दिगम्बर मुनि होते हैं और एक साड़ी मात्र परिग्रह वाली आर्यिकायें होती[1] हैं।

२.सत्य महाव्रत—राग, द्वेष, मोह, क्रोध आदि दोषों से भरे हुये असत्य वचनों का त्याग करना और ऐसा सत्य भी नहीं बोलना कि जिससे प्राणियों का घात होता है सो सत्य महाव्रत है।

३.अचौर्य महाव्रत—ग्राम, शहर, आदि में किसी की भूली, रखी या गिरी हुई वस्तु को स्वयं नहीं लेना, दूसरों के द्वारा संगृहीत शिष्य, पुस्तक आदि को भी न लेना तथा दूसरों के दिये बिना योग्य वस्तु को भी नहीं लेना अचौर्य महाव्रत है।

४.ब्रह्मचर्य महाव्रत—रागभाव को छोड़कर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना, बालिका, युवती और वृद्धा में पुत्री, बहन और माता के समान भाव रखना त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत है।

५.परिग्रहत्याग महाव्रत—धन-धान्य आदि दश प्रकार के बहिरंग तथा मिथ्यात्व, वेद आदि चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह का त्याग करना, वस्त्राभूषण, अलंकार आदि का पूर्णतया त्याग कर

---

१. इनका महाव्रत उपचार से कहा गया है।

देना यहां तक कि लंगोटीमात्र भी नहीं रखना अपरिग्रह महाव्रत है। आर्यिकाओं के लिये दो साड़ी रखने का विधान है।

आगम में कहे अनुसार गमनागमन, भाषण आदि में सम्यक् प्रवृत्ति करना समिति है। इसके भी पांच भेद हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग।

१.ईर्यासमिति—निर्जंतुक मार्ग से सूर्योदय होने पर चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्त करके तीर्थ यात्रा, गुरुवंदना आदि धर्म कार्यों के लिये गमन करना ईर्यासमिति है।

२.भाषासमिति—चुगली, हंसी, कर्कश, पर-निंदा आदि से रहित हित, मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है।

३.एषणासमिति—[1] छ्यालीस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित नव कोटि से शुद्ध, श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक, निर्दोष पवित्र आहार लेना एषणासमिति है।

४.आदाननिक्षेपण समिति—पुस्तक, कमंडलु आदि को रखते या उठाते समय कोमल मयूर पंख की पिच्छिका से परिमार्जन करके रखना, उठाना, तृण-घास, चटाई, पाटे आदि को भी सावधानी से देखकर पिच्छिका से परिमार्जन करके ग्रहण करना या रखना, आदाननिक्षेपण समिति है।

५.उत्सर्ग समिति—हरी घास, चिंवटी आदि जीव जंतु से रहित प्रासुक, ऐसे एकांत स्थान में मल-मूत्रादि विसर्जन करना यह उत्सर्ग या प्रतिष्ठापन समिति है।

स्पर्शन रसना आदि पांचों इन्द्रियों को वश में रखना, इनको शुभ ध्यान में लगा देना पंचेंद्रिय निरोध होता है। इसके भी पांच इन्द्रियों की अपेक्षा से पांच भेद होते हैं।

१. ७स्पर्शन इन्द्रिय निरोध—सुखदायक, कोमल स्पर्शादि में या कठोर कंकरीली भूमि आदि के स्पर्श में आनंद या खेद नहीं करना।

२. रसनेंद्रिय निरोध—सरस मधुर भोजन में या नीरस, शुष्क भोजन में हर्ष विषाद नहीं करना।

३. घ्राणेंद्रिय निरोध—सुगंधित पदार्थ में या दुर्गन्धित वस्तु में राग द्वेष नहीं करना।

४. चक्षु इंद्रिय निरोध—स्त्रियों के सुंदर रूप या विकृत वेष आदि में राग भाव नहीं करना और द्वेष भाव भी नहीं करना।

५. कर्णेन्द्रिय निरोध—सुंदर-सुंदर गीत, वाद्य तथा असुंदर-निंदा, गाली आदि के वचनों में हर्ष-विषाद नहीं करना। यदि कोई मधुर गीतों से गान करता हो तो उसे राग भाव से नहीं सुनना।

जो अवश—जितेन्द्रिय मुनि का कर्तव्य है वह आवश्यक कहलाता है। उसके छह भेद है—समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

---

१. इनका संक्षिप्त वर्णन आगे करेंगे।

१. समता—जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि में हर्ष-विषाद नहीं करना, समान भाव रखना समता है। इसी का नाम सामायिक है। त्रिकाल में देववंदना करना यह भी सामायिक व्रत है। प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल में विधिवत् कम से कम एक मुहूर्त— ४८ मिनट तक सामायिक करना होता है।

२.स्तुति—ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तुति नाम का आवश्यक है।

३.वंदना—अरिहंतों को, सिद्धों को, उनकी प्रतिमा को, जिनवाणी को और गुरुओं को[1] कृतिकर्म पूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

४.प्रतिक्रमण—अहिंसादि व्रतों में जो अतीचार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उनको निंदा गर्हा पूर्वक शोधन करना—दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके भी सात भेद हैं - ऐर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ।

गमनागमन से हुए दोषों को दूर करने के लिए "पडिक्कमामि भंते! इरियावहियाए विराहणाए" इत्यादि दण्डकों का उच्चारण करके कायोत्सर्ग करना ऐर्यापथिक है। दिवस संबंधी दोषों को दूर करने के लिए सायंकाल में 'जीवे प्रमादजनिता' इत्यादि पाठ करना दैवसिक, रात्रि संबंधी दोषों के निराकरण हेतु रात्रि के अंत में प्रतिक्रमण करना रात्रिक, प्रत्येक मास की चतुर्दशी या पूर्णिमा या अमावस्या को करना पाक्षिक, कार्तिक और फाल्गुन मास के अंत में करना चातुर्मासिक, आषाढ़ की अंतिम चतुर्दशी या पूर्णिमा को करना सांवत्सरिक तथा मरण काल में करना उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

५. प्रत्याख्यान—मन, वचन, काय से भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार ग्रहण के अनंतर गुरु के पास अगले दिन आहार ग्रहण करने तक के लिए जो चतुराहार का त्याग किया जाता है वह प्रत्याख्यान कहलाता है।

६. कायोत्सर्ग—दैवसिक, रात्रिक आदि क्रियाओं में पच्चीस या सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण से तथा चौवन, एक सौ आठ आदि श्वासोच्छ्वास पूर्वक णमोकार मंत्र का स्मरण करना। काय-शरीर से उत्सर्ग—ममत्त्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

यहां तक इक्कीस मूलगुण हुए हैं अब शेष सात को भी स्पष्ट करते हैं -

१. लोच—अपने हाथ से अपने शिर, दाढ़ी और मूंछ के बाल उखाड़ना केशलोंच मूलगुण है। केश में जूं आदि जीव पड़ जाने से हिंसा होगी या उन्हें संस्कारित करने के लिए तेल, साबुन आदि की जरूरत होगी जो कि साधु पद के विरुद्ध होगा। अतः दीनता, याचना, परिग्रह, अपमान आदि दोषों से बचने के लिए यह क्रिया है। लोंच के दिन उपवास करना होता है और लोंच करते या कराते

---

१. आगे कहेंगे।

समय मौन रखना होता है। इसके उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हैं—दो महीने पूर्ण होने पर उत्तम, तीन महीने में मध्यम और चार महीने पूर्ण होने पर जघन्य केशलोंच कहलाता है। चार महीने के ऊपर हो जाने पर साधु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

२.अचेलकत्व—सूती, रेशमी आदि वस्त्र, पत्र, वल्कल आदि का त्याग कर देना, नग्न वेष धारण करना अचेलकत्व है। यह महापुरुषों द्वारा ही स्वीकार किया जाता है, तीनों जगत् में वंदनीय महान पद है। वस्त्रों के ग्रहण करने से परिग्रह, आरंभ, धोना, सुखाना और याचना करना आदि दोष होते हैं अतः निष्परिग्रही साधु के यह व्रत होता है।

३.अस्नानव्रत—स्नान, उबटन आदि से शरीर के संस्कारों का त्याग करना, अस्नान व्रत है। धूलि से धूसरित, मलिन शरीरधारी मुनि कर्ममल को धो डालते हैं। चांडालादि अस्पृश्यजन, हड्डी, चर्म, विष्ठा आदि का स्पर्श हो जाने से वे मुनि दंडस्नान करके गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं।

४ .भूमिशयन—निर्जंतुक भूमि में, घास या पाटा अथवा चटाई पर शयन करना भूमिशयन व्रत है। ध्यान, स्वाध्याय आदि से या गमनागमन से थककर स्वल्प निद्रा लेना होता है।

५. अदंतधावन—नीम की लकड़ी, ब्रुश आदि से दांतौन नहीं करना। दांतों को नहीं घिसने से इंद्रियसंयम होता है, शरीर से विरागता प्रगट होती है और सर्वज्ञदेव की आज्ञा का पालन होता है।

६. स्थिति भोजन—खड़े होकर अपने दोनों हाथों की अंजुलि बनाकर श्रावक के द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना स्थिति—भोजन है।

७.एकभक्त—सूर्योदय के अनंतर तीन घड़ी के बाद और सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक दिन में सामायिक काल के सिवाय कभी भी एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त है। आजकल प्रायः नौ बजे से ग्यारह बजे तक साधु जन आहार को जाते हैं। कदाचित् एक बजे से भी जा सकते हैं। दिन में एक बार ही आहार को निकलना चाहिए। कदाचित् लाभ न मिलने पर उस दिन पुनः आहारार्थ नहीं जाना चाहिए।

इस प्रकार जो साधु इन मूलगुणों का पालन करते हैं वे जगत् में पूज्य होते हुए क्रम से मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। आर्यिकाओं को भी इन्हीं मूलगुणों का पालन करना होता है।

समाचार विधि—सं—सम्यक् निरतिचार मूलगुणों का आचार—आचरण समाचार है अथवा सभी साधुओं के साथ समान आचार समाचार कहलाता है। इसके दो भेद हैं—औधिक और पदविभागिक। सामान्य आचार को औधिक समाचार कहते हैं। इसके दस भेद हैं तथा सूर्योदय से लेकर अहोरात्र तक मुनियों का जितना भी आचार है वह पदविभागी है उसके अनेक भेद हैं।

औघिक समाचार के दश भेद

१. इच्छाकार—सम्यग्दर्शनादि इष्ट को हर्ष से स्वीकार करना।

२. मिथ्याकार—व्रतादि में अतिचारों के होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' कहना और उनसे हटना।

३. तथाकार—गुरु से सूत्रार्थ सुनकर 'यही ठीक है' ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है।

४. आसिका—जिनमंदिर, वसतिका आदि से निकलते समय 'असही' शब्द से वहां के व्यंतर आदि से पूछकर जाना।

५. निषेधिका—जिनमंदिर, वसतिका आदि में प्रवेश के समय 'निसही' शब्द से वहां के व्यंतरादि से पूछकर प्रवेश करना।

६. आपृच्छा—गुरु आदि से वंदनापूर्वक प्रश्न करना।

७. प्रतिपृच्छा—कोई बड़े कार्य के समय गुरु, आचार्य आदि को बार-बार पूछना।

८. छंदन—उपकरण आदि ग्रहण करने में या वंदना आदि क्रियाओं में गुरुओं के अनुकूल प्रवृत्ति करना।

९. निमंत्रणा—गुरुओं से विनयपूर्वक पुस्तकादिकों की याचना करना।

१०. उपसंपत्—गुरु के चरणमूल में अपने को समर्पण करना, गुरु के अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना।

पदविभागी—कदाचित् अपने गुरु से शास्त्रज्ञान ग्रहणकर विशेष सूत्राध्ययन की इच्छा से बार-बार गुरु से पूछकर योग्य संघ में अध्ययन हेतु जाना। उस समय कम से कम दो साधु मिलकर ही जाना। एकाकी विहार नहीं करना।

अन्य संघ के आगंतुक साधुओं का अन्य संघ के साधुगण बहुत विनय वैयावृत्ति आदि करते हैं। परस्पर में तीन दिन तक परीक्षा वगैरह करके उनकी पूरी व्यवस्था करके आत्मीयता प्रदान करना आदि पदविभागी समाचार कहलाता है।

पांच आधार—आचार्य—दीक्षादिदायक, उपाध्याय—अध्यापक मुनि, प्रवर्तक—सभी साधुओं को चर्यादि में प्रवृत्ति कराने वाले, स्थविर—बाल वृद्धादि मुनि को सर्वज्ञाज्ञानुकूल उपदेश देने वाले, गणधर—सर्व संघ का पालन करने वाले, ऐसे पांच आधार जिस संघ में रहते हैं वही संघ रहने के लिए योग्य[1] है। ऐसे ही आर्यिकाओं में भी व्यवस्था होती है।

आर्यिका की सभी चर्या मुनि के सदृश ही है—"मूलगुणों[2] के अनुरूप आचरण को समाचार

---

१. तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा। आइरिय उवज्झाया पव्वत्तथेरा गणधरा य" ।।३४।। (मू० कुंद०)

२.एसो अज्जाणं पि य सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं। सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जहाजोग्गं ।।६७।। (मूलाचार - श्री कुंदकुंदकृत)

कहते हैं। अर्थात् मुनि के समाचार का इससे पूर्व में जैसा वर्णन किया है वैसा ही आर्यिका के समाचार का भी वर्णन समझना चाहिए अर्थात् दिवस और रात्रिसंबंधी सभी क्रियायें मुनियों के सदृश ही हैं। अंतर इतना ही है कि वृक्षमूल योग, आतापन योग, अभ्रावकाश योग ऐसे योगादिक[1] आचरण का आर्यिकाओं के लिए निषेध है, क्योंकि वह उनकी आत्मशक्ति के बाहर है।"

आचारसार में भी कहा है—"जिस[2] प्रकार यह समाचार नीति मुनियों के लिए बतलाई गई है, उसी प्रकार लज्जादि गुणों से विभूषित आर्यिकाओं को भी इन्हीं समस्त समाचार नीतियों का पालन करना चाहिए।"

तथा प्रायश्चित ग्रन्थ में भी आर्यिकाओं को मुनियों के बराबर प्रायश्चित[3] का विधान है तथा क्षुल्लकादि को उनसे आधा इत्यादिरूप से है। जैसे—

"जैसा प्रायश्चित्त साधुओं के लिए कहा गया है वैसा ही आर्यिकाओं के लिए कहा गया है विशेष इतना है कि दिनप्रतिमा, त्रिकालयोग चकार शब्द से अथवा ग्रन्थांतरों के अनुसार पर्यायच्छेद (दीक्षाच्छेद) मूलस्थान तथा परिहार ये प्रायश्चित भी आर्यिकाओं के लिए नहीं हैं।"

आर्यिकाओं के लिए दीक्षा विधि भी अलग से नहीं है। मुनिदीक्षा विधि से ही उन्हें दीक्षा दी जाती है। इन सभी कारणों से स्पष्ट है कि आर्यिकाओं के व्रत, चर्या आदि मुनियों के सदृश हैं।

विशेष इनकी चर्या क्या है वह भी स्पष्ट करते हैं :— आर्यिकायें[4] वसतिका में परस्पर में अनुकूल मत्सरभाव रहित, परस्पर में रक्षण के अभिप्राय में पूर्ण तत्पर, रोष, वैर, माया जैसे विकारों से रहित, लोकापवाद और निंदा से डरती हुई, उभय कुल के अनुरूप, लज्जा, मर्यादा और क्रियाओं से अपने चारित्र की रक्षा करती हुई एक साथ रहती हैं। अध्ययन, पुनरावृत्ति, श्रवण, कथन, अनुप्रेक्षाओं के चिंतन, तप, विनय, संयम तथा ज्ञानाभ्यास में सतत तत्पर रहती हुई मन, वचन, काय से शुभाचरण करती हैं।

निर्विकार वस्त्र तथा वेश धारण करती हुई, साज श्रृंगार से रहित, जल्ल और मल से युक्त रहती हैं। धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुरूप निर्मल आचरण करती हैं।

१.वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान में खड़े हो जाना वृक्षमूल है। गर्मी में पर्वत की चोटी पर ध्यान करना आतापन है और ठंडी में खुले मैदान में ध्यान करना अभ्रावकाश है तथा दिन में सूर्य की तरफ मुख कर खड़े होकर ध्यान करना आदि।

२.लज्जाविनय-वैराग्य-सदाचार-विभूषिते। आर्याव्राते समाचारः संयतेष्विव किन्त्विह ।।८१।। (आचार सार पृ० ४२)

३.साधूनां यदुवदुद्दिष्टमेवमार्यागणस्य च। दिनस्थानत्रिकालोनं प्रायश्चित्तं समुच्यते ।।११४।। (प्राय०)

४."अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ। गयरोसवेरमाया सलज्जमज्जादकिरियाओ ।।६८।।
अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए। तव-विणय-संजमेसु य अविरहिदुवजोगजुत्ताओ ।।६९।।
अविकार-वत्थ-वेसा जल्लमलविलितचत्तदेहाओ। धम्मकुल-कित्तिदिक्खापडिरूव विसुद्ध चरियाओ।।७०।।
रोदणण्हावण-भोयण-पयणं सुत्तं च छब्बिहारंभे विरदाण पादमक्खण-धोवण-गेयं च ण वि कुज्जा ।।७३।।
(मूलाचार - श्री कुंद कुंदकृत)

रोना, बालक आदि को स्नान कराना, भोजन कराना, रसोई बनाना, वस्त्र सीना, सूत कातना तथा छह प्रकार का आरम्भ आदि कार्य नहीं करती हैं। मुनियों के पैरों में तेल लगाना, धोना, गीत गाना, आदि कार्य भी वे नहीं करती हैं।

वसतिका स्थान—जो[1] स्थान साधुओं के निवास स्थान से दूर हों, गृहस्थों के स्थान से न अति दूर हो न अति पास हो, जहां व्यसनी, चोर आदि का प्रवेश न हो, ऐसे स्थान में दो तीन या तीस चालीस तक भी आर्यिकायें रहती हैं क्योंकि आर्यिकाओं को अकेली कभी नहीं रहना चाहिए। कम से कम दो अवश्य होना चाहिए। तीन, पाँच या सात मिलकर आपस में एक दूसरे की रक्षा करते हुए वृद्ध आर्यिकाओं के साथ-साथ निकलकर आहार के लिए श्रावक के यहां प्रवेश करती हैं। गृहस्थों के घर में कभी नहीं जाती हैं केवल आहार के समय ही जाती हैं। कभी कोई विशेष धर्मकार्य होने पर अथवा किसी को सल्लेखना आदि कराने के लिए साध्वी गृहस्थ के घर जा सकती हैं अन्यथा नहीं। उसमें भी गणिनी को पूछकर दो तीन आदि मिलकर ही जाना चाहिए।

आर्यिकाओं के अट्ठाईस मूलगुण कैसे?

प्रश्न - जब आर्यिकाओं के सभी व्रत मुनियों के सदृश हैं पुनः वे वस्त्र कैसे रखती हैं?

इस पर आचार्यों ने ऐसा कहा है कि - "आर्यिकाओं[2] को अपने पहनने के लिए दो साड़ी रखना चाहिए। इन दो वस्त्रों के सिवाय तीसरा वस्त्र रखने पर उसके लिए प्रायश्चित होता है।"

इन दो वस्त्रों का ऐसा मतलब है कि दो साड़ी रखती हैं। एक बार में एक ही पहनना होता है दूसरी को धोकर सुखा देती हैं जो कि द्वितीय दिवस बदली जाती है।

आचार्य वीरसागर जी महाराज[3] कहते थे कि दो साड़ी रखने से आर्यिका का एक मूलगुण कम नहीं होता है किन्तु उनके लिए आगम की आज्ञा होने से यही मूलगुण है। हां! तृतीय साड़ी रखने से अवश्य ही मूलगुण में दोष आता है। मुनिराज खड़े होकर आहार ग्रहण करते हैं और आर्यिकाओं को बैठकर आहार लेना होता है। यह भी शास्त्र की आज्ञा होने से उनका मूलगुण ही है। इसलिए उनके भी अट्ठाईस मूलगुण मानने में कोई बाधा नहीं है। यही कारण है कि आर्यिकाओं के महाव्रतों

---

१. अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विसुद्ध संचारे। दो तिण्णि वा अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थिंति ।।७१।।
तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ। थेरेहिं संहतरिता भिक्खाय समोदरंति सदा ।।७४।।
ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्स गमणिज्जे। गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ।।७२।। (मूला० कुंद०)

२. वस्त्रयुग्मं सवीभत्स-लिंग-पृच्छादनाय च। आर्याणां संकल्पेन तृतीये मूलमिष्यते ।।११६।। (प्राय०)

३. चा. च आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के पट्टशिष्य।

को उपचार संज्ञा दी गई है। यथा-

"गणधर आदि देवों ने उन आर्यिकाओं की सज्जाति आदि को सूचित करने के लिए उनमें उपचार से महाव्रत का आरोपण करना बतलाया है अर्थात् साड़ी धारण करने से आर्यिकाओं में देशव्रत ही होते हैं परन्तु सज्जाति आदि कारणों से गणधर आदि देवों ने उनके देशव्रतों में उपचार से महाव्रतों का आरोपण किया है[1]।"

ये उपचार से महाव्रती हैं अतएव एक साड़ी धारण करते हुए भी लंगोटीमात्र अल्पपरिग्रह धारक ऐलक[2] के द्वारा पूज्य हैं। यथा—

"[3]अहो आश्चर्य है कि ऐलक लंगोटी में ममत्त्व परिणाम होने से उपचार से भी महाव्रती नहीं हो सकता है किन्तु आर्यिका साड़ी धारण करने पर भी ममत्त्व परिणाम रहित होने से उपचार से महाव्रतिनी कहलाती हैं।" अर्थात् ऐलक लंगोटी त्याग कर सकता है फिर भी ममत्त्व आदि कारणों से धारण किए है किन्तु आर्यिका तो साड़ी का त्याग करने में समर्थ नहीं है।

आर्यिकाओं की यह साड़ी बिना सिली हुई होनी चाहिए अर्थात् सिले हुए वस्त्र पहनने का उनके लिए निषेध है।

निष्कर्ष यह निकला कि ये आर्यिकायें एक श्वेत साड़ी पहनती हैं, हाथ में मयूर पंख की पिच्छी रखती हैं तथा शौच के लिए काठ या नारियल का कमंडलु रहता है। ज्ञान साधना के लिए शास्त्र को रखती हैं। सोने या बैठने में बिछाने के लिए घास, पाटा या चटाई भी रख सकती हैं। बाकी कुछ भी परिग्रह उनके पास नहीं रहता है।

पठन-पाठन में या ग्रन्थ के लिखने आदि के लिए कलम, स्याही, कागज आदि[4] भी रख सकती हैं। मुनियों की अपेक्षा मूलगुणों के पालन में दो ही बातों का अंतर है—एक तो एक साड़ी पहनना और दूसरा बैठकर आहार करना।

जैसे मुनियों में आचार्यपद है ऐसे ही आर्यिकाओं में "गणिनी" पद है। इसकी दीक्षा विधि आचार्य दीक्षा विधि के समान है। ये गणिनीमाताजी आर्यिकाओं को दीक्षा और प्रायश्चित्त देने की अधिकारिणी हैं। इनके ३६ मूलगुण आचार्यों के मूलगुण के समान हैं। इसका वर्णन चौथे अधिकार में आ चुका है।

---

१. देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यंते बुधैस्ततः। महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः ।।८६।। (आचारसार)

२. श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में से अंतिम ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के दो भेद हैं - क्षुल्लक और ऐलक। क्षुल्लक के पास लंगोटी और चद्दर ये दो वस्त्र रहते हैं किन्तु ऐलक के पास लंगोटी मात्र रहती है।

३. कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतं। अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति ।।३६।। (सागार. पृ. ५१८)

४. नेत्रज्योति कमजोर हो जाने से पढ़ने के लिए, ईर्यापथ शुद्धि से चलने के लिए और आहार को देखने शोधने के लिये कदाचित् चश्मा भी ले सकती हैं। (यह व्यवस्था गुरु परंपरागत है।)

दैनिक चर्या

मुनि-आर्यिकाओं के दैनिक अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते हैं, जो कि पिछली रात्रि से पूर्वरात्रि तक किये जाते हैं। उनका स्पष्टीकरण—पूर्वाह, मध्याह, पूर्वरात्रिक और अपररात्रिक। इन चार काल के स्वाध्याय के १२ कायोत्सर्ग होते हैं, दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण के ८, त्रैकालिक देववंदना के ६, रात्रियोग प्रतिष्ठापना और निष्ठापना में २, ऐसे २८ कायोत्सर्ग होते हैं।

पिछली रात्रि में अपररात्रिक स्वाध्याय होता है। निद्रा से उठकर हाथ-पैर आदि शुद्ध करके स्वाध्याय शुरू करना चाहिये। स्वाध्याय प्रारंभ करने से पहले श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति संबंधी दो कायोत्सर्ग होते हैं। अनंतर स्वाध्याय के बाद श्रुतभक्ति संबंधी एक कायोत्सर्ग होता है ऐसे एक स्वाध्याय सम्बन्धी तीन कायोत्सर्ग हुये। पुनः सूर्योदय के २ घड़ी आदि से पहले रात्रि सम्बन्धी दोष का शोधन करने के लिए प्रतिक्रमण करना होता है। उसमें सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण-भक्ति, वीर भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति इन चार भक्तिसम्बन्धी चार कायोत्सर्ग होते हैं पुनः रात्रियोग निष्ठापन सम्बन्धी एक कायोत्सर्ग होता है।

अनंतर पूर्वान्ह सामायिक (देववंदना) में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति सम्बन्धी दो कायोत्सर्ग होते हैं पुनः लघु सिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्तिपूर्वक आचार्य वंदना की जाती है। अनंतर सूर्योदय के दो घड़ी[1] बाद पौर्वाण्हिक स्वाध्याय होता है उसमें भी पूर्वोक्त तीन कायोत्सर्ग हो जाते हैं।

पुनः यदि आचार्य के संघ में आर्यिकायें हैं तो शुद्ध वस्त्र बदलकर आचार्यश्री के समीप मंदिर में आ जाती हैं। आचार्य श्री के और क्रम से सभी मुनियों के आहारार्थ[2] निकलने के बाद गणिनी आर्यिका निकलती हैं। उनके पीछे-पीछे सभी आर्यिकायें क्रम से आहार के लिये निकल जाती हैं। आहार से आकर गुरु के पास प्रत्याख्यान ग्रहण करके अपने स्थान पर चली जाती हैं।

पुनः मध्याह्न[3] में सामायिक करती हैं। अनंतर मध्याह्न की चार घड़ी बीत जाने पर अपराह्निक स्वाध्याय किया जाता है। जो नवदीक्षित हैं, अल्पज्ञ हैं वे विद्यार्थिनी के रूप में अपनी गुर्वानी से या उनकी आज्ञानुसार अन्य विद्वानों से गुर्वानी के पास बैठकर अध्ययन करती हैं। व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, छंद, अलंकार आदि ग्रन्थों को पढ़ती हैं। विदुषी आर्यिकायें भी पढ़ाती हैं। अनंतर दिवस सम्बन्धी दोषों का शोधन करने के लिये सभी साधु-साध्वी मिलकर प्रतिक्रमण करते हैं। बाद में

---

१. दश बजे के लगभग ...। २. आहारचर्या आगे है।

३. शास्त्रों में मध्यान्ह की सामायिक के बाद साधुसध्वियों को आहार के लिए जाने का विधान है। किन्तु वर्तमान में सामायिक के पहले ९ बजे से ११ बजे तक के काल में ही आहार के लिए साधु निकलते हैं। चूंकि श्रावक के भोजन का सही समय उपयुक्त है। और पौने ग्यारह बजे के पूर्व मध्यान्ह सामायिक का समय नहीं बन पाता है।

आचार्य की वंदना करते हैं। अनंतर मुनि अपने स्थान पर तथा आर्यिकायें अपनी वसतिका में जाकर रात्रियोगप्रतिष्ठापन करने में योगभक्तिसम्बन्धी कायोत्सर्ग करती हैं। रात्रियोग का मतलब यह है कि 'मैं आज रात्रि में इस वसतिका में ही निवास करूंगा' क्योंकि साधुजन रात्रि में यत्र तत्र विचरण नहीं कर सकते हैं। मलमूत्रादि विसर्जन के लिये भी दिन में जगह देख लेते हैं जो कि वसतिका से अति दूर नहीं है, वहीं पर जाते हैं।

अनंतर आर्यिकायें सूर्यास्त काल में अपराह्निक सामायिक शुरू करती हैं। सामायिक के बाद पुनः पूर्वरात्रिक स्वाध्याय करना होता है। जो शिष्यायें अध्ययन करने वाली हैं वे अपना पाठ याद करती हैं। बाद में णमोकार मंत्र का स्मरण करते हुये चटाई पाटा आदि पर सोती हैं। आर्यिका अकेली शयन नहीं कर सकती हैं चूंकि लोकापवाद का भय रहता है। दो चार आदि आर्यिकायें एक कमरे में सोती हैं। दिन में भी मिलकर ही रहती हैं। संक्षिप्त में यह दिगम्बर जैन संप्रदाय वाली आर्यिकाओं की चर्या है।

जो आर्यिकायें विदुषी होती हैं वे प्रातः या मध्याह्न में अपने स्वाध्याय से समय निकालकर श्रावक श्राविकाओं की सभा में धर्मोपदेश भी देती हैं।

आर्यिकाओं के लिये कर्तव्य-अकर्तव्य—

आर्यिकायें गुरु की वंदना को अकेली नहीं जा सकती हैं। गणिनी के साथ अथवा दो चार मिलकर ही जाती हैं। अकेले बैठकर दिगम्बर मुनियों से चर्चा वार्तालाप आदि नहीं कर सकती हैं। मुनियों की सेवा, वैयावृत्ति आदि भी नहीं कर सकती हैं। गीत गाना, रोना, बुहारी देना, वस्त्र सीना, आदि कोई भी कार्य नहीं कर सकती हैं। गृहस्थों के बच्चों को लाड़-प्यार नहीं करती हैं। गृहस्थ महिलाओं से गृहस्थ के विवाह, व्यापार, रसोई, खान-पान आदि सम्बन्धी चर्चा भी नहीं करती हैं। प्रत्युत इन्हें धर्म की, वैराग्य की शिक्षा देती हैं। नाटक, उपन्यास, श्रृंगार सम्बन्धी पुस्तकें नहीं पढ़ती हैं। राजनैतिक चर्चाओं में भाग नहीं लेती हैं। केवल परलोक सिद्धि के लिए धर्माराधन में तत्पर रहती हैं, लौकिक प्रपंच आदि में नहीं पड़ती हैं। आपस में ईर्ष्या, द्वेष, कलह से दूर रहती हैं। एक दूसरे की अनुकूलता रखते हुये पठन-पाठन में अपना समय व्यतीत करती हैं। आर्यिकाएं कुछ भी आरंभ नहीं करती हैं जैसे पानी गरम करना, छानना, लाना, भरना आदि। गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों का त्याग रहता है। बीमारी में भी अपने हाथ से औषधि नहीं बनाती हैं। श्रावक-श्राविकायें शुद्ध काष्ठादि प्रासुक औषधि तैयार करके आहार के समय ही आहार में दे देते हैं अथवा लगाने के लिए शुद्ध तेल, घी आदि का प्रयोग कर लेती हैं।

श्रावक इनके कमंडलु में गरम जल भर देते हैं। वे अपनी साड़ी को एक कमंडलु के जल

से धो सकती हैं। बिना गरम किया हुआ कच्चा जल हाथ से नहीं छूती हैं। या तो श्राविकायें छने जल से इनकी साड़ी धोकर सुखा देती हैं। आर्यिकाएं साबुन आदि वस्तुओं का भी प्रयोग नहीं कर सकती हैं। वे आहार के लिए मन वचन काय से कुछ भी नहीं कहती हैं। श्रावकों के यहाँ जैसा मिला वैसा दोषों से रहित प्रासुक आहार होना चाहिए; नीरस हो या सरस, उन्हीं के द्वारा दिया गया आहार अपने हाथों की अंजुली में ग्रहण करती हैं। वे मुनि के समान दो, तीन या चार महीने में केशलोंच करती हैं। मुनियों की वसतिका में आर्यिकाओं का रहना, लेटना, बैठना, स्वाध्याय करना आदि वर्जित है।

मासिक धर्म की अवस्था में आर्यिकायें तीन दिन तक मौन से रहती हैं। जिन मन्दिर से अलग वसतिका में रहती हैं। किसी को भी स्पर्श नहीं करती हैं, न कोई पुस्तक आदि ही छू सकती हैं। मौनपूर्वक केवल मन में णमोकार मंत्र और बारह भावनाओं का चिंतवन करती हैं। षट् आवश्यक क्रियायें, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि भी केवल मन में चिंतवन रूप से करती हैं। ओष्ठ, जिह्वा आदि न हिलने पाये ऐसा मंत्र स्तोत्रादि का चिंतवन भी चलता है।

यदि उपवास करने की शक्ति है तो तीन दिन उपवास अन्यथा एक या दो उपवास कर लेती हैं। शक्ति न होने से तीनों दिन छहों रस[1] रहित नीरस आहार[2] कर लेती हैं। जो श्राविकायें आहार कराती हैं वे इनका स्पर्श नहीं करती हैं। तीन दिन के बाद श्राविकायें इन्हें गरम जल से स्नान करा देती हैं तब आर्यिका गणिनी के पास आकर यदि आचार्य संघ में हैं तो गणिनी के साथ आचार्य के पास जाती हैं, गणिनी आचार्य द्वारा इन्हें प्रायश्चित्त दिला देती हैं अथवा आचार्य के न होने पर गणिनी ही प्रायश्चित्त देती हैं।

चतुर्विध संघ—

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनके समूह को चतुर्विध संघ कहते हैं। संघ के जो नायक होते हैं, जिन्हें गुरु ने विधिवत् आचार्यपद प्रदान किया है ऐसे वे आचार्य कहलाते हैं। जिस संघ में आर्यिकायें, क्षुल्लिकायें, ब्रह्मचारिणी, श्राविकायें आदि रहती हैं उस संघ के आचार्य चिरकाल से दीक्षित, प्रौढ़, गम्भीर, दूरदर्शी, जितेन्द्रिय, सर्वशास्त्र में निपुण आदि गुणों से सहित होना चाहिये। इन गुणों से शून्य नवदीक्षित व छोटी उम्र वाले साधु यदि आर्यिकाओं का नेतृत्व करते हैं तो वे आगम के विरुद्ध है क्योंकि वे निंदा के भाजन बन सकते हैं[3]।

---

१. घी, मीठा, नमक, दूध, दही और तेल ये छह रस माने गये हैं।

२. ऋतौ स्नात्वा तु तुर्येन्हि शुद्धंत्यरसभुक्तयः। कृत्वा त्रिरात्रमेकांतरं वा सज्जपसंयुताः।।६०।। (आचारसार)

३. गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्प कोदुहल्लो य। चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ।।६८।।
एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करेदि अज्जाणं । चत्तारि कालगा से गच्छदि विराहणा होज्ज ।।६४।। (मूला. कुन्द कुन्दकृत)

आर्यिका संघ—

आर्यिकाओं का संघ अलग भी होता है। इसमें प्रमुख गणिनी आर्यिका के अनुशासन में सभी आर्यिकायें रहती हैं। क्षुल्लिकायें, श्राविकायें, अध्ययनशील बालिकायें आदि भी रहती हैं।

आर्यिकायें और क्षुल्लिकायें[1] पैदल ही विहार करती हैं। दिन में सामायिक के समय को छोड़कर प्रासुक मार्ग से चार हाथ आगे जमीन देखते हुए चलती हैं। आर्यिका हरी घास पर नहीं चलती हैं। यदि कदाचित् पानी में चलना पड़े तो घुटने तक पानी में से चल कर पुनः प्रासुक जल से पैर धोकर कायोत्सर्ग करती हैं। इससे अधिक जल में चलने से गुरु से प्रायश्चित लेना होता है। अस्वस्थ अवस्था में कदाचित् डोली में बैठने से भी प्रायश्चित लेना होता है।

संघ के विहार की व्यवस्था भी श्रावक करते हैं। आर्यिकायें विहार में अपने हाथ में पिच्छी, कमंडलु मात्र ही रखती हैं। कदाचित् कमंडलु को कोई श्रावक या श्राविकायें भी लेकर इनके साथ चलते हैं। बाकी शास्त्र, चटाई आदि सामान श्रावक अपने वाहन आदि व्यवस्था से अगले स्थान तक पहुंचाते हैं। उन्हें वे साथ में या हाथ में लेकर नहीं चलती हैं। जहां श्रावकों के घर होते हैं, वहां वे विधिवत् आहार देते हैं अन्यथा मार्ग में अन्य नगरों के श्रावक आकर आहार की व्यवस्था बनाकर आहार देते हैं। ये भिक्षा से माँगकर या लाकर आहार नहीं करती हैं।

आहार विधि—

श्रावक श्राविकायें दान की सद्भावना पूर्वक अपने लिये भोजन बनाते हैं। उसमें हाथ का पिसा हुआ आटा, मसाला आदि रहता है। कुयें, बावड़ी आदि का शुद्ध जल रहता है। शुद्ध दूध, शुद्ध घी आदि मर्यादित वस्तुयें रहती हैं। भोजन तैयार करने के बाद दंपत्ति या कोई भी दातार अपने दरवाजे पर श्रीफल आदि लेकर खड़े हो जाते हैं। जब ये आर्यिकायें जिन मंदिर से दर्शन करके आहारार्थ निकलती हैं उस समय वे श्रावक जन पड़गाहन करते हैं-

हे माताजी! वंदामि-३ अत्र तिष्ठ तिष्ठ। जब वे एक दो आदि आर्यिकायें वहां खड़ी हो जाती हैं तब वे दातार उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर घर में ले जाते हैं। चौके में स्वच्छ पाटे पर उन्हें बैठने के लिये प्रार्थना करते हैं। गरम जल से उनके चरण धोकर गंधोदक मस्तक पर चढ़ाते हैं। अष्टद्रव्य से पूजा करके नमस्कार करते हैं पुनः महिलायें थाली में सभी भोजन परोस कर सामने लाकर दिखलाती हैं। आर्यिकाश्री का जो भी त्याग होता है उसे वे निकलवा देती हैं। तब दातार मनशुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि और आहार जल शुद्ध है, भोजन ग्रहण कीजिये ऐसा कहते हैं।

---

१. क्षुल्लिकाएं कदाचित् विशेष अस्वस्थता वश या धर्मप्रभावना हेतु कार आदि वाहन में बैठ सकती हैं।

इस प्रकार नवधा[1] भक्ति होने के बाद वे दातार उनके हाथ धुलाते हैं। हाथ धोने के बाद वे सिद्ध भक्ति पूर्वक प्रत्याख्यान निष्ठापन क्रिया करके अपने हाथों की अंजुली बनाकर आहार शुरू करती हैं। जल, दूध, रोटी, भात आदि जो कुछ भी लेना है अथवा किसी रोग के निमित्त से औषधि आदि लेना है वे सब कुछ उसी समय में ले सकती हैं पुनः हाथ प्रक्षालन कर सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेती हैं और कमंडलु में गरम जल भराकर वहां से आ जाती हैं। साथ में कोई श्रावक श्राविका आदि उनके स्थान तक पहुंचाने के लिये उनके साथ आते हैं। वे आर्यिका गुरु के पास पुनः प्रत्याख्यान—अगले दिन आहार ग्रहण तक चतुराहार का त्याग कर देती हैं और पुनः अपनी वसतिका में पहुंच जाती हैं। यदि अगले दिन उपवास करना हुआ तो गणिनी की आज्ञा लेकर गुरु से उपवास ग्रहण कर लेती हैं अथवा आचार्य के न रहने पर गणिनी से ही उपवास या प्रत्याख्यान आदि लेती हैं।

आहार के छ्यालीस दोष

उद्गम दोष, उत्पादन दोष, एषणा दोष, संयोजनादोष, प्रमाणदोष, इंगालदोष, धूमदोष और कारणदोष इन आठ दोषों से रहित आहार शुद्धि होती है। दातार के निमित्त से हुये दोष उद्गमदोष हैं। साधु के द्वारा आहार में हुये दोष उत्पादन संज्ञक हैं। आहार सम्बन्धी दोष एषणादोष हैं। संयोग से होने वाला दोष संयोजनादोष है। प्रमाण से अधिक आहार लेना प्रमाणदोष है। लंपटता से आहार लेना इंगालदोष है। निंदा करके आहार लेना धूमदोष है और विरुद्ध कारणों से बना हुआ आहार लेना कारण दोष है।

इनमें से उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १० तथा संयोजना, प्रमाण, इंगाल और धूम ये ४६ दोष होते हैं।

इन सबसे अतिरिक्त एक अधः कर्म दोष है जो महादोष कहलाता है। इसमें कूटना, पीसना, रसोई करना, पानी भरना और बुहारी देना ऐसा पंचसूना नाम के आरम्भ से षट्कायिक जीवों की विराधना होने से यह दोष गृहस्थाश्रित हैं। इसको करने वाले साधु या साध्वी उस साधु पद में नहीं माने जाते हैं।

उद्गम के १६ भेद—

१. औद्देशिक—साधु, पाखंडी आदि के निमित्त से बना हुआ आहार लेना उद्देश दोष है।

२. अध्यधि—आहारार्थ साधु-साध्वी को आते हुये देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला देना।

३. पूतिदोष—प्रासुक तथा अप्रासुक को मिश्र कर देना।

---

१. पड़गाहन करना, उच्च स्थान देना, चरण धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मन, वचन, काय और आहार इन चारों की शुद्धि कहना यह नवधा भक्ति है।

४. मिश्रदोष—असंयतों के साथ साधु या साध्वी को आहार देना।

५. स्थापित—अपने घर में या अन्यत्र स्थापित किया हुआ भोजन देना।

६. बलिदोष—यक्ष देवता आदि के लिये बने हुये में से अवशिष्ट को देना।

७. प्रावर्तित—काल की हानि वृद्धि करके देना।

८. प्राविष्करण—आहारार्थ आने पर खिड़की आदि खोलना या बर्तन आदि मांजना।

९. क्रीत—उसी समय वस्तु खरीद कर लाकर देना ।

१०. प्रामृष्य—ऋण लेकर आहार बनाना ।

११. परिवर्त—शालि आदि देकर बदले में अन्य धान्य लेकर आहार बनाना ।

१२. अभिघट—अन्य स्थान से अन्नादि लाकर मुनि या आर्यिका को देना।

१३. उद्भिन्न—भाजन के ऊपर को खोलकर अर्थात सील, मुहर, चपड़ी आदि हटाकर वस्तु निकाल कर देना।

१४. मालारोहण—निसैनी से चढ़कर वस्तु लाकर देना।

१५. आछेद्य—राजा आदि के भय से आहार देना ।

१६. अनीशाथ—अप्रधान दातारों से दिया हुआ आहार देना। ये सोलह दोष श्रावक के आश्रित होते हैं। ज्ञात होने पर मुनि और आर्यिका ऐसे आहार को नहीं लेते हैं।

उत्पादन दोष के १६ भेद —

१. धात्री दोष—धाय के समान बालकों को भूषित करना, खिलाना, पिलाना आदि करना जिससे दातार प्रसन्न होकर अच्छा आहार दे देवें, यह मुनि और आर्यिका के लिये धात्री दोष है।

२. दूत दोष—दूत के समान इधर का समाचार अन्य ग्राम आदि में पहुँचाना ।

३. निमित्त दोष—स्वर, व्यंजन, आदि निमित्तज्ञान से श्रावकों को हानि लाभ बताकर खुश करके आहार लेना।

४. आजीव दोष—अपनी जाति, कुल आदि सुनाकर दातार को खुश करके आहार लेना।

५. वनीपक दोष—किसी ने पूछा कि पशु, पक्षी, दीन, ब्राह्मण आदि को भोजन देने से पुण्य है क्या? हाँ है, ऐसा दातार के अनुकूल वचन बोलकर जैन मुनि आहार लेवें तो यह दोष है।

६. चिकित्सा—औषधि[1] आदि बताकर दातार को खुश कर आहार लेना।

७. क्रोध दोष—क्रोध करके आहार ग्रहण करना ।

---

१. औषधि आदि बताना दोष नहीं है किन्तु यदि यह श्रावक इस औषधि से मेरे पर प्रसन्न होकर अच्छा आहार देगा ऐसा सोचकर बताकर आहार ग्रहण करें तो दोष है।

८. मान दोष—मान करके आहार उत्पादन कराकर लेना।
९. माया दोष—कुटिल भाव से आहार उत्पादन करा कर लेना।
१०. लोभ दोष—लोभाकांक्षा दिखाकर आहार लेना।
११. पूर्व संस्तुति—दातार की प्रशंसा करके आहार उत्पादन कराकर लेना।
१२. पश्चात् संस्तुति—आहार के बाद दातार की प्रशंसा करना।
१३. विद्या दोष—दातार को विद्या का प्रलोभन देकर आहार लेना।
१४. मंत्र दोष—मंत्र[1] का माहात्म्य दिखाकर आहार ग्रहण करना।
१५. चूर्ण दोष—सुगंधि चूर्ण आदि के प्रयोग बताकर आहार लेना।
१६. मूलकर्म—अवश को वश करने आदि के उपाय बताकर आहार लेना।

ये सभी दोष मुनि और आर्यिकाओं के आश्रित होते हैं इसलिये ये उत्पादन दोष कहलाते हैं। इन दोषों से भी आर्यिकायें अपने को बचाती हैं।

एषणा सम्बन्धी १० दोष—

१. शंकित—यह आहार अधःकर्म से उत्पन्न हुआ है क्या? अथवा भक्ष्य है या अभक्ष्य? इत्यादि शंका करके आहार लेना।
२. म्रक्षित—घी, तेल आदि के चिकने हाथ से या ऐसे पात्रादि से दिया हुआ आहार लेना।
३. निक्षिप्त—सचित पृथ्वी जल से सम्बन्धित आहार लेना।
४. पिहित—प्रासुक या अप्रासुक ऐसे बड़े से ढकने आदि को हटाकर दिया हुआ आहार लेना।
५. संव्यवहरण—जल्दी से वस्त्र, पात्रादि को खींचकर बिना विचारे बिना सावधानी के दिया आहार लेना।
६. दायक दोष—आहार दान के अयोग्य, मद्यपायी, नपुंसक, पिशाचग्रस्त, सूतक-पातक आदि से सहित दातारों से आहार लेना।
७. उन्मिश्र दोष—अप्रासुक वस्तु संमिश्रित आहार लेना।
८. अपरिणत—अग्न्यादि से अपक्व आहार पान आदि को लेना।
९. लिप्त दोष—पानी या गीले गेरू आदि से लिप्त ऐसे हाथ से दिया हुआ आहार लेना।
१०. छोटित—हाथ की अंजुलि से बहुत सा नीचे गिराते हुये आहार लेना।

ये दस दोष साधु और आर्यिकाओं के लिये भोजन से सम्बन्धित हैं, इनसे अपने को बचाना चाहिये।

१. संयोजना दोष—आहारादि के पदार्थों का मिश्रण कर देना, ठंडे जलादि में उष्ण भात आदि मिला देना, अन्य भी प्रकृतिविरुद्ध वस्तु का मिश्रण करना।

---

१. यहां पर मंत्र बता देना दोष नहीं है प्रत्युत आहार के स्वार्थ से बताना दोष है।

२. अप्रमाण दोष—उदर के दो भाग रोटी आदि से पूर्ण करें, एक भाग रस, पानी आदि से भरे तथा एक भाग खाली रखें। यह आहार प्रमाणरूप है, इससे अधिक आहार लेने से अप्रमाण दोष आता है।

३. अंगार दोष—भोजन की लंपटता से आहार लेना।

४. धूमदोष—भोज्य वस्तु आदि की मन में निंदा करते हुये आहार लेना।

इस प्रकार से उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १० और संयोजना आदि सब मिलाकर ४६ दोष होते हैं।

जो पहले आठ दोषों में एक कारण दोष था वह इनसे अलग है। अब उसको बताते हैं-

छह कारणों से साधु आहार छोड़ते हैं। आकस्मिक व्याधि के आ जाने से, भयंकर उपसर्ग के आ जाने से, ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा हेतु, जीव दया हेतु, अनशन आदि तप के लिये और सन्यास काल के उपस्थित होने पर मुनि तथा आर्यिकायें आहार को छोड़ देते हैं अर्थात् उपवास करते हैं।

तथा छह कारणों से आहार ग्रहण करते हैं —क्षुधा की वेदना मिटाने के लिये, अन्य साधुओं की वैयावृत्ति के लिये, सामायिक आदि क्रियाओं के लिये, संयम की रक्षा के लिये, प्राणों की चिंता के लिये और धर्म के चिंतन के लिये वे आहार ग्रहण करते हैं। इन कारणों से अतिरिक्त निष्कारण आहार लेना कारणदोष है।

आर्यिकायें बल, आयु और स्वाद के लिये, शरीर की पुष्टि के लिये या शरीर के तेज के लिये आहार नहीं लेती हैं प्रत्युत् ज्ञान, संयम और ध्यान के लिये आहार ग्रहण करती हैं।

आहार काल में सिद्ध भक्ति के अनंतर ३२ अंतराय और १४ मल दोष होते हैं। उनका भी त्याग कर देती हैं।

आहार में नख, बाल, हड्डी, मांस, पीप, रक्त, चर्म, द्वीन्द्रिय आदि जीवों (चिंवटी आदि) के शरीर, कण[1], कुंड[2], बीज, कंद, मूल और फल आदि ये आहार में निकल आवें तो आहार छोड़ देती हैं। नख, बालादि के आने पर आहार छोड़कर गुरु से प्रायश्चित भी लेना होता है। कण—धान्य के बाहर का छिलका आदि एवं बीज आदि को कदाचित् निकाल कर भी आहार ले सकते हैं। यदि न निकाल सके तो अंतराय कर देती हैं।

आहार के ३२ अंतराय

१. काकादि—आहार को जाते समय या आहार लेते समय कौवा आदि वीट कर देवे, तो काक नाम का अंतराय है।

२. अमेध्याँतराय—अपवित्र विष्टा आदि से पैर लिप्त हो जावे।

---

१. गेहूँ आदि धान्यों के बाहर का छिलका। २. शालि आदि के अभ्यंतर का सूक्ष्म अवयव।

३. छर्दि—वमन हो जावे।

४. रोधन—आहार के जाते समय कोई रोक देवे।

५. रक्तस्राव—अपने शरीर से या अन्य किसी के शरीर से चार अंगुल पर्यंत रुधिर बहता हुआ देखें।

६. अश्रुपात—दुःख से अपने या पर के अश्रुपात होने पर आहार छोड़ देवें।

७. जान्वधः परामर्श—आहार करते समय घुटने से नीचे यदि हाथ से स्पर्श हो जावे।

८. जानुपरि व्यतिक्रम—घुटने के ऊपर का स्पर्श हो जावे।

९. नाभ्यधो निर्गमन—जहां पर नाभि से नीचे मस्तक करके आहारार्थ जाना पड़े।

१०. प्रत्याख्यात सेवा—जिस वस्तु का देव या गुरू की साक्षी से त्याग किया उस वस्तु को खा लेने से अंतराय होता है।

११. जन्तुवध—अपने सामने बिल्ली आदि द्वारा चूहा आदि का वध हो जाने पर।

१२. काकादिपिंडहरण—कौवे आदि द्वारा हाथ से ग्रास का हरण होना।

१३. ग्रासपतन—आहार करते समय हाथ से ग्रास गिर जाना।

१४. पाणी जन्तुवध—हाथ में कोई मच्छर मक्खी आदि के मर जाने पर ।

१५. मांसादिदर्शन—मांस, मद्य या मरे हुये पंचेन्द्रिय के कलेवर को देख लेने पर।

१६. पादांतर जीव—आहार लेते समय पैर के नीचे से चूहा आदि पंचेंद्रिय जीवों के निकल जाने पर।

१७. देवाद्युपसर्ग—देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि के द्वारा आहार लेते समय उपद्रव होने पर।

१८. भाजन संपात—परोसने या देने वाले के हाथ से पात्र के गिर जाने पर ।

१९. उच्चार—आहार के समय मल विसर्जित हो जाने पर ।

२०. प्रस्रवण—मूत्र आदि के हो जाने पर ।

२१. अभोज्य गृहप्रवेश—आहार के समय चांडालादि के घर में प्रवेश हो जाने पर।

२२. पतन—भ्रम, थकावट, मूर्च्छा आदि से गिर जाने पर ।

२३. उपवेशन—आहार करते हुये बैठ जाने पर।

२४. सदंश—कुत्ते, बिल्ली आदि के काट लेने पर।

२५. भूमि स्पर्श—सिद्ध भक्ति के बाद हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाने पर।

२६. निष्ठीवन—कफ, थूक आदि करने पर ।

२७. वस्तु ग्रहण—हाथ से कुछ वस्तु के ग्रहण करने पर ।

२८. उदरकृमिनिर्गमन—पेट से कृमि आदि के निकलने पर ।

२९. अदत्त ग्रहण—नहीं दी गई वस्तु को ग्रहण कर लेने पर ।

३०. प्रहार—अपने ऊपर अथवा पर के ऊपर प्रहार हो जाने पर।

३१. ग्रामदाह—ग्राम आदि में आग लग जाने पर।

३२. पादेन किंचिद्ग्रहण—पाद से कुछ भी वस्तु भूमि से उठाकर ग्रहण कर लेने पर अंतराय होता है।

ऐसे ये ३२ अंतराय होते हैं। इसी प्रकार से चांडालादि स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक संन्यास पतन, प्रधान मरण आदि प्रसंगों से अंतराय होता है। आहार करते हुये इन प्रसंगों से आहार को छोड़कर मुख शुद्धि कर वापस आ जाना इसी का नाम अंतराय है। इस प्रकार से आर्यिकायें इन सभी दोषों से रहित शुद्ध, पवित्र, प्रासुक आहार ग्रहण करती हैं।

आर्यिकाओं की आहारचर्या को गोचरी या भ्रामरीवृत्ति कहते हैं। जैसे गौ घास देने वाले के सुन्दर, असुन्दर या वस्त्रालंकार आदि को न देखकर मात्र घास की तरफ दृष्टि देती है वैसे ही आर्यिकायें श्रावक आदि पर या उनके द्वारा प्रदत्त सरस-नीरस आदि भोजन पर ध्यान न देकर अपना आहार करती हैं। जैसे भ्रमर फूलों को कष्ट दिये बिना ही उनका रस ग्रहण करते हैं वैसे ही साध्वी दातारों को कष्ट दिये बिना ही अपने योग्य आहार ग्रहण करती हैं।

आवश्यक क्रिया—

जो पापों के आधीन नहीं है वह अवश है। उसकी जो क्रियायें हैं वे आवश्यक कहलाती हैं। वे छह हैं—सामायिक, स्तुति, वंदना[1], प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

सामायिक—संपूर्ण इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं में राग-द्वेष का परिहार होना सामायिक है। समता भावरूप सामायिक अनियत काल है अर्थात् जीवनपर्यंत के लिये है और त्रिकाल[2] देववंदना करने रूप सामायिक नियतकालरूप है।

पूर्वान्ह, मध्यान्ह और सायंकाल जिन मंदिर में जाकर या अपनी वसतिका में ही पूर्व दिशा की तरफ या उत्तर दिशा की तरफ मुख करके पर्यंकासन या सुखासन से बैठकर सामायिक करती हैं।

इस सामायिक को देववंदना भी कहते हैं। इसके छह कृतिकर्म हैं—'आदाहीणं, पदाहीणं, तिक्खुत्तं, तिऊणदं, चदुस्सिरं, वारसावत्तं, चेदि।'

(१) वंदना करने वाले की स्वाधीनता (२) तीन प्रदक्षिणा (३) तीन भक्ति संबंधी तीन कायोत्सर्ग (४) तीन निषद्या—(क) ईर्यापथ कायोत्सर्ग के अनंतर बैठकर आलोचना करना और चैत्य भक्ति संबंधी क्रिया विज्ञापन करना (ख) चैत्यभक्ति के अंत में बैठकर आलोचना करना और पंच गुरु सम्बन्धी क्रिया विज्ञापन करना (ग) पंचगुरु भक्ति के अंत में बैठकर आलोचना करना, (५) चार शिरोनति, (६) बारह

---

१. 'जयति भगवानित्यादि, पंचगुरू भक्ति पर्यंता' (मूला.पृ.४०१)

२. त्रिकाल देववंदना करणं च तत्सामायिकंव्रतं भवति'(मूला. पृ० ३९)

आवर्त। यह सब सामायिक विधि में करना होता है।

वंदना योग्य मुद्रा-

मुद्रा के चार भेद हैं—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वंदनामुद्रा, मुक्ताशुक्ति मुद्रा। इन चार मुद्राओं का लक्षण क्रम से कहते हैं।

१. जिनमुद्रा—दोनों पैरों के बीच में चार अंगुल प्रमाण अंतर रखकर और दोनों भुजाओं को नीचे लटका कर कायोत्सर्ग रूप से खड़े होना जिनमुद्रा है।

२. योगमुद्रा—पद्मासन, पर्यंकासन और वीरासन इन तीनों आसनों की गोद में नाभि के समीप दोनों हाथों की हथेलियों को चित्त रखने को जिनेन्द्रदेव योगमुद्रा कहते हैं।

३. वंदनामुद्रा—दोनों हाथों को मुकुलित कर और उनकी कुहनियों को उदर पर रख कर खड़े हुए पुरुष के वंदनामुद्रा होती है।

४. मुक्ताशुक्ति मुद्रा—दोनों हाथों की उंगलियों को मिलाकर और दोनों कुहनियों को उदर पर रखकर खड़े हुए आचार्य के मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है।

मुद्राओं का प्रयोग निर्णय—

'जयति भगवान्' आदि चैत्यभक्ति एवं पंचगुरुभक्ति पढ़ते समय वंदनामुद्रा का प्रयोग होता है। 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि सामायिक दंडक और 'थोस्सामि' इत्यादि चतुर्विंशतिस्तव के समय मुक्ताशुक्तिमुद्रा का प्रयोग होता है। बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा का तथा खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्रा का प्रयोग किया जाता है।

एक कायोत्सर्ग को करते समय १२ आवर्त, ४ शिरोनति एवं २ प्रणाम होते हैं उसका खुलासा इस प्रकार है। जैसे—

अथ पौर्वाण्हिक देववंदनायां .... चैत्यभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं। ऐसी प्रतिज्ञा करके पंचांग प्रणाम करें अनंतर "णमो अरिहंताणं" आदि सामायिक दंडक को पढ़ते समय प्रारंभ में ३ आवर्त १ शिरोनति एवं दंडक की पूर्ति में भी ३ आवर्त १ शिरोनति करके कायोत्सर्ग करें, पुनः पंचांग नमस्कार करके ३ आवर्त १ शिरोनति करके 'थोस्सामि' इत्यादि चतुर्विंशतिस्तव को पढ़ें पुनः इस स्तव की पूर्ति में भी ३ आवर्त १ शिरोनति करें। अनंतर वंदनामुद्रा के द्वारा चैत्यभक्ति या पंचगुरुभक्ति आदि का पाठ करें। इस प्रकार से सामायिक दण्डक की आदि और अंत में तथा चतुर्विंशतिस्तव की आदि और अंत में तीन-तीन आवर्त होने से बारह आवर्त हो जाते हैं तथा एक-एक शिरोनति होने से चार शिरोनति हो जाती हैं। कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा के बाद एवं कायोत्सर्ग के बाद पंचांग नमस्कार करने से २ प्रणाम हो जाते हैं। इस प्रकार से किसी भी भक्ति का पाठ करने के पहले कायोत्सर्ग की

प्रतिज्ञा करने पर यही विधि सर्वत्र होती है।

इस प्रकार सामायिक विधि में चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति पढ़ने का विधान मुनियों के आचारशास्त्र, अनगार धर्मामृत, चारित्र सार, धवला के वेदना खंड आदि ग्रंथों में लिखा है तथैव श्रावकों के लिए इसी तरह षट्प्राभृत, भावसंग्रह, वसुनन्दि श्रावकाचार आदि ग्रंथों में भी लिखा है अतः यही विधि प्रामाणिक है।

देववंदना के लिए श्री जिनमंदिर को जावें, वहां उचित स्थान में दोनों हाथों और दोनों पैरों को धोवें। उसके बाद "निःसहि निःसहि-निःसहि" ऐसा तीन बार उच्चारण कर चैत्यालय में प्रवेश करें वहां जिनेन्द्र देव के मुख का अवलोकन कर तीन बार प्रणाम करें। अनन्तर "दृष्टं जिनेंद्र भवनं भवतापहारी" इत्यादि दर्शन स्तोत्र को वंदनामुद्रा से हाथ जोड़कर पढ़ते हुए चैत्यालय की तीन प्रदक्षिणा देवें। प्रत्येक दिशा में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करते जावें।

बाद में यदि बैठकर सामायिक करना है तो बैठकर अथवा खड़े होकर सामायिक करना है तो खड़े होकर ईर्यापथशुद्धि पाठ से सामायिक शुरू करें।

'पडिक्कमामि भंत्ते इरियावहियाए' इत्यादि से लेकर समाधिभक्ति करने में लगभग आधा घंटा लग सकता है पुनः यथावकाश आत्मा का ध्यान करें या पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान का अभ्यास करें अथवा महामंत्र या सिद्धचक्र आदि मंत्र का जाप्य करें अथवा द्वादशानुप्रेक्षा आदि के द्वारा वैराग्यभावना का चिन्तवन करें।

सामायिक का काल उत्कृष्ट छः घड़ी (दो घंटे, चौबीस मिनट) है, मध्यम काल चार घड़ी (डेढ़ घंटे) और जघन्य काल दो घड़ी (४८ मिनट) होता है।

स्तुति आवश्यक-चतुर्विंशति तीर्थंकरों के नाम का स्तवन करना, उनकी प्रतिमाओं की स्तुति करना, उनके शरीर के वर्ण, ऊंचाई आदि के वर्णन से स्तुति करना, उनके पंचकल्याणक क्षेत्रों की स्तुति करना, उनके गर्भ, जन्म आदि दिनों की स्तुति करना तथा उनके मंगलमयी गुणों की स्तुति करना आदि स्तुति क्रिया है। सीमंधर आदि तीर्थंकरों की अथवा त्रैकालिक तीस चौबीसी आदि की स्तुति करना। इसमें यह 'थोस्सामि हं जिणवरे' रूप से चौबीस तीर्थंकर सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं के प्रयोग में आ जाती है पृथक से भी कर सकते हैं।

वंदना आवश्यक—एक तीर्थंकर की या किन्हीं एक गुरु आदि की वंदना करना वंदना क्रिया है। 'जयति भगवान् हेमाम्भोज ..... इत्यादि उच्चारण करते हुए त्रिकाल में देववंदना करना। आचार्य, उपाध्याय और साधु की वंदना करना।

प्रातः सामायिक के अनंतर कृतिकर्मपूर्वक आचार्य की वंदना होती है, मध्यान्ह में भी सामायिक के अनंतर तथा सायं में प्रतिक्रमण के अनंतर आचार्य वंदना होती है। सामान्य आचार्य

को लघु सिद्धभक्ति, लघु आचार्यभक्ति पूर्वक नमस्कार होता है। श्रुतपारंगत आचार्य को लघु सिद्ध, श्रुत और आचार्यभक्ति पूर्वक होता है। सामान्य मुनि की वंदना में लघु सिद्धभक्ति और श्रुतपारंगत मुनि की वंदना में लघु सिद्ध और लघु श्रुतभक्ति की जाती है। इसके अतिरिक्त आहार आदि के लिए जाते समय, वापस आने पर, स्वाध्याय आदि के प्रारंभ और समाप्ति में, प्रतिक्रमण-सामायिक आदि के प्रारंभ में और अंत में इत्यादि समयों में आचार्यादि की वंदना की जाती है अर्थात् संपूर्ण क्रियाओं की आदि और अंत में गुरुवंदना की जाती है।

सामान्य साधु जब आचार्य को या अपने से बड़े मुनियों को नमोस्तु कहकर विधिवत वंदना करते हैं तब वे बदले में उन्हें भी नमोस्तु कहकर प्रतिवंदना करते हैं। आर्यिकायें जब आचार्य आदि को विधिवत् नमोस्तु करती हैं तो वे उन्हें 'समाधिरस्तु' ऐसा आशीर्वाद प्रदान करते हैं। ऐसे ही ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं को और व्रतिकों के द्वारा भी नमोस्तु करने पर ये साधु समाधिरस्तु आशीर्वाद देते हैं।

"आर्यिकायें पांच हाथ की दूरी से आचार्य को, छह हाथ की दूरी से उपाध्याय को एवं सात हाथ की दूरी से साधु को नमस्कार करती हैं[1]।" सामान्य आर्यिकायें गणिनी को आगे करके अथवा दो-तीन आदि मिलकर ही गुरुओं की वंदना को जाती हैं। मुनिजन तथा आर्यिकायें भी देववंदना या गुरुवंदना में गवासन से ही बैठकर वन्दना करते हैं।

आर्यिकायें गणिनी को और अपने से दीक्षा में बड़ी को 'वंदामि' कहकर गवासन से बैठकर मुकुलितकर से पिच्छिका लेकर हाथ जोड़कर भूमि में मस्तक को लगाकर नमस्कार करती हैं तब वे गणिनी तथा अन्य बड़ी आर्यिकायें उन्हें भी वापस 'वंदामि' बोलकर प्रतिवंदना करती हैं। जिन-जिन स्थानों पर आचार्य की वंदना का कथन है उन्हीं-उन्हीं प्रसंगों में आर्यिकायें भी अपनी गणिनी की वन्दना करती हैं। यदि क्षुल्लिकायें आर्यिकाओं को 'वंदामि' करती हैं, या ब्रह्मचारिणी अथवा व्रतिक महिलायें वंदामि करके नमस्कार करती हैं तो ये आर्यिकायें उन्हें समाधिरस्तु या बोधिलाभोऽस्तु आशीर्वाद देती हैं। सामान्य श्रावक या श्राविकाओं को नमस्कार करने के बाद आर्यिकायें उन्हें 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' आशीर्वाद देती हैं। अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा वंदित होने पर ये 'धर्मलाभोऽस्तु' आशीर्वाद देती हैं तथा पामर चांडाल आदि द्वारा वंदित होने पर साध्वियां उन्हें 'पापंक्षयोऽस्तु[2]' ऐसा आशीर्वाद देती हैं। कारण कि पाप कर्म के हल्के हुए बिना ये मांसाहारी, दुर्व्यसनी अथवा हीन-कर्मा लोग धर्म को कैसे ग्रहण करेंगे?

---

१. मूलाचार पृ. १६८

२. "धर्मवृद्धिः शुभं शांतिरस्त्वित्याशीरगारिणि पापक्षयोस्त्विति प्राज्ञैश्चांडालादिषु दीयताम्।। (आचारसार. पृ. ३८)

आर्यिकायें[1] अपने माता-पिता, शिक्षा गुरु आदि असंयतों की वंदना नहीं करती और न चारित्रहीन आर्यिका या मुनि को ही नमस्कार करती हैं। आहार, नीहार आदि करते हुए की भी वंदना नहीं करती हैं। राजा, तापसी अथवा विद्वान श्रावक-श्राविकाओं की भी वन्दना नहीं करती हैं।

प्रतिक्रमण—ऐर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ ऐसे प्रतिक्रमण के सात भेद हैं।

त्रिकाल देववंदना के प्रारम्भ में तथा मार्ग से आकर दोष विशोधन करने में ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण होता है। इसमें "पडिक्कमामि भंत्ते! इरियावहियाए" इत्यादि दण्डक पाठ बोलकर नव बार महामंत्र का जाप्य होता है।

रात्रि के अंत में अर्थात् पिछली रात्रि में रात्रिसम्बंधी दोषों की आलोचना के लिए सभी आर्यिकायें मिलकर गणिनी के पास बैठकर साथ में "जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषाः" आदि पाठ बोलते हुए जो प्रतिक्रमण करती हैं इसमें सामान्यतया पौन घण्टा समय लगता है सो यह रात्रिक प्रतिक्रमण है।

ऐसे ही दिवस के अन्त में अर्थात् सायंकाल के पहले सभी आर्यिकायें आचार्य के सानिध्य में अथवा गणिनी के सानिध्य में बैठकर विधि से नमस्कार करके जो पूर्वोक्त प्रतिक्रमण करती हैं उसे दैवसिक प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रत्येक मास में पन्द्रह दिन के बाद चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पूर्णिमा को आचार्य के निकट अथवा उनके अभाव में गणिनी के निकट मिलकर पाक्षिक प्रतिक्रमण करती हैं उसमें पाक्षिक दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त भी लेती हैं। यदि आचार्य हैं तो वे प्रायश्चित देते हैं अथवा गणिनी प्रायश्चित देती हैं।

कार्तिक मास के अन्त में और फाल्गुन मास के अन्त में पाक्षिक प्रतिक्रमण के सदृश चातुर्मासिक प्रतिक्रमण होता है। उसमें भी प्रायश्यित्त ग्रहण करना होता है।

आषाढ़ मास के अन्त में चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन सभी साधुओं का या आर्यिकाओं का वार्षिक प्रतिक्रमण होता है। इसमें भी वर्ष भर के दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त होता है।

मरणकाल में सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करके जो यावज्जीवन चतुराहार का त्याग होता है वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

इनसे अतिरिक्त लोचप्रतिक्रमण, गोचरीप्रतिक्रमण, अतिचारप्रतिक्रमण आदि लघु प्रतिक्रमण होते हैं जो कि ईर्यापथ आदि में सम्मिलित हो जाते हैं।

---

१. 'णो वदेज्ज अविरदं मादा पिदु गुरुणरिंद अण्णतित्थं व। देसविरद देवं वा विरदो पासत्थ पणगं वा।।६५।। मूलाचार

पांच वर्ष के अन्त में जो गुरु के सानिध्य में प्रतिक्रमण होता है वह योगांतिक प्रतिक्रमण कहलाता है। ये प्रतिक्रमण किए हुए दोषों के निराकरण के लिए किये जाते हैं।

"आदिनाथ' देव और महावीर प्रभु ने 'अपराध हों चाहे न हों' शिष्यों को प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है किन्तु अजितनाथ आदि बाईस तीर्थंकरों ने अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण की आज्ञा दी है। प्रथम और अंतिम जिनेश्वर ने एक दोष होने पर भी सभी प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करना कहा है क्योंकि इनके समय के शिष्यों का चित्त चंचल होने से अंधघोटक न्याय से उन्हें सभी प्रतिक्रमण काल में करना ही चाहिए। जैसे दवाई विदित न होने से अंधे घोड़े की आंख में सभी दवाई डालने से जो आँख खुल जाने की थी उससे आँख खुल गई वैसे ही सभी दंडकों में से जिस किसी पर उपयोग स्थिर होने से दोषों का विनाश हो जाता है। मध्यम तीर्थंकरों के शासन के शिष्य दृढ़ बुद्धि वाले, स्मरण-शक्ति से सहित एकाग्रचित्त वाले होते हैं किन्तु आदि और अंतिम तीर्थंकर के शासन के शिष्य चंचल मन वाले, मोह से सहित ऋजु जड़मति वाले और वक्रजड़मति वाले होते हैं। यही कारण है कि उन्हें प्रतिक्रमण करना जरूरी ही है।

प्रत्याख्यान—भूतकाल के अतिचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण था और वर्तमान तथा भविष्यत् के अतिचारों को त्यागना प्रत्याख्यान है अथवा सचित्तादि या प्रासुक भी द्रव्यों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार त्याग, उपवास, बेला, तेला आदि के भेद से इसमें भेद हो जाते हैं। आहार के अनन्तर वहीं पर सिद्धभक्तिपूर्वक अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग कर देना पुनः गुरु के पास आकर गोचरी प्रतिक्रमण करके लघु सिद्धभक्ति, योगभक्ति पूर्वकगुरु से आहार त्याग ग्रहण करना व उनकी वंदना करना प्रत्याख्यान है। अथवा उपवास ग्रहण करना, सर्वतोभद्र, कनकावली, कर्मदहन, चारित्रशुद्धि आदि व्रतों के उपवास करना।

प्रसंगोपात्त आहार आदि का त्याग करना जैसे—इस जंगल से बाहर निकलने तक चतुराहार का त्याग है इस नदी के उलंघन करने तक उपवास है इत्यादि।

कायोत्सर्ग—काय का त्याग अर्थात् काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। खड़े होकर या बैठकर सर्वांग निश्चल कर पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए उपयोग को एकाग्र करना कायोत्सर्ग है। दोनों हाथ लटकाकर, चार अंगुल के अंतराल से पैर को रखकर ध्यान मुद्रा से खड़े होना, अथवा पद्मासन मुद्रा से हाथ की हथेली पर हथेली को रखकर पंच महामंत्र का स्मरण करना कायोत्सर्ग है।

---

१. सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमजिणस्स। अवराहे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं।।१५४।। (श्री कुंदकुंद देव)

णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

अर्थ—अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

एसो पंच णमोयारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

अर्थ—यह पंच नमस्कार मंत्र संपूर्ण पापों का नाश करने वाला है और सभी मंगलों में पहला मंगल है।

"कायोत्सर्ग' में इस मंत्र के जप के दो विधान माने गए हैं। मानस और वाचनिक—उपांशु। मन में ही स्मरण मात्र करते हुए ध्यान करना मानसिक जप है तथा वचन से उच्चारण करते हुए जप करना जिसको कि पास में बैठे हुए जन भी न सुन सकें ऐसा मंद उच्चारण ही उपांशु जप है।" सामायिक दण्डक आदि की अपेक्षा उपांशु जप में सौ गुणा अधिक फल होता है और मानसिक जप में हजार गुणा अधिक फल होता है। ऐसे ही नदी तट या वन की अपेक्षा जिन मंदिर में जिन प्रतिमा के निकट बैठकर जप करने से अनंतगुणा फल अधिक होता है।

कायोत्सर्ग का प्रमाण उत्कृष्ट एक वर्ष है और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है तथा अन्तर्मुहूर्त से ऊपर और एक वर्ष के भीतर-भीतर तक सारे विकल्प मध्यम के होते हैं। इसमें घंटे, दो घंटे, दिन, रात, पक्ष आदि सभी भेद होते हैं।

एक बार णमोकार मंत्र के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं। 'णमो अरिहंताण' बोलकर श्वास ऊपर खींचना तथा 'णमो सिद्धाणं' बोलकर नीचे छोड़ना, णमो आयरियाणं बोलकर श्वास ऊपर और 'णमो उवज्झायाणं' बोलकर नीचे छोड़ना, ऐसे ही 'णमो लोए' में श्वास ऊपर लेकर 'सव्वसाहूणं' में नीचे छोड़ना ऐसे तीन उच्छ्वास हो जाते हैं। इस तरह नव बार णमोकार मंत्र में २७ उच्छ्वास होते हैं। कायोत्सर्ग में सर्वत्र श्वासोच्छ्वास से ही प्रमाण बताया गया है।

दैवसिक प्रतिक्रमण में वीरभक्ति की प्रतिज्ञा के बाद १०८ श्वासोच्छ्वास होते हैं। इसमें चार कायोत्सर्ग से ३६ बार णमोकार मंत्र का जाप होता है। रात्रिक प्रतिक्रमण में ५४ उच्छ्वास में १८ बार जाप करना। पाक्षिक प्रतिक्रमण में ३०० उच्छ्वास में १ माला करना। चातुर्मासिक में ४०० उच्छ्वास में १ माला और चार कायोत्सर्ग करना चाहिए। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में ५००

१. वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः। पुण्यं शतगुणं चैतः सहस्र-गुणमाहवेत्।।(अनगार धर्मामृत पृ. ६४३)

उच्छ्वासों में १ माला और ८ कायोत्सर्ग करना चाहिए।

आहार के बाद आकर गोचर (आहार चर्या) प्रतिक्रमण में, ग्राम से ग्रामांतर जाने पर ईर्यापथ शुद्धि में, जिनेन्द्र के निर्वाण स्थान, समवसरण स्थान, जन्मस्थान आदि की वंदना में, साधु का देहविसर्जन जहां हुआ है ऐसी निषद्या की वन्दना में तथा मल-मूत्र विसर्जन करने के बाद शुद्धि में पच्चीस उच्छ्वास में कायोत्सर्ग किया जाता है। अर्थात् अन्तिम बार मन्त्र को एक उच्छ्वास में कर लेना चाहिए।

ग्रन्थादि के स्वाध्याय के प्रारम्भ में, समाप्ति में तथा देववंदना गुरु-वंदना आदि में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग होता है। कायोत्सर्ग के अनन्तर आर्यिकायें धर्मध्यान का चिंतवन करें। इस कायोत्सर्ग को स्थिरमुद्रा में नासाग्रदृष्टि करके शांतचित्त होकर करना होता है। तथा संकेत करते हुए या इधर-उधर दृष्टिक्षेप करना या गर्दन झुकाना, हिलाना, सहारा लेना इत्यादि रूप से कायोत्सर्ग के ३२ दोष माने हैं, उनसे रहित निर्दोष कायोत्सर्ग होता है।

प्रत्येक भक्ति के करते समय पहले प्रतिज्ञा की जाती है जैसे 'अथ पौर्वाण्हिक-स्वाध्यायक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल कर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं श्रुतभक्ति - कायोत्सर्गं करोम्यहं' ऐसा उच्चारण किया जाता है पुनः प्रणाम करके णमोकार मंत्र व 'चत्तारि मंगल, अड्ढाइज्जदीव' इत्यादि सामायिक दंडक पढ़ने के प्रारंभ और समाप्ति में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करना होता है, पुनः सत्ताईस उच्छ्वास में नव बार जप करके, पंचांग प्रणाम करके 'थोस्सामि' इत्यादि स्तवन पढ़ने के आदि और अंत में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति होती है। ऐसे एक कायोत्सर्ग में १२ आवर्त, ४ शिरोनति और दो प्रणाम होते हैं। सर्वत्र यही विधि है, इसी का नाम कृतिकर्म है जहां पर विधिवत् क्रिया का विधान है वहां यही विधि समझना। साधारण कायोत्सर्ग में मात्र नव बार मंत्र का जाप भी चलता है।

श्री उमास्वामीआचार्य ने कहा है कि -

"उठते[1], बैठते, चलते, फिरते समय, घर से निकलते समय, मार्ग में चलते समय, घर में कुछ भी कार्य करते समय प्रतिक्षण णमोकार मंत्र को जपते रहना चाहिए।"

छींक[2] आने पर, जंभाई लेने पर, खांसी आदि आने पर या अकस्मात् कहीं वेदना के उठ जाने पर, चिंता होने पर इत्यादि प्रसंगों में महामंत्र का जाप करना चाहिए। सोते समय और सोकर उठते ही णमोकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए। कहने का मतलब यही है कि हमेशा महामंत्र का

---

१. उत्तिष्ठन् निपतन् चलन्नपि धरापीठे लुठन वा स्मरेत्। जाग्रद्वा प्रहसन्त्स्वपन्नपि वने विभ्यन्निषीदन्नपि।। (णमोकार मंत्र माहात्म्य. स्तुति)
२. क्षुतार्ती भयजृंभेष्टार्थारंभस्खलने बुधैः शयने विस्मयादौ च स्मर्तव्यो व्रजिनो जिनः।।५६।। (आचारसार)

ध्यान, चिंतवन या उच्चारण करते रहना चाहिए। इससे विघ्नों का नाश होता है और शांति मिलती है तथा क्रम से ध्यान की सिद्धि होती है।

तेरह क्रियायें—आर्यिकायें छह आवश्यक क्रियायें, पंचपरमगुरु की वंदना तथा असही और निसही ऐसे तेरह प्रकार की क्रियायें भी प्रतिदिन करती हैं। आवश्यक क्रियाओं का तो वर्णन हो ही चुका है। ऐसे ही पृथक्-पृथक् या एक साथ पंचपरमेष्ठी की वंदना करना होता है तथा जिस वसतिका में रहना है या रहती हैं उसमें प्रवेश करते समय 'निसही' शब्द का उच्चारण करना होता है तथा जब निकलती हैं या विहार करती हैं तब वहां पर नौ बार जप करके जाते समय 'असही' शब्द का उच्चारण करना होता है। ऐसे ही मंदिर में जाते समय निसही और आते समय असही बोला जाता है। जंगल में मल-मूत्र आदि विसर्जन के लिए जाने पर वहां के प्रासुक प्रदेश में बैठते समय निसही का तथा वापस आते समय 'असही' का प्रयोग किया जाता है। इसका[1] मतलब यह है कि यहां के आधीन देवताओं से पूछकर प्रवेश करना या रहना है तथा उनसे पूछकर जाना है।

बारह तप

अनशन—उपवास करना, अवमौदर्य—भूख से कम खाना, वृत्तपरिसंख्यान—घरों का या कुछ भी अटपटा नियम लेकर आहार को जाना, मिलने पर आहार लेना अन्यथा उपवास कर लेना, रसपरित्याग—दूध, दही आदि छह रसों का या एक दो आदि रसों का त्याग करना, विविक्त शय्यासन—एकांत स्थान में अर्थात् गुर्वाणी की आज्ञानुसार संघ में सोना, बैठना, गृहस्थों के बीच में या व्रत में हानिकारक ऐसे स्थानों में नहीं उठना-बैठना, न सोना। कायक्लेश—एक आसन से या तपश्चरण से या शीत, उष्ण बाधाओं से शरीर को कष्ट देते हुए दुःख परीषह आदि झेलने का अभ्यास करना। ये छह बाह्यतप कहलाते हैं।

प्रायश्चित्त—व्रतों में दोषों के लग जाने पर गुरु से प्रायश्चित्त लेना, विनय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप तथा इनसे सहित महापुरुषों का विनय करना, गुरुओं के अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए सच्चे मन से उनकी विनय करना, वैयावृत्य—रोगी, मार्ग के श्रम से थकी हुई, उपवास से खिन्न हुई ऐसी आर्यिकाओं की सेवा करना, पैर दबाना, अनुकूल औषधि की व्यवस्था कराना, स्वाध्याय—शास्त्रों का पढ़ना, पढ़ाना, व्युत्सर्ग—अंतरंग और बहिरंग परिग्रहों का त्याग करना और ध्यान—धर्म ध्यान आदि करना। ये छह अंतरंग तप हैं।

ये सभी तप अपनी शक्ति के अनुसार होते हैं। इसमें वैयावृत्ति तप बहुत ही महिमाशाली है। इससे तीर्थंकर प्रकृति के बंध में सहायक ऐसे महान् पुण्य का संचय होता है अतः सर्वशक्ति से

१. वसत्यादौ विशेत्तत्स्थं भूतादिं निसहीगिरा। आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासहीगिरा।। (अनगारधर्मामृत)

वैयावृत्ति करना चाहिए।

प्रायश्चित—कुछ भी दोष हो जाने पर आर्यिका अपनी गणिनी के साथ गुरु के पास जाकर एकांत ऐसे स्थान में प्रकाश में दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त मांगती हैं। अकेली आर्यिका अकेले आचार्य से प्रायश्चित्त नहीं ले सकती हैं या तो उनके साथ दूसरी आर्यिका हो अथवा प्रौढ़ आर्यिका हो तो कदाचित् आचार्य के समीप अन्य मुनिराज होना चाहिए जो कि दोषों को ढकने वाले हों, किसी से कभी कहने वाले न हों। आचार्य भी अपरिस्रावी गुण के धारक होते हैं जो कभी भी किसी भी शिष्यों के दोषों को किसी से प्रगट नहीं करते हैं प्रत्युत् प्रायश्चित्त ग्रन्थ के अनुसार योग्य प्रायश्चित्त देकर उनकी शुद्धि कर देते हैं। ऐसे प्रसंग में आर्यिका को आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं। आचार्य आर्यिकाओं का नेतृत्व करने वाले, अतिगंभीर, प्रौढ़, चिरकाल से दीक्षित ऐसे होते हैं। सामान्य मुनि या छोटी उम्र के आचार्य यदि आर्यिकाओं की शिक्षा, दीक्षा या प्रायश्चित्त देने की विधि करते हैं तो वे आगम के प्रतिकूल होने से धर्म की अप्रभावना ही करा देते हैं।

आचार्य की आज्ञा से गणिनी या प्रमुख आर्यिकाएं भी आर्यिकाओं को प्रायश्चित दे सकती हैं क्योंकि यदि आर्यिकाओं का संघ अलग है सो सारी व्यवस्था मुख्य आर्यिका पर ही अवलंबित रहती है जैसा कि सभी पुराण शास्त्रों में वर्णित भी है। आर्यिकाओं को मूल दीक्षाछेद, परिहार और पारंचिक ये तीन प्रायश्चित नहीं दिये जाते हैं। उपवास, बेला, तेला, रसपरित्याग या णमोकार मंत्र का जाप आदि प्रायश्चित दोषों के अनुरूप शास्त्रानुसार दिया जाता है।

स्वाध्याय—स्व—अपना अध्ययन करना स्वाध्याय है अतः अपनी आत्मा के लिए प्रयोजनीभूत ग्रन्थों का पठन-पाठन भी स्वाध्याय कहलाता है। बारह प्रकार के तपों में यह स्वाध्याय तप सबसे अधिक महत्त्व रखता है इसलिए परम तप कहलाता है। इसके पांच भेद हैं—वाचना[1], पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

काल, विनय आदि की शुद्धिपूर्वक ग्रन्थों को पढ़ना-पढ़ाना वाचना है। पढ़े हुए को दृढ़ करने के लिए या प्रश्न होने पर गुरु के पास विनय से पूछना, अर्थ समझना पृच्छना है। पुनः - पुनः चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है। पढ़े हुए को बार-बार पढ़ना रटना यह आम्नाय है तथा तीर्थंकर आदि पुण्यपुरुषों का चरित कहना, या चारों अनुयोगों के आधार से भव्यजीवों को उपदेश देना धर्मोपदेश है।

ज्ञानाचार के आठ भेद हैं—काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिन्हव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय।

---

१. वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः (तत्त्वार्थ सूत्र)।

सूर्योदय के पूर्व की दो[1] घड़ी और पश्चात् की दो घड़ी ऐसे चार घड़ी के बाद स्वाध्याय का काल होता है। ऐसे ही मध्यान्ह में, सायंकाल में तथा अर्धरात्रि में भी चार-चार घड़ी छोड़ देना चाहिए। इसके अतिरिक्त दिग्दाह, उल्कापात, भयंकर मेघगर्जन, विद्युत चमकना, मूसलाधार वर्षा, धूमकेतु, धरणीकंप, संक्रान्ति आदि काल स्वाध्याय के अयोग्य हैं। इन कालों में सूत्रग्रंथ, षट्खंडागम आदि महान् ग्रंथों को नहीं पढ़ना चाहिए।

पर्यंकासन से बैठकर शुद्धजल से हस्त पादादिक शुद्धकर, पिच्छिका से जमीन, शास्त्र, चौकी आदि का परिमार्जन कर विधिवत् अंजुली जोड़कर भक्तिपाठपूर्वक स्वाध्याय करना विनयाचार अथवा विनयशुद्धि है। "विनय[2] पूर्वक गुरु से पढ़ा गया शास्त्र यदि प्रमाद से विस्मृत भी हो जावे तो भी परभव में ज्यों का त्यों उपलब्ध हो जाता है और कालांतर में केवलज्ञान भी प्राप्त करा देता है।"

किसी ग्रंथ विशेष के स्वाध्याय तक किसी रस या वस्तु का त्याग कर देना उपधानशुद्धि है।

हाथ जोड़कर नमस्कार करके बहुत बहुमान देते हुए ग्रन्थों का शुद्ध उच्चारण करना, गुरुओं की आसादना या शास्त्र का अविनय नहीं करना बहुमानशुद्धि है।

गुरु या ग्रन्थ से ज्ञान प्राप्तकर उनका नाम नहीं छिपाना अनिन्हवशुद्धि है।

सूत्र गाथा आदि अक्षर शुद्धिपूर्वक उच्चारण करना व्यंजनशुद्धि है।

उनका अर्थ सही समझना और समझाना अर्थशुद्धि है।

व्यंजन और अर्थ दोनों को शुद्ध पढ़ना पढ़ाना तदुभयशुद्धि है।

इस प्रकार से वे ज्ञानाचार के आठ भेदों के अनुरूप स्वाध्याय करती हैं।

स्वाध्याय की विधि—अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्यायप्रारंभक्रियायां पूर्वा..... श्रुतभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहं। २७ उच्छ्वास में नव बार णमोकार मंत्र जपकर पुनः भक्ति पाठ करके—

अथ पौर्वाण्हिक..... आचार्यभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

कायोत्सर्ग और आचार्य भक्ति पढ़कर के गुरुओं को नमोस्तु करके या आर्यिका को वंदामि करके स्वाध्याय करती हैं।

स्वाध्याय के बाद—अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्यायनिष्ठापनक्रियायां..... श्रुतभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहं। पूर्ववत् कायोत्सर्गं और भक्ति पढ़कर स्वाध्याय समाप्त करती हैं।

स्वाध्याय योग्य ग्रन्थ—श्री सर्वज्ञदेव के मुखकमल से विनिर्गत श्री गौतमगणधर देव के द्वारा

---

१. ४८ मिनट। २. विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदुं। तं उवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।।१०२।। (मूलाचार कुंद.)

ग्रन्थरूप से ग्रंथित शास्त्र, जो परंपरा से श्रुतकेवली, अभिन्नदशपूर्वी, प्रत्येकबुद्ध आदि महामुनियों द्वारा रचित हैं वे ग्रन्थ सिद्धांतरूप महान् होते हैं। उनका स्वाध्याय मुनि और आर्यिकायें कर सकते हैं। श्रावक, ऐलक, क्षुल्लक तक को भी इन सूत्र गाथा आदि रूप सिद्धांत ग्रन्थों के पढ़ने का निषेध है—यथा "दिन[1] में प्रतिमायोग धारण करना अर्थात् नग्न होकर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या अर्थात् मुनि के समान गोचरी करना, त्रिकालयोग अर्थात् गर्मी में पर्वत के शिखर पर, बरसात में वृक्ष के नीचे और सर्दी में नदी के किनारे ध्यान करना, सिद्धांत ग्रन्थों का अर्थात् श्रुत केवली, गणधर देव, प्रत्येकबुद्ध और अभिन्न दशपूर्वी साधुओं से निर्मित ग्रन्थों का अध्ययन और प्रायश्चित्त शास्त्र का अध्ययन, इन कार्यों में क्षुल्लक ऐलक को अधिकार नहीं है।"

आर्यिकाओं के पढ़ने का विधान श्री कुंदकुंददेव ने स्पष्ट किया है - "अस्वाध्याय[2] काल में मुनि और आर्यिकाओं को उपर्युक्त सूत्रग्रन्थों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए किन्तु इनसे भिन्न ग्रन्थ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं।" इससे यह अर्थापत्ति से सिद्ध है कि आर्यिकायें भी स्वाध्याय काल में सिद्धांतग्रन्थों को पढ़ सकती हैं।

दूसरी बात यह है कि सुलोचना ग्यारह अंग को जानने वाली थीं ऐसा वर्णन आगम में है किन्तु क्षुल्लक, ऐलक या श्रावकों के लिए ऐसा उदाहरण नहीं है। यथा—"मेघेश्वर[3] जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान के गणधर हो गये और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह[4] अंगों की धारक हो गईं।"

अकाल में पढ़ने योग्य ग्रन्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना के शास्त्र, सत्रह प्रकार के मरण के वर्णन करने वाले शास्त्र, पंचसंग्रह ग्रन्थ, देवागम आदि स्तोत्र ग्रंथ, प्रत्याख्यान के प्रतिपादक ग्रन्थ, आवश्यक क्रिया के प्रतिपादक ग्रंथ तथा पुराण शास्त्र और बारह अनुप्रेक्षा आदि के प्रतिपादक शास्त्रों को अकाल में भी पढ़ने का निषेध नहीं है। सामायिक के समय को अवश्य छोड़ देना चाहिए।

वर्तमान में ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थ यद्यपि नहीं हैं फिर भी षट्खंडागम सूत्र तथा कसायपाहुड़ सूत्रग्रन्थ अंग-पूर्व के कुछ अंश होने से सिद्धांत ग्रन्थ माने जाते हैं। उन्हें कालशुद्धि के बिना अथवा काल में भी हर किसी को पढ़ने की आज्ञा नहीं है।

---

१. दिणपडिम वीरचरिया तियालजोगेसुणत्थि अहियारो। सिद्धंत रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं।।३१२।। (वसुनंदि श्रावकाचार पृ. ११२)

२. तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स। एत्तो अण्णो गन्थो कप्पदि पढिदुमसज्झाये।।६७।। (मूलाचार कुंदकुंदकृत) टीका में - 'तत्सूत्रं पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्य संयतसमूहस्य, स्त्रीवर्गस्य चार्यिकावर्गस्य च"। (पृ. २३३)

३. "द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी। एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना।।५२।। (हरिवंशपुराण पृ. २१३)

४. दिगम्बर संप्रदाय में ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रन्थ वर्तमान में नहीं हैं, उनका अंश मात्र है।

आर्यिकायें पिछली रात्रि में स्वाध्याय समाप्त करके बाहर निकलकर पूर्वान्ह स्वाध्याय के लिए दिशाशुद्धि की विधि करती हैं। उसमें पूर्व दिशा में मुख करके नवगाथा—नवबार में णमोकार मंत्र को २७ उच्छ्वास में करके ऐसे ही दिक्शुद्धि हेतु दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में भी एक-एक कायोत्सर्ग करती हैं। यह पौर्वाण्हिक स्वाध्याय के लिए दिक्शुद्धि का विधान है[1]।

ऐसे ही पूर्वान्ह स्वाध्याय के विसर्जन के अनंतर अपरान्ह स्वाध्याय हेतु चारों दिशाओं की शुद्धि के लिए चार दिशाओं में क्रम से ७-७ बार णमोकार मंत्र पढ़ा जाता है। ऐसी ही पूर्वरात्रिक स्वाध्याय के लिए दिक् शुद्धि हेतु चारों दिशाओं में क्रम से ५-५ बार णमोकार मंत्र से दिक्शुद्धि होती है। अपररात्रिक स्वाध्याय के लिए दिक्-शुद्धि का विधान नहीं है क्योंकि इस अपररात्रिक में सिद्धांत सूत्र आदि के लिए स्वाध्याय का विधान सामान्य मुनि आर्यिकाओं के लिए नहीं है। इस पिछली रात्रि में ऋद्धिधारी आदि संयतों को ही स्वाध्याय करना चाहिए।

अतएव अपररात्रिक स्वाध्याय में आर्यिकायें आराधना, स्तुति आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करती हैं, सिद्धांत ग्रन्थों का नहीं करती हैं।

धवला टीका में भी कहा है कि—"पश्चिम रात्रि के संधिकाल में क्षमा कराकर बाहर निकलकर कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख होकर नौ गाथाओं से पूर्व दिशा को शुद्ध करके..... इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशाओं को शुद्ध करना होता है..... इत्यादि"।

"नंदीश्वर[2] पर्व" आदि में भी स्वाध्याय का निषेध है। अष्टमी में अध्ययन से गुरु शिष्य का वियोग, पूर्णमासी में करने से कलह, चतुर्दशी के स्वाध्याय से विघ्न, कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के अध्ययन से विद्या और उपवास विधि का नाश, मध्यान्ह में स्वाध्याय से जिनरूप का नाश, दोनों संध्या कालों में करने से व्याधि तथा मध्यम रात्रि के अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष करने लगते हैं।" इस प्रकार से आर्यिकाओं को सारी विधि समझकर स्वाध्याय में प्रवृत्ति रखनी होती है।

प्रतिलेखना—जिससे प्रतिलेखन—शोधन या समार्जन किया जाय वह प्रतिलेखन है। यह मयूर पंख से निर्मित पिच्छिका है। कार्तिक[3] मास में स्वयं मयूर अपने पंखों को छोड़ देते हैं, उन्हें ही ग्रहण कर यह पिच्छिका बनाई जाती है। आजकल कार्तिक मास में प्रायः आर्यिकायें इन पिच्छिकाओं को बना कर तैयार करती हैं और चातुर्मास की समाप्ति पर आचार्यदेव सभा में सभी को नूतन पिच्छिका

---

१. णवसत्तपंचगाहा परिमाणं दिसिविभाग सोधीये। पुव्वण्हे अवरण्हे पदोसकाले य सज्झाये।।६२।। (मूलाचार)

२. पर्वसु नंदीश्वर 'वरमहिमादिवसेषु चोपरागेषु।
तुष्यंतोऽप्यप्रियतां मध्यमरात्रौ समुपयाति।। (धवला पृ. ६ पृ. २५७ श्लोक १०६ से १०६ तक)

३. "कार्तिक मास में मयूरों के पिच्छ (पंख) स्वयं गिरते हैं।" (मूलाचार पृ. ४४२, श्री कुंदकुंददेव)
मत्येति कार्तिके मासि कार्यं सत्प्रतिलेखनं। स्वयंपतित पिच्छानां लिंगं चिन्हं च योगिभिः।।३६।। (मूलाचार प्रदीप, पृ. ३३१)

देते हैं तब वे साधु उन पुरानी पिच्छियों का त्याग कर देते हैं।

पिच्छिका के गुण— यह प्रतिलेखन धूलि को ग्रहण नहीं करता है, पसीने से मलिन नहीं होता है, मृदु है, सुकुमार है और लघु है ये पांच गुण पिच्छी में होते हैं अर्थात् इसमें न धूलि चिपकती है, न पसीने से यह खराब होती है, पानी में भीगकर भी सूखने पर ज्यों की त्यों हो जाती है, कोमल इतनी है कि आंखों में लगाने पर भी पीड़ा नहीं होती है, सुन्दर है, हल्की है। ऐसी पिच्छी से ही नेत्र से नहीं दिखने वाले ऐसे सूक्ष्म जन्तुओं की भी रक्षा की जाती है।

यह पिच्छिका साधु का मात्र चिन्ह ही नहीं है प्रत्युत प्रतिक्षण इससे जीवों की दया पाली जाती है। आर्यिकायें कुछ भी वस्तु-पुस्तक आदि रखती हैं या उठाती हैं तो बराबर इस पिच्छी से संमार्जन करके कार्य करती हैं। शीत से धूप में जाते समय या धूप से ठंडी में आते समय इस पिच्छी से शरीर का मार्जन करती हैं। रात्रि में सोकर उठते समय, करवट बदलते समय पिच्छी से जीवों को हटा देती हैं। चाहे जीव मरे या नहीं यदि सावधानीपूर्वक पिच्छी से प्रतिलेखन नहीं किया जाता है तो असंयम का दोष लगता ही है।

देववंदना, गुरु वंदना आदि के समय पिच्छी को दोनों हाथ में लेकर अंजुलि जोड़कर वंदना की जाती है वह प्रतिलेखन सहित मुद्रा होती है। हाथ में पिच्छी लिए बिना साधु या साध्वी वंदना नहीं करते हैं।

बिना पिच्छिका के गमनागमन में दोष होता है। यथा—कोई[1] साधु बिना पिच्छी के सात कदम गमन करे तो वह एक कायोत्सर्ग से शुद्ध होता है। एक कोश गमन करे तो एक उपवास होता है तथा आगे दूना-दूना प्रायश्चित है।"

यह पिच्छिका जिनमुद्रा का चिन्ह है, कहा भी है—'मुद्रा[2] सर्वत्र मान्य होती है। मुद्रा रहित कोई भी मान्य नहीं है।'

सदैव पिच्छी को सीधी रखना चाहिए और कमंडलु की टोटी को पीछे करके चलना चाहिए। प्रायश्चित्त विशेष में पिच्छी को उल्टी रखने की आज्ञा होती है तथा सल्लेखना के अनन्तर पिच्छी उल्टी और कमंडलु की टोटी आगे कर दी जाती है। ऐसा व्यवहार में प्रचलन है।

भक्तियों का प्रयोग कब और किन-किन का?—देववंदना में चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति का विधान है। चतुर्दशी के दिन त्रिकाल सामायिक में चैत्यभक्ति के अनन्तर श्रुतभक्ति करके पंचगुरुभक्ति होती है। अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, सालोचनाचारित्रभक्ति में "इच्छामि

---

१. सप्तपादेषु निष्पिच्छः कायोत्सर्गाद्विशुध्यति। गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते।।४४।। (प्रायश्चित चूलिका)
२. मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते। (नीति सार)

भंते अट्ठमियम्मि आलोचेउं" इत्यादि आलोचना भी होती है पुनः शांतिभक्ति होती है। नंदीश्वर पर्व में आठ दिन पूर्वाण्ह काल के स्वाध्याय[1] के बाद सभी साधु मिलकर सिद्ध, नंदीश्वर, पंचगुरु और शांति भक्ति करते हैं। वीर निर्वाण के समय सिद्ध, निर्वाण, पंचगुरु और शांतिभक्ति होती है। सामान्य मुनि के स्वर्गवास होने पर सिद्ध, योगि और शांति भक्ति की जाती है। आचार्य की समाधि में सिद्ध, योगि, आचार्य और शांतिभक्ति हैं ऐसे ही इनकी निषद्या स्थान की वंदना में हैं।

तीर्थंकरों के पंचकल्याणक दिवस या उनके क्षेत्रों की वन्दना में प्रथम, द्वितीय कल्याणक में सिद्ध, चारित्र, शांति भक्ति हैं। तप कल्याणक में योगि भक्ति अधिक है, केवलज्ञान में श्रुतभक्ति एवं निर्वाण कल्याणक में निर्वाण भक्ति और अधिक हो जाती है। श्रुतपंचमी के दिन सिद्ध, श्रुत भक्ति करके श्रुतस्कंध स्थापना करके वृहत् वाचना स्वीकार करना चाहिए पुनः श्रुत और आचार्य भक्तिपूर्वक स्वाध्याय करके श्रुतभक्ति पढ़कर स्वाध्याय पूर्ण करके अन्त में शांतिभक्ति करना चाहिए। प्रतिदिन के स्वाध्याय में लघु श्रुत व आचार्य भक्तिपूर्वक प्रारम्भ कर पुनः लघु श्रुतभक्तिपूर्वक निष्ठापन किया जाता है। आचार्य वंदना में लघुसिद्ध और आचार्यभक्ति है। रात्रियोग प्रतिष्ठापन व निष्ठापन में लघु योगभक्ति है। उदाहरण के लिए -

"अथ रात्रियोगप्रतिष्ठापनक्रियायां..... योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" बोला जाता है तथा प्रातः में प्रतिक्रमण के बाद 'अथ रात्रियोगनिष्ठापन क्रियायां..... योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" लोच के समय सिद्ध और योगिभक्ति पढ़कर लोच करके पुनः अन्त में सिद्ध भक्ति की जाती है। गुरु से उपवास या प्रत्याख्यान लेने में सिद्ध व योगभक्ति पढ़कर उपवास लेकर आचार्य भक्तिपूर्वक आचार्य वंदना की जाती है।

वर्षाकाल के प्रारम्भ काल में आषाढ़ सुदी त्रयोदशी के दिन तथा वर्षायोग के अन्त में अर्थात् कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन मंगलगोचर वंदना करके अर्थात् सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शांतिभक्तिपूर्वक देववंदना करके आहार को जाया जाता है।

पुनः आहार के बाद सभी शिष्य शिष्याएं मिलकर गुरु या गुर्वानी के निकट मंगलगोचर प्रत्याख्यान क्रिया में बृहत्सिद्धभक्ति, योगिभक्ति पढ़ करके उपवास ग्रहण करते हैं। अनन्तर आचार्य भक्ति से आचार्य वंदना करके शांतिभक्ति की जाती है। प्रत्येक क्रिया की समाप्ति में नियम से हीनाधिक दोषों की शुद्धि के लिए लघु समाधिभक्ति अवश्य पढ़ना होता है।

चातुर्मास स्थापना और समाप्ति में भक्तियों का विधान—आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी[2] की पूर्वरात्रि

---

१. मिलित्वा चार्यादयो विदधतु..... पौर्वाण्हिकस्वाध्यायानंतरम्। (अनगार धर्मामृत पृ. ६६३)

२. ततश्चतुर्दशी पूर्वरात्रे सिद्ध मुनिस्तुती चतुर्दिक्षु परीत्यालाश्चैत्यभक्तीर्गुरुतुतिम्।।६६।।

में सिद्ध भक्ति-योगभक्ति करके चारों दिशाओं में चार बार स्वयंभू स्तोत्र के दो - दो स्तोत्र सहित चैत्यभक्ति की जाती है पुनः पंचगुरु और शांतिभक्ति[1] करके वर्षायोग का नियम धारण किया जाता है। अनन्तर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की पिछली रात्रि में इसी विधि से वर्षायोग निष्ठापन किया जाता है। इसमें प्रारम्भ के प्रयोग में अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापन क्रियायां..... सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं तथा समाप्ति में "अथ वर्षायोगनिष्ठापन क्रियायां..... सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" विधि में इस तरह अन्तर हो जाता है।

चातुर्मास का शास्त्रोक्त शब्द वर्षायोग है क्योंकि इसमें आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से स्थापित करके कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के पिछले प्रहर में अर्थात् दिवाली की अमावस को समाप्त कर देते हैं। ऐसे इस नियम में साढ़े तीन मास ही होते हैं। हां! यह नियम अवश्य है कि आर्यिकायें या मुनिगण कार्तिक सुदी पंचमी तक विहार नहीं करते हैं तथा कारणवश श्रावण कृष्णा चतुर्थी को भी वर्षायोग स्थापना कर सकते हैं। कदाचित वर्षायोग के अनन्तर मगसिर मास तक भी वहीं पर रह सकती हैं।

चातुर्मास में वर्षा होने से सर्वत्र वनस्पतिकायिक व त्रसजीवों की उत्पत्ति बहुलता से हो जाती है, इसी कारण से दिगम्बर जैन साधु और आर्यिकायें चातुर्मास स्थापना करते हैं। ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों के लिए कहीं पर भी चातुर्मास करने का विधान नहीं है।

इन सभी क्रियाओं के प्रयोग की विधि को समझने के लिए क्रियाकलाप, यतिक्रियामंजरी व धर्मध्यानदीपक पुस्तकों का अवलम्बन लेना चाहिए। भक्ति पाठ और सभी प्रतिक्रमण इनमें मुद्रित हैं। वास्तव में प्रयोग करने की खास विधियाँ तो साधुओं के सम्पर्क में रहकर ही सीखी जाती हैं, पढ़ने मात्र से नहीं आ सकती हैं।

ध्यान— एक विषय पर चित्त को स्थिर करना यह ध्यान का लक्षण है। इसके आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ऐसे चार भेद हैं। प्रारम्भ के दो ध्यान अशुभ हैं, संसार के कारण हैं तथा शेष दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं।

अनिष्ट के संयोग से होने वाला अनिष्ट संयोगज, इष्ट वियोग से होने वाला इष्ट वियोगज, वेदना से हुआ वेदनाजन्य तथा आगामी भोगों की आकांक्षा से होने वाला निदान ऐसे चार आर्तध्यान हैं।

हिंसानंदी, मृषानंदी चौर्यानन्दी और परिग्रहानंदी ऐसे चार रौद्रध्यान हैं।

"जिनेंद्रदेव अन्यथावादी नहीं हैं" ऐसा श्रद्धान करके चिंतवन करना आज्ञाविचय है। अशुभ परिणाम से जीवों को दुःख होता है और शुद्ध परिणामों से जीव विमुक्त होते हैं इत्यादि चिंतवन

१.शांतिभक्तिं प्रकुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्। ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम्।।६७।। (अनगार धर्मामृत पृ. ६६४)

करना अपाय विचय है। कर्मोदय के बंध, उदय आदि का विचार करना विपाक विचय है तथा तीन लोक के आकार आदि का चिंतवन करना और द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतवन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इसके पिंडस्थ[1], पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये चार भेद भी माने गए हैं।

पिंडस्थध्यान—आर्यिकाओं का कर्तव्य है कि सामायिक के काल में या अन्य कभी भी निराकुल स्थान में बैठकर ध्यान करने का अभ्यास करें।

इस पिंडस्थ ध्यान में बहुत ही सरलता से उपयोग को लगाकर ध्यान का अभ्यास किया जाता है उससे तमाम कर्मों की निर्जरा हो जाती है। इस पिंडस्थ ध्यान में पांच प्रकार की धारणायें होती हैं। पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती।

पार्थिवी—प्रथम ही आर्यिका मध्यलोक के स्वयंभूरमण समुद्रपर्यंत बड़ा क्षीर समुद्र का चिंतवन करे। उसके मध्य भाग में जम्बूद्वीप प्रमाण ऐसे एक सुवर्ण वर्ण के सहस्रदल कमल को सोचे, उसके मध्य में सुमेरू के सदृश उसकी कर्णिका को सोचे, उस कर्णिका के ऊपर श्वेत सिंहासन पर बैठकर मैं ध्यान कर रही हूँ। मेरी आत्मा स्त्री, पुरुष आदि पर्यायरूप नहीं है। यह पार्थिवी धारणा है।

आग्नेयी—पुनः मेरे नाभिमंडल में सोलह दल का कमल है उसमें 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इन सोलह स्वर को क्रम से लिखा हुआ चिंतवन करे और कर्णिका पर 'ह्रं' इस महामंत्र का ध्यान करे, पुनः हृदय में अधोमुख वाला आठ पांखुडी का कमल बनाकर उसमें क्रमशः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ऐसे आठ कर्मों को लिखा हुआ सोचे। अनन्तर नाभिकमल की कर्णिका के 'ह्रं' से अग्नि की लौ को निकलती हुई देखे धीरे-धीरे वह लौ बढ़ती हुई आठों कर्मों के कमल को जलाने लगी, अष्ट कर्म जलने के बाद शरीर के बाहर त्रिकोणाकार मंडल बन गया है और वह अग्नि बाहर में भी सर्वत्र शरीर जला रही है। त्रिकोण में सर्वत्र 'र र र' बीजाक्षर व्याप्त हैं। यह अग्नि शरीर और कर्मों को जलाकर शांत हो गई, ऐसा चिंतवन करे, यह आग्नेयी धारणा है।

श्वसना—पुनः चिंतवन करे कि बहुत वेग से हवा चलकर चारों तरफ फैल गई है। वह पवन सम्पूर्ण कर्म की जली हुई रज को उड़ा देता है तत्पश्चात् शांत होता जाता है ऐसा चिंतवन करना श्वसना या वायवी धारणा है।

वारुणी—चारों तरफ मेघ की गर्जना, बिजली का चमकना, इंद्रधनुष आदि होते हुए जोरों से वर्षा होने लगी, यह अमृतमय जल समस्त भस्म को प्रलाक्षित कर देता है, यह वारुणी धारणा है।

तत्त्वरूपवती—तत्पश्चात् मैं सप्तधातु रहित पूर्ण चन्द्रसदृश, निर्मल सर्वज्ञ देव हूं, अर्हंत

---

१. ज्ञानार्णव पृ. ३८१.....।

अवस्था को प्राप्त सिंहासन के ऊपर विराजमान हूं ऐसा चिंतवन करे। अनन्तर आठ कर्मों से रहित निर्मल पुरुषाकार चैतन्यस्वरूप आत्मा का चिंतवन करे, यह तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस तरह ध्यान के अभ्यास से अपूर्व आनन्द का अनुभव आता है और मन को एकाग्र करने का अभ्यास होता है। वास्तव में उत्तम संहनन वालों को ही अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त काल तक एकाग्रचिंतानिरोधरूप ध्यान हो सकता है[1] और आर्यिकाओं को उत्तम संहनन हो नहीं सकता है फिर भी कुछ क्षण के लिए उपयोग स्थिर हो सकता है अथवा ध्यान की संतति परम्परारूप ही क्यों न हो अभ्यास करना चाहिए। मास, वर्षपर्यंत जो मुनिराज ध्यान करते थे वह भी विशेषकर संततिरूप से ही ध्यान रहता है।

पदस्थध्यान—णमोकार मंत्र, असि आ उसा, ॐ नमः, णमो सिद्धाणं, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ ह्रीं नमः, ॐ अर्हं इत्यादि किसी भी मंत्र का ध्यान करना चाहिए। जैसे हृदय में एक सुन्दर कमल की कर्णिका पर 'अर्हं' बीजाक्षर का ध्यान करें अथवा ललाट पर ॐ का ध्यान करें इत्यादि अनेकों प्रकार के पद का अवलम्बन लेकर ध्यान करना पदस्थ ध्यान है।

रूपस्थ ध्यान—अरिहंत भगवान के स्वरूप का ध्यान करना रूपस्थ है। समवसरण का निर्माण करके उस सिंहासन में अधर विराजमान जिनेंद्र भगवान के स्वरूप का बाह्य-अभ्यंतर वैभव सहित चिंतवन करना चाहिए।

रूपातीत—वीतराग अवस्था में पहुंचकर रूपरहित, देह रहित, ऐसे सिद्ध भगवान का ध्यान करते-करते अपने में और उन सिद्धों में भेद[1] को भूल जाना अर्थात् उनका ध्यान करते हुए उनमें तन्मय हो जाना रूपातीत ध्यान है।

आर्यिकायें इस रूपातीत ध्यान में नहीं पहुँच सकती हैं क्योंकि उनके वीतराग अवस्था नहीं हो सकती है। छठे गुणस्थानवर्ती मुनि भी सरागी ही हैं यह परमात्मा के साथ अभेदरूप ध्यान या शुद्ध आत्मतत्त्व में स्थिरतारूप ध्यान वीतराग निर्विकल्प समाधि में सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है।

सल्लेखना—"आचार्य को[2] जब निमित्तज्ञान आदि कारणों से यह पूर्णतया निश्चित हो जावे कि मेरी आयु बारह वर्ष से अधिक नहीं है, तब वे बारह वर्ष की उत्कृष्ट सल्लेखना लेते हैं।" अनंतर संघ की व्यवस्था के लिए योग्य शिष्य को आचार्य बनाकर संघ में रहने से मोह आदि के निमित्त से सल्लेखना में विघ्न हो सकता है ऐसा समझकर वे आचार्य अन्य किसी योग्य संघ में जाकर सल्लेखना करते हैं। यह विधि गणिनी आर्यिका भी कर सकती हैं। इस सल्लेखना का नाम

१. विवेच्य तद्गुण ग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च। अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत्।।१८।।
२. आचार सार. पृ. २५७ से.....

भक्तप्रत्याख्यान है। इसका जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट बारह वर्ष का है तथा मध्यम के बहुत भेद हैं।

काय और कषाय को सम्यक् प्रकार से कृश करना सल्लेखना है। बारह वर्ष की सल्लेखना का नियम लेने पर चार वर्ष तक तो श्रेष्ठ योग और उग्र-उग्र तपश्चरण करना चाहिए। चार वर्ष रसों का त्याग करते हुए पूर्ण करना चाहिए। दो वर्ष तक कांजी आदि का आहार करना चाहिए। एक वर्ष दूध छाछ वगैरह पर व्यतीत करना चाहिए। फिर छह महीने तक मंद - मंद रीति से उपवास आदि करना चाहिए। फिर शेष छह महीने कठिन नियमों को धारण कर व्यतीत कर देना चाहिए। यह भक्तप्रत्याख्यान विधि सामान्य साधु व साध्वी भी कर सकते हैं।

सल्लेखना करने वाला साधु क्षपक कहलाता है और सल्लेखना कराने वाले आचार्य निर्यापकाचार्य कहलाते हैं। एक मुनि की सल्लेखना के काल में आगम[1] में अड़तालीस मुनियों का विधान है। वे सब क्रम से आचार्य की आज्ञा के अनुसार क्षपक की शुश्रूषा करते हैं। चार मुनि क्रम-क्रम से धर्म कथा सुनाते हैं। चार मुनि क्षपक के आहार की व्यवस्था आदि करते हैं ऐसे ही सभी यथोचित कार्यों में नियुक्त रहते हैं। आगम में कहा है कि यदि इतने मुनि नहीं मिल सकें तो भी कम से कम चार अथवा अत्यधिक कम में दो अवश्य होने चाहिए अन्यथा सल्लेखना बिगड़ने का प्रसंग हो सकता है।

इसी प्रकार से आर्यिकायें भी आर्यिकाओं में ऐसी ही व्यवस्था कर सकती हैं।

मरणकाल निकट आने पर, किसी प्रकार से रोग आदि प्रसंगों से वेदना होने पर आर्यिकायें अध्यात्म स्वरूप आगम के सार का चिंतवन करती हैं। बारह भावनाओं द्वारा शरीर से निर्ममता की तरफ उपयोग को ले जाती हैं। 'हे आत्मन्! मुझे[2] मृत्यु नहीं है तो भय किसका? मुझे व्याधि नहीं है तो पीड़ा किसे होगी? न मैं बाल हूं, न युवा हूं, न वृद्ध हूं ये सब तो पुद्गल की पर्यायें हैं'। ऐसा चिंतवन करने से परीषह और कष्टों को सहने की क्षमता आ जाती है अथवा वे आर्यिकायें अन्य आर्यिकाओं को भी नरक निगोद आदि के दुःखों को सुना-सुनाकर उसे संसार से भय उत्पन्न कराकर मरण में उत्साह बढ़ाती हैं। वास्तव में समताभावपूर्वक मरण करने से यह मृत्यु कल्पवृक्ष के समान उत्तम फल देती है। सारे जीवन भर तपश्चरण करने के बाद भी यदि अंत समय संक्लेश आदि से सल्लेखना बिगड़ गई तो वह जीव अनंतसंसारी अर्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण संसार में घूमने वाला हो जाता है। इसलिए अंत में बहुत ही सावधानी की आवश्यकता है। सल्लेखना में सबसे क्षमा

---

१. मूलाराधना पृ. ८४५ से ८६४ तक।

२. न मे मृत्युः कुतो भीतिः न मे व्याधिः कुतो व्यथा। नाहं बालो न वृद्धोहं न युवैतानि पुद्गले।।" (श्री पूज्यपाद सूरि)

कराके स्वयं भी कर देना चाहिए और किसी बात की शल्य नहीं रखना चाहिए तथा दीक्षित जीवन के सारे दोषों की आलोचना करके गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।

सल्लेखना लेने के कारण—उपसर्ग के आ जाने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर, भयंकर रोग या वृद्धावस्था में प्रतीकार न हो सकने पर, सल्लेखना ली जाती है। इसके यम और नियम की अपेक्षा दो भेद हैं। जीवन की संभावना न रहने पर जीवन भर के लिए त्याग करना यमसल्लेखना है और उपसर्ग आदि से बचने की उम्मीद में उपसर्ग आदि पर्यंत आहार—पानी का त्याग करना नियम सल्लेखना है। यम सल्लेखना में क्रम से अन्न, फल, रस आदि का त्याग कर दूध लेवे, उसे छोड़ कर छाछ लेवें, पुनः गरम पानी मात्र रखे अनंतर उसे भी छोड़कर महामंत्र के पठन और श्रवण द्वारा जिननामरूप परमौषधि का सेवन करते हुए प्राण छोड़े। पूज्यपाद स्वामी ने कहा तो है कि हे भगवन्! सम्पूर्ण जीवन भर की तपश्चर्या धर्मध्यानादि का फल मुझे एक ही मिले कि अंत समय आपके नाममंत्र के जपने में मेरा कंठ अकुंठित ही रहे, कुंठित न हो जावे।'

"एक[1] भव में यदि जीव को समाधिमरण की प्राप्ति हो जाती है तो वह नियम से सात या आठ भव में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।"

"परमागम[2] में आर्यिकाओं का और श्राविकाओं का जो उत्सर्ग लिंग और अपवाद लिंग कहा है वही लिंग भक्तप्रत्याख्यान मरण के समय समझना चाहिए अर्थात् आर्यिकाओं का भक्त प्रत्याख्यान के समय उत्सर्ग लिंग एकांत स्थान में होना चाहिए अर्थात् वह भी मुनिवत् उस समय नग्नरूपता धारण करें ऐसी आगमाज्ञा है।" मतलब यह है कि आर्यिकायें समाधि के काल में दो चार आर्यिकाओं के निकट एकांत स्थान में नग्न मुद्रा धारण करके समाधि मरण करती हैं इससे उनके परिणामों में यह विशुद्धि विशेष हो जाती है कि मैं सर्वपरिग्रह-त्यागी महाव्रतिनी हूँ।

आर्यिकाओं का कौन सा मरण है—"मरण के तीन भेद हैं—[3]बालमरण, बालपंडित मरण और पंडित मरण। अथवा पांच भेद भी होते है—बालबाल मरण, बालमरण, बालपंडित मरण, पंडित मरण और पंडितपंडित मरण"।

मिथ्यादृष्टी का मरण बालबालमरण है, सम्यक्त्वी का मरण बालमरण है, श्रावक का मरण बालपंडित मरण है, मुनियों का मरण पंडितमरण है और केवलियों का मरण पंडितपंडितमरण है।

---

१. एगम्हि अवग्गहणे समाहिमरणं लभेज्ज जदि जीवो। सत्तट्ठ भवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि।।५४।। (मूलाचार)

२. "इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उवसग्गियं व इदरं वा। तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए।।८१।।

टीका-में-तपस्विनीनां साटकमात्र परिग्रहेऽपि तत्र ममत्व परित्यागादुपचारत्वे नैग्रन्थ्य व्यवहरणानुसरणात्...तत्र भक्त प्रत्याख्याने सन्न्यास काले" (मूलाचार पृ. २१०)

३. तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च। तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति।।३१।। (मूलाचार कुन्दकुंद कृत)

इनमें से मुनियों के पंडित मरण में भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन ऐसे तीन भेद होते हैं। उत्तम संहनन वाले विशेष निःस्पृही मुनियों के इंगिनी और प्रायोपगमन मरण होते हैं तथा सामान्य मुनिगण और आर्यिकायें भक्त प्रत्याख्यान मरण करते हैं ऐसा मूलाराधना में कहा है।

यद्यपि आर्यिकायें भक्त प्रत्याख्यान नाम वाले पंडित मरण से मरण करती हैं फिर भी इनके गुणस्थान पांचवां ही रहता है।

स्त्रीमुक्ति निषेध—"कर्मभूमि[1] में उत्पन्न होने वाली द्रव्यस्त्रियों के पहले तीन उत्तम संहनन नहीं होते हैं तथा वे एक साड़ी रूप वस्त्र पहनती हैं इसलिए सकल चारित्र नहीं हो सकने से उन्हें मुक्ति नहीं हो सकती है।

"कर्मभूमि[2] की महिलाओं के अन्तिम तीन वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच संहनन नहीं होते हैं किन्तु आदि के तीन—अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तसृपाटिका ये तीन संहनन ही होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।"

"उत्तम[3] संहनन के बिना एकाग्रचिंता निरोधरूप शुक्लध्यान असंभव है" और श्रेणी आरोहण भी नहीं है।

यही कारण है कि द्रव्यवेद से स्त्रीवेद वाली स्त्रियों के उपचार से महाव्रत होने पर भी क्षायिक सम्यक्त्व[4] नहीं होता है तथा तीर्थंकर प्रकृति भी नहीं बंध सकती है। हां, जो आगम में स्त्रीवेद में मुक्ति का विधान है वह भाववेद की अपेक्षा से ही है अर्थात् देव और नारकी जीवों में जो भाववेद है वे ही द्रव्यवेद रहते हैं किन्तु मनुष्य और तिर्यंच में द्रव्यवेद, भाववेदों में अंतर पाया जाता है। कोई द्रव्य से पुरुषवेदी भाव से स्त्री, पुरुष या नपुंसक किसी वेद वाला हो सकता है, इतना नियम अवश्य है कि पुनः वह वेद नहीं बदलता। कहा भी है - "पुरुष[5], स्त्री, और नपुंसक नामवाले वेदकर्म के उदय से भाव में पुरुष, स्त्री, नपुंसक वेद होते हैं और नामकर्म के उदय से द्रव्यपुरुष, द्रव्यस्त्री और द्रव्यनंपुसक होते हैं। सो ये भाववेद और द्रव्यवेद प्रायः करके समान होते हैं, परन्तु कहीं - कहीं विषम भी होते हैं।" अर्थात् नाम कर्म के उदय से शरीर में द्रव्यवेद की रचना होती है और मोहनीय कर्म के अन्तर्गत वेदकर्मों के उदय से भाववेद होते हैं। ये देव, नारकी में समान होते हैं और मनुष्य तथा तिर्यंच में विषम भी होते हैं।

---

१. कर्मभूद्रव्यनारीणां नाद्यं संहननत्रयम्। वस्त्रदानाच्चरित्रं च तासां मुक्तिकथा वृथा।।८६।। (आचार सार पृ. ४३)

२. अंतिमतिय संहणणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं। आदिमतिगसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।३२।। (गोम्मटसार कर्मकांड)

३. "उत्तमसंहननस्यैकाग्र चिंतानिरोधो ध्यानमांतर्मुहूर्तात्।। (तत्त्वार्थ सूत्र)

४. "बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि नरक में नपुंसक वेद में जैसे जन्मता है वैसे स्त्री वेद में क्यों नहीं जन्मता है? नहीं, क्योंकि नरक में एक नपुंसकवेद का ही सद् भाव है। (धवला प्र. पु. पृ. ३३१)

५. अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध येदिति चेन्न, सवाससत्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः....(धवला प्र. पु. पृ. ३३५)

धवला में भी श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है—

"इसी आर्षवचन से द्रव्य स्त्रियों की मुक्ति सिद्ध हो जावेगी? नहीं, क्योंकि वस्त्र सहित होने से उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है, उनके संयम नहीं होता है। वस्त्र सहित होने से उनके भावसंयम भी नहीं है अन्यथा भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना उनके बन नहीं सकता है। तो फिर स्त्रियों में चौदह गुणस्थान कैसे माने हैं? भावस्त्रीवेद से सहित पुरुषों में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव है न कि द्रव्यस्त्रीवेद वालों के।"

और तो क्या यदि भाव से पुरुषवेद है और द्रव्य से स्त्रीवेद है तो भी उसके गुणस्थान पांचवां ही हो सकता है छठा आदि नहीं। दूसरे गुणस्थान में ही स्त्रीवेद की बंध व्युच्छित्ति हो जाती है अर्थात् चौथे गुणस्थान में स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है। सम्यक्त्व होने के बाद यह जीव स्त्रीवेद में जन्म नहीं लेता है। नियम से पुरुष वेद प्राप्त कर स्वर्ग में देव होकर वहां से आकर यदि संयम धारण करता है तो जल्दी ही मोक्ष चला जाता है।

इन सभी कारणों से स्पष्ट है कि स्त्रियां इस भव से सीधे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकती हैं फिर भी सम्यक्त्व गुण से विभूषित घोर तपश्चरण आदि से सल्लेखनापूर्वक मरण करके सोलहवें स्वर्ग में इन्द्रपद को भी प्राप्त कर लेती हैं अर्थात् संहनन के निमित्त से उनका गमन सोलह स्वर्ग के ऊपर भी नहीं हो सकता है। "सृपाटिकावाले[1] आठ स्वर्ग तक, कीलित वाले बारहवें तक तथा अर्धनाराच वाले सोलहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं।" आगे नाराच आदि से ग्रैवेयक आदि में जाते हैं तथा नरक में भी अर्ध नाराच वाला छठे तक ही जा सकता है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रीपर्याय से सोलहवें स्वर्ग से ऊपर और छठे नरक से नीचे सप्तम नरक में गमन नहीं है।

उपचार महाव्रत रूप संयम से भी इनके गुणस्थान पांचवा ही रहता है, छठा नहीं हो सकता है क्योंकि छठा गुणस्थान भावलिंगी मुनि के सप्तम गुणस्थान से उतरने पर ही होता है।

जब द्रव्यस्त्रीवेदी को क्षायिक सम्यक्त्व ही नहीं हो सकता है तब मोक्ष की बात तो बहुत ही दूर रह जाती है। यथा—

"मनुष्यिनियों[2] के तीनों—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व होते हैं किन्तु ये पर्याप्त मनुष्यिनी के ही होते हैं अपर्याप्त के नहीं। क्षायिक सम्यक्त्व पुनः भाववेद की अपेक्षा से ही है, न कि द्रव्यवेद की अपेक्षा से।" क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति कर्मभूमि के मनुष्य को ही होती है।

"दर्शन मोहनीय[3] कर्म के क्षय होने का प्रारम्भ केवली के पादमूल में कर्मभूमि का उत्पन्न

---

१. सेवट्टेज य गम्मइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलोत्ति। तत्तो हु जुगलजुगले खीलियणारायणद्धोत्ति ।।२६।। (गोम्मटसार कर्मकांड)
२. सर्वार्थ सिद्धि सूत्र ७वीं की टीका में..... मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम् क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव।
३. दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु। मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ।।६४८।। (गोम्मटसार जीवकांड)

हुआ मनुष्य ही करता है तथा निष्ठापन (पूर्ण करना) सर्वत्र होता है।" अतः स्त्री को मुक्ति मानना सिद्धांत विरुद्ध है।

क्षुल्लिका—दिगम्बर सम्प्रदाय की साध्वियों में दो भेद हैं—आर्यिका और क्षुल्लिका। अभी तक संक्षेप से आर्यिका का स्वरूप बतलाया है अब क्षुल्लिका का स्वरूप बतलाते हैं। यह आर्यिकापद स्त्री पर्याय में सबसे उत्कृष्ट है चरम सीमा को प्राप्त है इससे ऊंचा पद अब इनमें नहीं हो सकता है।

ग्यारह प्रतिमा—पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक श्रावक के ११ स्थान होते हैं। उनके दर्शन प्रतिमा आदि नाम हैं—

१. दर्शनप्रतिमा[1]—शुद्ध सम्यग्दर्शनधारी, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त, पंचपरमेष्ठी का उपासक, वास्तविक मार्ग में चलने वाला श्रावक दर्शनप्रतिमा धारी है।

२. व्रतप्रतिमा—अतिचार रहित पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन करने वाला द्वितीय व्रतप्रतिमाधारी है।

३. सामायिकप्रतिमा—विधिवत् त्रिकाल सामायिक करने वाला तृतीय प्रतिमाधारी है।

४. प्रोषधप्रतिमा—प्रत्येक मास की दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी को उत्कृष्ट प्रोषधोपवास या उपवास या जघन्य रूप से एकाशन करने वाला चतुर्थ प्रतिमाधारी है।

५. सचित्तत्यागप्रतिमा—मूल, फल, शाक आदि को प्रासुक कर के खाने वाला एवं जल को भी प्रासुक करके पीने वाला पंचम प्रतिमाधारी है।

६. रात्रिभुतिक्तविरतप्रतिमा—रात्रि में अन्न आदि चारों प्रकार के आहार की अनुमति का त्याग करने वाला छठी प्रतिमाधारी है।

७. ब्रह्मचर्यप्रतिमा—पूर्णतया मैथुन से विरक्त होकर ब्रह्मचर्य पालन करने वाला सप्तम प्रतिमाधारी है।

८. आरंभत्यागप्रतिमा—सेवा, कृषि, व्यापार आदि आरम्भ का त्याग करने वाला आठवीं प्रतिमाधारी है।

९. परिग्रहत्यागप्रतिमा—अपने उपयोग में आने वाले परिग्रह से अतिरिक्त धन धान्यादि परिग्रह का त्याग करने वाला नवमी प्रतिमाधारी है।

१०. अनुमतित्यागप्रतिमा—गृहसम्बन्धी, विवाह या व्यापारसम्बन्धी अनुमति को नहीं देने वाला दसवीं प्रतिमाधारी है।

---

१. रत्नकरंड श्रावकाचार के आधार से।

११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—गृह का त्याग करके मुनियों के संघ में जाकर व्रतों को ग्रहण कर भिक्षावृत्ति से भोजन करने वाला खंडवस्त्रधारी, उत्कृष्ट श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमाधारी है।

इनमें से प्रथम छह प्रतिमा तक श्राविकायें गृहस्थावस्था में होती हैं। सप्तम प्रतिमा धारण करने वाली ब्रह्मचारिणी होती हैं। ये घर में रह सकती हैं अथवा गृह त्यागे या बिना त्यागे भी आर्यिकाओं के संघ में रहती हैं। ये शुद्ध भोजन बनाकर पात्रों को आहार देकर स्वयं भोजन करती हैं अथवा श्रावकों के द्वारा भक्तिपूर्वक निमंत्रण दिये जाने पर मुनि आर्यिकाओं के आहार के बाद उनके घर में भोजन कर सकती हैं। ये ब्रह्मचारिणी प्रायः एक बार शुद्ध भोजन और सायंकाल में दूध फल आदि अल्पाहार करती हैं तथा अस्वस्थ अवस्था में एक दो बार जल या शुद्ध औषधि भी ले सकती हैं।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के दो भेद हैं—ऐलक और क्षुल्लक। क्षुल्लक के हाथ में मयूर[1] पिच्छिका और काठ का कमंडलु रहता है। लंगोटी और चादर रहती है। चादर खंडवस्त्ररूप है अर्थात् कुछ छोटी रहती है। ऐसे दो लंगोटी और दो चादररूप परिग्रह इनके पास होता है। आचार्यदेव इन्हें 'क्षुल्लक दीक्षा विधि' से दीक्षा देते हैं जिसकी सारी क्रियायें प्रायः मुनिदीक्षावत् ही रहती हैं। ये चाहें तो केशलोच करें अथवा कैंची आदि से भी शिर दाढ़ी और मूँछ के केश निकालते हैं। गुरु की आज्ञा से पात्र रखते हैं उसमें आहार करते हैं या गुरु के पीछे गोचरीवृत्ति से जाकर श्रावक के यहां पड़गाहन विधि से पहुंचकर अर्घ्य चढ़ाने आदि के बाद कटोरी अथवा थाली में आहार कर लेते हैं।

ऐलक एक लंगोटी मात्र रखते हैं। अपने केशों को हाथ से ही उखाड़ते हैं अर्थात् केशलोंच करते हैं और करपात्र में ही आहार लेते हैं। इतना ही इन दोनों में अंतर है।

इस ग्यारहवीं प्रतिमा में स्त्रियों के लिये दो भेद नहीं हैं। वे मात्र क्षुल्लक के सदृश चर्या करने वाली क्षुल्लिका कहलाती हैं। इनके पास एक धोती और एक चादर रहता है। ऐसे दो वस्त्र रहते हैं। ये केशलोंच करती हैं अथवा कैंची से दो, तीन या चार महीने में शिर के केश निकाल सकती हैं। ये भी आर्यिकाओं के पास में रहती हैं उनके पीछे आहार को निकलकर पड़गाहन विधि से श्रावकों के यहां स्वयं के पात्र में अथवा श्रावक के पात्र में आहार करके आती हैं।

क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं को आहार के समय उत्तरीय वस्त्र-दुपट्टा अलग रख देना चाहिये।

इस प्रकार से दिगंबर संप्रदाय की साध्वियों में क्षुल्लिका और आर्यिका ऐसे दो भेद हो जाते हैं। दोनों के पास मयूर पिच्छिका है। पहचान के लिये क्षुल्लिका के पास चादर रहती है। आर्यिकाओं के मात्र एक साड़ी होती है।

---

१. 'मयूर पिच्छिका क्षुल्लक अभयरुचि और क्षुल्लिका अभयमति के पास थीं।' (यशस्तिलकचंपू पृ. १३७)

चतुर्विध संघ की संख्या—

मुनि, आर्यिका और श्रावक, श्राविका इनके समूह को चतुर्विध संघ कहते हैं। इनके नायक को आचार्य कहते हैं। श्रावक श्राविकाओं में अव्रती, छात्र, छात्राओं से तथा प्रथम प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक क्षुल्लक, ऐलक और क्षुल्लिकायें सभी आ जाते हैं।

समवसरण में चतुर्विध[1] संघ की संख्या को बताते हैं। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समवसरण में वृषभसेन आदि ८४ गणधर, ८४००० मुनि, ३५०००० आर्यिका, ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थीं, ऐसे अजितनाथ से लेकर महावीर स्वामी के चतुर्विध संघ हुये हैं।

चौबीस तीर्थंकरों के गणधरों की संख्या

१.	वृषभसेन आदि	८४	१३.	जय आदि	५५
२.	सिंहसेन आदि	९०	१४.	अदिष्ट आदि	५०
३.	चारुदत्त आदि	१०५	१५.	अरिष्टसेन आदि	३
४.	वज्रचामर आदि	१०३	१६.	चक्रायुध आदि	३६
५.	वज्र आदि	११६	१७.	स्वयंभू आदि	३५
६.	चमर आदि	१११	१८.	कुंभ आदि	३५
७.	बलदत्त आदि	९५	१९.	विशाख आदि	२८
८.	वैदर्भ आदि	९३	२०.	मल्लि आदि	१८
९.	अनगार आदि	८८	२१.	सुप्रभ आदि	१७
१०.	कुंथु आदि	८७	२२.	वरदत्त आदि	११
११.	धर्म आदि	७७	२३.	स्वयंभू आदि	१०
१२.	मंदिर आदि	६६	२४.	इंद्रभूति आदि	११

	मुनि	आर्यिका	श्रावक	श्राविका
१.	८४,०००	३,५०,०००	३,००,०००	५,००,०००
२.	१,००,०००	३,२०,०००	३,००,०००	५,००,०००
३.	२,००,०००	३,३०,०००	३,००,०००	५,००,०००
४.	३,००,०००	३,३०,६००	३,००,०००	५,००,०००
५.	३,२०,०००	३,३०,०००	३,००,०००	५,००,०००

१. तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४। विशेष - मुनियों का कुल जोड़ २८४८००० आर्यिकाओं का ५०५६२५० है। श्रावकों की संख्या ४८००००० एवं श्राविकाओं की संख्या ९६००००० कही गई है।

६.	३,३०,०००	४,२०,०००	३,००,०००	५,००,०००
७.	३,००,०००	३,३०,०००	३,००,०००	५,००,०००
८.	२,५०,०००	३,८०,०००	३,००,०००	५,००,०००
९.	२,००,०००	३,८०,०००	२,००,०००	४,००,०००
१०.	१,००,०००	३,८०,०००	२,००,०००	४,००,०००
११.	८४,०००	१,३०,०००	२,००,०००	४,००,०००
१२.	७२,०००	१,०६,०००	२,००,०००	४,००,०००
१३.	६८,०००	१,०३,०००	२,००,०००	४,००,०००
१४.	६६,०००	१,०८,०००	२,००,०००	४,००,०००
१५.	६४,०००	६२,४००	२,००,०००	४,००,०००
१६.	६२,०००	६०,३००	२,००,०००	४,००,०००
१७.	६०,०००	६०,३५०	१,००,०००	३,००,०००
१८.	५०,०००	६०,०००	१,००,०००	३,००,०००
१९.	४०,०००	५५,०००	१,००,०००	३,००,०००
२०.	३०,०००	५०,०००	१,००,०००	३,००,०००
२१.	२०,०००	४५,०००	१,००,०००	३,००,०००
२२.	१८,०००	४०,०००	१,००,०००	३,००,०००
२३.	१६,०००	३८,०००	१,००,०००	३,००,०००
२४.	१४,०००	३६,०००	१,००,०००	३,००,०००

इनमें से प्रमुख गणधर महामुनि और गणिनी आर्यिका के नाम बताते हैं - **प्रथम तीर्थंकर के प्रमुख गणधर वृषभसेन थे द्वितीयादि तीर्थंकर के क्रम से सिंहसेन, चारुदत्त, वज्रचमर, वज्र, चमर, बलदत्त, वैदर्भ, नाग, कुंथु, धर्म, मंदिर, जय, अरिष्ट, सेन, चक्रायुध, स्वयंभू, कुम्भ, विशाख, मल्लि, सुप्रभ, वरदत्त, स्वयंभू और इंद्रभूति।**

आर्यिकाओं में ब्राह्मी, प्रकुब्जा, धर्मश्री, मेरुषेणा, अनंता, रतिषेणा, मीना, वरुणा, घोषा, धरणा, चारणा, वरसेना, पद्मा, सर्वश्री, सव्रता, हरिषेणा, भाविता, कुंथुसेना, मधुसेना, पूर्वदत्ता, मार्गिणी, यक्षी, सुलोका और चंदना ये प्रमुख आर्यिकायें हैं। इनके अतिरिक्त भी तीर्थंकरों के मध्य काल में अनेकों आर्यिकायें हो चुकी हैं।

ऐतिहासिक आर्यिकायें -

इस युग में चतुर्थकाल प्रारंभ होने के पहले ही भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद उनके ही पुत्र वृषभसेन जो कि पुरिमताल नगर के राजा थे। वे प्रभु से मुनि दीक्षा लेकर भगवान् के प्रथम गणधर हो गये तथा भगवान की ही पुत्री[1] ब्राह्मी जो कि भरत चक्री की छोटी बहन थी, वह भी विरक्त होकर गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्यिका हो गई और बाहुबली जी की छोटी बहन सुंदरी भी आर्यिका हो गई। ये ब्राह्मी समस्त आयिर्काओं में गणिनी स्वामिनी थीं। अन्यत्र[2] भी कहा है - धैर्य से युक्त[3] ब्राह्मी और सुंदरी नामक दोनों कुमारियां अनेक-स्त्रियों के साथ दीक्षा ले आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गईं।

भरत के सेनापति जयकुमार की दीक्षा के बाद सुलोचना[4] ने भी ब्राह्मी आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली। अन्यत्र[5] भी कहा है - दुष्ट संसार के स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ श्वेत साड़ी धारण कर ब्राह्मी तथा सुंदरी के पास दीक्षा धारण कर ली। मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान के गणधर हो गये और सुलोचना आर्यिका भी ग्यारह अंगों की धारक हो गई।

आर्यिकाओं की गणिनी से दीक्षा के विषय में और भी अनेकों प्रमाण हैं—'कुबेर मित्र की स्त्री धनवती ने संघ की स्वामिनी अमितमति के पास दीक्षा धारण कर ली और उन यशस्वती और गुणवती आर्यिकाओं की माता कुबेरसेना ने भी अपनी पुत्री के समीप दीक्षा ले ली।'

बनवास के प्रसंग में जब मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने यह सुना कि कलिंगाधिपति अतिवीर्य राजा भरत के राज्य पर चढ़ाई करने वाला है तब अतिवीर्य को पराजित करने का उपाय सोचा-

'दूसरे[6] दिन डेरे से निकल कर राम ने आर्यिकाओं से सहित जिन मंदिर देखा सो हाथ जोड़ कर बड़ी भक्ति से उसमें प्रवेश किया। वहाँ जिनेन्द्र भगवान् को तथा आर्यिकाओं को नमस्कार किया, वहां आर्यिकाओं की जो वरथर्मा नाम की गणिनी थीं उनके पास सीता को रक्खा तथा सीता के पास ही अपने सब शस्त्र छोड़े।

---

१. भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्। गणिनीपदमार्यायां सा भेजे पूजितामरैः।। (आदि पुराण पृ. ५६२)

२.ब्राह्मी च सुंदरी चोभे कुमार्यौ धैर्यसंगते, प्रव्रज्य वहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते ।।(हरि वंशपुराण पृ.१८३)

३.इनके बारे में जो यह किंवदती है कि पिताजी ऋषभदेव उनका विवाह करते तो उन्हें उन जामाताओं को नमस्कार करना पड़ता, इसलिये उन्होंने ब्याह नहीं किया। अथवा वे प्रभु की इस चिंता को दूर करने के लिये बाल ब्रह्मचारिणी रहीं। यह कल्पना बिल्कुल गलत है। भरत चक्री ने हजारों कन्याओं को विवाहा था तब क्या उनके पिता (अपने श्वसुर) को नमस्कार किया था या अपनी हजारों कन्याओं के पतियों को भी क्या नमस्कार किया था? अर्थात् नहीं किया था।

४. सुलोचनाथ ....। ब्राह्मी समीपे प्रव्रज्य भाविसिद्धिश्चिरं तपः ।। (आदि पुराण द्वि. पृ.५०३)

५.दुःसंसारस्वभवाज्ञा सपत्नीभिः सितांबरा, ब्राह्मी च सुंदरी श्रित्वा प्रवव्राज सुलोचना ।।५१।।
द्वादशांग ...। एकादशांगभृज्ज्ञाता सार्यिकाऽपि सुलोचना ।।५२।। (हरिवंशपुराण पृ. २१३)

६. (पद्मपुराण तृतीय पुस्तक पृष्ठ-१५१)

वेष बदलकर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों ही अतिवीर्य की सभा में पहुँच कर उसे पकड़कर हाथी पर सवार हो अपने परिजन के साथ वापस जिनमंदिर आ गये। वहां हाथी से उतरकर मंदिर में प्रवेश कर जिनेंद्र भगवान की बड़ी भारी पूजा की। मन्दिर में सर्वसंघ के साथ जो वरधर्मा नाम की गणिनी ठहरी हुई थीं। रामचन्द्र ने सीता के साथ संतुष्ट होकर उनकी भी पूजा की।'

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वकाल में भी आर्यिकायें जिनमंदिर में रहती थीं और बलभद्र, नारायण आदि महापुरुष उनकी वंदना पूजा किया करते थे।

'रावण के मरण के बाद मंदोदरी[1] ने भी शशिकांता आर्यिका के मनोहारी वचनों से प्रबोध को प्राप्त हो उत्कृष्ट संवेग और उत्तम गुणों को प्राप्त हुई गृहस्थ के वेषभूषा को छोड़कर श्वेत साड़ी से आवृत्त हुई आर्यिका हो गई। उस समय अड़तालीस हजार स्त्रियों ने संयम धारण किया था। इन्हीं में रावण की बहन जो कि खरदूषण की पत्नी थी उस चन्द्रनखा ने भी दीक्षा ले ली थी।

माता कैकयी भरत की दीक्षा के बाद विरक्त हो "एक सफेद साड़ी से युक्त होकर तीन सौ स्त्रियों के साथ 'प्रथिवीमती' आर्यिका के पास दीक्षित हो गई थीं।

अग्नि परीक्षा के बाद श्री रामचन्द्र जी ने सीता से घर चलने को कहा तब सीता ने कहा कि अब मैं 'जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूंगी'। वहीं केशलोच करके पुनः शीघ्र ही पृथिवीमती आर्यिका के पास दीक्षित हो गई।

उनके बारे में लिखा है कि वह वस्त्र मात्र परिग्रह धारिणी महाव्रतों से पवित्र-अंग वाली महासंवेग को प्राप्त थीं[2]।

हनुमान विरक्त होकर धर्मरत्न[3] मुनिराज के समीप मुनि हो गये तब उनके साथ सात सौ पचास विद्याधर राजाओं ने भी दीक्षा ले ली। उसी समय शील रूपी आभूषणों को धारण करने वाली राजस्त्रियों ने 'बंधुमती' आर्यिका के पास दीक्षा ले ली।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र ने श्री सुव्रत मुनिराज से दीक्षा धारण की थी उस समय कुछ अधिक सोलह हजार साधु हुये और सत्ताईस हजार प्रमुख स्त्रियां 'श्रीमती' नामक आर्यिका के पास आर्यिका हुईं[4]।

सीता के आर्यिका जीवन का वर्णन करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं कि -धूलि से मलिन वस्त्र से

१.त्यक्ताशेषगृहस्थवेषरचना मंदोदरी संयता। ... शुक्लैकवस्त्रावृता।
... लब्ध्वा बोधिमनुत्तमां शशिनखा -, चत्वारिंशदथाष्टकं सुमनसां ज्ञेयं सहस्राणि हि।। (पद्म पुराण तृ. पु.पृ.८७)
२. साहं दुःखक्षयाकांक्षा दीक्षां जैनेश्वरी भजे ..... महाव्रतपवित्रांगा महासंवेगसंगता ।। (पद्म पुराण तृ.पृ. २८४)
३. महाव्रतधरः श्रीमान श्रीशैलः शुशुभेतरां । (पद्म पुराण तृ.पृ. ३६२)
४. ... सप्तविंशसहस्राणि प्रधानवरयोषितां। श्रीमती श्रमणी पार्श्वे बभूवुः परमार्यिकाः ।। (पद्म पुराण तृ.पृ. ३९५)

जिसका वक्षःस्थल तथा शिर के बाल सदा आच्छादित रहते थे, जो स्नान के अभाव में पसीना से उत्पन्न मैलरूपी कंचुक को धारण कर रही थी, जो चार दिन, पक्ष आदि के उपवास करती थी ... शीलव्रत और मूलगुणों के पालन में तत्पर ... अध्यात्म के चिंतन में लीन रहती थीं ... विहार के समय उसे अपने और पराये लोग भी नहीं पहचान पाते थे .. इस प्रकार बासठ वर्ष तक उत्कृष्ट तप करके तथा पैंतीस दिन की उत्तम सल्लेखना धारण कर वह आर्यिका सीता इस शरीर को छोड़कर आरण अच्युत युगल के प्रतीन्द्र पद को प्राप्त हो गई अर्थात् स्त्रीलिंग को छोड़कर प्रतीन्द्र हो गई[1]।"

किसी समय "कनकोदरी[2] महादेवी पट्टरानी ने अभिमान वश सौत के प्रति क्रोध करने से गृह चैत्यालय की जिनेंद्रदेव की प्रतिमा को घर के बाहरी भाग में फिंकवा दिया। इसी बीच में संयमश्री नामक आर्यिका ने भिक्षा के लिये इसके घर में प्रवेश किया। संसार में प्रसिद्ध महातपस्विनी संयमश्री ने जिनेंद्र की प्रतिमा का अनादर देखकर दुःखी होकर आहार का त्याग कर दिया और कनकोदरी को उपदेश देना शुरू किया तथा कहा कि यदि मैं इस नरक में निवास कराने वाले प्रसंग में तुझे संबोधित न करूं तो मुझे भी प्रमाद का बहुत बड़ा दोष होगा इत्यादि उपदेश सुनकर कनकोदरी संसार के दुःखों से डर गई और आर्यिका श्री से सम्यक्त्व और श्रावक के व्रत ले लिये। प्रतिमा जी को पूर्व स्थान में विराजमान करके नाना प्रकार से उनकी पूजा करके प्रयश्चित्त आदि किया। वही अंजना हुई तब उसी पाप के फल से उसे बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहना पड़ा था।"

भगवान नेमिनाथ को केवलज्ञान होने के बाद समवसरण रचना हो गई। "उस समय राजा वरदत्त ने प्रभु से दीक्षा लेकर गणधर पद प्राप्त किया और राजीमती[3] भी छह हजार रानियों के साथ में दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रधान गणिनी हो गई।"

इस कथन से यह समझना जो यह किंवदंती है कि नेमिनाथ के दीक्षित होने पर राजुल रोती रोती वहाँ गई और दीक्षित हो गई सो गलत है। राजुलमती ने प्रभु को केवलज्ञान होने के बाद ही दीक्षा ली है। तीर्थंकर दीक्षा लेने के बाद मौन रहते हैं और किसी को दीक्षा भी नहीं देते हैं।

राजा चेटक[4] की पुत्री चंदना कुमारी, एक स्वच्छ वस्त्र धारणकर (भगवान महावीर के समवसरण में) आर्यिकाओं में प्रमुख हो गई।

रानी चेलना[5] राजा श्रेणिक की मृत्यु के बाद भगवान के समवसरण में चंदना गणिनी के पास जाकर दीक्षित हो गई जो कि चंदना की बड़ी बहन थीं।

---

१. महासंवेग संपन्ना .... प्रतीन्द्रत्वमुपागतं।। (पद्म पु. तृ.पु. श्लो.८ से १८, पृ.३२८)

२.... महादेव्यभिमानेन सपत्न्यै क्रुद्धया तया ...अकार्षीत् समयं कंचित्तेनासौ दुःखमागतं ।। (पद्म पु. तृ. श्लो. १६८ से १६८ पृ.३८३)

३.षट्सहस्र नृपस्त्रीभिः सह राजीमती तदा। प्रव्रज्याग्रेसरी जाता सार्यिकाणां गणस्य तु।।१४६।। (हरिवंशपुराण. पृ.६५६)

४.सुता चेटकराजस्य कुमारी चंदना तदा। धौतैकाम्बरसंवीता जातार्याणां पुरःसरी ।।७०।। (हरि. पृ.१७)

५.श्रेणिक चरित पृ. २८७।

जीवंधर कुमार ने अपने मामा और नंदाढ्य आदि जनों के साथ भगवान के समवसरण में दीक्षा ले ली और उनकी आठों रानियों ने भी महादेवी विजया के साथ चंदना आर्यिका के पास उत्तम संयम धारण कर लिया।

आर्यिकाओं[1] के संघ की एक नवदीक्षिता आर्यिका ने पाँच यारों के साथ लता कुंज में एक वेश्या को प्रवेश करते हुये देखा, एक क्षण के लिये मन में यह भाव आ गया कि ऐसा सुख हमें भी प्राप्त हो, तत्पश्चात् गणिनी के पास जाकर आलोचना करके प्रायश्चित ग्रहण कर लिया फिर भी कालांतर में द्रौपदी की अवस्था में स्वयंवर मंडप में उसने मात्र अर्जुन के गले में माला डाली थी किन्तु हवा से माला का धागा टूट जाने से पांचों पांडवों पर फूल गिर गये। उस समय लोगों ने चर्चा कर दी कि द्रौपदी ने पाँच पति चुने हैं। ऐसा झूठा अपवाद उसे उतने मात्र भावों से हुआ।"

गुणरूपी आभूषण को धारण करने वाली कुंती[2], सुभद्रा तथा द्रौपदी ने भी राजीमती गणिनी के पास उत्कृष्ट दीक्षा ले ली। अंत में तीनों के जीव सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुये हैं आगे वहाँ से च्युत होकर निःसंदेह मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

'कुंती, द्रौपदी तथा सुभद्रा आदि जो स्त्रियां थीं वे सब राजीमती आर्यिका के समीप तप में लीन हो गईं[3]।'

इन सब उदाहरणों से यह देखना है कि पूर्व में आर्यिकायें ही आर्यिका दीक्षा देती थीं। सबसे प्रथम तीर्थंकर देव के समवसरण में जो आर्यिका दीक्षित होती थीं वे ही गणिनी के भार को संभालती थीं। तीर्थंकर देव के अतिरिक्त किन्हीं आचार्यों द्वारा आर्यिका दीक्षा के उदाहरण आगम में प्रायः कम मिलते हैं[4] तथा इन आर्यिकाओं की दीक्षा के लिये जैनेश्वरी दीक्षा शब्द भी आया है। इन्हें "महाव्रत पवित्रांगा" भी कहा है और इन्हें संयमिनी भी संज्ञा दी है। श्रमणी, साध्वी आदि भी नाम कहे हैं। ये आर्यिकायें इंद्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महापुरुषों द्वारा भी वंदनीय रही हैं।

जब[5] आर्यिकाओं के व्रत को उपचार से महाव्रत कहा है और सल्लेखना काल में उपचार से

१.एकदैक्षत वेश्यां च वसंताद्यंतसेनकां। सा सुंदरं वनं प्राप्तामावृतां पंचभिर्विटैः।।६८।।
तां तादृशीं समालोक्य भूयादीदृग्विधंमम। निदानमकरोद् बाला दुर्गंधा बंधुरेति च।।६९।।
...द्रौपद्याः पंचभर्तृत्वसंभवा लोकहास्यदा।।८२।। (पांडव पुराण पृ. ४९१)

२.कुंती सुभद्रा द्रौपद्यश्च दीक्षां ताः परां ययुः। निकटे राजिमत्याख्यगणिन्या गुणभूषणाः।।२६४।। (उत्तर पुराण पृ. ४२४)

३.कुंती च द्रौपदी देवी सुभद्राद्याश्च योषितः। राजीमत्याः समीपे ताः समस्ताः तपसि स्थिताः।। (हरिवंशपुराण पृ.७९६)

४. हरिषेणा, श्रीषेणा नाम की दोनों कन्याओं ने ज्ञानसागर मुनीश्वर से आर्यिका दीक्षा ले ली और विहार करने लगीं। (पांडव पु. पृ. ४८६)
आजकल संघ में प्रायः आचार्यों द्वारा आर्यिका और क्षुल्लिका दीक्षा की पद्धति चल रही है। आचार्य की आज्ञा से प्रमुख आर्यिका भी संस्कार कर देती हैं।

५. आजकल कुछ लोग कहते हैं कि आर्यिकाओं की नवधा-भक्ति पूजा आदि नहीं करना चाहिये। उन्हें सोचना चाहिये कि जब स्वयं श्री कुंदकुंद देव ने कह दिया है कि इनकी सब चर्या मुनि सदृश है केवल वृक्ष मूल योग आदि को छोड़कर, तथा रामचन्द्र जैसे महापुरुष ने भी आर्यिकाओं की पूजा की है। पुनः शंका ही क्या रहती है? अतः इन आर्यिकाओं को अट्ठाईस मूलगुण धारिणी उपचार-महाव्रत सहित मानकर उनकी नवधा भक्ति आदि करना चाहिये।

निर्ग्रन्थता का आरोपण किया है तब वे मुनियों के समान भी वंदनीय क्यों नहीं होंगी? अवश्य होंगी। ऐसा समझकर आगम की मर्यादा को पालते हुये आर्यिकाओं की नवधा भक्ति करके उन्हें आहार दान देना चाहिये और समयानुसार यथोचित भक्ति करना उन्हें पिच्छी, कमंडलु, शास्त्र, वस्त्र (सफेद साड़ी) आदि दान भी देना चाहिये।

वर्तमान आर्यिकायें —

पूर्वकाल में जैसे आर्यिकायें आचार्यों के संघ में भी रहती थीं और पृथक् भी आर्यिका संघ सहित विचरण करती थीं वैसे ही आज भी इस शताब्दी में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने सबसे प्रथम ब्रह्मचारी श्री हीरालाल जी को मुनि दीक्षा देकर मुनि श्री वीरसागर जी नाम रखा तथा सबसे प्रथम ब्रह्मचारिणी को आर्यिका दीक्षा देकर चंद्रमती नाम प्रसिद्ध किया। अनंतर कितने ही मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, ऐलक, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी आदि बनाये। उन्हीं के शिष्य प्रशिष्यों से अनेकों मुनि दीक्षायें हुई हैं और अनेकों आर्यिकायें, क्षुल्लक, क्षुल्लिकायें हुई हैं।

आचार्य श्री के पट्ट पर उन्हीं के आदेश से उन्हीं के प्रथम शिष्य वीरसागर जी आचार्य बने जिन्होंने हमें भी महाव्रत दीक्षा देकर पवित्र किया है। उन्हीं के पट्ट पर उनके प्रथम शिष्य श्री शिवसागर जी आचार्य बने। पुनः उनके पट्टाधीश आचार्य वीरसागर के द्वितीय शिष्य धर्मसागर जी आचार्य हुये हैं। आज[1] उनके संघ में सत्तरह मुनिराज विद्यमान हैं एक ऐलक और एक क्षुल्लक हैं। ज्ञानमती आर्यिका को आदि लेकर पच्चीस आर्यिकायें विद्यमान हैं तथा अन्य ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी गण हैं।

आचार्य श्री देशभूषण जी के संघ में, आचार्य श्री विमलसागर जी के संघ में, आचार्य श्री सन्मतिसागर जी के संघ में एवं आ.कल्प श्री श्रुतसागर जी के संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ऐसा चतुर्विध समूह विद्यमान है। और भी कई मुनि संघ तथा आर्यिका संघ हैं।

वर्तमान चर्या —

वर्तमान में आर्यिकायें अपनी प्रमुख आर्यिका के अनुशासन में रहती हैं चाहे आचार्य संघ में हो चाहे आर्यिका संघ में, नियमित रूप से गुर्वानी की आज्ञा का पालन करती हैं। प्रमुख आर्यिकायें उन्हें पढ़ाती हैं। छहढाला, द्रव्य संग्रह, तत्त्वार्थ सूत्र, गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि, समयसार, राजवार्तिक, अष्टसहस्री, धवला, व्याकरण, छंद, अलंकार, काव्य आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराती हैं। प्रातः या मध्यान्ह में अथवा दोनों समय श्रावकों की विशाल सभा में प्रवचन करती हैं। लौकिक जनों को सभाओं में उपदेश देती हैं। किन्हीं-किन्ही आर्यिकाओं ने अतीव क्लिष्ट न्याय और सिद्धान्त ग्रन्थों का अनुवाद भी किया है जोकि श्रावकों द्वारा मुद्रित होकर

---

१. १९७६ में यह आर्यिकाचर्या लिखी गई है। उस समय के अनुसार यह संख्या है।

प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ आर्यिकायें स्वतंत्र ग्रन्थ रचनायें भी करती हैं। प्राचीन काल में बालक-बालिकायें मुनि आर्यिकाओं के पास अध्ययन करते थे, पुनः घर जाकर श्रावक भी बनते थे या मुनि आर्यिका ही बन जाते थे। उदाहरण के लिये श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली, बहुत ही छोटी बालक अवस्था में गुरु के पास पढ़कर अनन्तर मुनि हुये थे। ऐसे ही आचार्य जिनसेन आदि के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। आर्यिकाओं के पास भी पढ़ने की प्रथा मैनासुन्दरी आदि के उदाहरणों से प्रसिद्ध है। आज भी संघ में बालक-बालिकायें अध्ययन करते हैं। आगे स्वरुचि के अनुसार ब्रह्मचर्यव्रत या दीक्षा भी ले लेते हैं।

संघ में कुछ छात्र, छात्रायें धार्मिक अध्ययन करके शास्त्री, न्यायतीर्थ आदि की परीक्षायें भी उत्तीर्ण करते हैं। कुछ विदुषी आर्यिकाओं की दैनिक चर्या में पठन-पाठन, लेखन और अनुवादन कार्य ही प्रधान रहते हैं। कुछ अल्पज्ञ आर्यिकायें शांतचित्त से अपने योग्य ग्रन्थों के स्वाध्याय में लगी रहती हैं।

ये सभी तीनों काल सामायिक करती हैं। दोनों समय सामूहिक प्रतिक्रमण करती हैं पुनः सामूहिक स्वाध्याय में उपस्थित होती हैं। नवदीक्षितायें सदैव अपने अध्ययन के अभ्यास में लगी रहती हैं अतः इन्हें लौकिक प्रपंचों का अवकाश ही नहीं मिल पाता है। यदि कदाचित् कोई आर्यिका लौकिक कथाओं में समय नष्ट करती है या ईर्ष्या द्वेष कलह करती है तो वह गुरुओं द्वारा अनुशासित होती हैं आर्यिकायें गृहस्थों के घर नहीं जाती हैं, न लौकिक कार्यों को करती हैं न सांसारिक उत्सवों में भाग लेती हैं। धर्म प्रभावना, पंच कल्याणक प्रतिष्ठा, सिद्ध चक्र विधान, जिनेन्द्र रथ यात्रा आदि में श्रावकों द्वारा बुलाने पर जाती हैं। इन कार्यों में मार्गदर्शन उपदेश आदि भी करती हैं।

आर्यिकायें आर्यिकाओं को वंदामि, मुनियों को नमोस्तु करती हैं। श्रावक, श्राविकायें मुनियों को 'नमोस्तु', आर्यिकाओं को 'वंदामि', ऐलक क्षुल्लक व क्षुल्लिकाओं को 'इच्छामि' तथा ब्रह्मचारी गणों को 'वंदना' करते हैं। आर्यिकायें आर्यिकाओं को 'वंदामि', क्षुल्लक आदि से ब्रह्मचारी आदि प्रतिमाधारी तक को समाधिरस्तु आशीर्वाद, अव्रती श्रावकों को सद्धर्मवृद्धिरस्तु, अन्यधर्मियों को 'धर्मलाभोऽस्तु' तथा चांडालादि को 'पापंक्षयोस्तु' आशीर्वाद देती हैं। क्षुल्लिका पहले क्षुल्लक को इच्छामि करती हैं पुनः वे भी 'इच्छामि' कहते हैं। एक दिन का भी दीक्षित मुनि पुरानी दीक्षित आर्यिका से बड़ा माना जाता है। वैसे ही एक दिन का क्षुल्लक भी पुरानी दीक्षित क्षुल्लिका से बड़ा होता है। ऐलक भी आर्यिका को वंदामि करते हैं तथा आपस में इच्छामि करते हैं।

श्रावक इन मुनि संघ अथवा आर्यिका संघ को अपने ग्राम या तीर्थयात्रा आदि में ले जाना

श्रावक इन मुनि संघ अथवा आर्यिका संघ को अपने ग्राम या तीर्थयात्रा आदि में ले जाना चाहते हैं तो विनय से श्रीफल आदि चढ़ा कर प्रार्थना करके विहार कराते हैं। मार्ग में आहार आदि की व्यवस्था करते हैं। कदाचित् संघस्थ ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणीगण अथवा छात्र, छात्रायें भी स्वयं आहार आदि की व्यवस्था संभालते हैं। शीतऋतु में श्रावक इन मुनि आर्यिकाओं को संस्तर के लिये शालि की घास या कोंदों की घास लाते हैं। इसी पर ये शयन करती हैं। गर्मी में लकड़ी के पाटे या तृण की चटाई पर शयन करती हैं। इन घास, चटाई या पाटा आदि को शाम के समय देखकर शोधकर बिछा लेती हैं पुनः प्रातःकाल में देख शोधकर रखती हैं इसे 'संस्तर शोधन' कहते हैं।''

इनके स्वाध्याय के लिये या लेखन कार्य के लिये ग्रन्थ, स्याही, कलम आदि की व्यवस्था श्रावक श्राविकायें करते हैं। वस्त्र फटने पर वस्त्र बदलाते हैं। पिच्छी के मयूर पंख लाकर देते हैं। आर्यिकायें भी विधिवत् श्रावक के यहां करपात्र में ही आहार लेती हैं। इनके मलमूत्र विसर्जन के लिये वसतिका के निकट श्रावक मर्यादित स्थान बनवा देते हैं जिससे कि बाल, वृद्ध या रुग्ण आर्यिकाओं को सुविधा रहती है।

आर्यिकायें आपस में बड़े प्रेम से धर्माराधना करते हुए रहती हैं। एक दूसरे की अनुकूलता रखते हुये आगम और लोक की मर्यादा को निभाती हैं। ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, झूठ, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्भावों से अपने संयम को और मन को मलिन नहीं करती हैं। किसी आर्यिका के अस्वस्थ होने पर अन्य आर्यिका उसे धर्मरूपी अमृत को पिलाती रहती हैं और श्राविकाओं द्वारा अनुकूल प्रासुक औषधि की व्यवस्था कराकर आहार काल में पहुंचवाती हैं। नवदीक्षिताओं को संयम में, धर्म में स्थिर करती हैं। जिनके निमित्त से मोक्ष मार्ग प्राप्त हुआ है या जिनसे वैराग्य अथवा सम्यग्ज्ञान मिला है अथवा जिनसे धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया है उनके उपकार को सर्वोपरि मानकर सतत मन, वचन, काय से उनकी सेवा, आराधना, अर्चना, भक्ति और उपासना करती हैं। अपने पद के विरुद्ध श्रावकोचित ऐसे कार्यों को नहीं करती हैं। जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति में लीन होकर स्तोत्र पाठ, भक्ति पाठ, जाप्य आदि करती हैं। पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान का भी अभ्यास करती हैं। आज भी ऐसे हीन दुःषम काल में एक-एक महीने तक भी उपवास करने वाली आर्यिकायें हो चुकी हैं। अभी भी आठ, दस, सोलह उपवास, एकांतर उपवास आदि से शरीर को क्षीण करने वाली तथा वैराग्य मार्ग को प्रशस्त बनाने वाली आर्यिकायें विद्यमान हैं। ये सम्यक्त्व सहित निर्दोषतया व्रतों का पालन करते हुये निश्चित ही स्त्री पर्याय से छूटकर स्वर्ग

के सुखों का अनुभव करेंगी। वहाँ पर सम्यक्त्व के प्रभाव से जिनेंद्रदेव के पंचकल्याणकों में जाकर व अकृत्रिम जिन चैत्यालय की वंदना करते हुए तथा समवसरण में जिनेन्द्र देव का साक्षात् दिव्य उपदेश सुनते हुए कालयापन करके वहाँ से आकर मनुष्य भव को प्राप्त कर निर्ग्रंथ दीक्षा लेकर कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त करेंगी।

पंचमकाल के अंत में वीरागंज मुनि और सर्वश्री आर्यिका, अग्निदत्त श्रावक और पंगुश्री श्राविका होंगे। वे कल्की राजा द्वारा टैक्स में हाथ के प्रथम ग्रास के मांगे जाने पर सल्लेखना विधि से मरण करके सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे। इसलिये भगवान महावीर के शासन में आज तक २५२६ वर्ष तक अक्षुण्ण जैन शासन और मुनि तथा आर्यिकाओं की परम्परा चली आ रही है और आगे १८४७४ वर्ष तक यह अक्षुण्ण परम्परा चलती रहेगी, इसमें संदेह नहीं है।

इस प्रकार ''महावीर देशना'' ग्रंथ
में 'आर्यिका चर्या' का वर्णन
करने वाला पंचम अधिकार
पूर्ण हुआ।

छठा अधिकार

सुदं मे आउस्संतो

(श्रावक चर्या)

"पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो।"

हे आयुष्मन्तों भव्यों! मैंने प्रथम ही सुना है।

क्या सुना है?

"गिहत्थधम्मं" गृहस्थ धर्म सुना है। किनसे सुना है?

"भयवदा महदिमहावीरेण" भगवान महति महावीर के श्रीमुख से सुना है। वे भगवान महावीर कैसे हैं?

"समणेण महाकस्सवेण सवण्हणाणेण सव्वलोयदरसिणा।" जो श्रमण हैं, महाकाश्यप गोत्र में जन्मे हैं, सर्वज्ञानी हैं और सर्वदर्शी हैं ऐसे भगवान महावीर ने उपदेश दिया है और हमने सुना है।

किसके लिये उपदेश दिया है? "सावयाणं साावियाणं खुड्डयाणं खुड्डीयाणं कारणेण।"

श्रावक और श्राविकाओं के लिये तथा क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के लिए उपदेश दिया है।

क्या उपदेश दिया है? "पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसिदाणि।" पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थधर्म का सम्यक् उपदेश दिया है।

श्री गौतमस्वामी जो भगवान महावीर स्वामी के प्रथम गणधर हुये हैं। उन श्री गौतम स्वामी के द्वारा बनाये गये सूत्ररूप प्रतिक्रमण पाठ आज उपलब्ध हैं जिन्हें मुनि, आर्यिकायें और क्षुल्लक-क्षुल्लिकायें तथा व्रती श्रावकवर्ग प्रतिदिन पढ़ते हैं। ऐसे यतियों का और श्रावकों का दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण पाठ तथा पाक्षिक प्रतिक्रमण नाम से प्रसिद्ध पाक्षिक प्रतिक्रमण मौजूद है। जिसमें प्राकृत के जितने भी दण्डक पाठ व सूत्रपाठ हैं वे सब श्री गौतमस्वामी द्वारा रचित हैं। यह बात टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने कही है तथा अन्य भी आचार्यों ने इन प्रतिक्रमण दण्डक को श्री गौतमस्वामी रचित ही माना है। वे गौतमस्वामी उस पाक्षिक यतिप्रतिक्रमण में उपर्युक्त पंक्तियों को कह रहे हैं कि—

"हे आयुष्मन्तों! मैंने सुना है महाकाश्यप गोत्रीय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, श्रमण भगवान्

महावीर ने श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका इनके लिये पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का सम्यक् उपदेश दिया है।"

यहाँ पर ये पंक्तियाँ बहुत ही महत्व की हैं क्योंकि श्रीगौतमस्वामी मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चारों ज्ञान से सहित थे। बुद्धि, ऋद्धि आदि सात प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित थे। जिन्होंने कुछ दिन कम तीस वर्ष तक बराबर श्री महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि को सुना था तथा जिन्होंने स्वयं ही ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप से ग्रन्थ रचना की थी ऐसे महान् गणधर पूर्ण प्रामाणिक श्री गौतमस्वामी गौरवपूर्ण शब्दों में स्वयं कह रहे हैं कि "मैंने सुना है" तथा अतीव कोमल और प्रिय शब्दों में भक्तों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि "हे आयुष्मन्तों! मैंने सुना है।" इन शब्दों से श्री गणधर देव गृहस्थ धर्म को भगवान् महावीर द्वारा कथित सिद्ध कर रहे हैं, जो कि बारहव्रतरूप है। इन बारह व्रतों में स्वयं गौतम स्वामी के शब्दों में ही आप उनके नाम देखिये—

"तत्थ इमाणि पंचाणुव्वदाणि पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादिवादादो वेरमणं, विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तदिए अणुव्वदे थूलयडे अदत्तादाणादो वेरमणं, चउत्थे अणुव्वदे थूलयडे सदारसंतोस परदारगमणवेरमणं कस्स य पुणु सव्वदो विरदी, पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकदपरिमाणं चेदि, इच्चेदाणि पंच अणुव्वदाणि।"

पांच अणुव्रत—

उन बारह व्रतों में से पहले पाँच अणुव्रत हैं। पहले अणुव्रत में स्थूलरूप से प्राणी-हिंसा से विरति है। दूसरे अणुव्रत में स्थूलरूप से असत्य से विरति है। तीसरे अणुव्रत में स्थूलरूप से बिना दिये हुये परद्रव्य से विरति है। चौथे अणुव्रत में स्वदार संतोष है अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष है और परस्त्री से विरति है इसीलिये यह स्थूलरूप से व्रत है अथवा किसी-किसी की सम्पूर्ण स्त्रीमात्र से ही विरति है। पाँचवें अणुव्रत में अपनी इच्छा के अनुसार परिग्रह का परिमाण किया गया है। इसलिये इसमें भी परिग्रह का पूर्ण त्याग न होने से स्थूल रूप से विरति है। इसीलिये ये पांच अणुव्रत कहलाते हैं।

इनका विशेष विवरण इस प्रकार है कि पाप पांच होते हैं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। इनका एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और इनका पूर्णतया त्याग कर देना महाव्रत है। यहां पर श्री गौतम स्वामी ने बहुत ही संक्षेप में अहिंसा अणुव्रत का लक्षण कर दिया है कि "स्थूलरूप से प्राणियों की हिंसा का त्याग करना।" श्री उमास्वामी आचार्य ने "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्र में ऐसा कहा है कि प्रमाद के योग से प्राणियों के

प्राणों का घात करना हिंसा है और घात न करना अहिंसा है। यह लक्षण एकदेश से अणुव्रत में और पूर्णरूप से महाव्रत में घटित हो जाता है।

मन, वचन, काय को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर नव भेद हो जाते हैं, जो इन नवकोटि से संकल्पपूर्वक—अभिप्रायपूर्वक त्रस जीवों का घात नहीं करते हैं वे त्रस हिंसा से विरत होने से स्थूलरूप से इस अहिंसाव्रत का पालन करते हैं। चूंकि उनके अभी पांच प्रकार के स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं है इसीलिये ये अणुव्रती कहलाते हैं तथा जो त्रस और स्थावर सभी जीवों की हिंसा का त्याग कर देते हैं उनका यही व्रत महाव्रत बन जाता है[1]।

प्रत्येक गृहस्थ को इन पांच अणुव्रतों को ग्रहण करना चाहिये। इन पांचों अणुव्रतों के पांच-पांच अतिचार माने गये हैं। अणुव्रती श्रावक का कर्त्तव्य है कि उन अतिचारों का भी त्याग कर देवे। जो गृहस्थ इन अणुव्रतों को धारण करता है, वह गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी सदा सुखी और संतोषी रहता है। राजनीति के नियमों का उलंघन न होने से उसके व्यापार, उद्योग आदि कार्यों में भी पूर्ण सफलता मिलती है। इस भव में यश और सुख को प्राप्तकर वह परलोक में भी स्वर्गादि के सुखों का अनुभव करता है। सिद्धान्त ग्रन्थों का यह नियम है कि अणुव्रती नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति में नहीं जाता है। नियम से देवगति में ही जन्म लेता है। कहा भी है—

"अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।"

जिसके देवायु को छोड़कर अन्य आयु का बंध हो गया है वह मनुष्य अणुव्रत या महाव्रत को ग्रहण नहीं कर सकता है।

तीन गुणव्रत—

बारह व्रतों के अंतर्गत तीन गुणव्रत का वर्णन करते हुये श्री गौतमस्वामी कहते हैं—

"तत्थइमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिस पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविधअणत्थदण्डादो वेरमणं, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोगपरिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि।"

उन बारह व्रतों के अंतर्गत ये तीन गुणव्रत हैं। उनमें से पहले गुणव्रत में दिशा-विदिशाओं का प्रत्याख्यान (नियम) किया जाता है। दूसरे गुणव्रत में विविध प्रकार के अनर्थ—दण्ड से विरति होती है। तीसरे गुणव्रत में भोग-उपभोग वस्तुओं का परिसंख्यान—परिमाण किया जाता है। इस प्रकार ये तीन गुणव्रत हैं।

---

१. संकल्पात्कृतकारितमननाद् योगत्रयस्य चरसत्त्वान्। न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलबधाद्विरमणं निपुणाः।। (रत्नकरंडश्रावकाचार)

चार शिक्षाव्रत—

पुनः आगे चार शिक्षाव्रतों को कहते हैं—

"तत्थं इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामायियं, विदिए पोसहोवासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं चेदि। इच्चेदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि।"

उन बारह व्रतों के अंतर्गत ये चार शिक्षाव्रत हैं। उनमें से प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है, दूसरा प्रोषधोपवास व्रत है, तीसरा अतिथिसंविभाग व्रत है और चौथा अंत में सल्लेखना मरण नाम का शिक्षाव्रत है, इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रत हैं।

श्रीकुंदकुंददेव ने भी अपने चारित्रपाहुड़ ग्रन्थ में गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के ये ही नाम कहे हैं। श्री उमास्वामी आचार्य और श्री समंतभद्र स्वामी ने इन सात व्रतों के क्रम में कुछ अंतर रखा है। यथा - "दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथि-संविभागव्रतसंपन्नश्च।।२१।।"

दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरति, ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं।

श्रीसमंतभद्रस्वामी के शब्दों में अन्तर देखिये -

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण व्रत ये तीन गुणव्रत हैं। देशावकाशिकव्रत, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत हैं।

श्रीउमास्वामी आचार्य और श्रीसमंतभद्रस्वामी ने इन बारह व्रतों का वर्णन करने के बाद अंत में सल्लेखना का वर्णन किया है किन्तु श्री गौतमस्वामी ने दिग्व्रत-देशव्रत को एक में ही शामिल कर अतिथिसंविभाग को तृतीय शिक्षाव्रत में लेकर सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत में ही ले लिया है।

ये बारहव्रत धर्म हैं—

"पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हणाणेण सव्वलोयदरिसिणा सावयाणं साियाणं खुड्डयाणं खुड्डियाणं कारणेण पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारहविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि।"

हे आयुष्मन्तों भव्यों! प्रथम ही मैंने सुना है। यहां भरतक्षेत्र के आर्यखंड में महाकाश्यपगोत्री, सर्वज्ञानी, सर्वलोकदर्शी, श्रमण, भगवान महतिमहावीर ने श्रावक-श्राविकाओं और क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं के लिए पंच अणुव्रत आदि बारहविध गृहस्थ धर्म (श्रावक धर्म) का सम्यक् प्रकार से उपदेश दिया है।

उसी के अंतर्गत.....

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ट्ठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ।।

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं।

सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविहं गिहत्थधम्ममणुपालइत्ता।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित राइभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य।।

ये पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म है। इनका पालन करते हुए श्रावक क्रम से ग्यारह स्थानों को प्राप्त करते हैं। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिभक्त त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ निवृत्ति, परिग्रह विरति, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग ये देशव्रत के ग्यारह स्थान हैं।

श्रीगौतमस्वामी ने यहां इन बारहव्रतों को गृहस्थ का धर्म कहा है क्योंकि 'उत्तमे सुखे धरतीति धर्मः।' जो उत्तम सुख में पहुंचावे वही धर्म है।

तथा जो ग्यारह स्थान बताए हैं, इन्हें प्रतिमा भी कहते हैं। इनमें से दर्शन प्रतिमा से लेकर रात्रिभुक्त त्याग प्रतिमा तक—छह प्रतिमा तक के व्रत ग्रहण करने वाले श्रावक गृहस्थ हैं, इन्हें जघन्य श्रावक संज्ञा है। ब्रह्मचर्य व्रत से लेकर परिग्रह विरति तक मध्य के तीन प्रतिमा वाले मध्यम श्रावक हैं तथा अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा वाले उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी तो क्षुल्लक-ऐलक ही होते हैं।

आगे श्री गौतमस्वामी कहते हैं -

महुमंसमज्जजूआ वेसादिविवज्जणासीलो।
पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।।

मधु, मांस, मद्य, जुआ और वैश्या आदि व्यसन इनको त्याग करने वाला, पांच अणुव्रतों से युक्त तथा सात शिक्षाव्रतों से परिपूर्ण गृहस्थ होता है। यहां मद्य, मांस, मधु के त्याग का आदेश दिया है तथा—

जुआ खेलना मांस मद, वेश्यागमन शिकार।
चोरी पररमणीरमण, सातों व्यसन निवार।।

इस प्रकार जुआ और वैश्या 'आदि' शब्द से सातों व्यसनों के त्याग का उपदेश दिया गया समझना चाहिए।

यहां विचारणीय विषय यह है कि गौतमस्वामी जैसे चारज्ञानधारी, सप्तऋद्धि समन्वित, तद्भवमोक्षगामी, गणधरदेव स्वयं गृहस्थ श्रावक को आत्मा-आत्मा का ही उपदेश न देकर मद्य, मांस, मधु त्याग और जुआ आदि व्यसनों के त्याग का उपदेश दे रहे हैं तथा इसे ही वे गृहस्थों के लिए 'धर्म' शब्द से घोषित कर रहे हैं। जो आज इस त्याग की परम्परा को 'धर्म' नहीं कहते हैं उन्हें इन पंक्तियों को देखना चाहिए। ये पंक्तियां साक्षात् गौतमस्वामी के मुखकमल से विनिर्गत हैं।

पुनः वे स्वयं इस गृहस्थ धर्म के फल को बतलाते हुए कहते हैं -

'जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया साविआओ वा खुड्डय, खुड्डियाओ वा अट्ठदह भवणवासिय वाण विंतरजोइसियसोहम्मीसाणदेवीओ वदिक्कमित्तं उवरिम अण्णदर महड्ढियासु देवेसु उववज्जंति।'

जो श्रावक, श्राविकायें अथवा क्षुल्लक-क्षुल्लिकायें इन व्रतों को धारण करते हैं वे दश प्रकार के भवनवासी, आठ प्रकार के व्यंतर, पांच प्रकार के ज्योतिषी और सौधर्म-ईशान स्वर्ग की देवियों का व्यतिक्रम कर ऊपर में अन्य किन्हीं भी महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

सम्यग्दृष्टि और व्रती चाहे स्त्री हों या पुरुष, वे भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देव-देवियों में जन्म नहीं लेते हैं तथा सौधर्म-ईशान स्वर्ग की देवियों में भी जन्म नहीं लेते हैं। अर्थात् कल्पवासी देवों की देवियां दो स्वर्ग तक ही जन्म लेती हैं। आगे तीसरे से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक के देव अपनी-अपनी देवियों की उत्पत्ति ज्ञातकर आकर अपने-अपने स्वर्ग में ले जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कल्पवासी देवियों में भी जन्म नहीं लेते हैं। इनसे अतिरिक्त सोलह स्वर्गों में विशेष-विशेष ऋद्धिधारी देवों में जन्म लेते हैं।

सम्यग्दृष्टि कहां-कहां जन्म लेते हैं? सो ही बताते हैं -

तं जहा—सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबंभबंभुत्तरलांतवकापिट्ठसुक्कमहासुक्कसतारसहस्सार आणतपाणतआरणअच्चुदकप्पेसु उववज्जंति।

अडयंबरसत्थधरा, कडयंगदबद्धनउडकयसोहा।
भासुरवरबोहिधरा, देवा य महड्ढिया होंति।।

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन कल्पों में उत्पन्न होते हैं।

वहां नाना प्रकार के वस्त्र-आभरण-कटक, अंगद, मुकुट आदि से शोभायमान, दिव्य वैक्रियिक शरीर के धारक और देदीप्यमान बोधि के धारक महर्द्धिक देव होते हैं।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित क्षुल्लक, ऐलक आदि जो कि संयमा-संयम को धारण करने वाले पंचमगुणस्थानवर्ती हैं ये सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं। इन कल्पों के ऊपर दिगम्बर मुनि ही जाते हैं। भले ही कोई द्रव्यलिंगी ही क्यों न हो वह भी अंतिम ग्रैवेयक तक जाने की योग्यता रखता है।

यहां पर तो गृहस्थधर्म की महानता को बतलाया है पुनः श्री गणधरदेव कहते हैं -

उक्कस्सेण दो तिण्णि भवगहणाणि जहण्णे सत्तट्ठभवगहणाणि तदो समणुसुत्तादो सुदेवत्तं सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था पच्छा णिग्गंथा होऊण सिज्झंति बुज्झंति मुंचंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति[1]।'

ये श्रावक या श्राविका अथवा क्षुल्लक या क्षुल्लिका उत्कृष्टपने से दो या तीन भव ग्रहण करते हैं, जघन्यरूप से सात या आठ भव ग्रहण करते हैं। इन भवों में भी सुमनुष्यत्व से सुदेवत्व—अच्छे, कुलीन, श्रेष्ठ, राजा, महाराजा आदि मनुष्य होकर उत्कृष्ट जाति के देव हो जाते हैं। सुदेवत्व से सुमनुष्यत्व को प्राप्त कर लेते हैं पुनः अन्तिम भव में नियम से निर्ग्रंथ मुनि होकर सिद्ध हो जाते हैं, बुद्ध हो जाते हैं और परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

यह है गृहस्थ धर्म का फल, श्री गणधर देव के शब्दों में। अतः गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थधर्म का पालन करना कितने महत्व की बात है यह समझना आवश्यक है। वास्तव में जो गृहस्थ मद्य, मांस आदि के त्यागी होते हैं, जुआ आदि दुर्व्यसनों से दूर रहते हैं और अणुव्रतों का पालन करते हैं। वे घर में रहते हुए भी बहुत ही सुखी रहते हैं। राजनैतिक अन्याय न करने से उन्हें मानसिक शांति बनी रहती है। सर्वत्र प्रशंसा के पात्र होते हैं और सभी जनों में विश्वस्तता को भी प्राप्त कर लेते हैं। इन धर्मों से युक्त गृहस्थों को सर्वत्र सुख, शांति, यश और धन की वृद्धि आदि प्राप्त होते हैं तथा परभव में स्वर्ग के सुख भोगकर पुनः चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि के भी पुण्य को प्राप्त कर परंपरा से मोक्ष को प्राप्तकर शाश्वत सुख के भोक्ता बन जाते हैं। इसलिए गृहस्थाश्रम में रहते हुए प्रत्येक स्त्री या पुरुष को अणुव्रत आदि गृहस्थधर्मों का पालन करना बहुत ही जरूरी है, सर्वथा हितकर ही है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि यह धर्म भगवान महावीर ने अपनी दिव्यध्वनि में कहा है और श्री गौतमस्वामी ने तीस वर्ष तक उनके पादमूल में रहकर उनसे श्रवण किया है और परमकरुणा बुद्धि से गृहस्थों के लिए कहा है।

---

१. यति प्रतिक्रमण।

ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त वर्णन

श्री वसुनंदि आचार्य द्वारा विरचित 'वसुनंदि श्रावकाचार' के आधार से यहां संक्षेप में ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है।

विपुलाचल पर्वत पर भगवान् महावीर के समवसरण में इन्द्रभूति नामक गौतम गणधर ने श्रेणिक महाराज को जिस प्रकार से श्रावकधर्म का उपदेश दिया है उसी प्रकार गुरु परंपरा से प्राप्त श्रावकधर्म का वर्णन किया जाता है।

ग्यारह प्रतिमा—देशविरति नामक पंचम गुणस्थान में दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह स्थान (श्रेणी, कक्षा या प्रतिमा) होते हैं अर्थात् देशविरति वाले को श्रावक कहते हैं। ये ग्यारहस्थान चूँकि सम्यक्त्व रहित जीव के नहीं होते हैं अतः सर्वप्रथम सम्यक्त्व का वर्णन किया जाता है।

दर्शनप्रतिमा

सम्यग्दर्शन—सच्चे आप्त, आगम और तत्त्वों का शंकादि पच्चीस दोष रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित सर्वज्ञ आप्त कहलाते हैं तथा उसी आप्त के वचन प्रमाणभूत आगम हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। उन सबका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। इस सम्यक्त्व के निःशंका, निःकांक्षा आदि आठ अंग हैं।

सम्यग्दर्शन के होने पर संवेग–धर्म में प्रेम, निर्वेग–संसार से वैराग्य, निन्दा–स्वदोषों की आलोचना, गर्हा–गुरु के निकट स्वदोषों का कहना, उपशम–कषायों की मंदता, भक्ति–जिनेन्द्रदेवादि में सच्चा अनुराग, वात्सल्य–धर्मात्मा में प्रेम, अनुकंपा–दया ये आठ गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि श्रावक पंच उदंबर फल और सातों व्यसनों का त्याग करता है वह दार्शनिक श्रावक कहलाता है। बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर ये पाँचों फल और संधानक—अचार ये सब त्रस जीवों से भरे रहते हैं अतः इनका त्याग करना चाहिये।

जुआ, शराब, मांस, वेश्यासेवन, शिकार, चोरी और परदारागमन ये सातों व्यसन, दुर्गति गमन के कारणभूत हैं। इन सब में जुआ खेलना यह सबसे प्रमुख पाप है। लोक में अग्नि, विष, सर्प, चौरादि तो अल्प दुख देते हैं, परन्तु जुआ खेलना मनुष्य को हजारों लाखों भवों में दुःख को देता है। मद्यपान से मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंद्य कार्य करते हुए परलोक में अनंत दुःखों

को भोगता है। मद्य के सदृश मधुसेवन[1] भी अत्यधिक पाप उत्पन्न करता है। बारह गाँव के जलाने से भी अधिक पाप मधु सेवन से होता है। मांस प्रत्यक्ष में ही निंद्य, विष्ठा के समान अपवित्र, महापाप का कारण है, इसका नाम लेने से भी सभ्यजन भोजन छोड़ देते हैं। वेश्या सेवन भी चांडालादि के जूठन सदृश निंद्य पापों का स्थान है। दयारहित शिकार खेलना भी महापाप है और अनंत दुःखों का कारण है। परधन का हरण परप्राण के हरण सदृश होने से महापाप है। परस्त्री लंपट भी इस लोक में निंदा का पात्र होता हुआ परलोक में अनंत दुःखों को पाता है। ये सातों व्यसन नरक के द्वार हैं। एक-एक व्यसन से युधिष्ठिर, यादव, रावण आदि नष्ट हो चुके हैं तब जो सातों में आसक्त हैं उनका क्या होगा?

रात्रि भोजन करने वाले मनुष्य के ग्यारह प्रतिमाओं में से पहली प्रतिमा भी नहीं हो सकती है अतः नियम से रात्रि में चतुराहार का त्याग कर देना चाहिये। रात्रि भोजन करने वाले मरकर रात्रिचर, उल्लू, बिलाव आदि जंतु होते हैं और भी अनेकों दुःख उठाते हैं। तत्काल में कीट, पतंग, केश आदि से मिश्रित भोजन के कर लेने से स्वास्थ्य की भी हानि कर लेते हैं अतः पंच उदंबर फल, सात व्यसन और रात्रि भोजन का त्यागी श्रावक पहली दर्शनप्रतिमाधारी कहलाता है।

इस पहली प्रतिमा के धारी को पानी छानकर पीना, संकल्पी हिंसा का त्याग करना, नित्य जिनेन्द्रदेव का दर्शन करना भी बहुत जरूरी है तथा शुद्ध मर्यादित भोजन करना चाहिये। बाजार का बना हुआ या जिस किसी के हाथ का बना हुआ, अभक्ष्य पदार्थ, कंदमूल आदि का भक्षण नहीं करना चाहिए अन्यथा पहली प्रतिमा नहीं रहती है।

व्रतप्रतिमा

व्रतिक श्रावक–दूसरी प्रतिमा में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह व्रत होते हैं।

त्रसहिंसा नहीं करना और निष्कारण स्थावर हिंसा भी नहीं करना, पहला स्थूल अहिंसाव्रत है। राग-द्वेष से झूठ नहीं बोलना और प्राणियों का घात करने वाला सत्य वचन भी नहीं बोलना स्थूल सत्यव्रत है। कहीं पर पड़ा हुआ, खोया हुआ आदि पराया द्रव्य नहीं लेना स्थूल अचौर्य व्रत है। अष्टमी-चतुर्दशी आदि में स्त्रीसेवन और सदैव अनंग क्रीड़ा का त्याग करने वाला स्थूल ब्रह्मचर्यव्रत है। जो धन, धान्य आदि का परिमाण किया जाता है वह पंचम परिग्रह परिमाण

---

१. यहाँ मद्यपान नामक द्वितीय व्यसन में मधुपान को ले लिया है।

अणुव्रत है। ऐसे उपासकाध्ययन में पाँच अणुव्रतों का लक्षण कहा है।

दिशा-विदिशाओं की मर्यादा करके उसके आगे नहीं जाना दिग्व्रत है जिस देश में रहते हुए व्रतभंग का कारण उपस्थित हो, उस देश में गमन का त्याग करना दूसरा देशव्रत है। लोहे के शस्त्र, कुदाली आदि नहीं बेचना, झूठी तराजू, झूठे बांटों को नहीं रखना तथा बिल्ली, कुत्ता आदि क्रूर प्राणियों को नहीं पालना अनर्थदण्डत्याग व्रत है। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं।

शारीरिक श्रृंगार, तांबूल, गंध, पुष्पादि का जो परिमाण किया जाता है वह भोगविरति नामक प्रथम शिक्षाव्रत है। शक्ति अनुसार स्त्रीसेवन, वस्त्र-आभूषणों का परिमाण करना, कुछ कुछ दिनों के लिये त्याग करना परिभोगविरति व्रत है। अतिथि का संविभाग करना–साधुओं को दान देना, यह तीसरा व्रत है। वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर विधिवत् सल्लेखना ग्रहण करना चौथा सल्लेखना व्रत है। इस प्रकार भोगविरति, परिभोगविरति, अतिथि संविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत उपासकाध्ययन सूत्र में कहे गये हैं।

इनमें जो एक बार भोगने में आवे वह वस्तु 'भोग' है और जो बारंबार भोगने में आवे वह 'उपभोग' है। इन दोनों के परिमाण करने से दो व्रत होते हैं। तीसरे शिक्षाव्रत में जो विशेषता है उसे बताते हैं। उपासकाध्ययन सूत्र में अतिथिसंविभाग के पाँच अधिकार बताये हैं। पात्रों के भेद, दातार, दानविधान, दातव्य—देने योग्य पदार्थ और दान का फल ये पाँच हैं।

पात्र के भेद —उत्तम, मध्यम और जघन्य ये तीन भेद हैं। व्रत, नियम और संयमधारी साधु उत्तम पात्र हैं। ग्यारह प्रतिमाओं में स्थित श्रावक मध्यम पात्र हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पात्र हैं। व्रत, तप और शील से संपन्न किंतु सम्यग्दर्शन से रहित जीव कुपात्र हैं और व्रत, शील तथा सम्यक्त्व से रहित जीव अपात्र हैं।

दातार —जिस दातार में श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति ये सात गुण होते हैं वह दातार प्रशंसनीय है।

दानविधि —पात्र को आते देखकर (१) 'नमोऽस्तु' अत्र तिष्ठ तिष्ठ कहकर पड़गाहन करना (२) घर में ले जाकर ऊँचे आसन पर बिठाना (३) उनके चरण धोना एवं पवित्र पादोदक को शिर में लगाना, (४) पुनः जल, गंध, अक्षत आदि अष्टद्रव्य से पूजा करना (६) आर्तरौद्र ध्यान से रहित मन शुद्धि, (७) कर्कशा आदि वचन से रहित वचन शुद्धि (८) विनीत अंग सहित काय शुद्धि ऐसे तीनों की शुद्धि कहना और चौदह मलदोषरहित यत्न से शोधकर आहार दान देना यह एषणाशुद्धि है अर्थात् पड़गाहन, उच्चस्थान, चरण प्रक्षालन, पूजन, नमस्कार,

मन, वचन, काय और आहार की शुद्धि ये नवधाभक्ति कहलाती है। यही दान की विधि है।

दातव्य —आहार, औषधि, शास्त्र और अभय ये चार प्रकार के दान कहे हैं यही पात्र के लिये दातव्य हैं। तीन प्रकार के पात्रों को यथायोग्य नवधाभक्ति से आहार देना। गूंगे, अन्धे, बहरे, रोगी, दरिद्री, आदि को करुणा बुद्धि से आहारदान देना यह करुणादान है। उपवास, व्याधि आदि से पीड़ित साधु को निर्दोष औषधि देना और अन्य रोगियों को भी वनस्पतिजन्य औषधि देना औषधिदान है। शास्त्र लिखा या छपाकर देना, जिन वचनों को पढ़ाना शास्त्रदान है। मरण से भयभीत जीवों का नित्य परिरक्षण करना सर्व दानों का शिखामणि अभयदान है।

दान का फल —सम्यग्दृष्टि जीव सुपात्र को दान देता है तो वह स्वर्ग-मोक्ष फल को प्राप्त करता है। भद्र मिथ्यादृष्टि (मंदकषायी) उत्तम पात्र में दान देने से उत्तम भोगभूमि में, मध्यम पात्र को देने से मध्यम भोमभूमि में, जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि में और कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमि में जन्म लेता है। अपात्र में दिया गया दान दुःखदायी है जैसे सर्प को दूध पिलाने से वह विष बन जाता है। दान की अनुमोदना करने से तिर्यंच भी उपर्युक्त प्रकार के क्रम से ही फल प्राप्त करते है अर्थात् उत्तम पात्र की अनुमोदना से उत्तम भोगभूमि में मनुष्य हो जाते हैं आदि। जिसने पहले मनुष्य की आयु बाँध ली है अनंतर सम्यक्त्व ग्रहण करके यदि पात्र में दान देते हैं तो उत्तम भोगभूमि के मनुष्य होते हैं। यदि ऐसा तिर्यंच है तो वह भी उत्तमभोगभूमि का तिर्यंच होता है। भोगभूमि में दश प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्तम-उत्तम भोग सामग्री मिलती रहती है। अविरत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती जीव तीन प्रकार के पात्रों में दान देने के फल से स्वर्गों में महर्द्धिक देव होते हैं। अनंतर यहाँ आकर मंडलीक राजा होकर सुखों को भोगकर या तीर्थंकर जैसे महान पद को भी प्राप्त कर क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार से अतिथि संविभाग व्रत का वर्णन हुआ।

सल्लेखना —वस्त्रमात्र परिग्रह के सिवाय सब कुछ छोड़कर घर में ही या जिनालय में जाकर गुरु के समीप मन, वचन, काय से सर्व दोषों की आलोचना करके पेय के सिवाय तीन प्रकार के आहार का त्याग करना सल्लेखना व्रत है।

श्रीवसुनंदि आचार्य ने चार शिक्षाव्रतों में ही सल्लेखना को लिया है और इसे उपासकाध्ययन सूत्र के अनुसार बताया है। सल्लेखना को व्रत कहने का अर्थ है कि श्रावक सदैव यह भावना करें कि "मैं मरणसमय अवश्य सल्लेखना करूँगा" तथा अंत में विधिवत् इस व्रत को पूरा करे। श्रीसमंतभद्रस्वामी ने अतिथिसंविभाग को 'वैयावृत्य' नाम से कहा है और उसमें

दान के सिवाय जिन[1] पूजन को भी ले लिया है। कुछ भी हो इन बारह व्रतों को पालन करने वाला श्रावक नियम से देवगति में ही जाता है, अन्यत्र नहीं जा सकता।

श्रावक के कर्त्तव्य

श्रावकों को अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन विधान करना चाहिये।

विनय —गुरुजनों के प्रति नम्र व्यवहार करना विनय है। उसके पाँच भेद हैं —दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय। ये पाँचों विनय पंचमगति–मोक्षगति के लिये कारण हैं। सम्यक्त्व के गुणों का पालन करना और सम्यक्त्वी का यथायोग्य आदर करना दर्शनविनय है। ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि में तथा ज्ञानवान पुरुष के प्रति अनुकूल आचरण करना ज्ञानविनय है। पाँच प्रकार के चारित्र में और चारित्रधारियों में आदर, सत्कार, भक्ति करना चारित्रविनय है। यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकार के संकल्प को छोड़कर तपस्वी जनों का आदरपूर्वक वंदन करना तपविनय है। मन-वचन-काय से प्रत्यक्ष और परोक्ष में गुरुजनों की विनय करना उपचारविनय है।

अशुभ परिणाम को हटाकर, हित, मित, पूज्य, कोमल और भक्तिपूर्ण विनीत वचन बोलना, साधु और व्रती श्रावकों की वंदना करना, उन्हें देख उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, उच्चासन देना, आते देख उनके सन्मुख जाना, जाते समय उनके पीछे-पीछे चलना, उनके शरीर का अनुकूल मर्दन करना, समय और उनके मन के अनुकूल प्रवृत्ति करना, संस्तर आदि करना (पाटा चटाई आदि बिछाना), उपकरण आदि देना, यह सब प्रत्यक्ष उपचार विनय है।

यदि गुरु प्रत्यक्ष में नहीं हैं तो भी उनकी आज्ञा के अनुकूल चलना, परोक्ष में वंदना आदि करना परोक्ष विनय है।

विनय से मनुष्य यशस्वी, सौभाग्यशाली और सर्वत्र आदरणीय होता है। विनय से ही गुरु की कृपा को प्राप्तकर सांसारिक अभ्युदय के साथ-साथ मोक्षपुर को भी प्राप्त कर लेता है। विनय से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। विनय मुक्ति का द्वार है अतः श्रावक को इसे आवश्यक कर्त्तव्य समझकर नित्य प्रति पालन करना चाहिए।

वैयावृत्य —मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इस चार प्रकार के संघ में अतिबाल, अतिवृद्ध, पीड़ित, मनोज्ञ—लोक में प्रभावशाली साधु अथवा श्रावकों का यथायोग्य हाथ, पैर,

१. 'अर्हच्चरण सपर्या.....श्लोक।

शिर आदि का दबाना, तेल मर्दन करना, अंग सेकना, उठाना-बिठाना, सेवाशुश्रूषा आदि समयोचित कार्यों द्वारा वैयावृत्ति करना, शरीर के योग्य पथ्य-अन्न, जल द्वारा, औषधियों द्वारा, मल-मूत्रादि के दूर करने से, शरीर के धोने से, प्रयत्नपूर्वक ग्लानि रहित भाव से वैयावृत्ति करना चाहिए। वैयावृत्ति करने वाले श्रावक के द्वारा देह, तप, नियम, संयम, अभयदान आदि दिया जाता है अर्थात् वैयावृत्ति करने से साधु और श्रावकों के उपर्युक्त गुणों से युक्त शरीर की रक्षा होती है अतः मानों उसी वैयावृत्ति करने वालों ने ही यह गुण दिये हैं ऐसा समझना।

वैयावृत्ति करने वाले श्रावक के नवीन सद्गुणों का प्रादुर्भाव और जिनेन्द्र आज्ञा का परिपालन होता है। वह बिना प्रयत्न के अनेक गुणों को प्राप्तकर जिनशासन का तिलकभूत प्रभावक हो जाता है। सारे विश्व में उसका उज्ज्वल यश फैल जाता है। वह परलोक में रूपवान, तेजस्वी, चिरायुष्क, रोग-शोक से रहित, महाबली, पूर्णप्रतापी हो जाता है। वैयावृत्ति के प्रभाव से जल्लोषधि, सर्वोषधि, अक्षीण महानस आदि ऋद्धियाँ भी बिना तपश्चरण के प्रगट हो जाती हैं। अधिक कहने से क्या, वैयावृत्ति करने से यह जीव तीन लोक में संक्षोभकारी-हर्ष और आश्चर्यकारी महान तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेता है।

वसुदेव पूर्वभव में वैयावृत्ति करके महान बल, शौर्य, तेज को प्राप्तकर कामदेव हुये। द्वारावती में नारायण श्रीकृष्ण ने वैयावृत्ति करके तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का उपार्जन कर लिया अतः प्रत्येक को वैयावृत्ति को भी एक आवश्यक कर्तव्य समझकर नित्य ही करना चाहिए और सर्वशक्तिपूर्वक करना चाहिए क्योंकि यह वैयावृत्ति तपश्चर्या[1] का हृदय है।

कायक्लेश तप का उपदेश

एकाशन, उपवास, बेला, तेला, आचाम्ल, निर्विकृति, पाँच उपवास, दश उपवास आदि के द्वारा शरीर को कृश करना तथा मन और इंद्रियों को वश में करके आत्मा को तप अग्नि में तपाकर शुद्ध निर्मल करना कायक्लेश है। इसी कायक्लेश की सिद्धि के लिये कुछ व्रतों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

पंचमीव्रत —आषाढ़, कार्तिक या फाल्गुन मास में शुक्ला पंचमी के दिन गुरु के पादमूल में विधिवत् व्रत ग्रहण कर उपवास करके जिन पूजन करे। प्रतिमास की शुक्ला पंचमी को उपवास करते हुए पाँच वर्ष और पाँच मास लगातार करके व्रत का उद्यापन करे। उद्यापन में

---

१. वैयावृत्य हि तपसो हृदयं ब्रूवते जिनाः। "अनागार धर्मामृत"

जिनेन्द्र भगवान की पाँच प्रतिमायें बनवाकर, पाँच शास्त्र लिखाकर उनकी प्रतिष्ठा में सभी उपकरण पाँच-पाँच की संख्या में बनवावें और विधिवत् प्रतिष्ठा कराके व्रतपूर्ण करे यह व्रत पंचमगति को प्राप्त कराने वाला है। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो व्रत को दुगुना करना चाहिये। इसके फलस्वरूप देवेन्द्र, चक्रवर्ती का वैभव प्राप्तकर निर्वाणपद प्राप्त कर लेते हैं।

रोहिणी व्रत —यह व्रत प्रतिमास के रोहिणी नक्षत्र में किया जाता है। व्रत के दिन उपवास करके अभिषेक, पूजन, जाप्य करके जिनालय में पूरा समय बिताना चाहिये। प्रत्येक मास में एक बार रोहिणी नक्षत्र आता है। जिस दिन रोहिणी नक्षत्र का अभाव हो तो गणित के हिसाब के अनुसार कृत्तिका की समाप्ति होने पर रोहिणी के प्रारम्भ में व्रत करना चाहिये। मृगशिरा अथवा कृत्तिका को व्रत करना निषिद्ध है। रोहिणी नक्षत्र पंचांग में एक दो घड़ी भी हो तो भी कर लेना चाहिये जब तक सूर्योदय काल में रोहिणी मिले तब तक अस्तकालीन नक्षत्र नहीं लेना चाहिए।

इस व्रत के फल से स्त्री या पुरुष कभी भी शोक को नहीं देखता है, वह विपुल भोगों को भोगकर निर्वाण को प्राप्त करता है। यह व्रत तीन वर्ष, पाँच वर्ष या सात वर्ष तक किया जाता है इस व्रत में वासुपूज्य भगवान की पूजा और जाप्य करना चाहिये। इसके उद्यापन में वासुपूज्य[1] भगवान की प्रतिमा बनवाना चाहिए।

अश्विनी व्रत —प्रत्येक मास में एक दिन अश्विनी नक्षत्र आता है। अश्विनी नक्षत्र में व्रत ग्रहण कर उपवास करना चाहिये। इस प्रकार सत्ताइस अश्विनी नक्षत्र के उपवास करके यह व्रत पूर्ण कर उद्यापन करना चाहिये। इस व्रत को करने वाले स्वर्ग के सुख भोग अक्षय मुक्ति सुख को प्राप्त करते हैं।

सौख्य संपत्ति व्रत —इस व्रत में प्रतिपदा का एक, द्वितीया के दो, तृतीया के तीन, चतुर्थी के चार, पंचमी के पाँच, षष्ठी के छह, सप्तमी के सात, अष्टमी के आठ, नवमी के नौ, दशमी के दश, एकादशी के ग्यारह, द्वादशी के बारह, त्रयोदशी के तेरह, चतुर्दशी के चौदह और पूर्णमासी के पन्द्रह उपवास करना चाहिए। यह व्रत भी उत्तम-उत्तम सौख्य संपत्ति को देकर अक्षय सौख्य सम्पत्ति को प्राप्त करा देता है। इसमें १२० उपवास होते हैं अनतर उद्यापन करना चाहिये।

विशेष–इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से विमान के तीन भेद हैं इनमें से इन्द्रक विमान बीच में हैं और श्रेणीबद्ध विमान चारों दिशाओं में श्रेणीरूप में स्थित हैं[2]। ऋतु विमान आदि को लेकर इन्द्रक विमानों की संख्या त्रेसठ है। विमानपंक्ति व्रत में इन्द्रक की चारों दिशाओं

१. 'व्रत तिथि निर्णय' पुस्तक में इस व्रत में 'ॐ ह्रीं अर्हं श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्राय नमः' जाप्य बताई गई।'
२. यह प्रकरण हरिवंश पुराण के आधार से है।

में श्रेणीबद्ध विमानों की अपेक्षा चार उपवास, चार धारणाएँ और इन्द्रक की अपेक्षा एक बेला, एक पारणा होती है। इस तरह त्रेसठ इन्द्रक विमानों की चार-चार श्रेणियों की अपेक्षा चार-चार उपवास होने से ये दो सौ बावन उपवास तथा त्रेसठ इन्द्रक सम्बन्धी त्रेसठ बेला होते हैं। त्रेसठ बेला के बाद एक तेला होता है। इस प्रकार उपवास २५२, बेला ६३ और तेला १ सब मिलाकर तीन सौ सोलह स्थान होते हैं। अतः इतनी ही पारणाएँ होती हैं। यह व्रत पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के क्रम से होता है। चारों दिशाओं के चार उपवास के बाद बेला होता हैं। इसमें कुल छह सौ सत्तानवे दिन लगते हैं। यह व्रत विमानों की ईश्वरता प्राप्त कराने वाला है अर्थात् इस व्रत को करने वाला मनुष्य विमानों का स्वामी होता है।

व्रतों के अनुष्ठानरूप तप के द्वारा शरीर को कष्ट देना इसलिये उपयोगी है कि शरीर को कष्टसहिष्णु बनाना और शरीर से निर्मम होने का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि शरीर में ममत्व होना ही संसार का मूल कारण है तथा सुखिया जीवन में किया गया तत्त्व का अभ्यास दुःख के आने पर पलायमान हो जाता है अतः शक्ति के अनुरूप दुःखों को बुलाकर भी आत्मा का अभ्यास करना चाहिये। यह सब तप अनुष्ठान के निमित्त से ही सम्भव है अतः ये व्रत बहुत ही महत्वशाली हैं। अनेक लौकिक सुखों को भी प्रदान करते हैं और आत्मशुद्धि में मुख्य कारण हैं।

पूजा विधान —अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और शास्त्र की नाना वैभव से जो अर्चा की जाती है उसे पूजन कहते हैं। उस पूजन के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह भेद हैं।

नाम पूजा —अरिहंत आदि का नाम उच्चारण करके जो विशुद्ध प्रदेश में पुष्प क्षेपण किया जाता है वह नाम पूजा है।

स्थापना पूजा —सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना से स्थापना के दो भेद हैं। आकारवान —पाषाण आदि की प्रतिमा में अरिहंत आदि के गुणों का आरोपण करना सद्भाव स्थापना पूजा है और अक्षत आदि में अपनी बुद्धि से 'यह अमुक देवता हैं ऐसा संकल्प करना असद्भाव स्थापना पूजा है। इस हुंडावसर्पिणी काल में द्वितीय स्थापना पूजा का निषेध है।

इस स्थापना पूजा में विधिवत् प्रतिमा को बनवाकर प्रतिष्ठा करवाना चाहिये। इसमें जो श्रुतज्ञान के बारह अंग-उपांग वाली हैं, सम्यग्दर्शन रूपी तिलक से विभूषित है, चारित्ररूप वस्त्र की धारक हैं और चौदह पूर्वरूप आभरणों से मंडित है ऐसी श्रुतदेवी की भी मूर्ति स्थापित करना चाहिये' या जिनागम को पुस्तकों में लिखाकर शुभ मुहूर्त में प्रतिष्ठा करना चाहिये। पाँच

---

१. वसुनंदी श्रावकाचार श्लोक नं. ३९१-३९२

बातें ज्ञातव्य है। प्रतिष्ठा कराने वाला, प्रतिष्ठाचार्य, प्रतिमा, प्रतिष्ठा विधि और प्रतिष्ठा का फल। जिन मंदिर बनवाकर प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराकर विराजमान करना आदि स्थापना पूजा है।

द्रव्य पूजा —जलादि अष्टद्रव्य से जिन प्रतिमा आदि की पूजा करना द्रव्य पूजा है। इसके तीन भेद हैं– सचित्त, अचित्त और मिश्र। प्रत्यक्ष में उपस्थित जिनेन्द्र भगवान और गुरु आदि की शास्त्रोक्त पूजन करना सचित्त पूजा है। जिन तीर्थंकर आदि के शरीर की और द्रव्य श्रुत–कागज आदि के शास्त्रों की पूजा अचित्त है और जिसमें दोनों का पूजन हो वह मिश्रपूजा कहलाती है।

क्षेत्र पूजा —जिन भगवान की जन्मकल्याणक भूमि केवलज्ञानोत्पत्ति भूमि, तीर्थ चिह्न स्थान, निर्वाण भूमि आदि की शास्त्र विधि के अनुसार पूजा करना क्षेत्र पूजा है।

काल पूजा —जिस दिन तीर्थंकरों के गर्भावतार, जन्माभिषेक, तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याणक हुये हैं उस दिन विधिवत् अभिषेक करके संगीत, नाटक आदि पूर्वक उत्सव करना, नंदीश्वर पर्व आदि में पूजन आदि जिन महिमा करना काल पूजा है।

भाव पूजा —परम भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान के अनंतचतुष्टय आदि गुणों का कीर्तन करके जो त्रिकाल वंदना की जाती है, उसे निश्चय से भाव पूजा कहते हैं अथवा पंचनमस्कारमंत्र का जाप करना, स्तोत्रादि करना भाव पूजन है अथवा पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीतरूप जो चार प्रकार का ध्यान है, उसे भी भाव पूजा कहते हैं। इस प्रकार से संक्षेप से पूजा के छह भेद कहे गये हैं।

इन प्रकार की पूजन के भेदों में श्रावकों के लिये द्रव्य पूजा मुख्य है और साधुओं के लिये भाव पूजा मुख्य है क्योंकि जब तक श्रावक आरम्भ परिग्रह का त्यागी नहीं है तब तक उसे अष्टद्रव्य आदि सामग्री को लेकर अभिषेकपूर्वक द्रव्य पूजन का अनुष्ठान करना ही चाहिये। इसी प्रकार स्तोत्र पाठ और महामंत्र का जाप्य भी करना चाहिये और ध्यान के अभ्यास के लिये सामायिक काल में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का अभ्यास भी अवश्य करना चाहिये।

पिंडस्थ ध्यान —पहले भावपूजा के लक्षण में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीतरूप चार प्रकार के ध्यान को करने का उपदेश किया गया है। उसी में से सबसे पहले पिंडस्थ ध्यान का वर्णन किया जाता है।

श्वेत किरणों से विस्फुरायमान और अष्टमहाप्रातिहार्यों से संयुक्त निजरूप–केवलीतुल्य आत्मा के स्वरूप का जो ध्यान किया जाता है, उसे पिंडस्थ ध्यान कहते हैं अथवा अपने नाभिस्थान में मेरु पर्वत की कल्पना करके उसके अधो विभाग में अधो लोक का ध्यान करे,

नाभिपार्श्ववर्ती द्वितीय तिर्यग विभाग में तिर्यग्लोक का ध्यान करे। नाभि से ऊर्ध्व भाग में ऊर्ध्वलोक का चिंतवन करे। स्कंधपर्यंत भाग में कल्प विमानों का, ग्रीवा स्थान पर नव ग्रैवेयकों का, ठोड़ी के स्थान पर नव अनुदिशों का, मुख प्रदेश पर विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि का ध्यान करे। ललाट देश में सिद्धशिला, उसके ऊपर उत्तमांग में लोक शिखर के तुल्य सिद्धक्षेत्र को जानना चाहिए। इस प्रकार जो निजदेह का ध्यान किया जाता है, उसे भी पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए।

अथवा पिंडस्थ ध्यान में श्री वर्धमान स्वामी द्वारा कही हुई जो पाँच धारणाएँ[1] है उनका वर्णन करते हैं। पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ये पाँच धारणायें हैं।

पार्थिवीधारणा[2] —प्रथम ही ध्यानी स्वयंभूरमण समुद्रपर्यंत ही मध्यलोक है उस एक राजू प्रमाण क्षीरसमुद्र का चिंतवन करे। उस समुद्र के मध्य में जंबूद्वीप बराबर एक लाख योजन प्रमाण स्वर्ण सदृश, एक सहस्र दल वाला कमल है। उस कमल के मध्य मेरु के समान कर्णिका है, उस पर श्वेतवर्ण का एक सिंहासन है। उस सिंहासन पर बैठे हुये अपनी आत्मा को ऐसा विचारे कि यह समस्त रागद्वेषादि को क्षय करने में समर्थ है। यह पार्थिवी धारणा हुई।

आग्नेयी धारणा —तत्पश्चात् निश्चल अभ्यास से ध्यानी अपने नाभिमंडल में सोलह ऊँचे-ऊँचे पत्तों वाले एक मनोहर कमल का चिंतवन करे, अनन्तर उस कमल के सोलह पत्तों पर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इन अक्षरों का ध्यान करे तथा कर्णिका पर 'ह्रं इस महामंत्र का ध्यान करे। अनन्तर सोचे कि महामंत्र के रेफ से मन्द-मन्द धुएँ के साथ अग्नि की ज्वाला निकल रही है। अनन्तर यह सोचे कि हृदय में अधोमुख वाला आठ पत्ते का कमल है उसके प्रत्येक पत्ते पर क्रम से ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म स्थित हैं।

यह नाभिकमल की कर्णिका के 'ह्रं' की अग्निज्वाला उस हृदयस्थ कमल को जलाने लगी। कमल को जलाकर प्रबलरूप से बढ़ती हुई अग्नि बाहर निकलकर त्रिकोणाकार बन गई और बड़वानल के समान भयंकर होकर औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर को भस्म करने लगी। बाह्य में त्रिकोणाकार में 'रं, रं' बीजाक्षर व्याप्त हैं और साथिया का चिन्ह है। यह अग्नि मण्डल अन्दर के कमल को और बाह्य में शरीर को भस्मसात् कर के जलाने योग्य पदार्थ का अभाव होने से धीरे-धीरे अपने आप शान्त हो गई। यह आग्नेयी धारणा है।

---

१. ज्ञानार्णव में संस्थानविचय नामक धर्मध्यान में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत चार भेद माने हैं। उसके आधार से यहाँ विवेचन है। २. कोई भी श्रावक या साधु प्रसन्नमना होकर एकान्त स्थान में बैठकर सामायिक विधि आदि करके स्थिर चित्त होकर इस पिंडस्थ ध्यान का अभ्यास करे।

श्वसना-मारुती धारणा —पुनः वह ध्यानी आकाश में पूर्ण होकर विचरते हुए महावेग वाले ऐसे वायु मंडल का चिंतवन करे। वह वायुमंडल देवों की सेना को चलायमान करता हुआ, मेरु पर्वत को भी कंपाता हुआ, मेघों के समूह को बिखेरता हुआ, समुद्र को क्षुब्ध करता हुआ, लोक के मध्य में दशों दिशाओं में संचरता हुआ, जगत्रूप घर में फैला हुआ पृथ्वी तल में प्रवेश कर रहा है। जो शरीरादि के जलने से भस्म हुई थी उसको इस महावायु ने शीघ्र ही उड़ा दिया पुनः स्थिर होकर शान्त हो गई। यह श्वसना मारूती धारणा है।

वारुणी धारणा —वही पुण्यात्मा ध्यानी, इन्द्रधनुष, बिजली, गर्जनादि से भरे मेघों के समूह का चिंतवन करे। ये मेघ अमृत से उत्पन्न मोती सदृश बड़े-बड़े बिंदुओं से मूसलाधार वर्षा कर रहे हैं। तत्पश्चात् अर्द्ध चन्द्राकार मनोहर अमृतमय जल का प्रवाह शरीर के जलने से उत्पन्न हुये भस्म को प्रक्षालित करके आत्मा को दिव्य निर्मल कर रहा है। ऐसा चिंतवन करे। यह जल धारणा या वारुणी धारणा कहलाती है।

तत्त्वरूपवती धारणा —तत्पश्चात् ध्यानी मुनि या श्रावक ऐसा ध्यान करे कि मेरी आत्मा सात धातु रहित पूर्ण चन्द्रमा के समान निर्मल प्रभा सहित सर्वज्ञ हो गई है। यह आत्मा अतिशययुक्त सिंहासन पर आरूढ़ है तथा सौधर्म आदि इन्द्रों से पूजित है। तत्पश्चात् आठ कर्मों से रहित स्फुरायमान ज्ञानपुंजस्वरूप पुरुषाकार ऐसी अपनी आत्मा का चिंतवन करे। यह तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाला श्रावक निश्चल अभ्यास के द्वारा कुशलता प्राप्त करता हुआ मुनि होकर शुक्लध्यान की सिद्धिपूर्वक मोक्षसुख को अतिशीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। पिंड अर्थात् शरीर में स्थित आत्मा का ध्यान पिंडस्थ ध्यान है। यह धर्मध्यान का अभ्यास हो सकता है ऐसा आचार्यों ने कहा है। यह ध्यान मुख्यरूप से मुनियों को ही होता है किन्तु गौणरूप से श्रावक भी इसको कर सकते हैं।

प्रारम्भ में इन ध्यानों का अभ्यास करने में इनकी भावनामात्र चलती है। धीरे-धीरे बार-बार चिंतवन करते-करते वह एकाग्ररूप हो जाता है। वही ध्यान कहलाता है। यदि यह ध्यान एक क्षण के लिये भी एकाग्र स्थिति को प्राप्त करता है तब भी समझना चाहिए कि असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा हो जाती है। इस ध्यान के प्रभाव से विद्या, मंडल, मंत्र, यंत्र इंद्रजाल के आश्चर्य, क्रूर मरणादि क्रिया तथा सिंह, सर्प, दैत्य, हस्ती, अष्टापद आदि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं कर सकते हैं तथा शाकिनी, ग्रह, राक्षस, पिशाच, व्यन्तर आदि भी किसी प्रकार की बाधा नहीं कर सकते हैं। इन पाँच धारणाओं के अभ्यास से मन वश में हो जाता है जिससे अनेक कार्य सिद्ध हो जाते हैं। अन्तिम सिद्धि तो मुक्ति लक्ष्मी का वश में हो जाना

ही है। वह भी परम्परा से प्राप्त हो जाती है।

पदस्थ ध्यान —एक अक्षर को आदि लेकर अनेक प्रकार के पंचपरमेष्ठीवाचक पवित्रमंत्र पदों का उच्चारण करके ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। जैसे–ऊँ, अर्हं, ऊँ नमः, अरहंत, अर्हं नमः, असि आ उसा, ऊँ नमः सिद्धेभ्यः, ये मंत्र क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह अक्षर वाले हैं इनका ध्यान करना चाहिये। ऊँ ह्रीं नमः, ऊँ ह्रीं अर्हं नमः, ऊँ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः, 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः इत्यादि पंचपरमेष्ठी या जिन तीर्थंकर वाचक नाम पदों का ध्यान पदस्थ ध्यान है।

'अर्हं' इस मंत्र का ध्यान पापरूपी अंधकार का नाश करने वाला है। हृदय कमल में चारपत्र का कमल सोचें, उसकी कर्णिका पर 'अ' पूर्व दिशा के पत्र पर, 'सि' दक्षिण दिशा के पत्र पर, 'आ' पश्चिम दिशा के पत्र पर, 'उ' उत्तर दिशा के पत्र पर और 'सा' मध्य में इस प्रकार इन मंत्र को स्थापित कर ध्यान करे अथवा अष्टदल कमल की कर्णिका पर 'अ',सि, आ, उ, सा पूर्व दिशा के पत्रों पर क्रमशः और विदिशाओं के पत्र पर क्रमशः दर्शन का 'द' ज्ञान का 'ज्ञा' चारित्र का 'चा' और तप का 'त' इन अक्षरों को स्थापित कर ध्यान करे। इस प्रकार अष्टदल वाले कमल का शिर, मुख, कंठ, हृदय और नाभि प्रदेश इन पाँच स्थानों में स्थापन कर ध्यान करना चाहिये।

वर्णमातृका[1] ध्यान–अनादि सिद्धांत में प्रसिद्ध जो वर्णमातृका अर्थात् वर्णों का समूह है, यह संपूर्ण शब्दों के रचना की जन्मभूमि है और जगत से वंदनीय है। ध्यान करने वाला पुरुष नाभिमंडल में सोलह दल के कमल का चिंतवन करे, उस कमल के प्रत्येक पत्ते पर क्रम से 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ, ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इन सोलह अक्षरों का चिंतवन करे। तत्पश्चात् वह ध्यानी हृदय स्थान में चौबीस दल का कमल सोचे, उस की कर्णिका पर 'क' और पूर्व दिशा के क्रम से प्रत्येक पत्ते पर ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म इन पच्चीस अक्षरों का ध्यान करे अनंतर आठ पत्रों से विभूषित मुख कमल के प्रत्येक पत्र पर क्रम से य र ल व श ष स ह' इन आठ वर्णों का ध्यान करे। इस प्रकार से निरंतर वर्णमातृकाओं का ध्यान करता हुआ योगी भ्रम रहित होकर श्रुतज्ञानरूपी समुद्र से पार हो जाता है। इन ४६ अक्षरों का ध्यान करते हुए पुरुष कितने ही काल में नष्टादि वस्तु सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

इस वर्णमातृका के जाप्य से योगी क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमंदता, कुष्ठ, उदररोग, कास

---

१. यहाँ पर ज्ञानार्णव के आधार से पदस्थ ध्यान का वर्णन है।

तथा श्वास रोगों को जीतता है और वचनसिद्धता, महापुरुषों से पूजा तथा परलोक में उत्तम गति को प्राप्त कर लेता है। अन्य मंत्रों का ध्यान 'ऊँ' यह मंत्रराज है। 'ऊँ' इस प्रणव का ध्यान समस्त वाङ्मय को प्रकाशित करने में दीपक के समान है। नाना दुःखों को शांत करने में महामेघ के समान है। 'ॐ' इस वर्ण मात्र का पाँच सौ बार जाप करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है। 'सिद्ध' यह मंत्र श्रुतस्कंध का सारभूत है, संपूर्ण क्लेशों को नाशकर मोक्षपद देने में समर्थ है।

'ॐ ह्रीं नमः' यह त्रैलोक्य वशंकरी विद्या है, इसका एक लाख जाप करने से सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं।

रूपस्थ ध्यान —समवसरण के मध्य में स्थित अनंतचतुष्टय और आठ प्रतिहार्यों से संयुक्त, अरिहंत भगवान का जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है अथवा ऐसी ही सर्वशोभा से समन्वित किन्तु समवसरणादि परिवार से सहित और क्षीरसागर के मध्य में स्थित अथवा उत्तम क्षीर वर्ण के समान वर्ण के कमल की कर्णिका के मध्य भाग में स्थित क्षीरसागर के जल की धाराओं के अभिषेक से धवल हो रहा है सर्वांग जिनका, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी का जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ स्थान है।

रूपातीत ध्यान —वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से रहित, केवलज्ञान-दर्शनस्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठी का या शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है।

इन ध्यानों का अभ्यास करने वाला पुरुष सर्व संकल्प-विकल्पों को छोड़कर स्थिरचित्त होकर ध्यान करे। जब तक ध्यान करने का अभ्यास न हो सके तब तक पदस्थ ध्यान के किसी न किसी मंत्र का अवलंबन लेकर उसका जाप्य करे। महामंत्र णमोकार सभी मंत्रों में प्रधान है और जपने वाले के सभी पापों का नाश कर उत्तम-उत्तम सुखों को देने वाला है। अन्य मंत्रों का जाप्य तो गुरुमुख से उसकी विधि समझकर करना चाहिए किन्तु यह णमोकार मंत्र मातृका मंत्र है किसी भी अवस्था में फलदायी ही है।

पूजा का फल —जिनेन्द्र भगवान की विधिवत् पहले भक्तिपूर्वक जो पूजा की जाती है उसका फल अचिन्त्य है। जबकि ग्यारह अंग का धारक, देवों में सर्वश्रेष्ठ इन्द्र भी सहस्र जिह्वाओं से पूजा के समस्त फल का वर्णन करने में समर्थ नहीं है तब अन्य जन उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं? फिर भी भव्यजनों को धर्म में अनुराग कराने के लिए यहाँ किंचित् वर्णन किया जाता है।

जिनेन्द्र प्रतिमा का महत्व —जो मनुष्य धनिया के पत्ते के बराबर जिन भवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापित करता है वह तीर्थंकर पद के पाने योग्य

पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत जिनेन्द्र भवन बनवाता है उसके फल का वर्णन कैसे हो सकता है?'

अष्टद्रव्य के चढ़ाने का फल —विधिवत् पूजन करने वाला मनुष्य भगवान के आगे जलधारा चढ़ाता है वह समस्त पाप मैल को धो डालता है। जिनचरण में चंदन के लेप से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है। अक्षत से पूजा करने वाला अक्षय नौ निधि, चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है, सदा रोग-शोक से रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होकर अंत में अक्षय सुख को प्राप्त कर लेता है। पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुखवाला, तरुणियों के नयनों से दर्शनीय और पुष्पों की मालाओं से अर्चित कामदेव होता है। नैवेद्य के चढ़ाने से शक्तिमान, कांति और तेज से सम्पन्न सौंदर्यरूपी समुद्र की तरंगों से संप्लावित अति सुंदर होता है। दीपों से पूजन करने वाला केवलज्ञानरूपी प्रदीप के तेज से समस्त तत्त्वों के रहस्य को प्रगट करने वाला होता है। धूप की पूजा से धवल कीर्ति से जगत्त्रय को धवलित करने वाला होता है। फलों से पूजा करने वाला परम निर्वाण सौख्य का भोक्ता होता है।

अन्य उपकरण चढ़ाने का महत्व —जिनमंदिर में घंटा समर्पण करने वाला पुरुष घंटाओं के शब्दों से व्याप्त श्रेष्ठ विमानों में सुर समूह से सेवित, अप्सराओं के मध्य क्रीड़ा करता है। छत्र प्रदान करने से शत्रु रहित होकर पृथ्वी को एक छत्र भोगता है। चमरों के दान से उसके ऊपर देवों द्वारा चमर ढुरते हैं। जिन मंदिर में विजय पताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है तथा षट्खंड का स्वामी होकर यशस्वी होता है।

जिन भगवान के अभिषेक करने के फल से मनुष्य सुदर्शन मेरु के ऊपर क्षीरसागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा भक्ति के साथ अभिषेक किया जाता है। अधिक कहने से क्या, तीनों ही लोकों में जो कुछ भी सुख है, वह सब जिन पूजा के फल से प्राप्त होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भावार्थ–यहाँ श्रावकों के अन्य कर्तव्य में विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन बताया गया है। अन्यत्र षट् आवश्यक क्रियाओं में देव पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान बतलाए हैं। इन सबमें भी देवपूजा का बहुत ही विशेष महत्व है। श्री कुंद-कुंद देव ने तो स्पष्ट कह दिया है कि दाणं पूजा मुक्खो, सावय धम्मो ण सावया तेण विणा' श्रावक धर्म में दान और पूजन ये दो कर्त्तव्य मुख्य हैं, इनके बिना तो श्रावक ही नहीं हो सकता है।

---

१. वसुनंदी श्रावकाचार पृ.१३५ गाथा ४८१। उमास्वामी श्रावकाचार, पद्मनंदी पंचविंशतिका।

सामायिक प्रतिमा

स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सन्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्वमुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिंब, पंचपरमेष्ठी और कृत्रिम अकृत्रिम-जिनालयों की जो नित्य त्रिकाल —पूर्वान्ह, मध्यान्ह, अपरान्ह वंदना की जाती है, वह सामायिक नाम का तीसरा स्थान है। जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग, तृण-कांचन, चंदन और कुठार को समभाव से देखता है और मन में पंचनमस्कार मंत्र को धारण कर उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों से संयुक्त अर्हंत प्रभु के स्वरूप को और सिद्ध भगवान के स्वरूप का ध्यान करता है अथवा विरक्त चित्त, अविचल अंग होकर एक क्षण भी उत्तम ध्यान करता है, उसके उत्तम सामायिक होती है। अन्यत्र ग्रन्थों में सामायिक में ईर्यापथशुद्धि करके चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति पढ़कर अनंतर ध्यान करने का विधान है।[1]

तथा ऐसा भी कहा है कि 'जिन पूजा बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया।'[2] अर्थात् श्रावक की सामायिक जिन पूजापूर्वक होती है जिन पूजा के बिना सभी सामायिक क्रिया दूर ही है। इस ग्रन्थ में देव पूजा की विधि इस प्रकार बताई है कि पहले श्रावक तीन प्रकार के स्नान से शुद्ध[3] होकर मंदिर में जाकर ईर्यापथ शुद्धि करे, अनंतर सिद्ध भक्ति करके जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करके सकलीकरण क्रिया करे। पुराकर्म पूर्वक विधिवत् जिनेन्द्र भगवान का पंचामृत अभिषेक करे अनंतर अष्टद्रव्य से ग्यारह[4] प्रकारी पूजा करे पुनः यंत्रादि की पूजा करके जाप्य करके 'चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति करके शांतिभक्ति और समाधिभक्ति करे इस प्रकार श्रावक पूजा या सामायिक में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति का होना बहुत ही जरूरी है ऐसा श्रीपूज्यपाद आचार्य ने भी अपने पंचामृताभिषेक पाठ में लिखा है यथा-'कृत्वाऽहं सिद्धभक्ति बुधनुत सकलीसत्क्रियां चादरेण' मैं सिद्धभक्ति करके सकलीकरण को आदरपूर्वक करता हूँ। आगे पंचामृताभिषेक और पूजन के अनंतर कहा है कि 'आराध्यार्हंतमष्टोत्तर शतममलं चैत्यभक्त्यादिभिश्च। स्तुत्वा श्री शांतिमंत्र.....।'

अर्हंतदेव की १०८ जाप्य करके चैत्यभक्ति आदि (आदि से पंचगुरुभक्ति) पढ़कर शांति मंत्र (शांतिभक्ति) को पढ़े।

यहाँ यह निष्कर्ष निकला कि विधिवत्[5] देवपूजा करने से श्रावक की सामायिक क्रिया पूर्ण

---

१. चारित्रसार, आचारसार, अनगार, अष्टपाहुड़, धवला नवमी पुस्तक आदि। यह सामायिक विधि मुनिचर्या, सामायिक भाष्य जंबूद्वीपपूजांजलि और 'सामायिक' नाम की पुस्तक में दी गई है वहाँ से देखकर करना चाहिये। २. भावसंग्रह (श्री वामदेव विरचित) पृ. १६६। ३. जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नान-पृ १६६। ४. अष्टद्रव्य पृथक-पृथक चढ़ाना, अर्घ्य चढ़ाना, शांतिधारा करना और पुष्पांजलि छोड़ना ये एकादश प्रकारी पूजा है। भावसंग्रह पृ. १६७। ५. वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला हस्तिनापुर से प्रकाशित जम्बूद्वीप पूजांजलि की जिनवाणी में विधिवत् पूजन करने की प्रक्रिया संस्कृत और हिन्दी दोनों में बतलाई गई है। उसे अवश्य ही देखना चाहिये और उसी के आधार से पूजा करना चाहिए।

हो जाती है अथवा जो श्रावक देवपूजापूर्वक सामायिक न करना चाहें, वे ईर्यापथशुद्धिपूर्वक चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति करके ही सामायिक करें। विधिवत् सामायिक करने वाला श्रावक असंख्यात गुणश्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा करते हुये महानपुण्य का बंध कर लेता है। द्रव्यलिंगीमुनि भी सामायिक के प्रभाव से नव ग्रैवेयक में ऊपर वाले ग्रैवेयक तक चले जाते हैं। तो फिर जो सम्यग्दृष्टी भावपूर्वक सामायिक करते हैं उनके फल का क्या कहना है? सामान्य अविरति श्रावक या पहली प्रतिमाधारी श्रावक कम से कम एक बार सामायिक अवश्य करें। दो प्रतिमाधारी के लिये दो बार तो नियम ही है। तीन प्रतिमाधारी को त्रिकाल में तीन बार सामायिक अवश्य ही करना चाहिये।

प्रोषधप्रतिमा

प्रत्येक मास के दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी ऐसे चार पर्वों में जो विधिवत् उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। इसके तीन भेद हैं–उत्तम, मध्यम और जघन्य। सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथि के आहार के अनंतर स्वयं भोजन करके वहीं पर मुख शुद्धि करके उपवास संबंधी नियम करके जिन मंदिर में गुरु के पास विधिवत् चारों प्रकार के आहारत्यागरूप उपवास को ग्रहण करना। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन पूरा समय पूजन, स्वाध्याय, वंदना आदि में व्यतीत करके नवमी या पूर्णमासी के दिन प्रातः पूजन के पश्चात् अतिथि को आहार दान देकर स्वयं पारणा करना यह उत्तम प्रोषध विधि है। इसमें सप्तमी, नवमी, त्रयोदशी और पूर्णिमा के दिन एकाशन ही होता है शाम को पानी नहीं ले सकते हैं तथा अष्टमी और चतुर्दशी को चतुराहाररूप त्याग उपवास रहता है।

मध्यम विधि में अष्टमी, चतुर्दशी के दिन जल ग्रहण कर लेना और तीन प्रकार के आहार का त्याग करना है। शेष विधि पूर्वोक्त है।

जो अष्टमी और चतुर्दशी के दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एक स्थान अथवा एकभुक्ति करता है, वह जघन्य प्रोषध विधि को करने वाला है।

आचाम्ल–एक बार रूक्ष या नीरस भोजन करना आचाम्ल है अथवा पानी में उबले चावलों को इमली आदि के रस के साथ खाना भी आचाम्ल माना गया है।

निर्विकृति–जिस भोजन के करने से जिह्वा और मन विकार को प्राप्त हो, उसे विकृति कहते हैं। इसके चार भेद हैं– गोरसविकृति, इक्षुरस विकृति, फलरसविकृति और धान्यरसविकृति। दूध, दही, घी, मक्खन आदि को गोरस कहते हैं। गुड, खांड, शक्कर, मिश्री आदि को इक्षुरस कहते हैं। सन्तरा, मौसम्बी आदि फलरस विकृति हैं। तेल, मांड आदि को धान्यरस कहते हैं।

इन चारों प्रकार के रसों से रहित भोजन निर्विकृति कहलाता है। अथवा यहाँ तक कि मिर्च-मसाले से भी रहित बिल्कुल सात्विक भोजन को निर्विकृति भोजन कहा जाता है।

उपवास की शक्ति न होने से प्रायः लोग यह निर्विकृति विधि करते हैं।

एकस्थान–एक बार थाली में परोसे गये भोजन को ग्रहण करना, दुबारा परोसे गये भोजन को नहीं लेना। एक स्थान का ऐसा अर्थ किया जाता है।[1]

एकभुक्ति–एक बार ही भोजन, पानी, प्रासुक औषधि आदि लेकर पुनः त्याग कर देना, दूसरी बार पानी भी नहीं पीना। यह एकभुक्ति कहलाती है।

सचित्तत्यागप्रतिमा

जहाँ पर हरित, छाल, पत्र, कोंपल, कंद, फल, बीज और अप्रासुक जल का त्याग किया जाता है, वह सचित्तत्याग नामक पाँचवीं प्रतिमा है।

रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा

जो मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है, वह श्रावक छठी प्रतिमाधारी है।

विशेष– रात्रि भुक्तित्याग में श्री स्वामीसमंतभद्र ने रात्रि में चतुराहार का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनारूप से त्याग करने को कहा है यहाँ तक छह प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक गृहस्थाश्रमी हैं। न्याय-नीति से व्यापार आदि करते हुये गृहस्थ धर्म का पालन करते हुये अपने जीवन को सफल कर लेते हैं।

ब्रह्मचर्यप्रतिमा

जो मन-वचन-काय और कृतकारित-अनुमोदनारूप नौ प्रकार से मैथुन को सर्वथा त्याग कर देता है वह स्त्री कथा आदि से भी विरक्त होता हुआ सप्तम[2] प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी कहलाता है।

---

१. वसुनंदी श्रावकाचार पृष्ठ १४६।

२. इस प्रतिमा के दो भेद हैं गृहविरत और गृहनिरत। जो गृह के ममत्व का त्याग कर देते है वे जिनमंदिर, मुनिसंघ आदि में रहते हैं, घर से कोई संबंध नहीं रखते हैं। पुनः उन्हें घर संबंधी, सूतक, पातक भी नहीं लगता है। जो गृहनिरत है वे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए घर में उदास रूप से या व्यापार आदि गृह कार्य करते हुये भी रहते हैं।

आरंभत्यागप्रतिमा

जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृहसंबंधी आरंभ होता है, उसे जो सदा के लिये त्याग करता है, वह आरंभ से निवृत्त हुआ आरंभत्याग नामक आठवीं प्रतिमा का धारी कहलाता है।

परिग्रहत्यागप्रतिमा

जो वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है, उसे नवमी परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी श्रावक जानना चाहिये।

अनुमतित्यागप्रतिमा

स्वजन तथा परजनों के द्वारा पूछे जाने पर भी जो श्रावक गृहसंबंधी कार्य में अनुमति नहीं देता है, वह दसवीं अनुमतित्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा

ग्यारहवें प्रतिमा स्थान में आया हुआ श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। यह उद्दिष्ट से बने हुये भोजन का त्यागी होता है अर्थात् कोई इनके उद्देश्य से कुछ बनाकर उनसे कहे तो वह उसे ग्रहण नहीं करता है। उस श्रावक के दो भेद हैं– क्षुल्लक और ऐलक।

क्षुल्लक एक खंडवस्त्र और एक लंगोटी रखता है। कैंची या उस्तरे से हजामत करा सकता है, पीछी आदि उपकरण से अपने स्थान आदि का प्रतिलेखन करता है। बैठकर पाणिपात्र या थाली आदि में एक बार आहार लेता है। पात्र को प्रक्षालन कर चर्या के लिये श्रावक के घर में जावे, वहाँ आँगन में ठहर कर 'धर्मलाभ' कहकर स्वयं भिक्षा माँगता है। न मिलने पर अदीनमुख हो वहाँ से शीघ्र निकलकर दूसरे घर में जाता है और मौन से अपने शरीर को दिखलाता है। आवश्यक भिक्षा मिलने के पश्चात् किसी एक घर में भोजन करके यत्नपूर्वक अपने पात्र को प्रक्षालन कर गुरु के पास जाता है। यदि किसी को उक्त विधि से गोचरी करना नहीं रूचे तो वह मुनियों[1] के गोचरी कर जाने के पश्चात् चर्या के लिए निकले और किसी एक श्रावक के घर में जाकर आहार ग्रहण करे पश्चात् गुरु के समीप आकर प्रत्याख्यान ग्रहण कर प्रयत्न के साथ सब दोषों की आलोचना करे।

---

१. आजकल क्षुल्लकों की यही विधि है कि वे गुरु के पीछे आहार को जाते हैं।

ऐलक–ये उत्कृष्ट श्रावक नियम से केशलोंच करते हैं, पीछी रखते हैं और पाणिपात्र में ही भोजन करते हैं।

ये प्रथम प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक ऐलकपर्यंत स्थान वाले श्रावक ही कहलाते हैं इन्हें उपासक और देशव्रती भी कहते हैं।

देशव्रती की वर्ज्यक्रिया–दिन में प्रतिमायोग धारण करना अर्थात् नग्न होकर दिनभर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या अर्थात् मुनि के समान गोचरी करना, त्रिकालयोग–गर्मी में पर्वत पर, बरसात में वृक्ष के नीचे और सर्दी में नदी के किनारे ध्यान करना, सिद्धांत ग्रन्थों का अध्ययन करना और रहस्य-प्रायश्चित शास्त्र का अध्ययन, इतने कार्यों में देशव्रती श्रावकों का अधिकार नहीं है।

इस प्रकार से यहाँ ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षेप से वर्णन किया है।

इस प्रकार "महावीर देशना" ग्रंथ में
'सुद मे आउस्संतो' नाम से
श्रावकचर्या का वर्णन
वाला छठा अधिकार
पूर्ण हुआ।

सप्तम अधिकार

सोलहकारण भावना

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्ज्वलद्दुःखदाव-स्कन्धे चंक्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान्। इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्य-प्रक्रान्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात्[1]।।१।।

अर्थ– इस संसाररूपी भीषण वन में दुःखरूपी दावानल अग्नि अतिशय रूप से जल रही है। जिसमें श्रेयोमार्ग–अपने हित के मार्ग से अनभिज्ञ हुये ये बेचारे प्राणी झुलसते हुए अत्यन्त भयभीत होकर इधर- उधर भटक रहे हैं। "मैं इन बेचारों को इससे निकालकर सुख में पहुँचा दूँ।" पर के ऊपर अनुग्रह करने की इस बढ़ती हुई उत्कृष्ट भावना के रस विशेष से तीर्थंकर सदृश पुण्य संचित कर लेने से दिव्यध्वनिमय वचनों के द्वारा जो उसके योग्य मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं वे अर्हंतजिन हम लोगों की रक्षा करें।

'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' कर्मरूपी शत्रुओं को जो जीतते हैं वे जिन कहलाते हैं। 'जिनो देवता अस्येति जैनः" और जिनदेव जिसके देवता हैं–उपास्य हैं वे जैन कहलाते हैं। जिनेन्द्रदेव के इस जैनशासन में प्रत्येक भव्यप्राणी को परमात्मा बनने का अधिकार दिया गया है। धर्म के नेता अनंत तीर्थंकरों ने अथवा भगवान महावीर स्वामी ने मोक्षमार्ग के दर्शक ऐसा मोक्षमार्ग के नेता बनने के लिये उपाय बतलाया है। इसी से आप इस जैन धर्म की विशालता व उदारता का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इस उपाय में सोलह कारण भावनायें भानी होती हैं और इनके बल पर अपनी प्रवृत्ति सर्वतोमुखी, सर्वकल्याणमयी, सर्व के उपकार को करने वाली बनानी होती है।

"दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य[2]।।२४।।"

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक अपरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व ये सोलह कारण भावनायें तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के लिये हैं अर्थात् इनसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है।

इन सोलह भावनाओं में से दर्शनविशुद्धि का होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्य सभी

---

१. अनगार धर्मामृत। २. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७।

भावनायें हों अथवा कुछ कम भी हों फिर भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है अथवा किन्हीं एक, दो आदि भावनाओं के साथ सभी भावनायें अविनाभावी हैं तथा अपायविचय धर्मध्यान भी विशेषरूप से तीर्थंकर प्रकृति बंध के लिये कारण माना गया है। वैसे यह ध्यान तपो भावना में ही अंतर्भूत हो जाता है।

दर्शनविशुद्धि भावना

जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशंकितत्वाद्यष्टांगा दर्शनविशुद्धिः।।१।।

जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रंथ दिगम्बर मोक्षमार्ग में रुचि होना और निःशंकित आदि आठ अंगों का पालन करना दर्शनविशुद्धि है। इहलोक, परलोक, व्याधि, मरण, अगुप्ति, अत्राण और आकस्मिक इन सात प्रकार के भयों से रहित होना निःशंकित है अथवा अर्हंतदेव के द्वारा कथित प्रवचन में 'यह ऐसा है या नहीं है?' इत्यादि शंका नहीं करना सो निःशंकित अंग है। पंचेन्द्रियों के सुख कर्माधीन हैं, विनश्वर हैं और दुःखों से मिश्रित हैं। इनकी इस भव अथवा परभव में आकांक्षा नहीं करना और अनेक प्रकार के कुदृष्टियों के मत की आकांक्षा नहीं करना, निःकांक्षित अंग है। ये शरीर आदि अपवित्र हैं, इनमें पवित्रता की बुद्धि को दूर करना अथवा अर्हंतदेव के शासन में मुनियों का स्नान न करना आदि घोर कष्टप्रद है, ठीक नहीं है इत्यादि अशुभ भावना को छोड़ना तथा रत्नत्रय से पवित्र मुनियों के शरीर में ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। अनेकों दुर्नयों से युक्त मिथ्यामतों को परीक्षाचक्षु से युक्तिशून्य समझकर उसमें मोक्ष को प्राप्त नहीं होना अमूढ़दृष्टि अंग है। उत्तमक्षमा आदि के द्वारा आत्मा के गुणों को बढ़ाना तथा मोक्षमार्ग में चलते हुए किसी अज्ञानी से यदि उसमें दूषण लग जाये तो उसे ढक देना, उपवृंहण या उपगूहन अंग है। धर्म से च्युत करने वाले कषाय आदि के उपस्थित हो जाने पर अपने को अथवा पर को धर्म से च्युत नहीं होने देना स्थितिकरण अंग है। जिनदेव कथित धर्म में नित्य ही अनुराग करना और धर्मात्माओं में भी सहज स्नेह रखना वात्सल्य अंग है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा आत्मा को प्रभावित करना और दान, तप, जिनपूजा आदि के द्वारा जैनधर्म का प्रभाव फैलाना प्रभावना अंग है। सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग हैं।

सम्यक्त्व के पच्चीस मलदोष होते हैं। इन आठ अंगों से विपरीत शंका आदि आठ दोष, ज्ञान, पूजा, ऐश्वर्य, कुल, जाति, बल, रूप और तप, इन आठ के निमित्त से आठ मद, कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु तथा इन तीनों के उपासक ऐसे छह अनायतन तथा देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और पाखंडिमूढ़ता ये तीन मूढ़ता ऐसे पच्चीस दोष होते हैं। इनका त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार से प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य इन चार गुणों को भी धारण करना चाहिए।

यह सम्यग्दृष्टि जीव भय से, आशा से, स्नेह से अथवा लोभ से किसी भी निमित्त से कुदेवों को, कुगुरुओं को नमस्कार नहीं करता है। इस सम्यक्त्व के होने पर ही आगे की भावनायें कार्यकारी हैं अन्यथा नहीं। इसलिये इस दर्शनविशुद्धि को सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिए।

इस दर्शनविशुद्धि के प्रभाव से राजा श्रेणिक ने सातवें नरक की तेंतीस सागर की आयु को घटा-घटाकर मात्र पहले नरक की चौरासी हजार वर्ष प्रमाण ही कर लिया तथा तीर्थंकर प्रकृति का भी बंध कर लिया। आज तक जितने भी जीव तीर्थंकर हुये हैं, होते हैं अथवा होंगे या मोक्ष गये हैं, जाते हैं अथवा जायेंगे, वे सब इस दर्शनविशुद्धि के प्रभाव से ही होते हैं ऐसा समझो। सम्यक्त्व के महत्त्व को सूचित करने वाला एक उदाहरण देखिये—

सौराष्ट्र देश के गिरि नगर में एक दयामित्र नाम का जैनधर्मी सेठ रहता था। एक बार उसने देशांतरों में जाकर धन कमाने का निर्णय किया। तब उसके साथ अनेकों व्यापारी हो लिये। उसने गांव के बाहर डेरा डाला था कि वहां एक ब्राह्मण पधारे। सेठजी ने उससे पूछा आप यहां क्यों आये हैं? वसुभूति ने अपना परिचय देकर कुछ दिन साथ रहने की इच्छा व्यक्त की। सेठजी उदारमना थे उन्होंने साथ रख लिया। सेठजी रोज एक बार सभी व्यापारियों व साथ चलने वालों को बिठाकर धर्मोपदेश दिया करते थे। वसुभूति चिंतित हो सोचने लगा 'यह सेठ अभी तक धर्म के मूल से अनभिज्ञ है, यह बेचारा नंगे साधुओं को मानता है और उन्हीं के कहे हुये मार्ग पर चलकर अपनी अटूट संपत्ति का दुरुपयोग कर रहा है।' समय पाकर वह ब्राह्मण सेठ को समझाने लगा। सेठजी भी मन ही मन उसके अज्ञान पर हंस रहे थे और सोचा करते थे कि इसे सच्चे धर्म में कैसे लाया जाय?

वह खुलकर दिगम्बर मुनियों की निंदा किया करता था। सेठजी भी कभी-कभी उसे समझाया करते थे। एक दिन सेठजी ने युक्ति से उसे धर्ममार्ग पर लाने का निर्णय किया और एकांत में बुलाकर बोले-

'भूदेव! आप सर्वश्रेष्ठ हैं। मेरे सामने एक समस्या उपस्थित हुई है। उसे आप ही सुलझा सकते हैं।'

'वह क्या है?' वह यह है कि "इस फाल्गुन शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा तक मेरा ऐसा नियम है कि प्रतिदिन दिगम्बर मुनि को आहार देना। वह नियम कैसे पूर्ण हो? चूंकि यहां मार्ग में कोई मुनि नहीं मिल सकते अतः मेरी इच्छा है कि आप कुछ दिन के लिये दिगम्बर मुनि बन जाओ। महाराज! पीछे आप जितना भी धन चाहोगे मैं दक्षिणारूप में देकर आपको कृतार्थ कर दूंगा।"

वसुभूति मन में बहुत कुछ सोच-विचार करके अन्त में नग्न मुनि बनने को तैयार हो

गया। उसने सोचा यहां मुझे पहचानने वाला है कौन? कुछ दिन नंगे रहकर पुनः भरपूर दक्षिणा लेकर घर चला जाऊंगा। समय उचित देखकर दयामित्र ने वसुभूति को निर्जल उपवास का नियम कराकर उच्च पाटे पर बिठाया और दीक्षा की प्रारम्भिक क्रिया में उसका केशलोंच करने लगे। वह बेचारा हा, हू, करने लगा। तब दयामित्र ने कहा ऐसा करने से आपको दक्षिणा नहीं मिल सकती। हमारे मुनि प्रसन्नचित्त होकर केशलोंच करते हैं। खैर! थोड़ी देर में केशलोंच करके उसे नग्न बना दिया। दीक्षा विधि के बाद मुनियों की सारी क्रियाएं उसे समझा दीं। दूसरे दिन एक बार खड़े-खड़े हाथ की अंजुलियों में भोजन करना, पान-इलायची खाना नहीं, पुनः जल पीना नहीं, नहाना नहीं, इत्यादि क्रियाओं से वह घबड़ा गया। बोला-

"दयामित्र! मैं इस दीक्षा को निभाने में असमर्थ हूँ। यदि आप सायं को जलपान और प्रातः नदी में स्नान करने की छूट देते हैं तो ठीक, अन्यथा मैं इस वेष को छोड़कर वस्त्र पहन लूंगा।" सेठजी हंस पड़े पुनः बोले—

"मुनिराज! हमारे साधु प्राण जाने पर भी ऐसा नहीं सोचते हैं। वे इतना ही नहीं, उपवास आदि से खिन्न होकर सायं को जल की इच्छा नहीं करते। अनेकों उपसर्ग व परीषहों को सहन करते हैं।" पुनः सेठ ने उसे सम्यक्त्व और चारित्र का उपदेश देकर बोधि की दुर्लभता का उपदेश दिया, जिससे उसे कुछ शांति मिली। वह सोचने लगा, मैंने इनके नग्न श्रमणों को मस्त, स्वच्छंद आदि शब्दों से तिरस्कृत किया था। इसीलिये यह बुद्धिमान दयामित्र मुझे दिगम्बर चर्या का ज्ञान करा रहा है। कुछ ही दिनों में दयामित्र के उपदेश से वसुभूति के हृदय से मिथ्यात्व का पिशाच निकल गया और वह सच्चा सम्यग्दृष्टि बन गया। देव-अदेव को, तत्त्व-अतत्व को उसने पहचान लिया पुनः भावपूर्वक मुनि की चर्या का निर्वाह करने लगा। एक समय मार्ग में भीलों से व्यापारियों में युद्ध छिड़ गया। उस समय वसुभूति मुनि ध्यानमग्न थे, उनको एक बाण लग जाने से वे आत्मचिंतन करने लगे। दयामित्र ने भी उनकी मरणासन्न स्थिति जानकर उन्हें सल्लेखना ग्रहण करा दी। वे महामंत्र स्मरणपूर्वक प्राण छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में मणिकुंडल नाम के देव हो गये। आगे ये ही देव राजा श्रेणिक के प्रसिद्ध पुत्र अभय कुमार हुये हैं। अभय कुमार ने अंत में दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र पद प्राप्त कर लिया है। आगे वे मनुष्य भव में आकर उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

इसी तरह से निःशंकित आदि आठ अंगों में भी अंजन चोर, अनंतमती, उद्दायनराजा, रेवतीरानी, जिनेन्द्रभक्त सेठ, वारिषेण मुनि, वज्रकुमार मुनि और विष्णु कुमार मुनि प्रसिद्ध हुये हैं। उनका भी जीवन चरित्र पढ़ना चाहिये।

मगध देश के अंतर्गत एक मिथिला नगरी थी। उसके राजा पद्मरथ बहुत ही बुद्धिमान, उदार, परोपकारी और राजनीति में कुशल थे। एक दिन राजा पद्मरथ शिकार के लिये वन में गये हुये थे। उन्होंने वहाँ एक खरगोश का पीछा किया किन्तु कुछ क्षण बाद वह न जाने कहाँ अदृश्य हो गया। राजा उसे खोजते-खोजते भाग्य से कालगुफा नाम की एक गुफा में जा पहुँचे। वहाँ एक मुनिराज विराजमान थे वे बड़े तपस्वी थे। तपस्या के प्रभाव से उनका शरीर चमक रहा था उनका नाम सुधर्म मुनि था। पद्मरथ राजा ने मुनि को साष्टांग नमस्कार किया और विनयपूर्वक पास में बैठ गये। मुनिराज ने राजा को धर्म का उपदेश दिया। जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला जल का संसर्ग पाकर शांत हो जाता है वैसे ही राजा का मन भी दिव्य धर्मोपदेश पाकर शांत हो गया तब राजा ने महामुनि से सम्यक्त्व और अणुव्रत ग्रहण कर लिये तथा शिकार खेलना आदि हिंसा कार्यों का सर्वथा त्याग कर दिया पुनः मुनिराज से पूछने लगे–

"हे भगवन्! हे संसार के आधार! कहिये जिनधर्मरूपी समुद्र की वृद्धि करने वाले आपके समान गुणशाली चन्द्रमा और भी कोई हैं या आप ही हैं?"

तब मुनिराज ने कहा–

"राजन्! हैं, और वे मेरे भी महान् जगद्गुरु तीर्थंकर हैं। इस समय चंपानगरी में बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपूज्य केवलज्ञानरूपी किरणों से भव्य जीवों के मिथ्यात्वरूपी गहन अंधकार को दूर कर रहे हैं। उनमें अनंतज्ञान, अनंतदर्शन आदि अनंत गुण विद्यमान हैं। उनके आगे हम जैसे मुनि तो सुमेरु के आगे राई से भी छोटे तुच्छ हैं। राजन्! कहाँ सूर्य का तेज और कहाँ जुगनू।"

इतना सुनकर राजा उसी क्षण भगवान वासुपूज्य के दर्शन को लालायित हो उठे। मुनि को बार-बार नमस्कार कर गुफा से बाहर निकले, अपने घोड़े पर सवार हो शीघ्र ही राजमहल में आ गये और बड़े वैभव के साथ चम्पानगरी के लिये प्रस्थान कर दिया।

इसी बीच धन्वन्तरि और विश्वानुलोम नाम के दो देव स्वर्ग से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परीक्षा के लिये यहाँ मध्यलोक में आये हुए थे। तब सम्यग्दृष्टि देव ने कहा–

"मित्र! जो अभी-अभी सम्यग्दृष्टि बना है आओ उसी की परीक्षा कर लें।"

उन दोनों देवों ने राजा के सम्यग्दर्शन की दृढ़ता और जिनेन्द्रदेव की दृढ़भक्ति की परीक्षा के लिये दैवी प्रकोप चालू कर दिया। उन्होंने पहले राजा के रथ के सामने भयंकर काला सर्प दिखलाया, राज छत्र को भंग कर दिया पुनः सामने ही भयंकर अग्नि जला दी। प्रचण्ड हवा के तूफान से पर्वत और पत्थरों का गिरना दिखाया। असमय में ही जल वर्षा और तमाम कीचड़

से राजा का मार्ग ही रोक दिया। फिर भी राजा अत्यन्त दृढ़ता के साथ आगे बढ़ने का पुरुषार्थ करने लगा। मंत्रियों ने बहुत ही समझाया–

"महाराज! ये सब महा अपशकुन आपके प्रयाण को रोक रहे हैं और महा-अनिष्ट की सूचना कर रहे हैं अतः आप आज प्रस्थान मत करें, कल-परसों आदि दिवस में जाना चाहिये।"

राजा ने कहा–

"मंत्रियों! जिस जिनभक्ति में सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर देने की शक्ति मौजूद है क्या वह इन विघ्न- बाधाओं को नहीं दूर कर सकती? देखो! सम्यग्दृष्टि को जिनभक्ति के माहात्म्य में शंका नहीं करनी चाहिए। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जिनेन्द्रदेव के प्रसाद से ये सब बाधायें मुझे आज रोक नहीं सकेंगी।"

इधर इन दोनों देवों ने विक्रिया से राजा के रथ के हाथी को कीचड़ में ऐसा फँसा दिया कि वह निकल ही नहीं सका। इन सब भयंकर उपद्रवों को देखकर सभी सामंत, मंत्री आदि घबरा गये और पुनः-पुनः राजा से यात्रा स्थगित कर लौट चलने की प्रार्थना करने लगे। किन्तु राजा ने किसी की एक भी न सुनी तथा भक्ति में विभोर हो जोर से बोल उठा–

"नमः श्री वासुपूज्याय, नमः श्री वासुपूज्याय, नमः श्री वासुपूज्याय", इस मंत्र का उच्चारण करके झट हाथी को आगे बढ़ा दिया। इस मंत्र के प्रसाद से देवों की शक्ति कुंठित हो गई वे दोनों आगे कुछ भी विक्रिया नहीं कर सके, तब सारी माया विलीन हो गई और राजा का रथ मार्ग में द्रुतगति से चलने लगा।

उसी क्षण वे दोनों देव अपने असली रूप में प्रगट होकर राजा के सम्यक्त्व की, जिनभक्ति की प्रशंसा करने लगे। उन देवों ने राजा की सच्ची जिनभक्ति से प्रभावित होकर उन्हें सर्व रोगों को नष्ट करने वाला एक दिव्यहार भेंट में दिया और एक दिव्यवाणी दी जिसकी आवाज एक योजन (चार कोश) तक सुनाई देती थी। पुनः राजा की बहुत-बहुत तारीफ करते हुये अपने स्थान पर चले गये।

राजा पद्मरथ वासुपूज्य भगवान को हृदय में धारण किये हुए निर्विघ्न और सकुशल चंपानगरी आ गये। वहाँ पहुँचकर रथ से उतरकर जो आनंद हुआ वह शब्दों के अगोचर था। भगवान की पूजा-स्तुति करके मनुष्यों के कोठे में बैठकर प्रभु का दिव्य उपदेश सुना। तत्क्षण ही उन्हें संसार से वैराग्य हो गया तब वे भगवान के चरणमूल में जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मुनि बन गये। दीक्षा लेते ही उनके परिणामों में इतनी निर्मलता आ गई कि अंतर्मुहूर्त में ही उन्हें अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया। अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो गईं और वे महामुनि

वासुपूज्य भगवान के "गणधर" हो गये।

कुछ दिनों तक घोर तपश्चर्या करते हुए भव्यों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहे, अनंतर घातिया कर्मों का नाश कर केवली बन गये पुनः ये पद्मरथ केवली सर्वकर्मों का नाशकर निर्वाणधाम को प्राप्त हो गये हैं।

यह है सम्यग्दर्शन की दृढ़ता का उदाहरण, जो कि नियम से संपूर्ण विघ्न बाधाओं को चकनाचूर कर देने वाला है।

विनयसंपन्नता भावना

ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसंपन्नता।।२।।

मोक्षमार्ग के साधन सम्यग्ज्ञान आदि का और उसके साधनभूत गुरु आदिकों का यथायोग्य आदर-सत्कार करना अथवा कषायों को दूर करना यह विनय-संपन्नता है। और भी कहते हैं-"अर्हंत आदि पंचपरम गुरुओं की पूजा करने में कुशल, ज्ञान आदिकों में यथायोग्य भक्ति से युक्त, गुरु के प्रति सर्वत्र अनुकूल-प्रवृत्ति, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना, कथा और विज्ञप्ति आदि में कुशल, देश, काल और भाव के स्वरूप को समझने में तत्पर तथा आचार्य के अभिप्राय के अनुरूप आचरण करने वाली विनयशुद्धि है। विनय सर्व संपत्तियों का मूल है। यही पुरुष का भूषण है और संसार समुद्र से पार करने के लिये नौका के समान है।"[1]

मूलाचार में विनयकर्म का लक्षण करते हुये कहा है कि "विनीयंते निराक्रियंते संक्रमणोदयोदीरणादि भावेन प्राप्यंते येन कर्माणि तद्विनयकर्म शुश्रूषणं।"[2] जिसके द्वारा कर्म दूर किये जाते हैं—निराकृत किये जाते हैं, संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि भावों को प्राप्त करा दिये जाते हैं वह विनय कर्म है अर्थात् शुश्रूषा करना तथा विनय का विस्तृत विवेचन करते हुये मूलाचार में विनय के पाँच भेद बताये हैं-दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और औपचारिकविनय। उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य, प्रभावना आदि गुणों को धारण करना, पंच परमेष्ठी में अनुराग करना, उनकी पूजा करना, उनके प्रति असत्य आरोपों का निराकरण करना, उनके गुणों का कीर्तन करना, उनकी अवज्ञा नहीं करना, शंका, कांक्षा आदि अतिचारों को नहीं लगाना तथा जिनेन्द्रकथित तत्त्वों का दृढ़ श्रद्धान करना आदि दर्शनविनय है।

काल की शुद्धि में ग्रन्थों का पढ़ना-पढ़ाना, हाथ-पैर आदि धोकर पर्यंकासन से अध्ययन करना, नियम विशेष लेकर पढ़ना, बहुमान से पढ़ना, गुरु और ग्रन्थ का नाम नहीं छिपाना,

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक। २. मूलाचार सटीक, पृ. ४४०।

शब्द, अर्थ और उभय की शुद्धिपूर्वक पढ़ना। इस तरह काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिन्हव, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि और उभय शुद्धि इन आठ के भेद से ज्ञान विनय के भी आठ भेद हो जाते हैं।

इन्द्रियों को जीतना, कषायों को दूर करना, मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्तिरूप तीन गुप्तियों को पालना और पाँच समितिरूप प्रवृत्ति करना यह सब चारित्र विनय है।

आतापन आदि उत्तर गुणों में, अनशन आदि तपश्चरण में उत्साह रखना, तप में अधिक साधुओं की भक्ति करना और जो तप में हीन हैं उनकी अवहेलना नहीं करना यह सब तप विनय है।

पाँचवें औपचारिक विनय के मन-वचन-काय की अपेक्षा से तीन भेद हैं तथा इनके भी प्रत्यक्ष-परोक्ष की अपेक्षा दो-दो भेद हो जाते हैं।

राग, द्वेष, हिंसा आदि पाप भावों से मन को हटाकर धर्म व सम्यग्ज्ञान आदि में मन को लगाना। यह सब मानसिक विनय है।

गुरुओं के प्रति आदरसूचक वचन बोलना जैसे कि हे भट्टारक! हे भगवन्! इत्यादि। उनके समक्ष हितरूप, मितरूप, मधुर, सूत्र के अनुकूल, अनिष्ठुर, कर्कशता रहित वचन बोलना, गृहस्थ के योग्य, असभ्य या अश्लील वचन मुख से नहीं निकालना, अवहेलना, निंदा व पाप क्रियाकारक वचन भी नहीं बोलना यह सब वाचनिक विनय है।

गुरुओं को आते हुये देखकर आसन से उठकर खड़े होना, सिद्ध-आचार्यभक्तिपूर्वक उनकी वंदना करना, शिर से नमस्कार करना, उनको हाथ जोड़कर प्रणाम करना, जाते समय उनके पीछे-पीछे जाना, उनका आदर करना, उनसे नीचे बैठना, चलते समय उनके पीछे या उनसे बायें तरफ चलना, उनके सामने आप आसन पर न बैठकर नीचे बैठना, गुरु के लिये आसन-पाटा आदि देना, उन्हें पुस्तक-पीछी-कमंडलु आदि देना, उन्हें वसतिका, गुफा आदि प्रासुक स्थान देखकर ठहराना और उनके सामने नम्रप्रवृत्ति से बैठना उनके शरीर तथा समय के योग्य मालिश वगैरह करना, उष्ण काल में शीत क्रिया-उपचार तथा शीतकाल में उष्ण क्रिया आदि करना, उनकी आज्ञा के अनुसार उनके काम करना गुरु के लिये चटाई[1], पाटा आदि संस्तर लगाना उनके पुस्तक-कमंडलु आदि उपकरणों का पिच्छिका से प्रतिशोधन करना इत्यादिरूप से जो भी गुरुओं का या अन्य साधुवर्गों का काय से कार्य किया जाता है वह सब कायिक विनय है।

---

१. संस्तर करणं- चट्टिटकादिप्रस्तरणं (मूलाचार सटीक, पृ. २६८)

गुरु, आचार्य, उपाध्याय आदि के रहते हुये जो उनकी विनय की जाती है वह सब प्रत्यक्ष विनय है तथा उनकी अनुपस्थिति में जो उनका विनय किया जाता है और उनकी आज्ञा का पालन किया जाता है वह सब परोक्ष औपचारिक विनय है।

यहाँ विचार करने की बात यह है कि जब साधु दिगम्बर होकर भी स्वयं अपने गुरु व सहधर्मी साधुओं को जो कि दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं उनकी इस तरह विनय करते हैं, उन्हें आसन-उपकरण-वसतिका आदि देते हैं, उनके हाथ-पैर दबाना, तैल मर्दन आदि करना करते हैं, तब श्रावकों को तो विनय करना अतीव उपयोगी है ही।

इसलिये श्रीकुंदकुंददेव कहते हैं कि "विनय से हीन की सर्व शिक्षा निरर्थक है। शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल सर्वकल्याण है। यह विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से ही तप, संयम और ज्ञान की सिद्धि होती है और विनय के द्वारा ही आचार्य तथा सर्वसंघ आराधित प्रसन्न हो जाता है।"[1]

जो गुरुओं की विनय नहीं करते हैं या अभिमान में आकर उनका अनादर-अपमान कर देते हैं उन्हें कितना कटु फल मिलता है—

विजयार्ध पर्वत की श्रेणी पर रथनूपुर नाम का एक नगर है। रावण के जमाने में सहस्रार नाम के राजा इस रथनूपुर के स्वामी थे। उसकी मानसुन्दरी रानी जब गर्भवती हुई तो उसे इन्द्र के वैभव को भोगने का दोहला हुआ। राजा सहस्रार ने विद्या के बल से इन्द्र जैसे वैभव तैयार किये और रानी के दोहले को पूर्ण किया। नव महीने बाद पुत्ररत्न के उत्पन्न होने पर राजा ने उसका नाम इन्द्र रख दिया। वह पुत्र जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तब उसने विजयार्ध पर्वत के समस्त विद्याधर राजाओं को अपने वश में कर लिया और अपना विशाल वैभव इन्द्र जैसा बनाया।

उसके अड़तालीस हजार रानियाँ थीं, मुख्य रानी का नाम शची था, पुत्र का नाम जयन्त था तथा अपने श्वेतवर्ण के उत्तम हाथी का नाम ऐरावत रखा। उसने चारों दिशाओं में सोम, यम, वरुण आदि नाम रखे, अपनी सभा का नाम सुधर्मा सभा रखा इत्यादि प्रकार से वह इन्द्र 'इन्द्र' के सदृश वैभव का अनुभव कर रहा था।

उस समय लंकापुरी का स्वामी माली नाम का विद्याधर था, लंका में ही रहकर समस्त विजयार्ध पर्वत के विद्याधरों पर अनुशासन कर रहा था। इन्द्र के प्रभाव से जब राजाओं ने उसकी आज्ञा उल्लंघन करना शुरू कर दिया तब माली राजा और इन्द्र राजा का आपस में भयंकर युद्ध

---

१. मूलाचार श्री कुंदकुंद कृत, गाथा १८८ से २१२ तक।

हुआ। उसमें इन्द्र ने माली को मार डाला। तब उस माली का भाई सुमाली अपनी रक्षा करता हुआ पाताल लंका में निवास करने लगा। वहाँ उसके रत्नश्रवा पुत्र हुआ। इस रत्नश्रवा विद्याधर की केकसी रानी ने ही रावण, विभीषण और कुम्भकर्ण को जन्म दिया।

जब रावण तरुण हुआ और उसे यह पता चला कि अपनी राज्यभूमि लंका को जीतकर इन्द्र विद्याधर ने मेरे बाबा को पराजित किया है तब उसके हृदय में प्रतिशोध का भाव उत्पन्न हो गया अतः उसने नाना विद्यायें सिद्ध कीं।

कालांतर में चक्ररत्न को प्राप्तकर रावण दिग्विजय के लिये निकलता है। क्रमशः वह विजयार्ध पर्वत की भूमि में पहुँचता है तब इन्द्र अपने सभासद देव विद्याधरों को आदेश देता है कि युद्ध की तैयारी करो। पिता सहस्रार के मना करने पर भी इन्द्र रावण के साथ घनघोर युद्ध करता है। उस युद्ध में उभय पक्ष में तमाम सैनिकों का क्षय हो जाता है। अनंतर रावण और इन्द्र विद्याधर का परस्पर युद्ध शुरू हो जाता है। उस युद्ध में शक्तिशाली रावण ने उछल कर अपना पैर इन्द्र के हाथी के मस्तक पर रखा और पैर की ठोकर से सारथी को नीचे गिरा दिया तथा इन्द्र को वस्त्र से बाँधकर अपने हाथी पर चढ़ा लिया। इस तरह रावण इन्द्र को जीतकर अपनी लंकापुरी में ले आया।

उस प्रसंग में राजा सहस्रार अपने सामंतों को साथ लेकर रावण के दरबार में आये। रावण ने उनका यथायोग्य विनय किया पुनः सहस्रार विद्याधर स्वामी ने कहा कि हे रावण! तुम अब मेरे पुत्र को छोड़ दो। रावण बोला पूज्यवर! मैं उसे इस शर्त पर छोड़ सकता हूँ कि आज से तुम सभी लोग मेरे नगर में बुहारी देने का काम करो। धूलि, अशुचि पदार्थ कंटक आदि को साफ करो। इन्द्र भी सुगन्धित जल से पृथ्वी का सिंचन करें और उसकी शची आदि इन्द्राणियाँ पंचवर्ण चूर्ण से मंगल चौक पूरें। यदि आप लोग यह शर्त मंजूर करते हों तो मैं इन्द्र को अभी ही छोड़े देता हूँ। इतना कहकर रावण बार-बार हँसने लगा।

पुनः सहस्रार से विनयावनत होकर रावण ने कहा कि पूज्यवर! आप जैसे इन्द्र के पिता हैं वैसे ही मेरे भी पितातुल्य पूज्य हैं। मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष पालूँगा। आज से इन्द्र मेरा चौथा भाई है मैं उसके साथ इस पृथ्वीतल का राज्य निष्कंटक होकर अनुभव करूँगा इत्यादि नाना प्रकार के विनय वचनों से सहस्रार को संतुष्ट कर इन्द्र को छोड़ दिया। इन्द्र भी अपने पिता के साथ रथनूपुर नगर को वापस आ गया किन्तु उसके मन में शांति नहीं हो रही थी। उसे बन्धन से छूटने का सुख नहीं था किन्तु अपने पराजय का महान् दुःख हो रहा था।

एक दिन राजा इन्द्र अपने राजमहल में विद्यमान विशाल जिनालय में बैठे हुये पराजय की

चिन्ता से अतिशय चिन्तित हो रहे थे इसी बीच में निर्वाणसंगम नाम के चारण ऋद्धिधारी महामुनि आकाश मार्ग से जाते हुए वहाँ जिनमन्दिर के दर्शनार्थ आ गये। राजा इन्द्र ने उनका अतिशय विनय करके उनके चरणों के निकट बैठकर अपने पराभव का कारण पूछा। उस समय मुनिराज कहते हैं–

हे इन्द्र! इसी भव में तुमने लीलामात्र में कुछ पाप संचित कर लिया था, उसके फलस्वरूप इस पराजय को प्राप्त हुये हो। सो सुनो! अरिंजयपुर नगर में वन्हिवेग विद्याधर ने अपनी 'अहिल्या' पुत्री का स्वयंवर किया था। उस समय वहाँ तुम भी गये थे, किन्तु कर्मसंयोग से कन्या ने चंद्रावर्त नगर के राजा आनन्दमाल के गले में वरमाला डालकर उसका वरण कर लिया। ईर्ष्याजन्य बहुत भारी क्रोध के कारण तुम उसी समय से आनंदमाल से द्वेष करने लगे। कुछ ही दिन बाद आनंदमाल ने अपने भाई के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और उत्कृष्ट तप करने लगे।

एक समय वे महामुनि रथावर्त पर्वत पर प्रतिमायोग से विराजमान थे। उस समय तुम अपने विमान में बैठे हुए उधर से निकले, उन्हें पहचान लिया और उन्हें देखते ही क्रोध से सहित होकर अनेक प्रकार से उनकी हँसी की। तुम बोले– अरे! कामभोग में अतिशय लंपट तू अहिल्या पति है, इस समय तू यहाँ क्यों बैठा है? इत्यादि कहते हुये तुमने उन मुनिराज को रस्सी से कस कर लपेट दिया। फिर भी वे मुनिराज पर्वतसम निश्चल ध्यानमग्न बने रहे। यद्यपि आनन्दमाल मुनि किंचित् भी विकार को प्राप्त नहीं हुए थे किन्तु उन्हीं के समीप उनके छोटे भाई कल्याणमाल मुनि प्रतिमायोग से विराजमान थे सो तुम्हारे इस कुकृत्य से दुःखी होकर उन्होंने प्रतिमायोग का संकोच कर तथा लम्बी और गरम श्वास भरकर तुम्हारे लिये इस प्रकार कहा कि तुमने इन निरपराध मुनिराज का तिरस्कार किया है इसलिए तुम भी बहुत भारी तिरस्कार को प्राप्त होवोगे।

वे मुनि अपनी अपरिमित श्वास से तुम्हें भस्म ही कर देना चाहते थे परन्तु तुम्हारी सर्वश्री नामक भार्या ने उन्हें शांत कर लिया। तुम्हारी सर्वश्री रानी सम्यग्दर्शन से युक्त तथा मुनिजनों की पूजा करने वाली थी इसलिये उत्तम हृदय के धारक मुनि भी उसकी बात मानते थे। यदि वह साध्वी उन मुनिराज को शांत नहीं करती तो उनकी क्रोधाग्नि कौन रोक सकता था? "जो मनुष्य साधुजनों का तिरस्कार करते हैं वे तिर्यंचगति और नरकगति में महान दुःख पाते हैं। जो मनुष्य मन में साधुओं का पराभव करते हैं वे इस लोक और परलोक में परम दुःख को

प्राप्त करते हैं''' जो दुष्टचित्त मनुष्य निर्ग्रंथ मुनियों को गाली देते हैं अथवा मारते हैं उन पापी मनुष्यों के विषय में क्या कहा जावे? मनुष्यों के मन-वचन-काय से किये गये अशुभ कर्म छूटते नहीं हैं, समय पाकर वे निकाचित कर्म अवश्य ही फल देते हैं।

इस प्रकार से मुनिराज के द्वारा कहने पर तथा अनेक पूर्वभवों की घटना को भी सुनाने पर राजा इन्द्र को तत्क्षण ही अपने पूर्वजन्मों का स्मरण हो आया। इस भव में अपने द्वारा किये गये मुनिराज के तिरस्कार को भी स्मरण करता हुआ वह इन्द्र महान् दुःख को प्राप्त हुआ। गुरुदेव की बार-बार स्तुति करके अपने पुत्र को राज्यलक्ष्मी का भार सौंप दिया, अनन्तर अपने अनेक पुत्रों और लोकपालों के समूह के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। यद्यपि उनका शरीर इन्द्र के समान लोकोत्तर भोगों से ललित हुआ था तो भी उन्होंने असाधारण तप का भार धारण कर लिया। तदनन्तर बहुत काल तक घोर तपश्चरण करके अन्त में शुक्ल ध्यान से कर्मों का क्षयकर निर्वाण को प्राप्त हो गये।

आज भी ऐसे उदाहरण देखने में आते रहते हैं कि जो अपने धन या विद्या के मद से गर्विष्ठ हो मुनि अथवा आर्यिका आदि त्यागीवर्गों की निंदा करते हैं, उनका झूठा अप-प्रचार करते हैं वे निश्चित ही अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करते हैं। जो पापभीरु हैं वे तो उस पाप के फल को भोगकर पुनः त्यागियों की निंदा करना छोड़ देते हैं किन्तु यदि वे दीर्घकर्मी हैं तो न केवल अधिक-अधिक ही मुनि निंदा करते रहते हैं बल्कि निंदा करने का अपना एक धंधा ही बना लेते हैं।

शास्त्रों में तो ऐसा बतलाया गया है कि देव, धर्म या गुरु की निंदा से निकाचित कर्मों का बंध हो जाता है जिसका फल बिना भोगे नहीं छूटता है। इस जन्म में, अगले जन्म में अथवा अनेकों जन्म के अनंतर भी वह बंधा हुआ कर्म अपना फल देता ही देता है। इसलिये सदा गुरुओं की भक्ति और विनय करना चाहिये।

गुरुओं की विनय के बल पर ही अर्जुन विशेष धनुर्धारी प्रसिद्ध हुये हैं। अनेकों मुनि व श्रावकों ने भी विनय के बल से मोक्षमार्ग को प्रशस्त किया है। एक उदाहरण देखिये-

एक तापसी जलस्तंभिनी विद्या के बल से यमुना के मध्य ध्यान करता था। किसी समय एक विद्याधर की पत्नी अपने पति से उसकी प्रशंसा करने लगी। विद्याधर ने कहा यह मिथ्यातपस्वी है। देखो! इसकी अज्ञानता मैं तुम्हें दिखाता हूँ। विद्याधर युगल ने चांडाल का वेष

---

१. विधाय साधुलोकस्य तिरस्कारं जना महत्। दुःखमत्र प्रपद्य ते तिर्यंक्षु नरकेषु च।। ६४।।
मनसापि हि साधूनां पराभूतिं करोति यः। तस्य सा परमं दुःखं परत्रेहं च यच्छति।।६५।। (पद्मपुराण, पर्व १३)

बनाकर नदी के किनारे बड़ा सा महल बनाया और भी अनेकों चमत्कार करने लगे। साधु ईश्वर ध्यान आदि छोड़कर आकर बोला– महाशय! यह विद्या हमें भी दे दीजिये। विद्याधर ने कहा मैं चांडाल हूँ तुम ब्राह्मण हो पुनः कैसे गुरु-शिष्य संबंध बन सकेगा?.....खैर! उसके अनुनय-विनय पर विद्याधर ने उसे वह विद्या दे दी। उस तापसी ने राजा के पास अपना चमत्कार दिखाना चाहा। इसी बीच में ये विद्याधर युगल चांडालवेष में उसके सामने पहुँचे। साधु ने मन में सोचा ये नीच इस समय मेरा चमत्कार घटाने के लिये क्यों आ गये? उसी समय उसकी विद्या समाप्त हो गई। तब लज्जित होकर तापसी ने सारी बातें बता दीं। राजा ने उन चांडाल दंपत्ती को नमस्कार कर विद्या मांगी। चांडाल ने कहा यदि आप कहीं भी मुझे देखें तो ऐसा कहें कि "मैं आपकी ही चरण कृपा से जीता हूँ" तब तो मैं आपको विद्या दे सकता हूँ। राजा ने स्वीकार कर लिया, चांडाल ने उसे विद्या दे दी।

एक दिन राजा सिंहासन पर बैठे थे उनके पास बहुत मंत्रीगण व सभासद् बैठे हुये थे। उसी समय ये चांडाल युगल आये, राजा ने सिंहासन से उठकर नमस्कार करके विनय से कहा– "प्रभो! मैं आपके चरणों की कृपा से ही जीता हूँ।" इतना कहते ही वह सम्यग्दृष्टी विद्याधर बहुत प्रसन्न हुआ। राजा की विनय से प्रभावित होकर उन्होंने अपने विद्याधर दंपत्ती के असली रूप को प्रगट किया और सम्यक्त्व के माहात्म्य को तथा विनय गुण के माहात्म्य को बतलाकर राजा को अनेकों और भी विद्याओं को देकर वे अपने विजयार्ध पर्वत पर चले गये। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब लौकिक कार्य भी बिना गुरु की विनय के सिद्ध नहीं हो सकते तो परमार्थ कार्य की सिद्धि होना असंभव ही है। अतः जो मनुष्य दर्शन, ज्ञान आदि की विनय करते हुए अपने गुरुओं की अतिशय विनय करते हैं, वे ही इस विनय संपन्नता भावना को प्राप्त कर लेते हैं।

शीलव्रतेष्वनतिचार भावना

चरित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः।।३।।

अहिंसा आदि व्रत हैं तथा उनके परिपालन के लिये क्रोधादि का वर्जन करना सो शील है। इन व्रतों और शीलों में मन-वचन-काय की निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है।

पाँच महाव्रतों के परिपूर्ण पालन करने के लिये जो उनकी पच्चीस भावनायें हैं, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप चारित्र हैं वे सब भी शील नाम से कहे जाते हैं अथवा अट्ठाईस मूलगुणों को व्रत समझने पर बारह तप व बाईस परीषहजय ये चौंतीस उत्तरगुण भी शील शब्द से कहे जाते है। श्रावकों के पाँच अणुव्रत व्रत हैं एवं तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शील

कहलाते हैं। वृत्ति में अकलंकदेव ने क्रोधादि के त्याग करने को शील कहा है चूँकि ये कषायें व्रतों का विघात कर देती हैं।

उदाहरण के लिये देखिये—एक गुणनिधि नामक मुनिराज ने आहार का त्यागकर पर्वत के शिखर पर चार माह के लिये वर्षायोग धारण कर लिया। सुर-असुर देव उनकी स्तुति करने लगे। वे मुनिचारण ऋद्धि के धारक थे, धीर-वीर थे। चार माह का योग समाप्त कर कहीं आकाशमार्ग से विहार कर गये। उसी समय मृदुमति नाम के मुनिराज आहार हेतु उसी नगर में आये। तब राजा और नगरवासियों ने यही समझा कि ये वे ही महामुनि हैं जिनकी देव पूजा करते थे और कहने भी लगे, हे मुनिवर! आप धन्य हैं, आपकी देवगण भी वंदना करते थे। ऐसा सुनकर भी इन मुनि ने मायाचारी से कुछ उत्तर नहीं दिया और सोचा कि मुझे उन मुनि के रूप में जानकर लोग अधिक पूजा करेंगे अन्यथा कम करेंगे। इत्यादि आगे वे मुनिराज मरकर स्वर्ग में देव हो गये अनंतर वहाँ से च्युत हो इस मायाचारी के पाप से वह मुनि का जीव त्रिलोकमंडन नाम का हाथी हो गया जो कि रावण के यहाँ था। पुनः रामचंद्र जी उसे अयोध्या में ले आये थे। ऐसा केवली भगवान ने श्रीरामचन्द्र आदि को बताया था। कहने का मतलब यही है कि क्रोध आदि कषायें व्रतों को दूषित करके जीव को दुर्गति में डाल देती हैं।

"हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पाँचों पापों से परलोक में भले ही दुःख हो किन्तु इस लोक में तो सुख मिलता ही है और अपने को तो इस जन्म में ही आनन्द चाहिये। परलोक भला किसने देखा है?"

"नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है। पापों के सेवन से इस जन्म में भी अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। हिंसक, क्रूर, झूठे, चोर या कुशीली लोग अच्छे लोगों की नजर में निंद्य, पापी गिने जाते हैं और विश्वास के अपात्र हो जाते हैं। "एक पौराणिक इतिवृत्त को देखिए—

किसी समय विदेह क्षेत्र में एक मुनिराज सर्पसरोवर के निकट के वन में आये। एक देव युगल ने उनके दर्शन करके संतुष्ट होकर मुनिराज से धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की तब मुनिराज कहने लगे–

मैं अभी नवदीक्षित हूँ अतः धर्मोपदेश देने में समर्थ नहीं हूँ चूँकि यह उपदेश देने का कार्य समस्त शास्त्रों में पारंगत मुनियों का ही है फिर भी किंचित् कहता हूँ सो सुनो। ऐसा कहकर मुनिराज ने सम्यग्दर्शन, सत्पात्रदान, श्रावक धर्म व मुनिचर्या आदि का किंचित् उपदेश दिया। पुनः देव कहता है–

"भगवन् ! आपने किस कारण से मुनि दीक्षा ली है सो कृपा कर कहिये !"

मुनिराज बोले– विदेहक्षेत्र की पुंडरीकिणी नगरी में मैं एक दरिद्र कुल में उत्पन्न हुआ। मेरा नाम भीम रखा गया। कुछ बड़ा होने पर काललब्धि आदि के निमित्त से एक दिन मैंने एक मुनिराज के दर्शन किये। उनके पास में आठ मूलगुण ग्रहण कर लिये और घर आ गया। जब पिता को इस बात का पता चला तो वे कहने लगे अरे पुत्र! हम लोग महादरिद्री हैं सो हम लोगों को व्यर्थ के इन कठिन व्रतों से क्या प्रयोजन! इनका फल इस लोक में तो मिलता नहीं, अतः आ चल! स्वर्ग के इच्छुक उस मुनि को ही ये व्रत वापस कर आवें। हम लोग तो इस लोक सम्बन्धी फल चाहते हैं जिससे कि जीविका चल सके। अतः व्रत देने वाले गुरु का स्थान मुझे दिखा। ऐसा कहकर पिता मुझे साथ लेकर चल पड़े।

मार्ग में मैंने देखा कि वज्रकेतु नाम के एक पुरुष को दण्ड दिया जा रहा है तब मैंने पिताजी से कारण पूछा और वे ज्ञात कर कहने लगे–

"यह सूर्य की किरणों में अनाज सुखा रहा था, किसी मंदिर का मुर्गा उसे खाने लगा तब उसको इसने इतना मारा कि वह मर गया इसलिये लोग इसे दण्ड दे रहे हैं।"

आगे बढ़कर मैंने देखा धनदेव की जीभ निकाली जा रही है। पूछने पर पिताजी ने बताया कि "इसने जिनदेव के द्वारा रखी गई धरोहर को हड़प लिया और झूठ बोल गया, भेद खुलने पर इसकी जीभ उखाड़ी जा रही है।"

आगे देखा रतिपिंगल को शूली पर चढ़ाने के लिये ले जा रहे हैं। पूछने पर ज्ञात हुआ, "इसने एक सेठ के घर से बहुमूल्य मणियों का हार चुराकर एक वेश्या को दे दिया सो कोतवाल द्वारा पकड़ा जाने पर उसे प्राणदण्ड की आज्ञा हुई है।"

आगे बढ़ने पर देखा कि "एक कोतवाल सिपाही का गुह्य अंग काट रहे हैं। पूछने पर पता चला कि इस पापी ने अपनी मौसी की पुत्री के घर जाकर रात्रि में उससे व्यभिचार किया है अतः राजाज्ञा से राज्य कर्मचारी इसे ऐसा दण्ड दे रहे हैं।"

और आगे बढ़ने पर देखा कि लोल नामक किसान विलाप कर रहा है। पूछने पर मालूम हुआ कि "इसने खेत के लोभ से अपने बड़े लड़के को डंडों से इतना मारा कि वह मर गया। इससे उसे देशनिर्वासन दंड दिया गया है अतः यह बिलख रहा है।"

आगे बढ़ते ही देखा कि सागरदत्त ने जुये में समुद्रदत्त का बहुत सा धन जीत लिया, परन्तु समुद्रदत्त उस धन को देने में असमर्थ था। अतः उसने क्रोध से बहुत देर तक समुद्रदत्त को दुर्गन्धित धुएँ के बीच में बैठा रखा है। पुनः किसी जगह मैंने देखा कि "आनंद महाराजा द्वारा अभय घोषणा कराये जाने पर भी उन्हीं के पुत्र अंगद ने राजा के मेंढे को मार कर खा लिया

है। इसके दण्ड में उसके हाथ काटकर उसे विष्ठा का भक्षण कराया जा रहा है।" "पुनः अन्य स्थान पर देखता हूँ कि शराब पीने वाली महिला ने शराब खरीदने के लिये किसी के बालक को मारकर जमीन में गाड़ दिया और उसके जेवर निकाल लिये। भेद खुल जाने पर राज कर्मचारी उसे दण्ड दे रहे हैं।"

हिंसा आदि पापों से होने वाले इन फलों को मैंने प्रत्यक्ष में देखा अतः मैंने यह निश्चय कर लिया कि ये महापाप इस भव में तो नाना दुःख देने वाले हैं ही, तथा परलोक में भी इनका फल नरक-निगोद ही है। मैंने भी जो दरिद्रता पाई है वह भी तो पाप ही का फल है। अतः मैंने अपने पिता को छोड़कर मोक्ष की इच्छा से उन्हीं गुरु के पास जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली है। गुरु के प्रसाद से मैं शीघ्र ही सर्वशास्त्र समुद्र का पारगामी हो गया हूँ और मेरी बुद्धि भी विशुद्ध हो गई है। इसलिये पाप और पुण्य का फल इस जीव को संसार में भोगना ही पड़ता है। उसी के फलस्वरूप अनेक दुःख और राज्यवैभव आदि सुख भी मिलते रहते हैं। जब पुण्य-पाप को छोड़कर यह जीव निर्विकल्प ध्यान में स्थित हो जाता है तब शुद्धोपयोग के बल से कर्मों का नाशकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है अतः परलोक और मोक्ष आदि को भी स्वीकार करना ही चाहिये।

मुनिराज के इस अपनी दीक्षा के कारण को सुनकर देव अति प्रभावित हुये।

ये व्रत गृहस्थों के लिये अणुव्रतरूप होते हैं और निरतिचार पालन करने पर नियम से स्वर्ग को प्राप्त कराते हैं तथा मुनियों के महाव्रतरूप होते हैं। वे मोक्ष के कारण हैं कदाचित् इस भव में मोक्ष न प्राप्त करा सकें तो स्वर्ग तो नियम से प्राप्त कराते ही हैं।

जो मुनि या श्रावक अपने महाव्रत या अणुव्रतों को निर्दोष पालते हैं, अतीचार नहीं लगाते हैं जैसे कि अहिंसाणुव्रत के पशु आदि जीवों का वध, बंधन, अंगछेदन, अतिभार आरोपण और अन्नपान का निरोध ये पाँच अतिचार हैं। इन अतिचारों को श्रावकाचार से समझकर श्रावकों को अपने व्रतों को निर्दोष बनाना चाहिये और सात शीलों के भी अतिचार छोड़ना चाहिये। मुनियों को भी महाव्रत और समिति आदि के अतिचारों को दूर करके उन्हें निर्मल बनाना चाहिये। निरतिचारव्रत और शील नियम से स्वर्ग-मोक्षरूप फल देते हैं तथा दर्शनविशुद्धिपूर्वक इस भावना को प्राप्त करने से तीर्थंकर प्रकृति का भी बंध कर लेते हैं।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना

ज्ञानभावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः।।४।।

जीवादि पदार्थों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से जानने वाले मति, श्रुत, अवधि आदि पाँच ज्ञान हैं। इनमें से जो जिनेंद्र भगवान के मुखकमल से निकले हुये वचन हैं, उन्हें ही गणधर आदि ऋषियों ने आगमरूप से गूँथा है। उन्हीं का परंपरागत अंश आज भी ग्रन्थों में अनुबद्ध है। उन ग्रन्थों को गुरुमुख से पढ़ना-पढ़ाना, अभ्यास करना आदि अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। इन मति, श्रुत आदि ज्ञानों का साक्षात् फल है अज्ञान का दूर हो जाना तथा हित की प्राप्ति, अहित का परिहार और उपेक्षा का होना यह भी फल है। और आगे चलकर इस अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का फल पूर्ण ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा की उपलब्धि कर लेना अर्थात् अक्षयसुख को प्राप्त कर लेना।

श्री कुंदकुंद आदि महान् आचार्यों ने हमेशा ग्रन्थ रचना में अपना समय बिताया है। इससे स्पष्ट है कि उन महान् आचार्यों ने ग्रन्थ रचना के पहले चारों अनुयोगों का बहुत ही गहरा अध्ययन किया था। उनकी रचनाओं से उनका सर्वांगीण महान् ज्ञान लक्षित हो जाता है। ज्ञानाभ्यास से असंख्यात गुणश्रेणी कर्मों की निर्जरा होती है जैसा कि धवला में कहा है–"सुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्जगुणसेढीए पावं गालिय पच्छा सव्वकम्मक्खयकारणमिदि।"[1] सूत्र प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूप से पापों का नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मों के क्षय का कारण होता है।

श्री कुंदकुंददेव कहते हैं–

"सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा। अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।"[2]

जिनसूत्र और उनके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के लिये निमित्त हो जाते हैं तथा दर्शन मोह का क्षय, क्षयोपशम आदि होना यह अंतरंग हेतु है। जब जिन वचन में इतनी "सामर्थ्य है कि जो मिथ्यात्व का अभाव कर दे तो कहना ही क्या?" ये जिनवचन परम औषधिस्वरूप हैं। विषयसुख का विरेचन कराने वाले हैं और अमृतस्वरूप रसायन हैं; जन्म, जरा और मरणरूप व्याधि के तथा सर्व दुःखों के भी क्षय करने में समर्थ हैं। मुनियों के लिए दिन-रात में चार बार स्वाध्याय का विधान है। और तो क्या यह स्वाध्याय सर्व बारह प्रकार के तपों में महान् सर्वश्रेष्ठ तप है। एक बार भी विनयपूर्वक पढ़ा गया शास्त्र यदि भूल भी जावें तो भी वह कालांतर में ज्यों की त्यों उपलब्ध हो जाता है और केवलज्ञान तक को प्राप्त करा देता है।

एक वीरभद्र मुनिराज अर्द्धरात्रि में अकाल में स्वाध्याय कर रहे थे। एक देवी ग्वालिन का वेष लेकर वहाँ छाछ बेचने लगी। मुनिराज ने कहा कि "तू क्या पागल हो गई है? अरे, इस

---

१. धवला पु. प्र., पृ. ४३। २. नियमसार, गा. २।

निर्जन वन में और रात्रि में छाछ कौन लेगा ?" उसने कहा "मुनिवर्य ! मुझे तो आप ही पागल दिख रहे हैं चूंकि अकाल में अध्ययन कर रहे हैं।" मुनिराज ने अर्धरात्रि के अकाल को समझकर स्वाध्याय बंद कर दिया। पुनः प्रातः गुरु के पास प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करके काल में अध्ययन के प्रभाव से उत्तम देवपद को प्राप्त किया है।

इसके विपरीत एक उदाहरण है कि–

एक शिवनन्दी नाम के मुनिराज थे। गुरु ने उन्हें बताया था कि रात्रि में श्रवणनक्षत्र का उदय हो जाने पर स्वाध्याय का समय होता है उसके पहले अकाल है। उन्हें ऐसा मालूम होते हुये भी वे अपने तीव्रकर्म के उदय से उस गुरु-आज्ञा की अवहेलना करके अकाल में स्वाध्याय किया करते थे। फलस्वरूप अंत में असमाधि से मरण करके पापकर्म के निमित्त से गंगा नदी में महामत्स्य हो गये। आचार्यों ने ठीक ही कहा है–

"जिनाज्ञालोपने नैव प्राणी दुर्गतिभाग्भवेत्।"[1]

जिनेंद्रदेव की आज्ञा का लोप करने पर यह प्राणी दुर्गति में चला जाता है पुनः उस नदी के तट पर स्थित एक महामुनि उच्चस्वर से स्वाध्याय कर रहे थे। इस मत्स्य ने उस पाठ को सुना तो इसे जातिस्मरण हो गया "ओहो! मैं भी इन्हीं के सदृश मुनिवेष में ऐसे ही स्वाध्याय करता रहता था पुनः मैं इस तिर्यंच योनि में कैसे आ गया? हाय! हाय! मैं जिनागम की और गुरु की आज्ञा को कुछ न गिनकर अकाल में भी स्वाध्याय करता रहा जिसके फलस्वरूप मुझे यह निकृष्ट योनि मिली है। सच में आगम के पढ़ने का फल तो यही है कि उसके अनुरूप प्रवृत्ति करना, अब मैं क्या करूँ? कुछ क्षण सोचकर वह मत्स्य किनारे पर आकर गुरु के सन्मुख पड़ गया। गुरु ने उसे भव्यजीव समझकर सम्यक्त्व ग्रहण कराया तथा पंच अणुव्रत दिये। उस मत्स्य ने भी सम्यक्त्व के साथ-साथ अणुव्रत को पालते हुए जिनेंद्र भगवान के चरण कमलों को अपने हृदय में धारण किया और आयु पूर्ण करके मरकर स्वर्ग में महर्द्धिक देव हो गया।

"स्वाध्याय के लिये काल और अकाल कब-कब होते हैं ?"

प्रातः, मध्यान्ह, सायं और अर्धरात्रि के मध्य के डेढ़-डेढ़ घण्टे का समय अकाल है, ऐसे दिग्दाह, उल्कापात, दुर्दिन, संक्रांति का दिन आदि भी अकाल है। इनसे अतिरिक्त काल सुकाल है। यह व्यवस्था सिद्धांत ग्रन्थादिकों के लिये बताई गई है किन्तु आराधना ग्रंथ, कथा ग्रंथ या स्तुति ग्रंथों को अकाल में पढ़ने का निषेध नहीं है। इस काल और अकाल का विशेष वर्णन मूलाचार, अनगार धर्मामृत एवं धवला की नवमी पुस्तक से देख लेना चाहिए।

---

१. आराधना कथाकोश, कथा ८८।

अतः इन उदाहरणों से सुकाल में अध्ययन करना चाहिये और इतर समय में सामायिक, स्तवन, वंदना आदि क्रिया करके पढ़े हुए ग्रंथों का मनन, चिंतवन करना चाहिये।

संवेग भावना

संसार दुःखान्नित्यभीरुता संवेगः।।५।।

शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार के दुःख हैं। इनसे तथा प्रिय वियोग, अप्रिय संयोग और इष्ट के अलाभ आदिरूप सांसारिक दुःखों से नित्य ही भयभीत रहना संवेग है। हमेशा संसार और शरीर के स्वरूप का विचार करते रहने से यह संवेग भाव उत्पन्न होता है। श्री उमास्वामी आचार्य कहते हैं–

"जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं।"

संसार और शरीर के स्वभाव का चिंतवन करना संवेग और वैराग्य के लिये होता है।

संसरणं संसारः —संसार में चतुर्गतियों में परिभ्रमण करने का नाम संसार है। परिवर्तन के पाँच भेद होते हैं —द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन। इन पंच परिवर्तन के स्वरूप का चिंतवन करना। इस अनादि संसार में अनंतानंत काल व्यतीत हो चुका है, सभी के साथ अपना सम्बन्ध हो चुका है, कोई ऐसा जीव नहीं होगा कि जो मेरा माता-पिता न हुआ हो अथवा पुत्र, स्त्री, मित्र या शत्रु न बना हो पुनः किसको अपना समझना और किसको पराया? जिस समय श्री रामचंद्र वन में जाने को तैयार हुये उस समय पतिव्रता सीता ने पति के साथ वन में विचरण कर वन के दुःखों को कुछ नहीं गिना तथा रामचंद्र जी भी सीता हरण के प्रसंग में अतीव व्याकुल हुये थे। लाखों उपायों के द्वारा युद्ध में रावण को समाप्त कर सीता को वापस लाये, किन्तु जिस समय प्रजा के किंचित्मात्र आरोप से सीता को निर्जन वन में छुड़वाया उस समय वे अपने कर्तव्य को, सीता के प्रेम को, सब कुछ भूल गये। यदि वे चाहते तो उसी समय अग्नि परीक्षा आदि के द्वारा सीता को निर्दोष सिद्ध कर देते। इतना सब कुछ होने पर भी सती सीता ने रामचन्द्र को दोष न देकर अपने भाग्य को ही दोषी ठहराया और संसार के स्वरूप का विचार करते हुए अंत में दिव्यपरीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्तकर रामचन्द्र के अनेकों अनुनय-विनय करने पर भी सर्वसुख वैभव को ठुकराकर आर्यिका दीक्षा ले ली।

शरीर से वैराग्य के विषय का उदाहरण भी देखिये–

किसी समय सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप की प्रशंसा सुनकर दो देव मध्यलोक में आये। पहले छिपकर उनके रूप को देखकर प्रसन्न हुये। अनंतर द्वारपाल से राजा से मिलने को कहा, राजाज्ञा पाकर सभा में पहुँचे तब उन्होंने कहा– महाराज! कुछ देर पहले आपका जो रूप था सो अब नहीं रहा। सभी ने पूछा सो कैसे? देवों ने एक घड़े में जल भरकर पुनः एक तिनके से एक बूँद जल निकाला और पूछा क्या जल कम हो गया है? सभी ने कहा–नहीं, ज्यों का त्यों घड़ा भरा हुआ है। तब देव ने कहा कि जैसे जल की हानि होने पर भी आपको चर्म चक्षु से दृष्टिगोचर नहीं हो रही है वैसे ही राजा का रूप घट जाने पर भी आप लोगों को दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। राजा को इस प्रसंग से वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे शरीर से निःस्पृह होकर महामुनि बनकर घोर तपश्चरण करने लगे। कुछ दिन बाद उनके शरीर में भयंकर से भयंकर कुष्ठ आदि रोग उत्पन्न हो गये। वे महातपस्वी जिनकल्पी मुनि पूर्ण निःस्पृह थे। उन्हीं दोनों देवों ने पुनः परीक्षा करने हेतु वैद्य का रूप बनाया और मुनि की चिकित्सा करनी चाही। मुनिराज ने कहा यदि आप मेरे जन्म-मरण रोग को नष्ट कर सकते हैं तो मेरी चिकित्सा कीजिये। इस उत्तर से वे देव अपने रूप को प्रगटकर उनकी स्तुति करने लगे। वास्तव में यह शरीर रोगों का घर है। आचार्यों ने कहा है —

व्याधेः कोट्यः पंच भवंत्यष्टाधिकषष्टिलक्षाणि। नव नवति सहस्त्राणि पंचशती चतुरशीत्यधिका।।१।।
एतत्संख्यान् महारोगान् पश्यन्नपि न पश्यति। इंद्रियैर्मोहितो मूढः परलोकपराङ्मुखः।।२।।

पाँच करोड़, अड़सठ लाख, निन्यानवें हजार, पाँच सौ चौरासी इतने रोग एक शरीर में होते हैं। इन संख्यातों महारोगों को देखता हुआ भी यह नहीं देखता है क्योंकि यह मूढ़ प्राणी इन्द्रियों से मोहित हुआ परलोक से पराङ्मुख हो रहा है।

किसी समय की घटना है चक्रवर्ती वज्रदंत अपने सिंहासन पर आरूढ़ थे। इतने में वनपाल ने एक सुगंधित कमल लाकर उन्हें अर्पित किया, राजा ने बड़ी प्रसन्नता से उसे सूँघा। उस कमल के भीतर एक गंधलोलुप भ्रमर मरा हुआ पड़ा था। राजा उस भ्रमर को देखते ही संसार के भोगों से विरक्त हो गये। चक्रवर्ती का इतना विशाल वैभव वैराग्यरूपी संपत्ति भी उन्हें पुराने तृण के समान तुच्छ भासने लगा। उस समय चक्रवर्ती अपने राज्य का भार पुत्र अमिततेज को देना चाहते हैं तब वह बोलता है–पिताजी! जब आप ही इस वैभव को छोड़ना चाहते हैं तब हमें भी यह क्यों कर चाहिये? इसे आप अस्थिर समझकर ही स्थिर सुख की आकांक्षा से छोड़ रहे हैं। अतः हमें भी इस तुच्छ राज्य के अतिरिक्त अलौकिक आत्मिक साम्राज्य ही चाहिये।

जब राजा ने सभी पुत्रों का यह निश्चय देखा तब वे अमिततेज के पुत्र पुंडरीक को जो कि अभी बालक ही था, उसी को राज्यतिलक करके दीक्षा के लिये वन में चले गये। वहाँ यशोधर तीर्थंकर के शिष्य गुणधर मुनिराज के समीप वे दीक्षित हो गये। उस समय उनके साथ साठ हजार रानियों ने आर्यिका दीक्षा ले ली तथा बीस हजार राजाओं ने और एक हजार पुत्रों ने मुनि दीक्षा ले ली।

तब रानी लक्ष्मीमती पति और पुत्र के वियोग से शोक को प्राप्त हुई सोचने लगीं कि इतना छोटा बालक पुंडरीक इतने विशाल राज्य को कैसे संभालेगा? पुनः रानी ने सोच-विचार कर अपने जमाई (पुत्री श्रीमती के पति) राजा वज्रजंघ के पास सारा समाचार भेजा और कहलाया कि आप आकर इस राज्य की व्यवस्था सुचारू करें। इस समाचार को विदित कर राजा वज्रजंघ रानी श्रीमती के साथ वहाँ पहुँचे और व्यवस्था संभाली। सभी आश्रित राजाओं को पूर्ववत् अपने-अपने कार्यों में नियुक्त करके वे महाराज पुंडरीक बालक को राज्य सिंहासन पर आरूढ़ कर कुशल मंत्रियों के हाथ में राज्य सौंप कर वापस आ गये।

मार्ग में जाते समय राजा वज्रजंघ ने अपने ही युगल पुत्रों को, मुनिवेष में चारण ऋद्धिधारी महामुनियों को आहारदान देकर असीम पुण्य संचित किया था अर्थात् वज्रजंघ नृपति के पिता वज्रबाहु जब दीक्षित हुये थे तब उनके साथ वज्रजंघ के ९८ पुत्र सभी के सभी दीक्षित हो गये थे। उनमें से अंतिम दो पुत्र चारणमुनि के रूप में उनके पड़ाव में आये थे और राजा ने आहारदान देकर पंचाश्चर्य को प्राप्त किया था।

कहने का मतलब यही है कि जब इस जीव को संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य हो जाता है तब यह जीव सभी कुटुम्बियों से पूर्णतया निर्मम हो जाता है। यहाँ तक कि अपने शरीर से भी निर्मम हो जाता है। तभी तो वह केशलोंच आदि कष्टों को प्रसन्नमना, दुःखरूप न समझते हुये सहन कर लेता है।

यदि घर में रहकर भी निर्ममता हो जाती और मुक्ति मिल जाती तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि महापुरुष क्यों घर छोड़ते और नग्न होकर क्यों वन में विचरते ?

श्री कुंदकुंददेव, श्री अमृतचंद्र सूरि, श्री भट्टाकलंक देव, श्री समंतभद्र आदि मुनि भी इसी पंचम काल में ही हुये हैं। उन्हें हम और आप निर्दोष मानते हैं पुनः उनकी वाणी के अनुसार पंचम काल के अंत तक निर्दोष मुनियों का अस्तित्व मानना ही होगा। मोक्ष पाहुड़ ग्रन्थ में श्री कुंदकुंद देव कहते हैं —

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स। तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो हु अण्णाणी।।७६।।

इस भरत क्षेत्र में दुःषमकाल में साधुओं को आत्म स्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है। किन्तु जो ऐसा नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं।

अज्जवि तियरण सुद्धा, अप्पा झाएहि लहइ इंदत्तं। लोयंत्तियदेवत्तं, तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।७७।।

आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद प्राप्त कर लेते हैं अथवा लौकांतिक देव हो जाते हैं और वहाँ से च्युत होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

वर्तमान में आचार्य श्री शान्तिसागर जी आदि की परम्परा में जो साधु हैं वे सभी आगम की परम्परा के अनुयायी हैं, वे चर्या में सावधान हैं, इनको द्रव्यलिंगी या मिथ्यादृष्टि या हीनचारित्री कहना भी तो अतिसाहस है। जो ऐसा कहते हैं उन्हें एक बार मुनि बनकर निर्दोष चर्या-विधि बता देनी चाहिए पुनः सारे साधु उनका अनुकरण कर लेंगे।

श्री कुंदकुंद देव ने प्रवचनसार में –मुनियों के लिये शिष्यों के संग्रह, अनुग्रह और पोषण का उपदेश दिया है, संघ की व्यवस्था बताई है। इसलिए आज भी मुनि हैं और आगे भी पंचम काल के अन्त तक रहेंगे। हाँ! जिस दिन मुनि के हाथ से करस्वरूप (टैक्स रूप) ग्रास माँगा जायेगा, उस समय मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे और तभी धर्म, राजा और अग्नि का भी अभाव हो जावेगा।

इस प्रकार से मुनियों के संघ का अवलोकन करते हुए संसार और शरीर के स्वरूप का विचार करके अपने संवेगभाव को वृद्धिंगत करना यह पाँचवी भावना है।

शक्तितस्त्याग भावना

परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः।।६।।

पर की प्रीति के लिये अपनी वस्तु को देना त्याग है। भक्ति से दिया गया आहारदान उस दिन पात्र की प्रीति के लिये होता है। दिया गया अभयदान एक भव में दुःखों को दूर करता है किंतु सम्यग्ज्ञान का दान देने से अनेक भवों के लाखों दुःखों से यह जीव पार हो जाता है। विधिवत् दिये गये ये तीन प्रकार[1] के दान त्याग इस नाम को प्राप्त होते हैं। अन्यत्र ग्रन्थों में आहार, औषधि, अभय और ज्ञान ऐसे चार भेद दान के माने हैं। यथा —

"आहारोसहसत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं।।"[2]

आहार, औषधि, शास्त्र और अभय इस तरह दान चार प्रकार का है। धवला में कहा है कि–

'दया बुद्धीए साहूणं णाणदंसणचरित्तपरिच्चागो दाणं पासुअ परिचागताणाम। ण चेदं कारणं

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, अ. ६। २. वसुनंदिश्रावकाचार।

घरत्थेसु संभवदि, तत्थ चरित्ताभावादो। तिरयणोवदेसो वि ण घरत्थेसु अत्थि, तेसिं दिट्ठिवादादि उवरिमसुत्तोवदेसणे अहियारा भावादो। तदो एदं कारणं महेसिणं चेव होदि।'[1] 'दया बुद्धि से साधुओं द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के दान का नाम प्रासुक परित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में संभव नहीं है, क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थों में संभव नहीं है, क्योंकि दृष्टिवाद आदि उपरिम श्रुत के उपदेश देने में उनका अधिकार नहीं है। अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है।' इस परमागम के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रय के दान से बढ़कर और कोई दान नहीं है तथा इसको देने का व आगम के उपदेश का अधिकार भी मुनियों को ही है साधारण लोगों को नहीं है।

श्रावकों के आहार दान, औषधि दान का महत्त्व भी अचिन्त्य है। एक समय राजा वज्रजंघ रानी श्रीमती के साथ वन में चारण युगल मुनि को आहार दे रहे थे। उस समय उनके मंत्री, पुरोहित, सेनापति और सेठ ये चारों लोग बड़ी भक्ति से आहार दान देखकर उसकी अनुमोदना कर रहे थे एवं पास में ही शार्दूल, नकुल, वानर तथा सूकर ये चार प्राणी भी आहार देखते हुये हर्षित होकर अनुमोदना कर रहे थे। कुछ दिन बाद राजा वज्रजंघ व रानी श्रीमती अगुरु के धुएँ की गैस से अकस्मात् मृत्यु को प्राप्त हो गये। उस आहार दान के प्रभाव से मरकर युगल दंपत्ती उत्तम भोगभूमि में युगलिया हो गये। उपर्युक्त चारों तिर्यंच भी आहार दान की अनुमोदना मात्र से आयु पूरी कर, मरके उसी उत्तम भोगभूमि में आर्य हो गये। इस आहार दान से आठवें भव में राजा वज्रजंघ भगवान ऋषभदेव हुये, रानी श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस हुआ। वे मंत्री आदि चारों जन तथा व्याघ्र आदि चारों पशु के जीव क्रम से भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत, बाहुबलि, वृषभसेन, अनंतविजय, अनंतवीर्य, अच्युत, वीर और वरवीर नाम के धारक हुये हैं। यह है आहार दान का फल! ऐसे ही वृषभसेना ने औषधि दान के फल को प्राप्त किया है। सूकर ने अभय दान देकर स्वर्ग पाया है तथा कौंडेश ने ज्ञान का फल प्राप्त किया है।

इन चार दानों के सिवाय यहाँ और कोई दान का वर्णन नहीं है जैसा कि एक उदाहरण प्रसिद्ध है–

पूर्व विदेह के पुष्कलावती देश में पुंडरीकिणी नाम की नगरी है। किसी समय वहाँ पर राजा मेघरथ राज्य करते थे। एक दिन वे आष्टान्हिक पर्व में उपवास करते हुये महापूजा करके जैनधर्म का उपदेश दे रहे थे कि इतने में काँपता हुआ एक कबूतर आया और उसके पीछे बड़े

---

१. धवला पुस्तक ८, पृ. ८७।

ही वेग से एक गिद्ध आया। कबूतर राजा के पास बैठ गया तब गिद्ध ने कहा राजन्! मैं अत्यधिक भूख की वेदना से आकुल हो रहा हूँ अतः आप यह कबूतर मुझे दे दीजिये। हे दानवीर! यदि आप यह कबूतर मुझे नहीं देंगे तो मेरे प्राण अभी आपके सामने ही निकल जायेंगे। मनुष्य की वाणी में गिद्ध को बोलते देखकर युवराज दृढ़रथ ने पूछा– हे देव! कहिये इस गिद्ध पक्षी के बोलने में क्या रहस्य है? राजा मेघरथ ने कहा सुनो–

इस जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में पद्मिनीखेट नाम का एक नगर है। वहाँ के धनमित्र और नंदिषेण नाम के दो भाई धन के निमित्त से आपस में लड़कर मर गये सो ये कबूतर और गिद्ध पक्षी हो गये हैं और गिद्ध के शरीर में एक देव आ गया है सो यह ऐसे बोल रहा है। वह कौन है? सो भी सुनो। ईशानेंद्र ने अपनी सभा में मेरी स्तुति करते हुये यह कहा कि पृथ्वी पर मेघरथ से बढ़कर दूसरा कोई दाता नहीं है। मेरी ऐसी स्तुति सुनकर परीक्षा करने के लिये एक देव वहाँ से आकर इसके शरीर में प्रविष्ट होकर बोल रहा है। किन्तु हे भाई! दान का लक्षण आप सभी को मैं समझाता हूँ सो चित्त स्थिर करके उसे सुनो! स्व और पर के अनुग्रह के लिये जो वस्तु दी जाती है वही दान कहलाता है।

जो शक्ति, विज्ञान, श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होता है वह दाता कहलाता है और जो वस्तु देने वाले तथा लेने वाले, दोनों के गुणों को बढ़ाती है उसे देय कहते हैं। ये देय आहार, औषधि, शास्त्र तथा समस्त प्राणियों पर दया करना इस तरह से चार प्रकार का है ऐसा श्री सर्वज्ञदेव ने कहा है। चारों ही शुद्ध देय हैं तथा क्रम से मोक्ष के साधन हैं। जो मोक्षमार्ग में स्थित हैं, अपने आपकी तथा दूसरों की संसारभ्रमण से रक्षा करते हैं वे पात्र कहलाते हैं। इससे अतिरिक्त माँस आदि पदार्थ देय नहीं हैं, इनकी इच्छा करने वाला पात्र नहीं है और इनका देने वाला दाता नहीं है माँसादि वस्तु के पात्र और दाता ये दोनों तो नरक के अधिकारी हैं। कहने का सारांश यह है कि यह गिद्ध तो दान का पात्र नहीं है और कबूतर देने योग्य नहीं है।

इस प्रकार से मेघरथ की वाणी सुनकर वह देव असली रूप प्रकटकर राजा की स्तुति करने लगा और कहने लगा कि हे राजन्! तुम अवश्य ही दान के विभाग को जानने वाले दानशूर हो, ऐसी स्तुति करके वह चला गया। उन गिद्ध और कबूतर दोनों पक्षियों ने भी मेघरथ की वही सब बातें समझीं और आयु के अंत में शरीर छोड़कर सुरूप तथा अतिरूप नाम के व्यंतरदेव हो गये। तत्क्षण ही वे दोनों देव राजा मेघरथ के पास आकर स्तुति, वंदना आदि करके कहने लगे, हे पूज्य! आपके प्रसाद से ही हम दोनों कुयोनि से निकल सके हैं अतः आपका उपकार हमें सदा ही स्मरण करने योग्य है।

इन चार दानों में भी आहारदान का फल महान् है। इसी में देवों द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि होती है ऐसा आगम में कथन है–

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने महामुनि सुव्रत आचार्य के पास में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उस समय शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, नील आदि अनेक राजाओं ने अर्थात् कुछ अधिक सोलह हजार साधु हुये और सत्ताईस हजार प्रमुख स्त्रियाँ श्रीमती नामक साध्वी के पास आर्यिकायें हो गईं।

गुरु की आज्ञा पाकर निर्ग्रंथ मुनि श्रीरामचंद्र एकाकी विहार को प्राप्त हुये। उत्तम योग के धारक एवं योग्य विधि का पालन करने वाले उन महामुनि को उसी रात्रि में अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

तदनंतर पाँच दिन का उपवास कर धीर-वीर महातपस्वी योगी श्री रामचन्द्र पारणा के लिए विधिपूर्वक नंदस्थली नगरी में आये। वे राम अपनी दीप्ति से तरुण सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे। महाकांति के प्रवाह से पृथ्वी को तर कर रहे थे। ऐसे श्रीराम को देख नगरी के समस्त लोग क्षोभ को प्राप्त हो गए। लोग परस्पर कहने लगे अहो! आश्चर्य देखो, अहो! आश्चर्य देखो, जो पहले कभी देखने में नहीं आया ऐसा यह लोकोत्तर आकार देखो। अहो! इनका धैर्य धन्य है, सत्व पराक्रम धन्य है, रूप धन्य है, कांति धन्य है, शांति धन्य है, मुक्ति धन्य है और गति धन्य है। अहो! चार हाथ आगे जमीन देखकर चलने वाले ये महापुरुष कौन हैं ? किस कुल के अलंकार हैं ? और आहार ग्रहण कर किस पर अनुग्रह करेंगे। अहो! जिनका पराक्रमरूपी पर्वत क्षोभरहित है ऐसे ये पुरुषोतम राम हैं? आओ, आओ, इन्हें देखकर अपने मन, दृष्टि, जन्म, कर्म, बुद्धि, शरीर और चारित्र को सार्थक करो। इस प्रकार नगरवासी लोगों का आश्चर्य से भरा हुआ कोलाहलपूर्ण शब्द उठ खड़ा हुआ।

समयानुकूल चेष्टा करने वाले नर-नारियों के समूह से नगर के लम्बे-चौड़े मार्ग भर गये। कोई उत्तम पदार्थों से परिपूर्ण पात्र हाथ में लिए एवं कोई जल की झारी हाथ में लिए उत्सुकता से भरी अनेकों स्त्रियाँ खड़ी हो गईं। अनेक मनुष्य पूर्ण तैयारी के साथ मनोज्ञ जल से भरे हुये कलश ले-लेकर आ पहुँचे। हे स्वामिन् ! यहाँ आइये, हे स्वामिन् ! यहाँ ठहरिए, हे मुनिराज! प्रसन्नतापूर्वक यहाँ विराजिये। ऐसे पड़गाहन के उत्तमोत्तम शब्द चारों तरफ फैल गये। हर्ष से रोमांचित हुये जन गद्गद् होकर जोर-जोर से अस्पष्ट सिंहनाद कर रहे थे। हे मुनीन्द्र! जय हो, हे पुण्य के पर्वत! वृद्धिंगत होवो तथा समृद्धिमान् होओ, इत्यादि वचनों से आकाश व्याप्त हो रहा था।

"शीघ्र ही बर्तन लाओ, थाली को जल्दी देखो, सुवर्ण की थाली जल्दी लाओ, दूध लाओ, गन्ना लाओ, दही पास में रखो, चाँदी के उत्तम बर्तन में शीघ्र ही खीर रखो, शीघ्र ही रबड़ी, शक्कर, मिश्री लाओ, इस बर्तन में कपूर से मिश्रित शीतल जल भरो, शीघ्र ही पूड़ियाँ लाओ, कलश में शीघ्र ही उत्तम शिखरिणी भरो, अरी चतुरे ! हर्षपूर्वक उत्तम बड़े-बड़े लड्डू दो।" इत्यादिरूप से कुल स्त्रियों और पुरुषों के शब्दों से वह नगर तन्मय (शब्दमय) हो गया है।

उस समय उस नगर के लोग इतने संभ्रम में पड़े हुये थे कि भारी जरूरत के कार्य को भी कुछ नहीं गिन रहे थे, न ही कोई अपने बच्चों को ही देख रहे थे। संकरी गलियों में वेग से दौड़ने वाले कितने ही लोगों ने पड़गाहन करने वाले लोगों के हाथों से बर्तन गिरा दिये और कितनों ने उन पड़गाहन विधि करने वाले मनुष्यों को ही गिरा दिया। बहुत से लोग हड़बड़ाहट के कारण विरुद्ध चेष्टाएँ करने लगे। लोगों के उस भारी कोलाहल से और तेज के कारण हाथियों ने भी अपने बाँधने के खम्भे तोड़ दिये। वे हाथी गंडस्थल के मदजल से पृथ्वी तल को भिगोते हुए दौड़ने लगे। गंभीर घोड़े भी कान खड़े करके और आँखों की पुतलियों को स्थिर करके घास खाना भूल गये और भयभीत होकर जोरों से हिनहिनाने लगे। बंधन तोड़कर भागते हुए घोड़ों के पीछे घबराये हुये सईस दौड़ रहे थे ऐसे कितने ही घोड़ों ने मनुष्यों को धक्का दे-देकर व्याकुल कर दिया था।

इस प्रकार जब तक दान के इच्छुक मनुष्य पड़गाहन में पारस्परिक महाक्षोभ कर रहे थे, तब तक क्षुभित सागर के समान उनका घोर शब्द सुनकर राजमहल में स्थित राजा प्रतिनंदी सहसा क्षोभ को प्राप्त होकर 'यह क्या है?' ऐसा शब्द करता हुआ अपने परिकर के साथ शीघ्र ही महल की छत पर चढ़ गया। वहाँ से उसने देखा कि पृथ्वी के तिलक ऐसे प्रधान साधु विचरण रहे हैं और उन्हीं के निमित्त से यह सारा पृथ्वी को कम्पायमान करने वाला कोलाहल हो रहा है। उसी समय राजा ने बहुत से वीरों को आज्ञा दी कि शीघ्र ही जाकर और प्रीतिपूर्वक नमस्कार कर इन उत्तम योगिराज को हमारे यहाँ ले आवो। वे भट योद्धा क्षणभर में भीड़ को चीरते हुए उन मुनि के पास पहुँच गये और हाथ जोड़ मस्तक से लगाकर विनयपूर्वक कहा — हे भगवन्! 'इच्छित वस्तु ग्रहण कीजिये, इस प्रकार हमारे राजा भक्तिपूर्वक प्रार्थना करते हैं सो आप उनके घर पधारिये। अन्य जनों द्वारा निर्मित अपथ्य, विवर्ण एवं नीरस भोजन से आपको क्या लाभ है? हे महासाधो! आओ, प्रसन्नता करो और इच्छापूर्वक अभिलषित उत्तम आहार ग्रहण करो ऐसे कहने वाले सिपाहियों ने पड़गाहन विधि में तत्पर हुई उत्तम स्त्रियों को दूर हटा दिया जिससे उनके चित्त विषाद को प्राप्त हो गये।

इस तरह सिपाहियों द्वारा निवेदन किये जाने पर मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने आगम विधि से उसे अंतराय समझ लिया और वे राजा तथा नगरवासी दोनों के यहाँ आहार ग्रहण से विमुख होकर वापिस वन की ओर चले गये। तब लोगों में पहले की अपेक्षा और अधिक क्षोभ हो गया। मुनिराज सघन वन में जाकर प्रतिमायोगधारण कर ध्यान में लीन हो गए और पुनः पाँच दिन का उपवास ग्रहण कर लिया।

प्रश्न —कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं कि ऐसे पड़गाहन विधि से जब ग्राम, शहर में कोलाहल हो जाता है सो यह नाटकीय दृश्य साधुओं को नहीं उपस्थित करना चाहिये। एक या दो जन पड़गाहन को खड़े हो और साधु को शांति से जाकर आहार करके आना चाहिए?

उत्तर —इस पड़गाहन विधि के दृश्य को नाटकीय दृश्य कहने वाले सचमुच में आगम से विरुद्ध वचन बोलते हैं। देखो! जब रामचन्द्र जैसे महायोगी की चर्या भी ऐसी कोलाहलपूर्ण हो गई थी तब यदि आज के युग में कदाचित् क्वचित् मुनियों को देखकर उनकी नवधाभक्ति करने वाले श्रावक भक्ति से विभोर होकर घर-घर के दरवाजे पर खड़े होकर पड़गाहन करते हैं तो कोई बड़ी बात नहीं है, बल्कि आगमोक्त विधि यही है।

प्रश्न —पुनः श्री रामचन्द्र जी का आहार कब और कैसे हुआ?

उत्तर —पुनः योगिराज श्रीराम ने यह नियम कर लिया कि "यदि इस निर्जन वन में ही मुझे आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।"

इस प्रकार कठिन व्रतपरिसंख्यान लेकर जब वे मुनि पाँच दिन बाद आहार के लिये निकले तब उसी नंदस्थली नगरी के राजा ने अपनी रानी सहित उसी वन में पड़गाहन कर आहार दान दिया। दैववश वह राजा उस दुष्ट घोड़े के द्वारा हरा जाकर उस वन में लाया गया था और रानी भी खोजते हुये वहीं आ पहुँची थीं। उन्होंने वहीं पर भोजन बनाया था। सो अकस्मात् मुनिराज को देखकर नवधाभक्ति से पड़गाहन करके विधिवत् खीर आदि का आहार दिया। उसी समय आकाश से देवों ने रत्नों की वृष्टि आदि पंचाश्चर्य वृष्टि की और जय-जयकार से आकाश को गुँजा दिया। मुनिराज के आहार के बाद रानी के पात्र में खीर आदि अन्न अक्षीण हो गया अर्थात् वृद्धि को प्राप्त हो गया और उस दिन क्षीण ही नहीं हुआ क्योंकि ये महामुनि महान् अक्षीण आदि ऋद्धि के धारक थे। प्रतिनंदी राजा ने देवों के द्वारा रत्नवर्षा आदि पूजा को प्राप्त किया और मुनिराज से देशव्रत को प्राप्त किया जिससे उस विशुद्ध सम्यक्त्वी राजा ने उस दिन अपने जीवन को सफल माना।

इस प्रकार से यह छठी शक्तितस्त्याग भावना है।

शक्तितस्तपो भावना

अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः।।७।।

यह शरीर दुःख का कारण है, अनित्य है, अपवित्र है, यथेष्ट भोगों के द्वारा इसका पोषण करना युक्त नहीं है। यह अपवित्र होते हुए भी अनेक गुणरूपी रत्नों को संचित करने वाला होने से बहुत ही उपकारी है, ऐसा निश्चित समझकर विषय सुखों की आसक्ति छोड़कर अपने कार्यों में इसे नौकर के समान लगाने वाले पुरुष जिनशासन से अविरोधी और यथाशक्ति जो कायक्लेश का अनुष्ठान करते हैं, उसी का नाम तप है।

इस तप के १२ भेद हैं—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इनमें से आदि के छह बाह्य तप हैं और अंत के छह अभ्यंतर तप हैं। बाह्य तप साधन हैं और अंतरंग तप साध्य हैं। कहा है—

'बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-माध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थं।

हे भगवन्! आध्यात्मिक तप को वृद्धिंगत करने के लिये आपने परम दुश्चर बाह्य तप का आचरण किया।

उपवास का नाम अनशन है—रत्नत्रय, दशलक्षण, आष्टान्हिक आदि के उपवास करना आदि। भूख से कम खाना अवमौदर्य है। कुछ नियम लेकर आहार के लिए जाना वृत्तपरिसंख्यान है, रसों का त्याग करना रसपरित्याग है, एकांत स्थान में या जिनमंदिर व गुरुओं के संघ में रहना-शयन करना, उठना-बैठना सो विविक्त शय्यासन है और आतापन योग आदि से शरीर को क्लेशित करना कायक्लेशतप है। दोषों के हो जाने पर गुरु से निवेदन कर, प्रायश्चित लेना प्रायश्चित्ततप है। दर्शन आदि की व गुरुओं की विनय करना विनयतप है। आचार्य आदि गुरुओं की वैयावृत्ति करना वैयावृत्तितप है। जिनदेव कथित आगम को पढ़ना-पढ़ाना आदि स्वाध्यायतप है। अंतरंग व बहिरंग परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्गतप है और आर्तध्यान, रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान, शुक्लध्यान को ध्याना ध्यानतप है। इस अंतिम तप की सिद्धि के लिये ही सर्व तप किये जाते हैं। अनशन तप के काम्य, अकाम्य आदि अनेक भेद हैं।

राजा हेमवर्ण ने विधिवत् चारित्रशुद्धि नाम के १२३४ उपवास किये, फलस्वरूप सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र हुये। वहाँ से च्युत होकर विदेह क्षेत्र में चन्द्रभान नाम के तीर्थंकर हो गये। ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं। 'तपसा निर्जरा च।' इस सूत्र के अनुसार तप से संवर और निर्जरा ये दोनों ही होते हैं। तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं। मंदोदरी के पिता राजा

मय को मुनि अवस्था में सर्वौषधि ऋद्धि प्रकट हो गयी थी। एक रानी ने उनको स्पर्शकर विष से मूर्च्छित अपने पति का स्पर्श किया तब वे निर्विष हो गये। विष्णुकुमार मुनि के विक्रिया ऋद्धि तपश्चरण के बल से ही प्रकट हुयी थी। उस ऋद्धि के प्रभाव से उन्होंने सात सौ मुनियों की रक्षा की थी। श्रावकों के अनशन आदि तप यद्यपि गज स्नानवत् माने गये हैं तो भी परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कराने वाले हैं।

जम्बूद्वीप के इसी भरतक्षेत्र में कुरुजांगल देश है, इसमें हस्तिनापुर नाम का सुन्दर नगर है। किसी समय यहाँ पर वीतशोक राजा राज्य करते थे। इनकी रानी का नाम विद्युत्प्रभा था। इन दोनों के एक अशोक नाम का पुत्र था।

इसी समय अंग देश की चम्पा नगरी में मघवा नाम के राजा राज्य कर रहे थे। इनकी श्रीमती नाम की रानी थी। श्रीमती के आठ पुत्र और रोहिणी नाम की एक कन्या थी। यौवन को प्राप्त हुई रोहिणी ने एक समय अष्टान्हिक पर्व में उपवास करके, मन्दिर में पूजा करके सभा भवन में बैठे हुए माता-पिता को शेषा दी। पिता ने पुत्री को युवती देखकर कुछ क्षण मंत्रशाला में मंत्रियों से मंत्रणा की पुनः स्वयंवर की व्यवस्था की। स्वयंवर में रोहिणी ने हस्तिनापुर के राजकुमार अशोक के गले में वरमाला डाल दी।

कालांतर में वीतशोक महाराज ने दीक्षा ले ली और अशोक महाराज बहुत न्यायनीति से राज्य का संचालन कर रहे थे। रोहिणी महादेवी के आठ पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं। किसी समय महाराज अशोक महादेवी रोहिणी के साथ महल की छत पर बैठे हुए विनोद गोष्ठी कर रहे थे। पास में बसंततिलका धाय बैठी हुई थी। जिसकी गोद में रोहिणी का छोटा बालक लोकपाल खेल रहा था। इसी समय रोहिणी ने देखा कि कुछ स्त्रियाँ गली में अपने बालों को बिखेरे हुए एक बालक को लिए छाती, शिर, स्तन और भुजाओं को कूटती-पीटती हुई चिल्ला-चिल्लाकर रो रही हैं। तब रोहिणी ने अपनी बसंततिलका धात्री से कुतूहलवश पूछा–

हे माता! नृत्यकला में विशारद लोग सिग्नटक, भानी, छत्र, रांस और दुंबिली इन पाँच प्रकार के नाटकों का ही अभिनय करते हैं। भरत महाराज द्वारा प्रणीत इन पाँच प्रकार के नाटकों के सिवाय ये स्त्रियाँ सादिकुट्टनरूप इस कौन से नृत्य का अभिनय कर रही हैं? इस नाटक में सात स्वर, भाषा और मूर्च्छनाओं का भी पता नहीं चल रहा है। तुम इस नाटक का नाम तो मुझे बताओ।

रोहिणी के इस भोलेपन के प्रश्न को सुनकर धाय बोली —पुत्री! कुछ दुःखिया स्त्रियाँ महान् शोक और दुःख मना रही हैं।

रोहिणी ने जब धात्री के मुख से "शोक" और "दुःख" ये दो शब्द सुने तब उसने पूछा– अम्ब! यह बताओ कि यह "शोक" और "दुःख" क्या वस्तु है?

तब धात्री ने रुष्ट होकर जवाब दिया —सुन्दरी! क्या तुम्हें उन्माद हो गया है? पाण्डित्य और ऐश्वर्य क्या ऐसा ही होता है? क्या रूप से पैदा हुआ गर्व यही है? जो कि तुम "शोक" और "दुःख" को नहीं जानती हो। और रुदन को नाटक-नाटक बक रही हो। क्या तुमने इसी क्षण जन्म लिया है?

क्रोधपूर्ण बात सुनकर रोहिणी बोली–भद्रे! आप मेरे ऊपर क्रोध मत कीजिये। मैं गन्धर्व विद्या, गणित विद्या, चित्र, अक्षर, स्वर और चौंसठ विज्ञानों तथा बहत्तर कलाओं को ही जानती हूँ। मैंने आज तक इस प्रकार का कला गुण न देखा है और न मुझसे किसी ने कहा है। यह आज भी मेरे लिए अदृष्ट और अश्रुतपूर्व है। इसीलिए मैंने आपसे यह पूछा है। इसमें अहंकार और पांडित्य की कोई बात नहीं है।

पुनः धात्री बोली —वत्से! न यह नाटक का प्रयोग है और न किसी संगीत भाषा का स्वर है किन्तु किसी इष्ट बन्धु की मृत्यु से रोने वालों का जो दुःख है, वही शोक कहलाता है।

धात्री की बात सुनकर रोहिणी पुनः बोली —भद्रे! यह ठीक है परन्तु मैं रोने का भी अर्थ नहीं जानती सो उसे भी बताइये।

रोहिणी के इस प्रश्न के पूरा होते ही राजा अशोक बोला —प्रिये! शोक से रुदन किया जाता है उसका अर्थ मैं बतलाता हूँ। इतना कहकर राजा ने लोकपाल कुमार को रोहिणी की गोद से लेकर देखते ही देखते राजभवन के शिखर से नीचे फेंक दिया।

लोकपाल कुमार अशोकवृक्ष की चोटी पर गिरा, उसी समय नगर देवताओं ने आकर दिव्य सिंहासन पर उस बालक को बिठाया और क्षीरसागर के जल से भरे हुए एक सौ आठ कलशों से उसका अभिषेक किया और उसे आभूषणों से भूषित कर दिया। अशोक महाराज और रोहिणी ने जैसे ही नीचे नजर डाली तो बहुत ही विस्मित हुए। उस समय सभी लोगों ने इसे रोहिणी के पूर्वकृत पुण्य का ही फल समझा।

हस्तिनापुर के बाहर अशोक वन में अतिभूतितिलक, महाभूतितिलक, विभूतितिलक और अंबरतिलक नामक चार जिनमन्दिर क्रमशः चारों दिशाओं में थे। एक बार रूपकुंभ और स्वर्णकुंभ नाम के दो चारणमुनि विहार करते हुए हस्तिनापुर में आकर पूर्व दिशा के जिन मन्दिर में ठहर गये। वनपाल द्वारा मुनि आगमन का समाचार ज्ञात होने पर परिजन और पुरजन सहित अशोक महाराज मुनिराज की वंदना के लिए वहाँ पहुँचे। वन्दना भक्ति के अनंतर

राजा ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! मैंने और मेरी पत्नी रोहिणी ने पूर्व जन्म में कौन सा पुण्य विशेष किया है सो कृपा कर बतलाइये।

मुनिराज ने कहा–हे राजन्! इसी जम्बूद्वीप के अंतर्गत भरत क्षेत्र में सौराष्ट्र देश है। इसमें ऊर्जयंतगिरि के पश्चिम में एक गिरि नाम का नगर है। इस नगर के राजा का नाम भूपाल और रानी का नाम स्वरूपा था। राजा के एक गंगदत्त राजश्रेष्ठी था जिसकी पत्नी का नाम सिन्धुमती था, इसे अपने रूप का बहुत ही घमण्ड था। किसी समय राजा के साथ वन क्रीड़ा के लिए जाते हुए गंगदत्त ने नगर में आहारार्थ प्रवेश करते हुए मासोपवासी समाधिगुप्त मुनिराज को देखा और सिन्धुमती से बोला —प्रिय! अपने घर की तरफ जाते हुए मुनिराज को आहार देकर तुम पीछे से आ जाना। सिन्धुमती पति की आज्ञा से लौट आई किन्तु मुनिराज के प्रति तीव्र क्रोध भावना हो जाने से उसने कड़वी तूमड़ी का आहार मुनि को दे दिया। मुनिराज ने हमेशा के लिए प्रत्याख्यान ग्रहणकर सल्लेखनापूर्वक शरीर का त्यागकर स्वर्गपद को प्राप्त कर लिया।

जब राजा वन से वापस लौट रहे थे, कि विमान में स्थितकर मुनि को ले जाते हुए देखकर मृत्यु का कारण पूछा। तब किसी व्यक्ति ने सारी घटना राजा को सुना दी। उस समय राजा ने सिन्धुमती का मस्तक मुण्डवाकर उस पर पाँच बैल बँधवाये, गधे पर बिठाकर उसके अनर्थ की सूचना नगर में दिलाते हुए उसे बाहर निकाल दिया। उसके बाद उसे उदुम्बर कुष्ठ हो गया और भयंकर वेदना से सातवें दिन ही मरकर बाईस सागरपर्यन्त आयु धारणकर छठे नरक में उत्पन्न हुई। यह पापिनी क्रम से सातों ही नरकों में भ्रमण करते हुए कदाचित तिर्यंच गति में आकर दो बार कुत्ती हुई, सूकरी, श्रृंगाली, चुहिया, गोंच, हथिनी, गधी और गोणिका हुई। अनंतर इसी हस्तिनापुर के राजश्रेष्ठी धनमित्र की पत्नी धनमित्रा से दुर्गन्धा कन्या उत्पन्न हुई। कुष्ठ से व्याप्त और मरे हुये कुत्ते की दुर्गन्धि के समान उसके शरीर से भयंकर दुर्गन्धि आ रही थी जिससे कि उसके पास किसी का भी बैठना कठिन था।

उसी शहर के वसुमित्र सेठ का एक श्रीषेण पुत्र था जो सप्त व्यसनी था। एक दिन चोरी कर्म से कोतवाल के द्वारा पकड़ा जाकर शहर से बाहर निकाला जा रहा था। उस समय धनमित्र ने कहा कि–श्रीषेण! यदि तुम मेरी कन्या के साथ विवाह करना मंजूर करो तो मैं तुम्हें इस बन्धन से मुक्त करा सकता हूँ। उसके मंजूर करने पर सेठ ने उसे बन्धन मुक्त कराकर उसके साथ अपनी दुर्गन्धा कन्या का विवाह कर दिया किन्तु विवाह के बाद जैसे-तैसे एक रात दुर्गन्धा के पास बिताकर मारे दुर्गन्ध के घबराकर वह श्रीषेण अन्यत्र भाग गया। बेचारी दुर्गन्धा पुनः पिता के घर पर ही रहते हुए अपनी निन्दा करते हुए दिन व्यतीत कर रही थी।

एक दिन उसने सुव्रता आर्यिका को अपने पितृगृह में आहार दिया। अनन्तर पिहितास्रव नामक चारणमुनि अमितास्त्रव मुनिराज के साथ वन में आये। वहाँ पर सभी श्रावकों ने गुरु वन्दना करके उपदेश सुना। पूतिगंधा ने भी गुरु का उपदेश सुनकर कुछ क्षण बाद प्रश्न किया — हे भगवन्! मैंने पूर्व जन्म में कौन सा पाप किया है जिससे मेरा शरीर महादुर्गन्धियुक्त है ?

मुनिराज ने कहा —पुत्री! सुनो, तुमने सिन्धुमती सेठानी की अवस्था में मुनिराज को कड़वी तूमड़ी का आहार दिया था। उसके फलस्वरूप बहुत काल तक नरक और तिर्यंचों के दुःख भोगे हैं और अभी भी पाप के शेष रहने से यह स्थिति हुई है। सारी घटना सुनकर पूतिगंधा ने कहा —हे गुरुदेव! अब मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे पापों का क्षय हो।

मुनिराज ने कहा —पुत्री! अब तुम सभी पापों से मुक्त होने के लिये रोहिणी व्रत करो, जिस दिन चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में हो उस दिन चतुराहार त्याग कर उपवास करना चाहिए और वासुपूज्य जिनेन्द्र देव की पूजा करके उनका जाप करना चाहिए।

यह रोहिणी नक्षत्र सत्ताईस दिन में आता है। इस तरह सत्ताईसवें दिन उपवास करते हुए पाँच वर्ष और नव दिन में सड़सठ उपवास हो जाते हैं। अनन्तर उद्यापन में वासुपूज्य भगवान् की महापूजा कराके रोहिणी व्रत संबंधी पुस्तक लिखाकर (छपाकर) और भी अन्य ग्रन्थों का भव्य जीवों में वितरण करना चाहिये। ध्वजा, कलश, घण्टा, घण्टिका, दर्पण, स्वस्तिक आदि से मन्दिर को भूषित करके महापूजा के अनन्तर चतुर्विध संघ को आहार आदि चार प्रकार का दान और आर्यिकाओं के लिए वस्त्र का दान देना चाहिये।

इस तरह गुरुमुख से सुनकर विधिवत् व्रत ग्रहण कर रोहिणी ने उसका पालन किया। श्रावक व्रत पालन करते हुए अन्त में समाधिपूर्वक मरण करके वह अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग में महादेवी हो गई। वहाँ से च्युत होकर यह तुम्हारी वल्लभा रोहिणी हुई है। राजन्! यह रोहिणी व्रत का ही महात्म्य है जो कि यह "शोक" और "दुःख" को नहीं समझ पाई है।

अनन्तर मुनिराज ने अशोक से कहा —अब मैं तुम्हारे पूर्व जन्म सुनाता हूँ सो एकाग्रचित्त होकर सुनो।

कलिंग देश के निकट विंध्याचल पर्वत पर अशोक वन में स्तंबकारी और श्वेतकारी नाम के दो मदोन्मत्त हाथी थे। किसी दिन एक नदी में जल के लिये घुसे और आपस में लड़कर मर गये। वे बिलाव और चूहा हुए, पुनः साँप-नेवला तथा बाज और बगुला हुए, पुनः दोनों ही कबूतर हुए। अनन्तर कनकपुर के राजा सोमप्रभ के पुरोहित सोमभूमि की पत्नी सोमिला से सोमशर्मा और सोमदत्त नाम के पुत्र हो गये।

राजा सोमप्रभ ने सोमभूति के मरने के बाद पुरोहित पद सोमदत्त नामक उनके छोटे पुत्र को दे दिया। किसी समय सोमदत्त को यह मालूम हुआ कि मेरा बड़ा भाई मेरी पत्नी के साथ दुराचार करता है तब उसने विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। इधर राजा ने पुरोहित पद सोमशर्मा को दे दिया।

एक बार सोमप्रभ राजा ने हाथी के लिए शकट देश के अधिपति वसुपाल के साथ युद्ध करने के लिये प्रस्थान कर दिया। उस समय सोमदत्त मुनि के दर्शन होने से सोमशर्मा ने कहा-महाराज! आपको अपशकुन हो गया है अतः इन मुनि को मारकर इनके खून को दशों दिशाओं में क्षेपण कर शांति कर्म करना चाहिए। यह सुनकर राजा ने अपने कान दोनों हाथों से ढक लिये। तब विश्वदेव नामक निमित्तज्ञानी ने आकर बतलाया– राजन्! आपको आज बहुत ही उत्तम शकुन हुआ है, देखिये! "यति, घोड़ा, हाथी, बैल, कुम्भ ये चीजें प्रस्थान और प्रवेश में सिद्धिसूचक मानी गई हैं।"

अन्यत्र भी कहा है–

आरुरोह रथं पार्थ गांडीवं चापि धारय।
निर्जितां मेदिनीं मन्ये निर्ग्रन्थो यतिरग्रतः।।

महाभारत में लिखा है–कि कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–हे अर्जुन! तुम रथ पर चढ़ जावो और धनुष धारण कर लो। सामने निर्ग्रन्थ मुनिराज के दर्शन हो रहे हैं, इसीलिये मैं समझता हूँ कि अब हमने पृथ्वी जीत ली। हमारी विजय निश्चित है। ज्योतिष शास्त्र में भी सुभाषित है–

पद्मिन्यो राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः।
यद्देशमभिगच्छन्ति तद्देशे शुभमादिशेत्।।

पद्मिनी स्त्रियाँ, राजहंस और निर्गन्थ तपस्वी जिस प्रदेश में रहते हैं उस प्रदेश में सर्वत्र मंगल रहता है। अन्यत्र धर्म ग्रन्थों में भी "साधु" के दर्शन से पापों का नाश हो जाता है ऐसा कहा गया है।

राजन्! आप देखिये प्रातः ही राजा वसुपाल का त्रिलोकसुन्दर हाथी लेकर आपको भेंट करूँगा। विश्वदेव के वचनों से राजा का मन शांत हो गया। पुनः प्रातःकाल स्वयं वसुपाल राजा ने आकर वह हाथी सहर्ष भेंट कर दिया।

इधर सोमशर्मा ने पूर्व बैर के कारण रात्रि में सोमदत्त मुनि की हत्या कर दी। जब राजा को इस बात का पता चला तब उसे पाँच प्रकार के दण्डों से दण्डित किया। मुनि हत्या के पाप से सोमशर्मा को कुष्ट रोग हो गया और वह मरकर सातवें नरक पहुँच गया।

वहाँ से निकलकर महामत्स्य हुआ, छठे नरक गया, सिंह हुआ, पाँचवें नरक गया, सर्प हुआ, चतुर्थ नरक गया, पक्षी हुआ, द्वितीय नरक गया, बगुला हुआ पुनः प्रथम नरक गया। वहाँ से निकल कर सिंहपुर के राजा सिंहसेन की रानी से पूतिगंध नाम का महादुर्गन्ध शरीरधारी पुत्र हुआ।

किसी समय विमलमदन जिनराज को केवलज्ञान होने पर देवों के आगमन को देखकर पूतिगंध मूर्छित हो गया पुनः होश में आने पर उसे जातिस्मरण हो गया। वह पिता के साथ केवली भगवान का दर्शन करके मनुष्यों की सभा में बैठ गया। राजा ने पूतिगंध के पूर्वभव पूछे और पूर्वोक्त प्रकार विशेष स्पष्टतया जिनेन्द्र की वाणी से अपने भवांतरों को सुनकर पूतिगंध ने कहा —प्रभो! अब मुझे दुःखों से छूटने के लिए कोई व्रतादि बतलाइये। तब भगवान ने उसे रोहिणी व्रत का उपदेश दिया। इस व्रत में तीन[1] साल में चालीस उपवास होते हैं और पाँच वर्ष नव दिन में सड़सठ उपवास होते हैं अनन्तर विधिवत् उद्यापन करना चाहिए।

पूतिगंध राजकुमार इस व्रत और अणुव्रत आदि के प्रभाव से उसी भव में सुगन्ध शरीर वाला हो गया। अनंतर एक महीने में ही सल्लेखना विधि से मरण करके प्राणत नामक स्वर्ग में महर्द्धिक देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर पूर्वविदेह में पुण्डरीकिणी नगरी के विमलकीर्ति राजा की श्रीमती रानी से अर्ककीर्ति नाम का पुत्र हो गया। आगे जाकर अर्ककीर्ति ने महावैभव स्वरूप चक्रवर्ती के पद को प्राप्त किया। अमित सुखों का अनुभव करके विरक्त हो जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। अन्त में मरणकर सोलहवें स्वर्ग में देवपद को प्राप्त किया। उस समय पूतिगन्धा का जीव जो कि रोहिणी व्रत के प्रभाव से स्वर्ग में देवी हुई थी, वह इस देव की प्रिय देवी हुई। वहाँ से च्युत होकर आप अशोक राजा हुए हैं।

इस प्रकार मुनिराज के मुख से भवांतरों को सुनकर राजा-रानी अति प्रसन्न हुए और सभी पुत्र-पुत्रियों के भव पूछकर हर्षितमना अपने शहर वापस आ गये। एक समय श्वेत केश को देखकर विरक्त होकर राजा अशोक ने वासुपूज्य भगवान के समवसरण में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और सात ऋद्धि से सम्पन्न हुए भगवान के गणधर हो गये। अनंतर मोक्ष को पधार गये। रोहिणी भी सुमति आर्यिका के समीप आर्यिका दीक्षा लेकर स्त्री पर्याय का विनाशकर सोलहवें स्वर्ग में देव हो गई।

इस प्रकार से रोहिणी व्रत का माहात्म्य अचिंत्य है। इस व्रत में हर उपवास के दिन भगवान वासुपूज्य का अभिषेक करना चाहिए पुनः "ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय नमः" यह जाप करना चाहिए।

---

१. व्रत तिथि निर्णय में ३ वर्ष, ५ वर्ष या सात वर्ष भी इस व्रत के करने का विधान है।

साधुसमाधि भावना

मुनिगणात्तपः संधारणं समाधिः भाण्डागाराग्निप्रशमनवत्।।८।।

जिस प्रकार से भाण्डागार में अग्नि लग जाने पर उसको बुझाया ही जाता है चूँकि वह भांडागार बहुत ही उपकारी है। उसी प्रकार से अनेक व्रतशील से संपन्न मुनिगणों के तप में किसी निमित्त से विघ्न के उपस्थित हो जाने पर उसे दूरकर उन्हें उसी तप में संधारण करना साधुसमाधि है।

एक समय राजा श्रेणिक भगवान महावीर के समवसरण में जा रहे थे। मार्ग में उन्हें वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में एक मुनिराज दिखे। श्रेणिक ने उनकी वंदना की, परन्तु उनका मुख उस समय कुछ विकृत हो रहा था सो महाराजा श्रेणिक ने भगवान के निकट पहुँचकर वंदना आदि करके श्री गौतम स्वामी से उन मुनि के विषय में जानकारी चाही। गौतम स्वामी बोले–श्रेणिक! वे मुनि चंपानगरी के राजा श्वेतवाहन हैं। इन्होंने विरक्त हो अपने पुत्र विमलवाहन को राज्य देकर दीक्षा ले ली। बहुत दिन मुनियों के साथ विहारकर ये परम तपस्वी अखंडसंयमी होकर यहाँ आये हैं। ये दशधर्म में अतिशय रुचि रखते हैं अतः इनका 'धर्मरुचि' यह नाम प्रसिद्ध हो गया है। एक महिने के उपवास के बाद आज ये नगर में भिक्षा के लिये गये थे। इन्हें देखकर इनके निकट ही तीन मनुष्य ऐसी चर्चा करने लगे। एक ने कहा–अहो! इनके सर्व लक्षण तो सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार साम्राज्यपद के हैं। पुनः ये भिक्षा के लिये क्यों भटक रहे हैं? मालूम होता है निमित्तशास्त्र गलत है। दूसरे ने कहा–नहीं-नहीं, ये साम्राज्य को त्यागकर ऋषि हुये हैं, इन्होंने अपने लघु वयस्क पुत्र को राज्य दे दिया है, अतः निमित्तशास्त्र गलत नहीं है। इसी बीच तीसरा बोल उठा–'अरे इसका तप पाप का कारण है अतः इससे क्या लाभ? यह बड़ा दुरात्मा है। देखो ना! इसने निर्दय होकर अनभिज्ञ बालक को राज्य भार दे दिया और स्वार्थ सिद्धि के लिये यहाँ तप करने आया है। उधर मंत्री आदि ने उस बालक को सांकल से बाँध रखा है और राज्य का विभाग कर इच्छानुसार उपभोग कर रहे हैं।'

इस बात को सुनते ही मुनि का हृदय स्नेह और मान से भर गया अतः वे आहार न लेकर वापस आकर वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठ गये। बाह्य कारणों के मिलने से उनके अन्तःकरण में तीव्र अनुभाग वाले क्रोध कषाय का उदय हो रहा है। उन मंत्रियों के निग्रह के प्रति वे संरक्षानंद नामक रौद्रध्यान में प्रविष्ट हो गये हैं। 'यदि आगे अंतर्मुहूर्त तक ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरक

आयु का बंध करने के योग्य हो जावेंगे।''[1] इसलिए हे श्रेणिक? तुम शीघ्र ही जाकर उन्हें समझा दो। महाराजा श्रेणिक वहाँ पहुँचकर देखते हैं तो उनकी भृकुटी तन रही हैं। वे बोले– 'हे साधो! शीघ्र ही यह अशुभ ध्यान छोड़ो, क्रोधरूपी अग्नि को शांत करो, मोह के जाल को दूर करो, मोक्ष के लिये कारणभूत जो संयम तुमने ले रखा है उसको फिर से धारण करो, यह स्त्री-पुत्र आदि का संबंध अनिष्टकर है, संसार को बढ़ाने वाला है।' इत्यादिरूप से संबोधन के वाक्य सुनकर मुनिराज तत्क्षण ही शुभध्यान में आ गये पुनः परिणामविशुद्धि करते हुये क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके शुक्लध्यान के बल से घातिया कर्मों को समाप्त कर दिया और उसी क्षण केवलज्ञानी हो गये। इंद्रादि देव स्वर्ग से उनके केवलज्ञान की पूजा करने के लिये आ गये सो राजा श्रेणिक ने भी उन सबके साथ 'धर्मरुचि' केवली की पूजा की। इसी का नाम है 'साधु समाधि'। आगम के अनुरूप वचनों से मुनियों के धर्म के विघ्न को दूरकर उन्हें तप, संयम और ध्यान आदि में लगा देना न कि उनके छिद्र देख-देखकर दुनिया में कहते फिरना।

दुःख या उपसर्ग के समय मुनियों की रक्षा करना बहुत बड़ा कर्तव्य है। समय-समय पर देवों ने भी धर्मप्रेम से धर्म के आयतन ऐसे साधुओं के उपसर्ग को दूर किया है यथा–

मगधदेश में शालिग्राम नाम का एक गाँव था। किसी समय वहाँ पर संघ सहित नंदिवर्धन मुनिराज आये और उद्यान में ठहर गये। संघ आगमन के समाचार को पाते ही श्रावकजन दर्शन और पूजन के लिए उमड़ पड़े। अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो भाई थे, वे ब्राह्मण थे, जातिमद और ज्ञान के मद से उन्मत्त हो रहे थे। वे भी मुनियों से वाद-विवाद करने के लिये वहाँ पर आ गये।

उन्हें सभा में देखकर एक सात्यकि नामक मुनि ने कहा कि हे विप्रों! आवो और गुरुदेव से कुछ पूछो। तभी एक ब्राह्मण ने कहा कि ये दोनों इन मुनियों को वाद में जीतने के लिये आये हैं पुनः दूर ही क्यों बैठे हैं? यह सुनकर वे दोनों भाई गर्व से उठे और मुनिराज के पास आ गये। बोले– तू क्या जानता है, बोल? तब आचार्य नंदिवर्धन बोलते हैं कि–

आप दोनों कहाँ से आ रहे हैं?

क्या तुझे यह भी ज्ञान नहीं कि हम दोनों शालिग्राम से आये हैं?

आप इस ग्राम से आये हैं सो तो मैं जानता हूँ किन्तु मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि इस अनादि संसार में घूमते हुये आप इस समय किस पर्याय से आये हैं?

इसे क्या और भी कोई जानता है या मैं ही जानूँ?

---

१. अतः परं मुहूर्तं चेदिमेव स्थितिं भजेत्। आयुषो नारकस्यापि प्रायोग्योऽयं भविष्यति।।२३।। (उ.पु., पर्व ७६)

अच्छा विप्रों! सुनो मैं इस बात को बताता हूँ।

इस ग्राम की सीमा के पास वन में दो श्रृगाल साथ-साथ रहते थे। इसी गाँव में प्राभरक नामक एक किसान था। वह एक दिन अपने उपकरण खेत पर ही छोड़कर आ गया। उसी रात को खूब जोर से वर्षा शुरु हो गई जो कि सात दिन तक चलती रही। बेचारे भूख से पीड़ित हुये वे श्रृगाल वर्षा के रुक जाने पर बाहर निकले और वर्षा से भीगे कीचड़ से सने हुये उन उपकरणों को खा लिया। खाते ही उनके उदर में भयंकर पीड़ा उठी, वर्षा और वायु से पीड़ित दोनों श्रृगाल अकाम निर्जरा कर मरे और यहीं ग्राम में सोमदेव ब्राह्मण के पुत्र हो गये। अनंतर वह प्राभरक किसान अपने उपकरण ढूँढता हुआ खेत में जा पहुँचा। वहाँ उसने मरे हुये दोनों श्रृगालों को देखा। उन्हें घर लाकर उनकी खाल की मशकें बनाई। वह किसान भी कुछ ही दिनों में मर गया जो कि अपने ही पुत्र के पुत्र हो गया। उस पुत्र को जातिस्मरण हो गया है जिससे वह गूँगा बनकर रह रहा है "मैं अपने पूर्वभव के पुत्र-पुत्रवधू को पिता और माता के रूप में बोलूँ?" यदि तुम्हें इस पर विश्वास न हो तो वह किसान मेरी सभा में बैठा हुआ है उससे पूछ लो।

सब लोग उस प्राभरक किसान के पोते की तरफ देखने लगे कि वह भी इन वचनों को सुनकर मुनिराज के निकट आ गया। मुनिराज ने कहा–"हे वत्स! इस संसार की ऐसी विचित्र दशा है कि वहाँ पर माता भी मरकर पत्नी हो जाती है और पत्नी भी माता बन जाती है, इत्यादि। अतः तुम विषाद को छोड़कर मौन तोड़ो और बोलो।"

मुनिराज के वचन सुनते ही वह हर्ष से रोमांचित हो उठा। उसने तत्क्षण ही भक्ति में विभोर मुनि की तीन प्रदक्षिणायें दीं और मस्तक के बल उनके चरणों में गिर पड़ा। अनंतर आश्चर्य चकित हो जोर से बोल पड़ा–

'हे भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं यहाँ बैठे-बैठे ही आप लोक की समस्त स्थिति को देख रहे हैं। हे नाथ! मैं संसार समुद्र में डूब रहा हूँ, मुझे अपने हाथ का सहारा देकर गृहकूप से निकालिये। इत्यादिरूप अनुनय-विनय करते हुये उसने अपने माता-पिता के रोते हुये भी मुनि के पास व्रतों को ग्रहण कर लिया। इस घटना से वहाँ पर लोग बहुत ही प्रभावित हुये और पुनः बहुत से लोगों ने उसके घर जाकर के श्रृगालों के खाल की दोनों मशकें देखीं जिससे सब ओर कलकल तथा आश्चर्य छा गया।

उस समय तमाम लोगों ने उन ब्राह्मणों की हँसी की कि ये पशुओं का माँस खाने वाले श्रृगाल ब्राह्मण हुये हैं जो कि "सब कुछ ब्रह्म ही है" ऐसा ब्रह्माद्वैतवाद ग्रहण कर और हिंसा में धर्म मानकर मूढ़ जनता को भ्रम में डाल रहे हैं। अब यहाँ परम अहिंसक मुनियों से

वाद-विवाद करने के लिये उद्यत हुये हैं। इस प्रकार से साधुओं की स्तुति और अपनी निन्दा सुनकर अत्यंत लज्जित और दुःखी हुये।

अनंतर रात्रि में वे नंगी तलवार लेकर अपने अपमान का बदला चुकाने के लिये घर से बाहर उसी उद्यान की तरफ आचार्य नंदिवर्धन की खोज करते हुये निकले। आचार्य देव सायं को अपने संघ को वहाँ पर छोड़कर आप एक निर्जन, भयंकर श्मशान भूमि में आकर ध्यानस्थ खड़े हो गये थे। वे ब्राह्मण उन्हें ढूँढते हुये उसी श्मशान भूमि में आ पहुँचे और उन्होंने उन्हें प्रतिमायोग से निश्चल देखा। उन्हें देखते ही वे पापी क्रोध में भभक कर बोले–

अरे पापी, निर्लज्ज, नंगे, अब सभी भक्त आकर तेरी रक्षा करें, अरे मूढ़! देखता हूँ अब तू कहाँ जायेगा? हम लोग पृथ्वी के देवता, ब्राह्मण के अवतार, उनको तूने ये श्रृगाल थे ऐसा कैसे कहा? इत्यादिरूप से क्रोध से बड़बड़ाते हुये उन दोनों ने एक साथ ही उन्हें मारने के लिये तलवार उठाई कि तत्क्षण ही यक्षदेव ने उन्हें वैसे के वैसे ही कीलित कर दिया। वे दोनों दुष्टात्मा ज्यों की त्यों खड़े रह गये।

प्रातःकाल सूर्योदय होते ही भक्तों की भीड़ उमड़ पड़ी। इस दृश्य को देखकर सभी लोग इन दुष्टों को धिक्कारते हुये महामुनि की पूजा-स्तुति करने लगे। चतुर्विध संघ भी अपने गुरुदेव के चरण सान्निध्य में आ गया। इन अग्निभूति-वायुभूति के माता-पिता आदि कुटुम्बीजन भी वहाँ आ पहुँचे। वह सोमदेव ब्राह्मण अपनी पत्नी अग्निला सहित उन मुनिराज को प्रसन्न करने लगा, उनके पैर दबाने लगा, बार-बार उन्हें प्रणाम करने लगा, मीठे वचन कहकर उनकी सेवा करने लगा। उन दोनों ने कहा कि हे देव! ये मेरे दुष्ट पुत्र जीवित रहें, हे नाथ! क्रोध छोड़िये, हम सब परिवार आपके आज्ञाकारी हैं। उत्तर में मुनिनाथ ने कहा कि–

'हे ब्राह्मण! मुनियों का क्या क्रोध है? जो तुम इस तरह कह रहे हो, हम तो सबके ऊपर दया सहित हैं। हमारे शत्रु-मित्र सब एक समान हैं।'

अनंतर यक्ष प्रत्यक्ष में प्रगट होकर बोला–

'अरे! क्या यह कार्य इन गुरु महाराज का है? तू ऐसा सबके बीच में क्यों बक रहा है? जो पापी साधुओं के प्रति घृणा करते हैं वे शीघ्र ही अनर्थ को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने मनुष्य अपना जैसा मुख करता है वैसा ही देखता है। उसी प्रकार साधु को देखकर सामने जाना, खड़े होना आदि क्रियाओं को करना आदि जैसा भाव करता है, वैसा ही फल पाता है।

जो मुनि की हँसी करता है वह उसके बदले रोना प्राप्त करता है। जो उनके प्रति कठोर

शब्द कहता है वह बदले में रोना प्राप्त करता है, जो मुनि को मारता है वह उसके बदले मरण प्राप्त करता है, जो मुनि से विद्वेष करता है वह उसके बदले पाप प्राप्त करता है। इस प्रकार साधु के प्रति निंदनीय कार्य से उसके बदले वैसे ही फल प्राप्त हो जाते हैं।

हे विप्र! ये तेरे पुत्र अपने ही द्वारा संचित पाप कर्मों से मेरे द्वारा कीलित किये गये हैं, साधु महाराज के द्वारा नहीं। ये साधु की हिंसा में उद्यत हुये दुष्ट मृत्यु को प्राप्त होंगे इसमें क्या हानि है?'

यक्ष के ऐसे कठोर शब्द सुनकर ब्राह्मण गिड़गिड़ाने लगा और पुत्रों की रक्षा हेतु अपनी छाती पीट-पीट कर रोने लगा।

अनंतर मुनिराज ने कहा कि हे यक्ष! तुमने जिनशासन में वात्सल्य प्रगट किया है सो ठीक, अब इन दोनों के दोषों को क्षमा कर दो, चूँकि मेरे निमित्त से इनका वध उचित नहीं है। तत्पश्चात् "जैसी आज्ञा आपकी हो वैसा ही करता हूँ" ऐसा कहकर यक्ष ने दोनों को छोड़ दिया। वे दोनों अग्निभूति, वायुभूति, भक्तिपूर्वक गुरुदेव के पादमूल में पहुँचे, प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में बारंबार नमस्कार करके कृतकर्मों की क्षमायाचना करते हुये दीक्षा की याचना की। गुरुदेव ने भी उन्हें भद्र परिणामी हुआ देखकर तथा मुनिदीक्षा की चर्या उनके लिए कठिन समझकर उन्हें सम्यग्दर्शन सहित पाँच अणुव्रत दिये। वे दोनों भी गुरु की आज्ञानुसार गृहस्थधर्म का पालन करते हुये विवेकीश्रावक बन गये।

इस प्रकार से साधुसमाधि भावना को भाने वाले जीव तीर्थंकर प्रकृति का पुण्य संचय कर लेते हैं।

वैयावृत्यकरण भावना

गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यम्।।९।।

गुणवान साधुओं के ऊपर किसी प्रकार के दुःख आ जाने पर या व्याधि आदि से पीड़ित होने पर निर्दोष औषधि के द्वारा उसको दूर करना यह बहु उपकार को करने वाला वैयावृत्यकरण है।

श्री उमास्वामी आचार्य भी कहते हैं—'आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ' इन दश प्रकार के मुनियों के क्लेश और संक्लेश को दूर करने के लिये साधु या श्रावक जो कुछ भी व्यापार करता है उसको वैयावृत्ति कहते हैं।

जो शिक्षा-दीक्षा देते हैं, संघ के नायक हैं, वे आचार्य हैं। संघ में पढ़ाने वाले उपाध्याय

---

१. पद्मपुराण, पर्व १०९।

हैं। महोपवासी साधु होते हैं। रोगादि से युक्त साधु ग्लान हैं। स्थविर की संतति गण हैं। दीक्षाचार्य की परम्परा कुल है। चातुर्वर्ण श्रमणसमूह अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ये संघ है। चिरकाल से दीक्षित को साधु संज्ञा है और लोक में अतिशय मान्य साधु मनोज्ञ कहलाते हैं। इनके क्लेश, कष्ट, उपद्रव, संकट, रोग आदि के प्रसंग में औषधि परिचर्या, सेवा-शुश्रूषा आदि करना वह सब वैयावृत्य कहलाता है।

आचार्यों ने तप करने के लिये शक्तितः शब्द का प्रयोग किया है किन्तु वैयावृत्य तप को तपश्चरण का प्राण ही कह दिया है। देखिये–

"सहधर्मियों पर आपत्ति आने पर जो प्रमाद कर देते हैं वे मनुष्य सर्व सम्पत्तियों को छोड़ देते हैं। क्योंकि यह वैयावृत्य तप का हृदय प्राण है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।"[1] वैयावृत्य करने वाले साधु या श्रावक साधुओं की समाधि में सहयोगी बनते हैं। निर्विचिकित्सा गुण का पालन करते हैं। सहधर्मियों में वात्सल्य करते हैं, और भी अनेक गुणों के स्वामी बन जाते हैं।

श्रीकृष्ण ने एक मुनिराज के शरीर में कुछ रोग देखा तब गुरु से प्रश्न किया भगवन्! इस रोग के लिये क्या औषधि है मुनि ने कुछ नाम बता दिया। वैद्य को बुलाकर श्रीकृष्ण ने उस औषधि को समझा, पुनः रसोईघर में उस औषधि मिश्रित लड्डू बनवा दिये। मुनि को आहार के समय वे लड्डू दिये गये जिससे उनका रोग शांत हो गया। उसके पुण्य के प्रसाद से श्रीकृष्ण भविष्य में तीर्थंकर होवेंगे।

वास्तव में यह शरीर ही धर्म का साधन है। यदि इसमें वात, पित्त, कफ आदि दोष प्रकुपित हो जाते हैं तब धर्मसाधन में भी बाधा उपस्थित हो जाती है। ऐसे प्रसंग पर श्री कुंदकुंद देव ने भी प्रवचनसार में मुनियों को साधुओं की वैयावृत्य के लिए असंयमियों से, श्रावकों से बोलने की छूट दी है। इससे भी वैयावृत्य का महत्त्व विशेषरूप से दिख जाता है। समयोचित सेवा करना ही वैयावृत्य है और गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति करना भी वैयावृत्य है।

एक समय श्रीधर्मघोष मुनिराज चंपानगरी में आहार करके तपोवन की ओर आ रहे थे। चलने के अधिक परिश्रम से वे अत्यधिक थक गये तब एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। उस समय वे प्यास की बाधा से व्याकुल हो रहे थे। गंगादेवी उन्हें प्यासा देखकर कलश में पवित्र जल लेकर वहाँ आई और बोली —हे भगवन्! आप इस ठंडे जल को पीकर प्यास शांत कीजिये। मुनि ने कहा —देवी! तूने अपना कर्तव्य किया सो ठीक, परन्तु हमारे लिये देवों द्वारा दिया गया, आहार-पानी काम नहीं आता। देवी सुनकर चकित रह गई। उसी समय वह विदेह क्षेत्र

---

१. सधर्मापदि यः शेते सशेते सर्वसंपदि। वैयावृत्यं हिनपसो हृदयं ब्रुवते, जिनाः।।८०।।अनगार धर्मामृत।

में गई और वहाँ भगवान के समवसरण में प्रश्न किया कि हे भगवन्! एक प्यासे मुनि को मैं जल पिलाने गई किन्तु उन्होंने नहीं पिया सो क्या कारण है? दिव्यध्वनि से उसे उत्तर मिला कि मुनि लोग देवों के हाथ से आहार नहीं लेते हैं। देवी उत्तर पाकर निरूपाय हुई। फिर भी उसने सोचा हमें कुछ तो वैयावृत्य करके इनकी प्यास को शांत करना चाहिए। वह वहाँ से आकर मुनि के चारों तरफ सुगंधित ठण्डे जल की वर्षा शुरू कर देती है। जिससे ठण्डी-ठण्डी हवा लगकर मुनि को एकदम शांति हो जाती है। इसके बाद वे मुनिराज ध्यान में आरूढ़ होकर तत्क्षण ही केवली हो जाते हैं। स्वर्ग से देव उनकी पूजा करने आ जाते हैं, वहाँ पर गंधकुटी की रचना हो जाती है। यह थी देवी की वैयावृत्ति !

श्री समंतभद्र स्वामी ने तो अतिथिसंविभाग व्रत के स्थान पर वैयावृत्य नाम का ही अन्तिम शिक्षाव्रत लिया है, और उसमें मुनियों के आहारदान पर अत्यधिक जोर दिया है। बल्कि यहाँ तक कहा है कि "गृहस्थी में पंचसूना आदि से जो हमेशा पाप संचित होते रहते हैं उनके क्षालन का यदि कोई उपाय है तो एक गृहवास से रहित मुनियों को आहार देना जैसे रुधिर से रंगे हुये वस्त्र को जल धोकर साफ कर देता है वैसे ही अतिथियों को दिया गया आहार गृहस्थ के पापों को धोकर साफ कर देता है।"

यह तो साधुओं के लिये वैयावृत्ति का विधान किया किन्तु श्रावक-श्राविकायें गृहस्थों की भी वैयावृत्ति कर सकते हैं।

गृहस्थों में भी पूज्य पुरुषों की, गुणी जनों की, घर के बड़े जनों की और तो क्या छोटे हों या बड़े, स्त्री हो या पुरुष सभी की समयोचित वैयावृत्ति करनी चाहिये।

बात यह है कि "धर्म धर्मात्माओं के बिना नहीं रहता है।" इसलिये रत्नत्रयरूप धर्म को धारण करने वाले साधुओं की वैयावृत्ति करना एक तप है। शेष लोगों की वैयावृत्ति भी धर्म है, कर्तव्य है, सेवा है। इससे भी परस्पर में स्नेह बना रहता है। इसलिये गृहस्थाश्रम में रहते हुये यथोचित सभी की सेवा, वैयावृत्ति करनी ही चाहिये। देखो! जीवंधर कुमार ने कुत्ते को भी महामंत्र सुनाकर उसे सांत्वना दी, यह भी तो एक वैयावृत्ति ही है।

सच है, इस वैयावृत्ति तप का महत्व अचिन्त्य ही है।[1]

वैयावृत्य से एकाग्र चिन्तानिरोधरूप ध्यान, सनाथपना, ग्लानि का अभाव तथा सहधर्मी वात्सल्य आदि गुण सिद्ध हो जाते हैं।

मगधदेश के शालिग्राम नगर में दरिद्र ब्राह्मणी के एक पुत्र का जन्म हुआ। गर्भ में आते

१. शक्तितस्तपः। वैयावृत्यं जिनैरुक्तं कर्तव्यं सर्व शक्तितः। अनगार धर्मामृत, मूलः पृ. ५२। सधर्मापदि यः शेते स शेते सर्वसंपदि। वैयावृत्यं हि तपसो हृदयं ब्रुवते जिनाः।। अनगार धर्मामृत, अ.७।

ही उसका पिता मर गया और जन्मते ही माता मर गई। मौसी ने उसका पालन किया, आठ वर्ष की वय में उसकी मौसी भी मर गई पुनः कुछ दिन मामा के घर पला। इसके शरीर से दुर्गंध आती थी और कुरूप था अतः उस घर से भी निकाल दिया गया। अंत में शोक से व्याकुल हो वह एक पर्वत पर चढ़कर गिरकर मरना चाहता था कि दो मुनियों ने उसे संबोधन कर रोका और गुरु के पास लाकर दीक्षा दिला दी। ये ब्राह्मण पुत्र नंदिषेण गुरु के प्रसाद से घोर तपश्चरण करते हुये अनेकों ऋद्धियों से समन्वित हो गये। वैयावृत्य के लिये वे मुनि अपनी ऋद्धियों का उपयोग करते रहते थे। एक बार इंद्र ने सभा में नंदिषेण के वैयावृत्य की बहुत प्रशंसा की। ऐसा सुनकर एक देव रुग्ण मुनि का वेष लेकर आया, नंदिषेण मुनि ने उसकी अपने हाथों से सेवा की, उससे पूछा–मैं तुम्हें औषधि देता हूँ बोलो तुम्हारी किस भोजन में रुचि है। उसने कहा मुझे पूर्व देश का चावल, पाँचाल देश की दाल, पश्चिम देश की गायों का घी और कलिंग देश की गायों का दूध आदि पदार्थ चाहिए। नंदिषेण मुनि ने अपनी ऋद्धि के बल से सर्व वस्तुओं को मँगाकर उसे आहार में दिला दी। कृत्रिम मुनि ने आहार करके पुनः रात्रि में खूब दस्त कर दिया। मुनि ने अपने हाथों से उसे धोया और ग्लानि नहीं किया तब वह मुनि अपने देव रूप में आकर नंदिषेण मुनि की खूब स्तुति करने लगा। वह नंदिषेण मुनि ही आगे श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव हुये हैं। आचार्य कहते हैं कि–

प्रासुकद्रव्ययोगेन वैयावृत्योद्यतस्य हि। संयतस्यापि नो बंधो निर्जरैव तु जायते।।१४२।।

गृहस्थ की तो बात ही क्या? प्रासुक द्रव्य के द्वारा वैयावृत्य करने में तत्पर हुये मुनि को भी उससे बंध नहीं होता है किंतु निर्जरा ही होती है श्री समंतभद्र स्वामी भी कहते हैं–

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्। वैयावृत्यं यावानुपग्रहोन्योऽपि संयमिनाम्।।११२।।

गुणानुराग से संयमी पुरुषों की आपत्तियों को दूर करना, उनके चरणों को दबाना तथा इसी प्रकार और भी जो उनकी सेवा-टहल करना सो सब वैयावृत्य है। यह भावना तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारण है।

अर्हंतभक्ति भावना

अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।।१०।।

अर्हंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन इनमें भाव विशुद्धिपूर्वक अनुराग का होना भक्ति है।

यहाँ पर अर्हंत भक्ति से प्रयोजन है अतः चौंतीस अतिशय, आठ प्रतिहार्य और चार अनंत चतुष्टय से सहित तथा अठारह दोषों से रहित वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जिनेंद्र भगवान् की भक्ति करना अर्हंतभक्ति है।

एक मेढक भक्ति से फूल की पाँखुड़ी लेकर भगवान् के दर्शन को चला, राजा श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे दबकर, मरकर तत्क्षण ही देव हो गया। मनोवती ने दर्शन प्रतिज्ञा ली थी तब देवों ने वन में पृथ्वी के नीचे मन्दिर बनाकर उसकी प्रतिज्ञा पूरी की। वादिराज मुनिराज ने एकीभावस्तोत्र की रचना के बल से शरीर का कुष्ठ नष्ट कर दिया, मानतुंग के ४८ ताले टूट गये। पूज्यपाद स्वामी ने शांतिभक्ति के प्रसाद से नेत्र ज्योति को प्राप्त कर लिया था। अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं। जिनबिम्ब की भक्ति भी अर्हंत भक्ति है। क्योंकि जिन-बिम्ब दर्शन से भी सम्यक्त्व प्रगट हो सकता है। धवला व राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में 'जिन-बिम्ब दर्शन' और 'जिन महिमादर्शन' को सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण बतलाया है।'

पद्मपुराण में कहा है कि–'जो मनुष्य जिन मन्दिर बनवाता है उसके भोगोत्सव का वर्णन कौन कर सकता है? जो मनुष्य जिन प्रतिमा का निर्माण कराता है वह शीघ्र ही परमपद को प्राप्त कर लेता है। तीनों कालों और तीनों लोकों में व्रत, ज्ञान, तप और दान के द्वारा मनुष्य के जो पुण्य का संचय होता है वह भावपूर्वक एक प्रतिमा के बनवाने की बराबरी नहीं कर सकता।' इस ग्रन्थ में बतलाया है कि 'जो जिन प्रतिमा के दर्शन की भावना करता है वह बेला के उपवास के फल को, उद्यम करने से तेला के उपवास को, ऐसे क्रम से मन्दिर के द्वार में प्रवेश करने से वर्षोपवास के फल को एवं क्रम से जिन स्तुति से अनंत उपवास के फल को प्राप्त होता है।' इस प्रकार से अर्हंतदेव की भक्ति में सतत तत्पर रहना तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण है।

राजगृह नगर में एक नागदत्त सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम भवदत्ता था। जब सेठ मरणासन्न स्थिति में था तब उसका अपनी पत्नी के प्रति ममत्व भाव बहुत ही था, वह अपनी पत्नी में मोह करता हुआ आर्तध्यान से मर गया और घर की बावड़ी में ही मेंढक हो गया।

१. धवला पु.१८, तत्वार्थवार्तिक, अ.२।

जब भवदत्ता बावड़ी पर जल भरने आती तब यह मेंढक उछल कर उसके ऊपर आ जाता जिससे वह घबरा कर भागती। ऐसे कई दिन निकल गये तब उसने एक अवधिज्ञानी मुनि के पास जाकर उन्हें नमस्कार कर इस मेंढक को अपने ऊपर उछल-उछल कर आने का कारण पूछा मुनिराज ने कहा —

"भद्रे ! यह तुम्हारे पति नागदत्त का जीव ही मेंढक हो गया है।" सेठानी को बहुत ही आश्चर्य हुआ। तब मुनिराज ने कहा —

"पुत्री ! इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, मरते समय उनका तुम्हारे प्रति बहुत ही मोह था अतः वह आर्तध्यान से मरकर तिर्यंच योनि में आ गया है।" भवदत्ता ने घर आकर उस मेंढक को सारी कथा सुना दी। सुनते ही मेंढक को जातिस्मरण हो गया।

"अहो! मैं इस घर का स्वामी, इतना बड़ा धनी, बुद्धिमान सेठ था और आज इस तिर्यंच योनि में तुच्छ मेंढक की पर्याय में आ गया हूँ।"

किन्तु बेचारा अब क्या कर सकता है? अपने कृतकर्मों की निंदा करते हुये, पश्चाताप करते हुये समययापन कर रहा था। एक दिन राजगृह में वैभार पर्वत पर भगवान महावीर स्वामी का समवसरण आया हैं सुनकर राजा श्रेणिक बहुत बड़े लवाजमें के साथ भगवान के दर्शन के लिये चल पड़ते हैं। लाखों की संख्या में स्त्री-पुरुष भगवान की वंदना के लिए चले जा रहे हैं। सेठानी भवदत्ता भी दर्शन के लिये चली जाती है। तभी मेढक भी बावड़ी से एक कमल की पाँखुड़ी तोड़कर मुख में दबाकर भगवान महावीर के दर्शन की भावना से चल पड़ता है। वह मार्ग में फुदकता हुआ चला जा रहा है किन्तु इतनी भीड़ में उसकी कहाँ गति है? बेचारा मेंढक राजा श्रेणिक के हाथी के पैर तले कुचल जाता है। तत्क्षण ही उसके प्राण निकल जाते हैं और अन्तर्मुहूर्त में वह मेंढक का जीव देवपर्याय में जन्म ले लेता है। वहाँ पर अपने अवधिज्ञान से जान लेता है कि मेंढक की पर्याय से छूटकर यहाँ देवयोनि में आ गया हूँ, साथ ही उसे यह भी बोध हो जाता है कि पत्नी के मोह में मरकर मैं मेंढक हो गया था और भगवान की भक्ति-वंदना की भावनामात्र से मरकर इतने महान् देवों के वैभव को प्राप्त करने वाला देव हो गया हूँ। तो जो प्रत्यक्ष में भगवान् की भक्ति करते हैं भला उन्हें कितना पुण्य मिलता होगा? सचमुच में जिनेन्द्र देव की पूजा कल्पवृक्ष से अधिक उत्तमोत्तम फल देने वाली है।

ऐसा सोचकर वह तत्क्षण ही भगवान महावीर के दर्शन के लिये समवसरण में आ गया। भगवान को गंधकुटी में विराजमान देखकर भक्ति विभोर हो गद्गद् वाणी से स्तुति करते हुये नाचने लगा। उस समय उसने अपने मुकुट में मेंढक का चिन्ह बना रखा था। राजा श्रेणिक वहाँ

पहुँचकर भगवान की वंदना करके जब एक देव को भक्ति से तन्मय देखते हैं और उसके मुकुट में मेंढक का चिन्ह देखते हैं तो कौतुकवश गौतम स्वामी से प्रश्न करते हैं–

"हे भगवन्! यह देव कौन है? और इसके मुकुट में मेंढक के चिन्ह का क्या रहस्य है?"

तभी गौतम स्वामी उस मेंढक का सारा इतिहास सुना देते हैं। जिससे सभा में बैठे हुये असंख्य देवगण तथा सभी राजा-महाराजा आदि मनुष्य लोग "जिन पूजा" के माहात्म्य को प्रत्यक्ष में देखकर बहुत ही प्रभावित होते हैं। कितने ही भव्य लोग नित्यप्रति 'देव पूजा' करने का नियम लेकर अपने मनुष्य भव को सफल बना लेते हैं। यह है अर्हन्त देव की भक्ति का अचिन्त्य फल! सच है जब अर्हन्त भक्ति अपने भक्त को साक्षात् तीर्थंकर अर्हन्त बना देती है तब उससे भला अन्य और वस्तु क्या दुर्लभ हैं अर्थात् सब कुछ सुलभ है।

श्री अर्हन्त देव की भक्ति से बड़े-बड़े संकट टल जाते हैं और अकाल मृत्यु तक दूर हो जाती है। इसका उदाहरण देखिये —

किसी समय पोदनपुर के राजा श्रीविजय राजसिंहासन पर विराजमान थे कि अकस्मात् एक पुरुष आकर बोला कि हे राजन्! आज से सातवें दिन पोदनपुर के राजा के मस्तक पर महावज्र गिरेगा अतः शीघ्र ही उसके प्रतीकार का विचार कीजिये। उसी समय कुपित होकर युवराज बोला कि तू सर्वज्ञ है तो बता उस दिन तेरे मस्तक पर क्या पड़ेगा? उस व्यक्ति ने कहा कि मेरे मस्तक पर अभिषेक के साथ रत्नवृष्टि पड़ेगी। उसके अभिमानपूर्ण वचन से राजा को आश्चर्य हुआ। उसे आसन पर बिठाकर उसका परिचय आदि पूछा तब उसने बताया कि मैंने दिगम्बर मुनि के पास निमित्तज्ञान सीखा है। आज कुछ निमित्तों का फल जानकर मैंने सही बात बताई है। तब सभी ने उसको विदा करके चिंतित होकर राजा की सुरक्षा का विचार प्रारम्भ किया। किसी ने कहा कि लोहे के संदूक में बंदकर समुद्र में रख दो, किसी ने कहा कि विजयार्ध की गुफा में छिपा दो आदि। इस पर मतिसागर नाम के बुद्धिमान मंत्री ने कहा कि निमित्तज्ञानी ने पोदनपुर नरेश के मस्तक पर वज्रपात की बात कही है तो मेरी समझ में ऐसा उपाय करो कि जिससे हर तरह से लाभ हो। देखो ! महाराज श्रीविजय सात दिन के लिये राज्य का त्यागकर मंदिर में धर्मध्यान करें, यदि जीवित रहे तो पुनः राज्य करेंगे यदि मरण होगा तो समाधि से मरकर स्वर्ग प्राप्त करेंगे। यह बात राजा को और सभी मंत्री वर्गों को जंच गई।

अनंतर मंत्रियों ने एक यक्ष की प्रतिमा को राज्य सिंहासन पर स्थापित कर 'आप पोदनपुर के राजा हैं" ऐसा कहकर उसकी पूजा की। इधर राजा ने सर्व भोगादि का त्यागकर दान-पूजन आदि कार्य प्रारम्भ कर दिये और जिन चैत्यालय में शांति कार्य करते हुये बैठ गये। सातवें दिन

भयंकर शब्द करते हुये महावज्र उस यक्ष की मूर्ति पर गिरा और राजा मंदिर में पूजा पाठ करते हुये इस उपद्रव से बच गया। इस घटना से नगर निवासीजनों में बहुत ही हर्ष व्याप्त हो गया, सर्वत्र नगाड़े आदि बाजे बजने लगे। राजा श्रीविजय की अकाल मृत्यु का योग टल गया, ऐसा समझकर सभी मंत्रियों ने अरहंत भगवान की भक्ति के साथ शांति पूजा की, महा अभिषेक किया और राजा को सिंहासन पर बिठाकर सुवर्ण घड़ों से उनका राज्याभिषेक किया।

पुनः राजा ने उसी समय बड़े हर्ष के साथ निमित्तज्ञानी को बुलाकर उसका सत्कार किया और पद्मिनीखेट के साथ-साथ सौ गाँव उसे दे दिये। इसके बाद बहुत काल तक इन्होंने सुख से राज्य किया है। इस श्रीविजय से नवमें भव में ये ही महापुण्यशाली पुरुष भगवान शांतिनाथ के समवसरण में चक्रायुध नाम के गणधर हुये हैं।

यदि ये श्रीविजय महाराज राज्य का त्यागकर धर्म का अनुष्ठान नहीं करते तो अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते और राज्य में मरकर दुर्गति में ही चले जाते। अतः —

अनंतानंतसंसार संततिच्छेदकारणम्। जिनराजपदाम्भोजस्मरणं शरणं मम।।

ऐसी भावना करते हुये सदैव अर्हन्तदेव की भक्ति करते रहना चाहिये।

आचार्यभक्ति भावना

परहितकर प्रवृत्तेषु आचार्येषु भावविशुद्धि युक्तोऽनुरागः भक्तिः।।११।।

परहित में प्रवृत्त हुये आचार्यों में भावविशुद्धिपूर्वक अनुराग करना आचार्यभक्ति है।[1]

आज तक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, जाते हैं व जायेंगे वे सब आचार्य देव का आश्रय लेकर ही गये हैं। यहाँ तक कि तीर्थंकर भी पूर्व जन्म में दीक्षा गुरु से ही दीक्षा लेते हैं पुनः तीर्थंकर प्रकृति के सत्ता में रहने से ही वे इस भव में स्वयं दीक्षित होते हैं। चन्द्रगुप्त मुनिराज श्रीभद्रबाहु आचार्य की भक्ति से उन्हीं के पास रह गये। गुरु की समाधि के बाद वहीं गुरु की निषद्या की वंदना करते हुये रहने लगे। बारह वर्ष तक देवों ने उन्हें नगर बसाकर आहार दिया।[2] जब मुनियों का संघ वहाँ आया, कुछ साधु आहारार्थ गये, वापस एक मुनि कमंडलु भूल आये, मध्यान्ह में लेने को गये तब वहाँ कमंडलु को वृक्ष में लटका हुआ देखा और कुछ गाँव नजर नहीं आया। गुरु से निवेदन करने पर यह निश्चित हुआ कि आज तक मुनि चन्द्रगुप्त को देवों ने आहार दिया है। चन्द्रगुप्त मुनिराज ने गुरु से इसका प्रायश्चित्त लिया क्योंकि देवों के हाथ का आहार दिगंबर जैन साधु नहीं लेते हैं। देखिये! श्रीचन्द्रगुप्त की गुरुभक्ति जिसके

१-२. पद्मपुराण, पर्व ३२।

प्रसाद से देवों ने उनकी परिचर्या की। सच है—

गुरु भक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत्। त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः।।

समीचीन गुरु भक्ति मुक्ति को प्राप्त कराने वाली होती है पुनः क्षुद्र कार्य क्या नहीं सिद्ध होंगे? क्या त्रैलोक्य मूल्य वाले रत्न से भूसे का ढेर खरीदना दुर्लभ है? नहीं। यह आचार्य भक्ति भी तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है।

गुरुओं की मात्र हँसी करने का फल कितना बुरा होता है सो देखो– किसी समय चतुर्विध संघ सम्मेद शिखर की वंदना के लिये जा रहा था उस समय एक 'अंतिक' नामक ग्राम से संघ निकला। दिगंबर साधुओं को देखकर गाँव के लोग हँसने लगे। एक-एक को देखकर सबके सब हँसने लगे और कुवचन कहने लगे। उस ग्राम के एक कुम्भकार ने सबको हँसने से मना किया और संघ की स्तुति की। संघ के साधुओं को कुछ नहीं, उन्हें तो निंदा-स्तुति दोनों ही समान हैं। कुछ दिन बाद उस गाँव में किसी ने चोरी की, तब राजा ने कुपित होकर घेरा डालकर सारा गाँव का गाँव जला दिया। जिस दिन वह गाँव जलाया गया उस दिन वह कुम्भकार कहीं बाहर गया हुआ था सो वह बच गया।

गुरुओं पर हँसने का दुष्परिणाम कितना बुरा निकला। वे सब की सब मरकर कौड़ी हो गए पुनः वह कुम्भकार व्यापारी हुआ उसने सब कौड़ी खरीद ली। अनंतर ये सब कौड़ी मरकर गिंजाई हो गये, कुम्भकार का जीव राजा हो गया सो उस राजा के हाथी के पैर के नीचे दबकर सब गिंजाई मर गये। इन जीवों ने एक साथ पाप बांधा था सो एक साथ ही भोगते रहे। क्रमशः ये सबके सब सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र हो गये और यह कुम्भकार सगर चक्रवर्ती का पोता भागीरथ हो गया है।

गुरु भक्ति से स्वयमेव विद्यायें सिद्ध हो जाती हैं। देखो एकलव्य भील का उदाहरण प्रसिद्ध है–

किसी समय वन में अर्जुन ने एक कुत्ते को देखा, उसका मुख बाण प्रहार से भरा हुआ था। उसे देख, अर्जुन ने सोचा यह शब्दभेदी धनुर्विद्या गुरु ने मुझे ही दी है, इसका जानकार यहाँ कौन है? खोजते-खोजते एक भील मिला। वार्तालाप होने से उसने कहा 'मेरे गुरु द्रोणाचार्य हैं मैंने उन्हीं से यह विद्या सीखी है।' अर्जुन के आश्चर्य का पार नहीं रहा। तब भील ने वन में बनाये हुये मिट्टी के स्तूप के पास ले जाकर अर्जुन को दिखाया और कहा– मेरे गुरु ये ही हैं। मैंने इन्हीं में द्रोणाचार्य की कल्पना कर रखी है। मैं इसी स्तूप को गुरु मानकर उपासना करके शब्दभेदी धनुर्विद्या में निपुण हुआ हूँ।

अर्जुन ने हस्तिनापुर आकर गुरु द्रोणाचार्य से सारी घटना सुना दी और कहा कि वह पापी भील निरपराध पशुओं को मारकर पाप कर्म का संचय कर रहा है, आपको उसे रोकना चाहिये। गुरु द्रोणाचार्य अर्जुन के साथ वहाँ गये जब भील को पता चला कि सचमुच में ये द्रोणाचार्य हैं, उसकी भक्ति का पार नहीं रहा। गद्गद् होकर उसने साष्टांग नमस्कार किया, बहुत ही भक्ति प्रदर्शित की। द्रोणाचार्य ने कहा कि "मैं एक वस्तु तुम से माँगूं तुम दोगे?" उत्तर में उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। तब गुरु ने कहा "दाहिने हाथ का अँगूठा मुझे दे दो" उस भील ने उसी समय अपना अँगूठा काटकर दे दिया। अब वह बाण चलाने में असमर्थ हो गया और जीव हिंसा से बच गया।

देखो! गुरुभक्ति से भील ने आज भी अपना नाम अमर कर दिया है।

जो आज गुरुओं से द्रोह करते हैं, निंदा करते हैं, उपेक्षा करते हैं, उन्हें पाप अवश्य लगता है।

जो गुरु भक्ति करते हैं वे अनेकों लौकिक सुखों को प्राप्त करके एक दिन मोक्ष सुख को भी प्राप्त कर लेते हैं किन्तु जो गुरु निंदा करते हैं वे गुरुद्रोही, कृतघ्नी, आत्मद्रोही, महापापी हैं बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। इसलिये गुरु विरोध कभी नहीं करना चाहिये और सदैव गुरु भक्ति करते रहना चाहिये।

यह आचार्य भक्ति नाम की ग्यारहवीं भावना है जो कि संसार समुद्र से पार कराने वाली है।

बहुश्रुतभक्ति भावना

स्वपरसमयविस्तरनिश्चयज्ञेषु च बहुश्रुतेषु, भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः।।१२।।

स्व-समय पर-समय पर विस्तार से जानने वाले बहुश्रुत उपाध्यायों में भावों की विशुद्धिपूर्वक अनुराग होना बहुश्रुत भक्ति है।

बहुश्रुत को धारण करने वाले महामुनि ही हम लोगों को सच्चा मोक्षमार्ग दिखलाते हैं। भावश्रुत और अर्थ पदों के कर्ता तीर्थंकर हैं। अनंतर इंद्रभूति ने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थों की एक ही मुहूर्त में क्रम से रचना की थी इसलिये वे गौतम स्वामी ग्रन्थकर्ता हैं। परम्परा से यह श्रुतज्ञान अंग और पूर्व के एकदेशरूप में धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। सौराष्ट्र देश में गिरिनगर के निकट ऊर्जयन्तगिरि नाम का महान् पर्वत है। उस पर्वत की चन्द्रगुहा में निवास करने वाले परममुनियों में प्रधान तपस्वी धरसेन नाम के एक महान् आचार्य हो गये हैं। इन्हें 'अग्रायणीय' नामक द्वितीय पूर्व की पंचम वस्तु के चतुर्थ

महाकर्मप्राभृत का ज्ञान था। किसी समय अपनी आयु अल्प जानकर आचार्यश्री ने मन में विचार किया कि जितना भी श्रुतज्ञान मुझे है यदि कोई इसे ग्रहण नहीं कर लेगा तो भविष्य में इसका व्युच्छेद हो जावेगा।

उसी समय देशेन्द्र नामक देश में वेणाकतटीपुर में महामहिमा के अवसर पर विशाल मुनिसमुदाय विराजमान था। श्री धरसेनाचार्य ने एक ब्रह्मचारी के हाथ से वहाँ मुनियों के पास एक पत्र भेजा। वहाँ के साधुगण ने भी ब्रह्मचारी के हाथ से उस पत्र को लेकर उसे खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था–

स्वस्ति श्रीमत इत्यूर्जयंततटनिकटचन्द्रगुहा। वासाद् धरसेनगणी वेणाकतटसमुदितयतीन्।।
अभिवंद्य कार्यमेवम् निगदत्यत्माकमायुरवशिष्टम्। स्वल्पं तस्मादस्मच्छुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्तिः।।
न स्यादयथा तथा द्वौ यतीश्वरो गृहणधारण समर्थौ। निशितप्रज्ञौ यूयं प्रस्थापयत.....।।

'स्वस्ति श्रीमान् ऊर्जयंततट के निकट स्थित चन्द्रगुहावास से धरसेनाचार्य वेणाकतट पर स्थित मुनि समूहों की वंदना करके इस प्रकार से कार्य को कहते हैं कि हमारी आयु अब अल्प ही अवशिष्ट रही है इसलिये हमारे श्रुतज्ञान का व्युच्छेद जिस प्रकार से न होने पावे उसी तरह से आप लोग तीक्ष्ण बुद्धि वाले, श्रुत को ग्रहण और धारण करने में समर्थ ऐसे यतीश्वरों को यहाँ मेरे पास भेजो।

इस पत्र के अर्थ को अच्छी तरह समझकर वहाँ पर स्थित संघ के प्रमुख साधुओं ने अपने समुदाय में अन्वेषण करके अत्यन्त कुशल दो मुनियों को भेज दिया। वे मुनिश्री वहाँ ऊर्जयंत गिरि पर आ गये।

जिस दिन वे मुनि वहाँ पहुँचने वाले थे उसकी पहली रात्रि के अंतिम प्रहर में श्री धरसेनाचार्य ने स्वप्न देखा कि दो श्वेत बैल मेरे चरणों में नमस्कार कर रहे हैं। इस स्वप्न के देखते ही आँखें खुल गईं और 'जयतु श्रुतदेवता' इस प्रकार के उच्चारण करते हुए गुरुदेव उठ बैठे। अतः प्रातःकाल ही वे दोनों मुनि गुरुदेव के चरण सान्निध्य में पहुँच गये।

उन दोनों मुनियों ने गुरुदेव की वंदना की। गुरु ने भी शास्त्रोक्त विधि से उनका आदर किया। आगंतुक मुनियों ने तीन दिन तक विश्राम करके अनंतर अपने आगमन का हेतु निवेदित किया। तब गुरु ने मन में विचार किया कि यद्यपि ये योग्य प्रतीत होते हैं तो भी इनकी बुद्धि की परीक्षा अवश्य ही कर लेनी चाहिए क्योंकि सुपरीक्षित शिष्य ही सर्वांगीण योग्य माने जाते हैं। अनंतर गुरु ने उन दोनों मुनियों को एक-एक विद्या सिद्ध करने के लिये दी। वे दोनों गुरुदेव के द्वारा दी गई विद्या को लेकर और उनकी आज्ञा से श्री नेमिनाथ तीर्थंकर की सिद्धभूमि पर

जाकर विधानपूर्वक अपनी-अपनी विद्या की साधना करने लगे जब उनकी विद्या सिद्ध हो गई तब उनके सामने दो देवियाँ आईं। उनमें से एक देवी के एक ही आँख थी और दूसरी देवी के दाँत बड़े थे।

मुनियों ने जब सामने स्थित इन देवियों को देखा तब मन में विचार किया कि देवताओं का यह स्वभाव नहीं है, अवश्य ही हम दोनों के मंत्रों में कुछ अशुद्धि है, तब व्याकरण विद्यामंत्र से उन मंत्रों को देखा। उसमें से जिनके सामने एक आँख वाली देवी आई थी उन्होंने अपने मंत्र में एक वर्ण कम पाया तब मंत्रव्याकरण के अनुसार ही उसमें शुद्धवर्ण को मिलाकर मंत्र शुद्ध किया तथा जिनके सामने लम्बे दाँत वाली देवी आई थी उन्होंने अपने मंत्र को अच्छी तरह देखने पर एक वर्ण अधिक पाया तब मंत्र व्याकरण शास्त्र से उसको निकालकर मंत्र शुद्ध किया। पुनरपि इन दोनों मुनियों ने अपने शुद्ध मंत्रों का अनुष्ठान किया, मंत्रों की सिद्धि हो जाने पर उनके सामने देवियाँ दिव्यरूप में प्रगट हो गईं, और बोलीं — हे नाथ! क्या आज्ञा है? बोलिये —

वे मुनि बोले —देवियों! हमारा ऐहिक और पारलौकिक ऐसा कुछ भी कार्य नहीं है जो आप दोनों के द्वारा सिद्ध किया जा सके, मैंने तो केवल गुरुदेव की आज्ञा से ही विद्यामंत्र की आराधना की है। ऐसा सुनकर वे देवियाँ अपने स्थान को चली गईं। दोनों मुनिराजों ने मुदितमना वहाँ से आकर गुरु के पास सारा वृत्तांत निवेदित कर दिया। गुरु ने भी उन्हें अतिशय योग्य समझ करके शुभ मुहूर्त में ग्रन्थ पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। उन दोनों मुनियों ने गुरु विनय और ज्ञानविनय को करते हुये प्रमादरहित होकर अध्ययन करना शुरु कर दिया।

कुछ दिन व्यतीत हो जाने पर आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन ग्रन्थ अध्ययन की समाप्ति हुई। उस दिन ही देवों ने इन दोनों मुनियों की पूजा की। एक मुनिराज के दाँतों की विषमता को दूरकर देवों ने उनके दाँत कुन्दपुष्प के समान सुन्दर करके उनका "पुष्पदन्त" यह नामकरण किया तथा दूसरे मुनिराज की भी भूतजाति के देवों ने तूरनाद, जयघोष और गन्ध पुष्पमाला, धूप आदि से पूजा करके "भूतबलि" ऐसा नाम घोषित किया।

अनंतर श्री धरसेनाचार्य ने विचार किया कि अब मेरी मृत्यु का समय निकट है। इन दोनों शिष्यों को संक्लेश न हो जावे अतः उन्हें प्रियहित वचनों द्वारा योग्य उपदेश देकर दूसरे ही दिन वहाँ से कुरीश्वर देश की तरफ विहार करा दिया। वे दोनों मुनिराज गुरु की पुनः-पुनः वंदना करके गुरु से अमूल्य निधिरूप श्रुतज्ञान को लेकर के वहाँ से निकले और नव दिनों में उस नगर

में आकर आषाढ़ वदी पंचमी (श्रावण वदी पंचमी)[1] को वर्षायोग ग्रहण कर लिया। वर्षाकाल समाप्त कर वे मुनि दक्षिण की तरफ विहार करके करहाठ देश में पहुँच गये।

उनमें से पुष्पदंत महामुनि ने "जिनपालित" नाम के अपने भानजे को देखकर उसे दीक्षा देकर अपने साथ लिया और वनवास देश में निकल गये। भूतबलि मुनिराज द्रविड़ देश की मथुरा नगरी में ठहर गये। पुष्पदन्त मुनिराज अपने भानजे को पढ़ाने के लिये "महाकर्म प्रकृति प्राभृत" का छह खंडों में उपसंहार करना चाहते थे अतः उन्होंने बीस अधिकार गर्भित सत्प्ररूपणा सूत्रों को बनाकर शिष्य को पढ़ाया और श्री भूतबलि गुरु का अभिप्राय जानने के लिये जिनपालित को यह ग्रन्थ देकर उनके पास भेज दिया। इस रचना की और पुष्पदन्त मुनि के षट्खण्डागम रचना के अभिप्राय को जानकर एवं उनकी आयु भी अल्प है ऐसा समझकर श्रीभूतबलि आचार्य ने द्रव्यप्ररूपणा आदि अधिकारों को बनाया। इस तरह पूर्व के सूत्रों सहित छह हजार श्लोक प्रमाण में इन्होंने पाँच खंड बनाये और तीस हजार प्रमाण सूत्रों में "महाबन्ध" नाम का छठा खण्ड बनाया। छह खण्डों के नाम—जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, स्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध हैं।

भूतबलि आचार्य ने इन षट्खण्डागम सूत्रों को पुस्तकबद्ध किया और ज्येष्ठ सुदी पंचमी के दिन चतुर्विध संघ सहित कृतिकर्मपूर्वक महापूजा की। उसी दिन से इस पंचमी का "श्रुतपंचमी" यह नाम प्रसिद्ध हो गया और तब से लेकर आज तक जैन लोग इस श्रुतपंचमी के दिन श्रुत की पूजा करते आ रहे हैं।

पुनः भूतबलि ने जिनपालित को षट्खण्डागम ग्रन्थ देकर पुष्पदन्त मुनि के पास भेज दिया। उन्होंने अपने चिंतित कार्य को पूरा हुआ देखकर महान् हर्ष और श्रुत के अनुराग से चातुर्वर्ण संघ के मध्य गंध, अक्षत, माला, वस्त्र, चंदोवा, घण्टा आदि के द्वारा महापूजा की। इस तरह षट्खण्डागम श्रुत की उत्पत्ति और "श्रुतपंचमी" की प्रसिद्धि का वर्णन हुआ है।

इसी तरह श्रीगुणधर आचार्य ने "कषायप्राभृत" नाम का सिद्धांत ग्रन्थ बनाया है। इन षट्खण्डागम और कषायप्राभृत दोनों सिद्धांत ग्रन्थों पर अनेक टीकायें रची गई हैं, जिनमें "षट्खण्डागम" की "धवला" टीका ही उपलब्ध है शेष नहीं। एवं कषायप्राभृत के चूर्णि सूत्र एवं "जयधवला" टीका उपलब्ध है और महाबन्ध पर "महाधवला" नाम की टीका उपलब्ध है।

षट्खण्डागम के ऊपर रची गई टीकायें, उनके रचयिता आचार्य और उनका अनुमानित

---

१. दक्षिण और गुजरात में प्रत्येक मास की सुदी के बाद बदी आता है। अतः वहाँ श्रावण बदी को आषाढ़ बदी और भादों बदी श्रावण वदी आदि मानते हैं।

समय देखिये-

टीका के नाम	आचार्य	श्लोक प्रमाण टीकायें	शताब्दी
परिकर्म	कुंदकुंद देव	१२०००	दूसरी
पद्धति	शामकुंड	१२०००	तीसरी
चूड़ामणि	तुम्बुलू	६१०००	चौथी
संस्कृतमयी	तार्किकार्क समंतभद्र	४८००५	पाँचवी
व्याख्या प्रज्ञप्ति	वप्पदेवगुरु	८०००	छठी
धवला	श्रीवीरसेन	६२०००	आठवीं
महाधवला	श्रीजिनसेन	+	नवमीं

ऐसे महान् ग्रन्थराज की जिस दिन पूजा हुई है और द्वादशांग का अंशरूप होने से जिसका महावीर प्रभु की वाणी से सीधा सम्बन्ध है ऐसे "धवल" ग्रन्थों को विराजमान कर उनकी श्रुतपंचमी के दिन महामहोत्सव से पूजा करिये जिससे ज्ञान का क्षयोपशम वृद्धिंगत होकर आगे केवलज्ञान की प्राप्ति होगी।

इसी तरह श्री कुंदकुंद देव, पूज्यपाद स्वामी, अकलंक देव आदि ने बहुश्रुत गुरुओं की भक्ति करके ही महान्-महान् ग्रन्थों का सृजन किया है। इन ग्रन्थों के दर्शन से, स्वाध्याय से आज हम लोगों को मोक्षमार्ग प्रशस्त हो रहा है अतः यह बहुश्रुतभक्ति भावना भी तीर्थंकर प्रकृति बन्ध का कारण है।

प्रवचनभक्ति भावना

प्रवचने च श्रुतदेवतासन्निधिगुणयोगदुरासदे मोक्षपदभवनारोहणसुर-
चितसोपानभूते भावशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः।।१३।।

श्रुतदेवता के प्रसाद से कठिनतम से प्राप्त होने वाले और मोक्ष महल पर आरोहण करने के लिये सीढ़ीरूप ऐसे प्रवचन में भावविशुद्धिपूर्वक अनुराग करना प्रवचनभक्ति है।

प्रवचन अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के मुख से निकले हुये वचन जो कि पूर्वापर दोष रहित शुद्ध होते हैं उन्हें 'आगम' यह संज्ञा भी है। गणधर देव ने इन जिन वचनों को द्वादशांगरूप से गूँथा है। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंग हैं। अन्तिम अंग के ही परिकर्म, सूत्र,

प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ऐसे पाँच भेद हैं। चतुर्थ भेद पूर्वगत के उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व आदि चौदह भेद होते हैं।

वर्तमान में अंग-पूर्वरूप श्रुतज्ञान नहीं है फिर भी उसी के अंशरूप श्रुत को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगरूप में कहा गया है। यह उपलब्ध श्रुत भी साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के वचनरूप ही है। "जैसे कि नदी का जल घड़े में भर लेने पर भी वह नदी का ही है।"[1]

इस श्रुतज्ञान को श्री गुणभद्रसूरि श्रुतस्कंध कहते हुये बहुत ही सुन्दर भाव दर्शाते हैं-

अनेकांतात्मार्थ प्रसवफलभारातिविनते। वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं। श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्।।१७०।।

जो श्रुतस्कंधरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप एवं फूल-फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनोंरूप पत्तों से व्याप्त है, विस्तृत नयोंरूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड़ से स्थिर है, उस श्रुतज्ञानरूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान् साधु अपने मनरूप बन्दर को प्रतिदिन रमाता रहे।

पटना नगर के राजा चन्द्ररुचि की चन्द्रप्रभा रानी के श्रुतशालिनी नाम की एक कन्या थी। उसने जिनमती आर्यिका के पास विद्याध्ययन किया। एक दिन घर में स्वतः बुद्धि से चौकी पर उसने श्रुतस्कंध मण्डल बनाया। यह देखकर सभी को बहुत ही आश्चर्य हुआ। एक दिन उद्यान में श्री वर्द्धमान मुनि को आया सुनकर राजा सपरिवार वंदना हेतु गये। वहाँ पर कन्या के विषय में प्रश्न किया। मुनिराज ने कहा राजन्! यह विदेह क्षेत्र में राजा गुणभद्र की रानी गुणवती थी। श्री सीमंधर भगवान के मुख से श्रुतस्कंधव्रत का महत्त्व सुनकर इसने विधिवत् उसका अनुष्ठान किया था। इस व्रत के माहात्म्य को सुनकर पुनः श्रुतशालिनी ने उसका विधिवत् अनुष्ठान किया। चारित्र के प्रभाव से विषय कषायों को अतिशय मंद कर अन्त में समाधिपूर्वक मरण करके इन्द्रपद प्राप्त कर लिया। वहाँ से च्युत होकर विदेह क्षेत्र के अशोकपुर नगर के राजा पद्मनाभ की पट्टरानी जितपद्मा के गर्भ से पुत्र होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके नयंधर नाम के तीर्थंकर प्रसिद्ध हो गये। यह श्रुतस्कंध व्रत भादों बदी एकम् से शुरू होकर पूर्णिमा तक किया जाता है। इसी तरह जिनागम की पूजा, भक्ति, विनय करना व स्वाध्याय करना सब 'प्रवचन भक्ति' है।

मगध देश के अन्तर्गत अहिच्छत्र नाम का एक सुन्दर शहर है। वहाँ के राजा का नाम

---

१. 'नद्या नवघटे जलं' (प्रमेयरत्नमाला)

अवनिपाल था। उसके यहाँ पाँच सौ अच्छे विद्वान ब्राह्मण थे, वे वेद-वेदांग के जानकार थे और राज्य कार्य में भी अवनिपाल को अच्छी सहायता देते थे किन्तु उनमें एक अवगुण था कि वे लोग बड़े घमण्डी थे और अपने से सबको हीन समझते थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल नियम से अपनी संवंदन आदि क्रियायें किया करते। उनमें विशेष बात यह थी कि जब वे राज्यसभा में जाते थे तो मार्ग में स्थित भगवान पार्श्वनाथ के मन्दिर में होकर जाया करते थे।

एक दिन एक चारित्रभूषण नाम के मुनिराज भगवान के सम्मुख देवागम स्तोत्र का पाठ कर रहे थे। उन सब ब्राह्मणों में प्रधान पात्रकेसरी ने वह स्तोत्र पाठ सुना, उन्हें वह बहुत ही भावपूर्ण और अच्छा लगा।

उन्होंने मुनि से कहा– "क्या आप इसका अर्थ भी जानते हैं?"

मुनिराज ने कहा– "नहीं, मैं तो केवल पढ़ता ही हूँ।"

पात्रकेसरी फिर बोले– "हे मुने! इस स्तोत्र को पुनः एक बार पढ़कर सुना दीजिये।"

मुनिराज ने पुनः देवागम स्तोत्र पढ़ा। पात्रकेसरी की धारण शक्ति बड़ी विलक्षण थी! उन्हें एक बार के सुनने से ही पूरा का पूरा स्तोत्र याद हो गया। वे घर गये और उसका अर्थ सोचने लगे। उस समय दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उन्हें यह निश्चय हो गया कि जिनेन्द्रदेव ने जो जीवादि पदार्थों का स्वरूप कहा है वही सत्य है, इनसे अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं है। वे पात्रकेसरी रात्रि में सोचने लगे–

"अहो! इस स्तोत्र में तत्व की, सर्वज्ञ की, मीमांसा करते हुये सच्चे तत्वों का और सच्चे देव का स्वरूप बताया है। प्रमाण और नयों का विवेचन भी बहुत ही सुन्दर है किन्तु अनुमान प्रमाण का लक्षण समझ में नहीं आ रहा है।"

ऐसा सोचते वे चिंता निमग्न हो गये। इसी बीच पद्मावती देवी का आसन कंपायमान हुआ, उन्होंने आकर पात्रकेसरी से कहा-

"आपको अनुमान के लक्षण में संदेह है, चिंता मत कीजिए। प्रातः भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति के फणा पर लिखा हुआ लक्षण मिल जाने से आपकी शंका का समाधान आपको मिल जायेगा।"

पद्मावती माता के दर्शन से पात्रकेसरी को बहुत ही संतुष्टि हुई। वो प्रातः ही प्रसन्नमना पार्श्वनाथ जिन भगवान के दर्शनार्थ पहुँचे। फणा पर श्लोक लिखा देखते हैं–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

अर्थ —जहाँ पर अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ हेतु के दूसरे तीन रूप मानने से क्या प्रयोजन है? तथा जहाँ पर अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ हेतु के तीन रूप मानने से भी क्या फल है?

साध्य के अभाव में हेतु के न मिलने को ही अन्यथानुपपन्न कहते हैं। इसलिए यह अन्यथानुपपत्ति हेतु का असाधारण लक्षण है। किन्तु बौद्ध इसको न मानकर हेतु के तीन रूप अवयव मानते हैं–पक्षे सत्व, सपक्षेसत्व और विपक्षाद् व्यावृत्ति। किन्तु जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं-कहीं पर इन तीनों अवयवों के न रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति के बल से हेतु समीचीन हेतु हो जाता है और कहीं-कहीं पर हेतु के तीन रूप रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति के न होने से हेतु सत् हेतु न होकर अहेतु हो जाता है। जैसे एक मुहूर्त के अनंतर रोहिणी का उदय होगा, क्योंकि अभी कृतिका का उदय है। यहाँ पर पक्षेसत्व न होकर भी अन्यथानुपपत्ति के बल से यह हेतु सच्चा हेतु है तथा "गर्भस्थ पुत्र काला होगा क्योंकि यह मैत्र सेठ का पुत्र है।" यहाँ पर त्रैरूप्य के रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति के न होने से यह हेतु हेत्वाभास है।

जब पात्रकेसरी विद्वान ने इस श्लोक को पढ़ा उनके आनन्द का पार नहीं रहा, जैसे सूर्योदय के होने पर सम्पूर्ण अन्धकार भाग जाता है उसी प्रकार से उनका संदेहरूपी अन्धकार भाग गया। इसके पश्चात् पात्रकेसरी विद्वान ने जिनेन्द्रदेव को ही अपना आराध्य देव बना लिया और दृढ़ सम्यग्दृष्टि बन गया। देखो! देवागम स्तोत्र के सुनने मात्र से उसका दर्शनमोह अन्धकार दूर हो गया और वह सच्चा तत्वान्वेषी बन गया। जिनेन्द्र देव के स्तोत्र, देवागम स्तोत्र, स्वयंभूस्तोत्र आदि जिनेन्द्र देव के प्रवचन के अंश को लिये हुये हैं। इन स्तोत्रों की या अन्य किसी भी जिनदेव द्वारा प्ररूपित और महामुनियों द्वारा कथित शास्त्र की प्रवचन यह संज्ञा है। उनकी भक्ति करना, विनय करना, पूजा करना, बड़े आदर से उन्हें अपने हृदय में धारण करना, उनका पढ़ना-पढ़ाना सब प्रवचन भक्ति के ही प्रकार हैं। यह देवागम स्तोत्र श्री समंतभद्र स्वामी द्वारा रचा गया है। इसमें आप्त की मीमांसा की गई है। इसी स्तोत्र पर श्री भट्टाकलंक देव ने अष्टशती भाष्य की रचना की और उस भाष्य को गुंथित करके श्री विद्यानंद आचार्य ने इसी स्तोत्र की 'अष्टसहस्त्री' नाम से विस्तृत टीका की है। जिसका नाम स्वयं ग्रन्थकार ने 'कष्टसहस्त्री' कहा है। यह जैनदर्शन का सर्वोपरि न्याय ग्रन्थ है। इसकी महिमा बहुत ही विशेष है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद हो चुका है। उसका स्वाध्याय आप सभी लोगों को अवश्य ही करना चाहिये। यह प्रवचन भक्ति भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराने वाली है।

आवश्यक अपरिहाणि भावना

षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनमावश्यकाऽपरिहाणिः।।१४।।

छह आवश्यक क्रियाओं को यथाकाल करना आवश्यक अपरिहाणि भावना है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक मुनियों के हैं। सभी जीवों में समताभाव रखते हुये विधिवत् त्रिकाल में सामायिक करना, चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना, किसी एक तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्य आदि तथा इनके प्रतिबिम्बों की वंदना करना, व्रतों में लगे हुये दोषों का निराकरण करना, आगे होने वाले दोषों को दूर करना या कुछ वस्तु आहार आदि का त्याग करना तथा परिमित काल तक शरीर से ममत्व छोड़कर कायोत्सर्ग करना, क्रम से यह छह आवश्यक क्रियाएं हैं। इन व्यवहार षट्क्रियाओं को जो नित्य ही समय-समय से करते हैं वे ही निश्चय आवश्यक क्रियाओं को प्राप्त करके अप्रमत्त आदि गुणस्थानों पर आरोहण करके केवली हो जाते हैं। जैसा कि कुंदकुंद स्वामी ने कहा है–

'सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण। अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा।।१५८।।

सभी पुराणपुरुष पूर्वोक्त कथित आवश्यकक्रियाओं को करके, अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हो गये हैं।

एक सूर्यमित्र ब्राह्मण किसी समय संध्यावंदन करके सूर्य को अर्घ्य चढ़ा रहा था। इसी बीच में उसकी अँगुली से अँगूठी गिर गई। यह अँगूठी राजा की थी और रत्नों से निर्मित थी। पुरोहित चिंतातुर हो एक दिगम्बर मुनि के पास जाकर पूछने लगे।[1] अवधिज्ञानी श्री सुधर्म मुनि ने कहा वह अँगूठी तालाब में एक कमल पत्र पर गिरी है सुबह मिल जायेगी। पुरोहित ने अँगूठी प्राप्तकर मन में यह सोचा कि यह विद्या सीखनी चाहिए। उसने सुधर्म मुनि से यह विद्या सिखाने की प्रार्थना की। मुनिराज ने कहा —तुम यदि मेरे समान दिगम्बर बनोगे तो यह विद्या आ जायेगी। वह मुनि बन गया और गुरु के कहे अनुसार समय से आवश्यक क्रियायें करने लगा। विनयपूर्वक विधिवत् यथाकाल षट् आवश्यकों को करते-करते सूर्यमित्र भावलिंगी सच्चे मुनि बन गये। तब गुरु ने पूछा कि गिरी वस्तु को प्राप्त करने की विद्या प्राप्त कर अब घर जाना है क्या? सूर्यमित्र बोले —भगवन्! मुझे अनादिकाल से खोई हुई मेरी आत्मनिधि को प्राप्त कराने वाली विद्या (सम्यग्ज्ञान) मिल गई है अतः अब अपने मुक्ति महल को ही जाना है, अन्यत्र नहीं। यह है आवश्यक का माहात्म्य।

श्रावकों के लिये भी 'देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान' ये छह

---

१. नियमसार।

आवश्यक बताये गये हैं। उन्हें यथा-समय यथा-शक्ति करना ही चाहिये। इनमें भी 'दाणं पूजा मुक्खो सावयधम्मो ण सावया तेण विणा।' इस वचन के अनुसार दान और पूजा को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझकर प्रतिदिन करना ही चाहिये। यही आवश्यक अपरिहाणि भावना है जो कि तीर्थंकर प्रकृति बन्ध के लिये कारण बन जाती है।

अयोध्या नगरी में कुबेर के समान वैभवशाली एक सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ रहता था। वह प्रतिदिन दश सुवर्ण दीनारों से जिनेन्द्र देव की पूजा करता था तथा अष्टमी को सोलह दीनारों से, अमावस को चालीस दीनारों से और चतुर्दशी को अस्सी दीनारों से विधिवत् अर्हंत देव की पूजा किया करता था। वह सेठ नित्य ही पात्रों को दान देता था, शील और उपवास का भी यथाशक्ति पालन किया करता। इन्हीं सब कारणों से लोग उसे 'धर्मशील' इस उपाधि से संबोधित किया करते थे।

किसी एक दिन सेठ ने जलमार्ग से अन्यत्र द्वीप में जाकर धन कमाने की इच्छा की और बारह वर्ष बाद वापस लौटने का निर्णय किया। इसलिये बारह वर्ष तक भगवान की पूजा करने के लिये जितना धन आवश्यक था उतना धन उसने अपने मित्र ब्राह्मण रुद्रदत्त के हाथ में सौंप दिया और कहा कि मित्र! मेरे सदृश ही तुम हमेशा जिनेंन्द्र देव की पूजा, दान आदि कार्य करते रहना।

सेठ के चले जाने पर रुद्रदत्त ब्राह्मण ने वह समस्त धन परस्त्रीसेवन तथा जुआ आदि व्यसनों में समाप्त कर दिया पुनः वह चोरी करने लगा। कोतवाल ने उसे चोरी करते हुए पकड़ कर कई बार डाँट कर छोड़ दिया, अन्त में उसने एक दिन मृत्यु दण्ड की धमकी दी, तब वह पापी रुद्रदत्त वहाँ से निकल कर उल्कामुखी पर रहने वाले भीलों के झुन्ड में जा मिला। उनके साथ रहते हुये एक बार चोरी के प्रसंग में कोतवाल के द्वारा मारा गया और पाप के फलस्वरूप नरक में चला गया। वहाँ से निकलकर महामच्छ हुआ फिर नरक गया, वहाँ से आकर दृष्टिविष नाम का सर्प हुआ, पुनः नरक गया, वहाँ से आकर शार्दूल हुआ फिर नरक गया, वहाँ से आकर गरुड़ हुआ फिर नरक गया, वहाँ से आकर सर्प हुआ फिर नरक गया और वहाँ से आकर भील हुआ। इस प्रकार समस्त नरकों के दुःखों को भोगकर पुनः त्रस-स्थावर योनियों में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा।

अनंतर कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में गौतम गोत्रीय कपिष्ठल नामक ब्राह्मण की अनुंधरी पत्नी से गौतम नाम का पुत्र हुआ। उत्पन्न होते ही उसका समस्त कुल नष्ट हो गया। उसे खाने के लिये अन्न तक नहीं मिलता था, पेट सूखकर अन्दर धँस गया था,

हड्डियाँ निकल आई थीं, नसों से लिपटा हुआ उसका शरीर बहुत ही विकट मालूम पड़ता था, उसके बाल जुओं से भरे हुये थे। वह जहाँ कहीं भी जाता था, वहीं लोग उसे फटकार लगाते थे। वह सदा अपने हाथ में खप्पर लिये भिक्षा की याचना किया करता था। हमेशा ही 'देओ, देओ' ऐसे शब्दों से गिड़गिड़ाया करता था। परन्तु वह इतना अभागा था कि भिक्षा से कभी भी उसका पेट नहीं भरता था। वह मुनियों के समान ही शीत, उष्ण, आतप, वायु आदि की बाधाओं को सहन करता था, सदैव मलिन रहता था और केवल जिह्वा इन्द्रिय के विषय की ही इच्छा रखता था चूँकि अन्य सब इन्द्रियों के विषय उसके छूट चुके थे।

'सातवें नरक के नारकियों का रूप ऐसा होता है' यहाँ के लोगों को यह बतलाने के लिये ही मानों विधाता ने उसकी सृष्टि की थी। वह अत्यन्त घृणित था, पापी था, यदि उसे कहीं पर कण्ठपर्यंत भोजन मिल भी जाता तो भी वह नेत्रों से अतृप्त जैसा ही मालूम होता था, वह जीर्ण-शीर्ण तथा छिद्र वाले अशुभ वस्त्र अपनी कमर पर लपेटे रहता था, उसके शरीर पर बहुत से घाव हो गये थे, उनसे महा दुर्गंध निकल रही थी, अतः उन पर बहुत सी मक्खियाँ भिनभिनाती रहती थीं, उन्हें वह हटाता रहता था किन्तु वे कभी नहीं हटती थीं अतः वह क्रोध से झुंझलाया करता था।

किसी एक समय श्री समुद्रसेन मुनिराज शहर में आहारार्थ भ्रमण कर रहे थे। उन्हें देखकर कौतुक से यह बालक उनके पीछे लग गया। वैश्रवण सेठ के यहाँ मुनिराज का आहार हुआ। आहार के बाद सेठ ने उस गौतम ब्राह्मण को भी कण्ठपर्यंत पूर्ण भोजन करा दिया। भोजन करने के बाद कालादि लब्धि के निमित्त से वह गौतम मुनिराज के आश्रम में जा पहुँचा और बोला कि प्रभो! आप मुझे भी अपने जैसा बना लीजिये। मुनिराज ने उसके वचन सुनकर पहले तो यह निश्चय किया कि वास्तव में यह भव्य है, फिर कुछ दिन अपने पास रखकर उसके हृदय की परख की। तदनंतर उन मुनिराज ने उसे शान्ति का साधनभूत संयम ग्रहण करा दिया। संयम को प्राप्तकर वह मुनि गुरु के आदेश से समय-समय पर सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग क्रियाओं को करते हुये विधिवत् मुनिचर्या का पालन करने लगा। एक वर्ष के व्यतीत होते ही उसे बुद्धि आदि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्रकट हो गईं। अब वह गौतम नाम के साथ-साथ ही गुरु के स्थान को प्राप्त हो गया अर्थात् उनके समान बन गया। आयु के अन्त में उसके गुरु मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल नाम के उपरितन विमान में अहमिन्द्र हुए और श्री गौतम मुनिराज भी आयु के अन्त में विधिपूर्वक आराधनाओं की

आराधना करते हुये समाधिमरण करके उसी मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल विमान में अहमिंद्र पद को प्राप्त हुये। उन ब्राह्मण के जीव अहमिंद्र ने वहाँ पर अट्ठाईस सागर की आयु पूर्ण की, वहाँ से च्युत होकर अन्धकवृष्टि नाम के राजा हुये हैं। ऐसा श्रीसुप्रतिष्ठ केवली ने अन्धकवृष्टि महाराज से उनके भवान्तर सुनाये थे।

जब अज्ञानी ब्राह्मण भी आवश्यक क्रियाओं की हानि न कर यथासमय उनका पालन करते हुये अहमिंद्र बन गया है तब विशेष मुनियों की क्या कथा है? यह चौदहवीं भावना भी तीर्थंकर प्रकृति आस्रव का कारण है।

मार्गप्रभावना भावना

ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनम्।।१५।।

परसमयरूपी जुगुनुओं के प्रकाश को पराभूत करने वाले ज्ञानरवि की प्रभा से, इंद्र के आसन को कंपा देने वाले महोपवास आदि सम्यक् तपों से तथा भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्यप्रभा समान जिनपूजा के द्वारा सद्धर्म का प्रकाश करना मार्गप्रभावना है।

समय-समय पर आचार्यों ने अपने ज्ञान के बल से परवादियों को जीतकर धर्मध्वज ऊँचा किया है। तपश्चरण के द्वारा अनेकों ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्तकर धर्मध्वजा फहराई है और अनेकों महर्षियों व श्रावकों ने पूजा विधि-विधान से लोक में धर्म प्रभावना की है।

मथुरा के राजा पूतिगंध की रानी बुद्धिदासी बौद्धधर्मी थी और उर्विला रानी जैनधर्मी थी। सदा की तरह अष्टान्हिक महापर्व में रानी उर्विला जैन रथ निकलवाने की तैयारी में लगी हुई थी कि इसी बीच बुद्धिदासी ने महाराजा से कहा कि पहले बुद्धदेव का रथ निकलेगा पीछे जैन का। रानी उर्विला चिंतित होकर चतुराहार त्याग कर वज्रकुमार महामुनि के निकट पहुँची और सर्व वृत्तांत कह दिया। उसी समय मुनीश्वर की वंदना हेतु दिवाकर देव आदि बहुत से विद्याधर आये हुये थे। वज्रकुमार मुनि ने कहा कि आप लोग समर्थ हैं, धर्म के संकट को दूर कर जैसे बने वैसे पहले जिनेन्द्र देव के रथ को निकलाइये। गुरु की आज्ञा पाकर वे विद्याधर अपने विमान में बैठकर मथुरा नगरी पहुँचे और बहुत ही उत्सव के साथ उर्विला की प्रतिज्ञानुसार पहले जैन रथ निकलवा दिया, उस समय जैनधर्म की खूब ही प्रभावना हुई। राजा ने भी जैनधर्म को स्वीकार कर लिया। अनेकों ने मिथ्यात्व का त्यागकर सम्यक्त्व को धारण कर लिया।

श्री कुंदकुंददेव ने भी जब संघ सहित गिरनार यात्रा की, तब श्वेतांबर साधु के साथ वंदना

करने के लिये विवाद उठ खड़ा हुआ। पुनः यह बात रही कि अंबिका यक्षिणी की मूर्ति जो कह दे सो ठीक है। श्री कुंदकुंद देव ने उस मूर्ति से यह कहलवा दिया कि 'सत्य पंथ निर्ग्रंथ दिगम्बर' तब दिगम्बर संघ ने पर्वत की पहिले वंदना की पुनः श्वेतांबर संघ ने वंदना की। अकलंक देव ने बौद्धों की तारादेवी के साथ छह महिने शास्त्रार्थ कर अन्त में स्याद्वाद की ध्वजा को ऊँचा किया था। आदि अनेकों उदाहरण हैं।

एक बार दशानन पुष्पक विमान पर बैठकर अपने मंत्रियों, नागरिकजनों, पुत्रों, माता-पिता तथा बन्धुजनों के साथ आकाश मार्ग से विचरण कर रहा था। तब पर्वत के शिखर से गुजरते हुये आश्चर्यचकित हो अपने दादा सुमाली से पूछता है–

'हे पूज्य! इस पर्वत के शिखर पर सरोवर तो हैं नहीं, पर वहाँ कमलों का वन कैसे लहलहा रहा है सो इस महा-आश्चर्य को आप देखें।'

तब सुमाली "नमः सिद्धेभ्यः" कहकर हाथ जोड़कर शिर से नमस्कार करके बोला–

"वत्स! ये कमल नहीं है, प्रत्युत जिन पर सफेद पताकायें फहरा रही हैं तथा जिनमें हजारों प्रकार के तोरण बने हुय हैं ऐसे-ऐसे ये जिनमंदिर पर्वत के शिखरों पर शोभित हो रहे हैं। ये सब मंदिर महापुरुष हरिषेण चक्रवर्ती के द्वारा बनवाये गये हैं। हे पुत्र! तू इन्हें नमस्कार कर और क्षण भर में अपने मन को पवित्र कर।"

इतना सुनते ही दशानन ने वहीं खड़े रहकर भक्तिभाव से जिनालयों को नमस्कार किया और पुनः पूछा —

'हे पूज्यवर! हरिषेण का ऐसा क्या माहात्म्य है कि जिससे आपने उसका ऐसा कथन किया है?"

सुमाली ने कहा —"हे दशानन्! सुनो, इन हरिषेण का चरित्र महापुण्य का कारण है। कांपिल्य नगर में सिंह ध्वज नाम का महाप्रतापी राजा राज्य करता था। उनकी वप्रा नाम की पट्टरानी थी जो कि पातिव्रत्य आदि गुणों से विभूषित सम्यग्दृष्टि थी तथा राजा की सैकड़ों रानियों में प्रधान थी। रानी वप्रा के तेज और गुणों का पुंज ऐसा हरिषेण नाम का एक पुत्र था। सिंहध्वज के महालक्ष्मी नाम की एक रानी थी जिनको भी पट्टरानी पद प्राप्त था। यह सौभाग्य के गर्व से उन्मत्त तथा मिथ्यादृष्टि थी।

एक दिन इस लक्ष्मीमती रानी ने वप्रा रानी के विरुद्ध कदम उठाया, कि "पहले मेरा ब्रह्म रथ नगर घूमेगा। उसके पीछे वप्रारानी के द्वारा बनवाया हुआ जैन रथ घूमेगा।"

यह सुनकर वप्रारानी को इतना दुःख हुआ मानो उसके हृदय पर वज्र का ही प्रहार हुआ

हो। दुःख से संतप्त हो उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि–

"यदि मेरा जैन रथ नगर में पूर्व की तरह पहले घूमेगा तो मैं अन्न ग्रहण करूँगी अन्यथा नहीं"

और वह शोक से विह्वल हो रोने लगी। माता को रोते देख आश्चर्यचकित हो हरिषेण ने पूछा–

"हे मातः! जिसका पहले कभी तुमने स्वप्न में भी सेवन नहीं किया था ऐसा अमांगलिक रुदन क्यों प्रारम्भ किया है? मुझे अपने दुःख का कारण शीघ्र ही कहो।"

माता ने कहा —"पुत्र! महारानी लक्ष्मीमती की बात मानकर तेरे पिता ने पहले ब्रह्मरथ नगर में निकले तथा उसके पीछे मेरा जैन रथ निकले ऐसा स्वीकार कर लिया है। सो यह पवित्र, परमपावन, परमोत्कृष्ट जैनधर्म का अपमान मेरे द्वारा सर्वथा असह्य है अतः ऐसे धर्म संकट में मैंने चतुराहार का त्याग कर दिया है।"

माता की बात सुनकर हरिषेण काँप उठा, किन्तु "पिता के सामने मैं क्या बोल सकता हूँ? मेरे लिये तो माता और पिता दोनों ही पूज्य हैं।"

ऐसा सोचकर वह माता के रुदन को देखने में असमर्थ हो उसी क्षण घर से बाहर हो देश के ही बाहर चला गया। निर्जन वन में पहुँचकर विक्षिप्त मनः होता हुआ वन के फल खाकर तथा झरने का जल पीकर आगे बढ़ता ही गया। वह यही सोचता जा रहा था कि–

"मैं माता के संकट का कैसे निवारण करूँ? कहाँ जाऊँ? क्या करूँ?"

घूमते-घूमते ऋषियों ने उसका सम्मान किया और ठहरने की व्यवस्था कर दी।

इधर घटना ऐसी थी कि एक कालकल्प नाम का राजा चंपानगरी को चारों तरफ से घेरकर आक्रमण कर रहा था। चंपानगरी के राजा जनमेजय उसके साथ युद्ध कर रहे थे। इसी बीच माता नागवती अपनी पुत्री को लेकर सुरंग के मार्ग से यहाँ शतमन्यु ऋषि के आश्रम में पहले से ही आकर रह रही थीं। पुत्री मदनावली ने जैसे ही हरिषेण को देखा वह विक्षिप्त हो गई। माता उसकी चेष्टाओं से उसे हरिषेण के प्रति आसक्त जानकर बोली–

"पुत्री! सावधान रह, तू महामुनि के वचन स्मरण कर। महामुनि ने कहा था कि तू चक्रवर्ती का स्त्रीरत्न होगी।"

तापसियों को मालूम हुआ कि यह मदनावली पुत्री हरिषेण की तरफ अनुरक्त हो रही है, तो उन्होंने हरिषेण को अपने आश्रम से निकाल दिया। अब हरिषेण को और दो प्रकार के दुःखों ने आ दबोचा। इधर वह माता के दुःख से तो दुःखी था ही उधर मदनावली कन्या के दुःख से दुःखी हुआ तथा तापसियों द्वारा निकाले जाने का उसे बहुत ही भयंकर दुःख हुआ। वह

इधर-उधर भटकता हुआ सिंधुनद नामक नगर में आ गया।

नगर के बाहर उद्यान में बहुत सी स्त्रियाँ वन क्रीड़ा के लिये आई हुई थीं। उसी समय एक मदोन्मत्त हाथी उपद्रव करता हुआ इधर आ गया। स्त्रियाँ घबरा कर हरिषेण के पीछे आ गईं। उस क्षण हरिषेण ने मदोन्मत्त हाथी को अपनी भुजाओं से ही वश में कर लिया और उस पर आरूढ़ हो गया। यह देख वहाँ के राजा सिंधु ने कुमार का बहुत ही सम्मान किया और अपनी सौ पुत्रियों का विवाह कुमार हरिषेण के साथ कर दिया। सर्वत्र शहर में हरिषेण के रूप, गुण और पराक्रम की चर्चा फैल गई।

हरिषेण को उस मदनावली कन्या के बिना सारी सुन्दर-सुन्दर कन्याओं से भी मन में संतोष नहीं था। इस बीच एक वेगवती नाम की विद्याधरी सोते हुये हरिषेण को उठाकर आकाशमार्ग से विजयार्ध पर्वत पर ले गई। वहाँ सूर्योदय नामक नगर के राजा शक्रधन की पुत्री जयचन्द्रा से इनका विवाह हो गया।

तब जयचन्द्रा के मामा के पुत्र गंगाधर और महीधर अत्यन्त कुपित हुये, इसलिये कि —

"इस कन्या ने हम विद्याधरों को छोड़कर इस भूमिगोचरी को क्यों वरा है?"

तब हरिषेण ने उनके साथ युद्ध करके उन्हें पराजित कर दिया। उसी समय उसके पुण्योदय से चक्ररत्न प्रगट हो गया, जिससे हरिषेण महान् अभ्युदयशाली दसवाँ चक्रवर्ती प्रसिद्ध हुआ।

चक्ररत्न से चिन्हित चक्रवर्ती हरिषेण बारह योजन लम्बी-चौड़ी सेना चलाता हुआ और शत्रुओं को नम्रीभूत करता हुआ शतमन्यु तपस्वी के आश्रम की तरफ आ गया। जब तापसियों को पता चला कि जिसे हमने आश्रम से निकाल दिया था वह बालक चक्रवर्ती होकर आ रहा है, तो वे सब बहुत ही भयभीत हुये, शीघ्र ही हाथों में फल लेकर हरिषेण को अर्घ दिया और आशीर्वादात्मक वचनों से उनका बहुत ही सम्मान किया। "शतमन्यु के पुत्र जनमेजय और माता नागवती ने सन्तुष्ट होकर मदनावली को चक्रवर्ती को समर्पित कर दिया।"

तदनंतर हरिषेण अपनी चक्रवर्ती की संपदा से युक्त हो कांपिल्य नगर आया। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उसके साथ थे। उसने आकर हाथ जोड़कर बड़ी विनय से माता के चरणों में नमस्कार किया। उस समय अपने पुत्र को पाकर माता वप्रा के हर्ष का समुद्र उद्वेलित हो गया। उसने पुत्र को हृदय से लगाकर उसके मस्तक पर हाथ फेरते हुए बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया।

इसके बाद चक्रवर्ती ने सूर्य के समान बड़े-बड़े रथों में जिनेन्द्र देव की प्रतिमा विराजमान करके कांपिल्य नगर में उन रथों को घुमाया और अपनी माता के मनोरथ को पूर्ण किया। उस

शहर में ही नहीं, सारे देश में जैनधर्म की इतनी विशेष प्रभावना हुई कि जिसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता है। इस धर्म प्रभावना से मुनियों और श्रावकों को अतिहर्ष हुआ तथा अन्य जैनेत्तर बहुत से लोगों ने जैनधर्म ग्रहण कर लिया।

इसके पश्चात् चक्रवर्ती ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पृथ्वी पर, पर्वतों पर, नदियों के समागम स्थान पर, नगर-नगर में तथा गाँव-गाँव में नाना रंग के ऊँचे-ऊँचे अगणित जिन मंदिर बनवाये और उनमें रत्नों की जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठित करवाईं। उदारमना हरिषेण ने चिरकाल तक चक्रवर्ती का साम्राज्य भोग कर पुनः जैनेश्वरी दीक्षा लेकर तपश्चरण किया और उसके फलस्वरूप तीन लोक के शिखर को प्राप्त कर लिया है।

सुमाली कहते हैं —"हे दशानन्! पर्वत की चोटियों पर बने हुये ये रंग-बिरंगे जिनेन्द्रभवन उन्हीं चक्रवर्ती के बनवाये हुए हैं, जो कि तुम्हें कमल के समान दिख रहे हैं।" दशानन् ने हरिषेण का चरित्र सुनकर बहुत ही आश्चर्य व्यक्त किया और हर्ष से विभोर हो उन जिनमंदिरों की पुनः पुनः वंदना करके आगे बढ़ गया।

इस प्रकार ये जिनमंदिर निर्माण, जिनपूजा अनुष्ठान, तपश्चरण और विद्या के अतिशय आदि सब मार्ग मोक्षमार्ग की, जैनधर्म की प्रभावना करने वाले हैं। इनसे अपनी ही नहीं, देखने, सुनने वालों की, सभी की आत्मा पवित्र होती है तथा विश्व में सुख, शांति, यश और लक्ष्मी की वृद्धि होती है।

यह मार्गप्रभावना भावना भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कराने वाली है।

प्रवचनवत्सलत्व भावना

वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्।।१६।।

जैसे गाय अपने बछड़े में अकृत्रिम स्नेह करती है वैसे ही धर्मात्माओं को देखकर उनके प्रति स्नेह से आर्द्रचित्त का हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है। जो सहधर्मियों में स्नेह है वही प्रवचन स्नेह है।

यहाँ प्रवचन शब्द में चतुर्विध संघ आ जाता है —मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। विष्णुकुमार मुनि का धर्मवात्सल्य प्रसिद्ध ही है। वह आज तक रक्षाबन्धन पर्व से उनकी स्मृति ताजी करता रहता है।

श्री रामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण के साथ वंशस्थद्युति नगर में पहुँचे। देखते हैं प्रजा के लोग नगर से निकल-निकलकर कहीं जा रहे हैं, पूछने पर मालूम हुआ कि सामने के इस वंशधर पर्वत पर तीन दिन से रात्रि में इतना भयंकर शब्द होता है कि लोगों के कान के पर्दे

फट जाते हैं। अतः हम लोग सहन करने में असमर्थ हो सायं को यहाँ से अन्यत्र भाग जाते हैं पुनः प्रातः वापस आ जाते हैं। ऐसा सुनकर श्री रामचन्द्र ने यह निर्णय किया कि रात्रि में वहाँ रहकर अपने को देखना है कि क्या बात है? और यहाँ की त्रस्त प्रजा को निर्भय करना है। सीता ने कहा स्वामिन्! जहाँ ये लोग जा रहे हैं अपन भी चलें, प्रातः आ जायेंगे। रामचन्द्र ने हँसकर कहा 'तुम्हें यदि भय लग रहा है तो तुम इन लोगों के साथ चली जावो, प्रातः हमें ढूँढते हुये यहीं आकर मिल लेना।' पुनः सीता के साथ वे दोनों उस पर्वत पर चढ़ गये। देखते हैं कि वहाँ पर दो मुनिराज उत्तम ध्यान में आरूढ़ हैं। उनके ऊपर अनेकों साँप-बिच्छुओं का उपसर्ग हो रहा है। निर्भय होकर श्रीराम ने उन जन्तुओं को दूर किया। अतीव भक्ति में गद्गद होकर उनकी स्तुति करने लगे–

'भक्ति से भरी सीता ने निर्झर के जल से देर तक उन मुनियों के चरण धोकर मनोहर गन्ध से लिप्त किये। अनन्तर लक्ष्मण के द्वारा तोड़कर दिये गये निकटवर्ती लताओं के सुगन्धित पुष्पों से उनके चरणों की खूब पूजा की।' अनंतर इन लोगों ने वीणा बजाकर नृत्य करते हुये खूब गुरु भक्ति की। जब रात्रि सघन हुई तब भयंकर विकराल शब्द होना शुरू हो गया, भूतों के झुंड के झुंड वहाँ नाचने लगे और मुनियों पर घोर उपसर्ग प्रारम्भ हो गया तब श्रीराम ने सीता को दोनों मुनियों के निकट बैठाया और लक्ष्मण सहित उन राक्षसों के साथ युद्ध करने को तैयार हो गये। इन दोनों के वज्रसदृश बाणों से और उनकी भयंकर टंकार से अग्निप्रभदेव घबरा गया 'ये बलभद्र और नारायण हैं' ऐसा समझकर वह वहाँ से भाग गया तब तत्क्षण विक्रियाकृत सारी भयंकर चेष्टायें समाप्त हो गयीं। उसी समय उपसर्ग दूर होते ही उन युगल मुनियों को केवलज्ञान प्रगट हो गया। हर्ष से भरे चतुर्निकाय देवगण वहाँ आ पहुँचे, गंधकुटी की रचना बन गई। कहने का मतलब यही है कि श्री रामचन्द्र का धर्मात्मा के प्रति वत्सल भाव क्या था? उसका यह एक उदाहरण है और भी उन्होंने वज्रदन्त राजा की सिंहोदर राजा से रक्षा की थी, आदि अनेकों उदाहरण प्रसिद्ध हैं।

मिथिलानगरी के बाहर उद्यान में श्रीश्रुतसागर मुनि रात्रि के समय ध्यान में स्थित हैं। अर्ध रात्रि के अनन्तर वे ध्यान को विसर्जित कर आकाश की ओर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं "श्रवण नक्षत्र कंपायमान हो रहा है" नक्षत्र कंपते हुये देखकर अपने निमित्तज्ञान से विचारते हैं और सहसा बोल पड़ते हैं —हाय-हाय?

पास में ही पुष्पदन्त नाम के क्षुल्लक जी बैठे हुये थे वे गुरु के मुख से सहसा हाय-हाय शब्द सुनकर घबरा कर पूछते हैं —"भगवन्! क्या हुआ, क्या हुआ?"

श्रुतसागर सूरि कहते हैं — "मुनियों पर बहुत बड़ा उपसर्ग हो रहा है।"

क्षुल्लक जी पूछते हैं — "प्रभु! यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है?"

सूरि कहते हैं —"हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों का संघ ठहरा हुआ है। उस संघ के नायक श्री अकंपनाचार्य महामुनि हैं। उस सा: संघ पर पापी बलि के द्वारा यह उपसर्ग किया जा रहा है।"

क्षुल्लक जी पूछते हैं —"प्रभु! ऐसा क्या उपाय है कि जिससे यह उपसर्ग दूर हो?"

सूरि कहते हैं —"हाँ एक उपाय है। विष्णु कुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई है। वे अपनी ऋद्धि के बल से इस उपसर्ग का निवारण कर सकते हैं।"

क्षुल्लक जी पुनः पूछते हैं —"भगवन्! वे मुनि इस समय कहाँ पर विराजमान हैं?"

सूरि कहते हैं —"वे उज्जयिनी नगरी के बाहर एक गुफा में स्थित हैं।"

तब पुनः क्षुल्लक जी विनय से प्रार्थना करते हैं —"प्रभो! मुझे जाने की आज्ञा दीजिये।"

गुरु की आज्ञा पाकर पुष्पदन्त क्षुल्लक जी तत्क्षण ही अपनी आकाशगामी विद्या के बल से मुनि विष्णुकुमार के चरण सान्निध्य में पहुँचकर नमोस्तु करते हैं और श्रीश्रुतसागर सूरि कथित सारा समाचार सुना देते हैं। तब विष्णु कुमार मुनि आश्चर्य से सोचते हैं–

"अहो! क्या मुझे विक्रिया ऋद्धि हो चुकी है?"

इतना सोचकर तत्क्षण ही परीक्षा के लिये अपना हाथ पसारते हैं तो हाथ गुफा के बाहर निकलकर अनेक पर्वत आदि को भेदन करता हुआ बहुत दूर तक चला जाता है। विष्णु कुमार मुनि उसी क्षण विक्रिया ऋद्धि के बल से आकाश मार्ग से वहाँ चलकर शीघ्र ही हस्तिनापुर आ जाते हैं और अपने बड़े भाई राजा पद्म के महल में पहुँच जाते हैं। मुनि विष्णु कुमार को आते हुये देखकर सहसा राजा पद्म उठकर सामने बढ़कर साष्टांग नमस्कार करते हैं पुनः उच्चासन पर विराजमान करते हैं। विष्णु कुमार मुनि कहते हैं–

'हे भाई! तुम किस नींद में सो रहे हो; तुम्हें पता है क्या, कि शहर में कितना भारी अनर्थ हो रहा है? अरे! अपने राज्य में तुमने ऐसा अनर्थ क्यों होने दिया? क्या पहले अपने कुल में किसी ने आज तक ऐसा मुनिघातक घोर पाप किया है? हाय-हाय! धर्म के अवतार परम शान्त ऐसे इन मुनियों पर ऐसा अत्याचार! और वह तुम सरीखे धर्मात्माओं के राज्य में! बड़े खेद की बात है भाई! राजाओं का धर्म तो यही है कि सज्जनों, धर्मात्माओं की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड देना। पर तुमने इससे बिल्कुल उल्टा कर रखा है। समझते हो साधुओं को सताना ठीक नहीं, देखो! जल का स्वभाव ठंडा है फिर भी वह जब अति गरम हो जाता है तब शरीर को

जला देता है। इसलिये जब तक तुम पर कोई आपत्ति न आ जावे उसके पहले ही इस उपसर्ग को शांत करवा दीजिये।"

अपने पूज्य भ्राता श्रीविष्णु कुमार मुनि का उपदेश सुनकर, राजा पद्म हाथ जोड़कर कहते हैं–भगवन्! मैं क्या करूँ? मुझे क्या मालूम था कि ये पापी लोग मिलकर मुझे ऐसा धोखा देंगे। अब तो मैं बिल्कुल विवश हूँ। मैं कुछ भी नहीं कर सकता क्योंकि मैं वचनबद्ध हो चुका हूँ और सात दिन तक के लिये अपना राज्य दे चुका हूँ।

हे महामुने! अब तो आप ही इस कार्य में समर्थ हैं। आप ही किसी उपाय द्वारा मुनियों का उपसर्ग दूर कीजिये। इसमें आपके लिये मेरा कुछ कहना तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान है, अब आप शीघ्र ही कुछ उपाय कीजिये।

इतना सुनकर विष्णुकुमार मुनि विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामन का अवतार ऐसा ब्राह्मण का वेष बनाते हैं। कन्धे पर जनेऊ लटकाकर, बगल में वेद शास्त्रों को दबाकर बड़ी मधुरता से वेद की ऋचाओं का उच्चारण करते हुए वहाँ यज्ञमण्डप में पहुँच जाते हैं। यज्ञ के सभामण्डप में वामन ब्राह्मण को आते हुए देख बलि आदि मंत्री आगे बढ़कर उनका सम्मान करते हुए बहुत ही प्रसन्न हो जाते हैं।

बलि राजा मंत्री तो उन पर इतना प्रसन्न हो जाता है कि वह आनन्द विभोर हो जाता है पुनः गद्गद् वाणी में कहता है–

"महाराज! आपने यहाँ पधारकर मेरे यज्ञ की अपूर्व शोभा कर दी है, मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। अतः आपकी जो इच्छा हो सो माँगिए। इस समय मैं सब कुछ देने में समर्थ हूँ।"

वामन विष्णु कहते हैं–

मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ। मुझे अपनी स्थिति में ही सन्तोष है। मुझे धन-दौलत की कुछ आवश्यकता नहीं है। पर आपका जब इतना आग्रह है तो मैं आपको इतना असंतुष्ट करना भी नहीं चाहता। मुझे केवल तीन पग पृथ्वी की आवश्यकता है। यदि आप इतनी भूमि मुझे दे देंगे तो मैं उसी में अपनी झोपड़ी बनाकर रह जाऊँगा और निराकुलता से वेदाध्ययन आदि करता रहूँगा। बस इसके सिवाय मुझे और कुछ नहीं चाहिये।"

उस वामन की यह तुच्छ याचना सुनकर पास खड़े अन्य लोग आश्चर्य करने लगते हैं। कुछ लोग हँस पड़ते हैं और कुछ लोग खेद व्यक्त करते हैं पुनः कुछ ब्राह्मण कहते हैं–

कृपानाथ! आपको थोड़े में सन्तोष था सो ठीक, फिर भी आपका तो यह कर्त्तव्य था कि आप बहुत कुछ माँगकर अपने जातीय भाइयों का उपकार कर देते। भला इसमें क्या बिगड़ जाता?

बलि महाराज भी उन्हें खूब समझाते हैं और पुनः-पुनः कहते हैं–

हे वामनावतार! हे भूदेव! आप और अधिक माँगिए। अहो! मेरे कोश में इस समय अतुल रत्नराशि भरी हुई है, कम से कम हमारे वैभव के अनुरूप तो आपको माँगना ही चाहिये। किन्तु वामन महाराज पूर्णरूप से अन्य कुछ माँगने की अपनी अनिच्छा ही रखते हैं और कहते हैं —

"राजन्! यदि देना हो तो दो अन्यथा मैं अन्यत्र चला जाऊँगा। क्योंकि मुझे तो मात्र तीन पग धरती ही चाहिये।"

तब बलि कहता है —"हे पूज्य! आप मुझे बहुत शर्मिन्दा कर रहे हैं। आपकी इस तुच्छ याचना से मुझे बहुत ही असन्तोष है। फिर भी आप यदि आगे कुछ नहीं माँगना चाहते तो ठीक है जैसी आपकी इच्छा। अच्छा तो आप स्वयं अपने ही पैरों से पृथ्वी नाप लीजिये।"

इतना कहकर बलि महाराज जल की भरी स्वर्ण झारी उठाकर दान का संकल्प करते हुए वामन विष्णु के हाथ पर जलधारा डाल देते हैं और संकल्प होते ही वामन वेषधारी विष्णुकुमार पृथ्वी को मापने के लिये अपना पहला पाँव उठाकर सुमेरु पर्वत पर रखते हैं और दूसरा पैर उठाकर मानुषोत्तर पर्वत पर रखते हैं पुनः तीसरा पैर उठाते हैं और उन्हें आगे बढ़ने को कहीं जगह ही नहीं दिखती है उसे वे कहाँ रखें– तब वह तीसरा पाँव आकाश में उठा ही रह जाता है।

उनके इस प्रभाव से सारी पृथ्वी काँप उठती है, सभी पर्वत चलायमान हो जाते हैं, सभी समुद्र मर्यादा तोड़ देते हैं और उनका जल उद्वेलित होकर बाहर बहने लगता है। देवों के विमान एक से एक टकराने लगते हैं और देवगण सहसा आश्चर्य से चकित हो जाते हैं। पुनः तत्क्षण ही देवगण अपने अवधिज्ञान से सारा समाचार ज्ञात कर वहाँ आकर दैत्यकर्मा बलिराज को बाँधकर मुनि विष्णु कुमार से कहते हैं–

प्रभो! क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये!!.....

चारों तरफ से आकाश में उपस्थित देवगण एक साथ शब्दों का उच्चारण करते हुए आकाश को मुखरित कर रहे हैं —

जय हो, जय हो, जय हो! ! महामुनि अकम्पनाचार्य की जय हो, सर्व दिगम्बर मुनियों की जय हो, जैन-धर्म की जय हो, महासाधु विष्णु कुमार की जय हो ! हे धर्मवत्सल! हे धर्मवत्सल! हे दया सिन्धु! हे धर्म के अवतार! क्षमा करो, क्षमा करो, क्षमा करो ! दया करो, दया करो, दया करो! हे नाथ! हम सबकी रक्षा करो, अब आप अपनी विक्रिया समेटो, हे देव! अब आप अपना पैर संकुचित करो।"

यह सब दृश्य देखकर अतीव भयभीत हुआ और कांपता हुआ बलि मुनिराज के चरणों में गिर पड़ता है और गिड़गिड़ाता हुआ कहता है–

"हे कृपानाथ! मुझे क्षमा कर दीजिये, मैं महापापी हूँ, मैं महापापी हूँ, फिर भी अब आपकी शरणागत हूँ, अब आप मेरी रक्षा कीजिये, मेरे ऊपर दया कीजिये, क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये।

इसी मध्य बलि के साथी बृहस्पति, प्रहलाद और नमुचि ये तीनों मंत्री आकर भी मुनि के चरणों में साष्टांग पड़कर क्षमायाचना करते हैं और पश्चाताप करते हुए अश्रु गिराने लगते हैं। वामन वेषधारी विष्णु कुमार तत्क्षण ही अपनी विक्रिया समेट लेते हैं और मुनि अवस्था में वहाँ खड़े हो जाते हैं। उसी समय देवगण आकर सभी मुनियों के ऊपर हो रहे सारे उपसर्ग को दूर कर देते हैं। यज्ञमण्डप और अग्नि को हटा देते हैं। जो बेचारे निरपराध पशु हवन की आहुति के लिये वहाँ बाँधे गये थे उन्हें छोड़ देते हैं और सभी को अभयदान की घोषणा कर देते हैं।

उसी क्षण राजा पद्म अपने महल से निकलकर वहाँ आ जाते हैं और विष्णु कुमार मुनि के चरणों से लिपट जाते हैं। सात सौ मुनियों के ऊपर हो रहे इस भयंकर अग्निकांड उपद्रव को दूर हुआ देख हर्षाश्रु से मुनि विष्णु कुमार जी के चरणों का मानों प्रक्षालन ही कर रहे हों। सर्वत्र प्रजा में शान्ति की लहर दौड़ जाती है। एक साथ सारी प्रजा वहाँ दौड़ आती है और गुरुओं की वन्दना और वैयावृत्ति में लग जाती है।

उसी क्षण राजा और चारों मंत्री बड़ी भक्ति से संघ के नायक अकम्पनाचार्य की वन्दना करने को वहाँ पहुँच जाते हैं और उनके चरणों में साष्टांग पड़कर नमस्कार करते हुए कहते हैं–

"हे भगवन्! हे कृपासिन्धु! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु!"

पुनः बलि आदि मंत्री नेत्रों से अश्रु झराते हुए लड़खड़ाती हुई वाणी में कहते हैं–

"हे भक्तजन वत्सल! हे करुणा के सागर! हे परम क्षमाशील! हे गुरुदेव! हम पापियों के इस महान् अपराध को क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये।'

पुनः वे चारों मंत्री गुरुदेव से निवेदन करते हैं–"हे नाथ! अब हमें आप विश्वहितकारी, परमोपकारी, अहिंसामयी इस जैनधर्म को ग्रहण कराइये।"

इतनी प्रार्थना को सुनकर करुणा सागर श्री अकम्पनाचार्य गुरुवर्य उन पर दया करके उन्हें सान्त्वना देते हैं पुनः मिथ्यात्व का त्याग कराकर उन चारों को सम्यक्त्व तथा अणुव्रत देकर उन्हें दुर्जन से सज्जन बना देते हैं।

सभी देवगण प्रसन्न होकर बहुत ही भक्तिभाव से, अष्ट द्रव्य आदि उत्तम सामग्री लेकर

श्री विष्णु कुमार मुनि के चरणों की पूजा करते हैं। वे देवगण देवमयी तीन वीणायें लाकर उन्हें बजाकर खूब भक्ति पूजा करते हैं पुनः उन तीनों वीणाओं को यहीं मध्यलोक में दे जाते हैं। जिनके द्वारा भक्त लोग सदा ही उन गुरुओं का गुणानुवाद गाकर पुण्य सम्पादन करते रहें।

देवों के द्वारा पूजा विधि सम्पन्न हो जाने के बाद राजा पद्म और हस्तिनापुर शहर के समस्त भक्तगण भक्ति में विभोर होकर नाना प्रकार से श्री विष्णुकुमार के चरणों की, आचार्य अकम्पन गुरु व सात सौ मुनियों की पूजा भक्ति करके, जय-जयकार के नारे से आकाश को गुंजायमान कर देते हैं। पुनः सभी श्रावक-श्राविकाएँ विचार करते हैं —

अहो! इन उपसर्ग विजयी इन मुनियों को अग्नि की आँच व धुएँ से बहुत क्लेश हुआ है। इनके कंठ रुंध गये हैं और शरीर में भी वेदना हो रही है। अब इन्हें ऐसा आहार देना चाहिये कि जिससे जले हुए पीड़ायुक्त कंठ से सहज में ग्रहण कर सकें।"

तभी सब श्रावक सेमई की खीर ही उपयुक्त आहार समझकर घर-घर में वैसा मृदु आहार तैयार कर-करके आहार की बेला में अपने घर के दरवाजे पर मुनियों के पड़गाहन की प्रतीक्षा में खड़े हो जाते हैं। सभी मुनि अपनी-अपनी नियम सल्लेखना को विसर्जित कर आचार्यश्री की आज्ञा से आचार्यश्री के साथ शरीर को संयम का साधन मानकर उसकी रक्षा हेतु चर्या के लिये निकलते हैं। श्रावक आनन्द विभोर हो पड़गाहन करना शुरू कर देते हैं-

"हे भगवन्! नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु, अत्र तिष्ठ तिष्ठ-हे गुरु देव! आपको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। यहाँ ठहरो, अन्न-जल शुद्ध है।"

जिन-जिन श्रावकों को एक-दो आदि मुनियों का लाभ मिल जाता है वे अपने को धन्य मान लेते हैं और विधिवत् नवधा भक्ति करके उन्हें मृदु और सरस सेमई की खीर का आहार देकर अतिशय पुण्य संपादन कर लेते हैं। जिन श्रावकों को कोई उत्तम मुनि पात्र नहीं मिल पाता है, वे उस दिन पात्रदान की उत्कृष्ट भावना से अन्य व्रती श्रावकों को भोजन कराकर आहार दान की भावना भाते हुए अपने जीवन को सफल करते हैं।

जिस दिन इन सात सौ मुनियों की रक्षा हुई थी, वह दिन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा का था। तभी से आज तक सभी श्रावकगण इस दिन को रक्षा बन्धन के नाम से मनाते चले आ रहे हैं। इतना ही नहीं समस्त भारतवर्ष में सभी सम्प्रदाय के जैनेत्तर लोग भी किसी न किसी रूप में इस पर्व को मनाते हैं। यह पर्व सामाजिक पर्व के रूप में मनाया जाता है। आज के दिन श्रावकगण तो मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं के चरण सान्निध्य में पहुँचकर उनके मुख से मुनि श्रीविष्णुकुमार की कथा सुनकर पुनः मुनि आदि पात्रों को खीर का आहार दान देते

हैं। जहाँ कहीं मुनि, आर्यिका के चातुर्मास नहीं हैं वहाँ के श्रावक अन्यत्र कहीं गुरुओं के निकट पहुँचकर आहार दान का लाभ लेते हैं और मुनियों को आहार दान देते समय पूर्व मुनियों की स्मृति कर वर्तमान मुनियों में उनकी स्थापना निक्षेप कर उन्हें आहार देकर अपने को पुण्यशाली समझ लेते हैं तथा तदनुरूप विशेषपुण्य का संचय भी कर लेते हैं।

यह पर्व वात्सल्य की पवित्रता का द्योतक होने से प्रायः सर्वत्र समाज में बहन-भाई के पवित्र स्नेह के रूप में भी मनाया जाता है। बहन भाई को मिष्ठान आदि का भोजन करा के उनके हाथ में रक्षा बन्धन का सूत्र बाँधती हैं। उस रक्षा सूत्र को राखी भी कहते हैं। इस प्रकार धर्मात्माओं के प्रति परम धर्म के अवतार श्री विष्णु कुमार ने वात्सल्य भाव को करके जो धर्मात्माओं की रक्षा की है, उसी की स्मृति में इस पर्व को मनाने की पूर्ण सार्थकता है क्योंकि न 'धर्मो धार्मिकैर्बिना' अर्थात् धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता है।

अनन्तर विष्णु कुमार मुनि अपने गुरु के पास जाकर विक्रिया से जो वामन वेष बनाया था उसका प्रायश्चित ग्रहण कर घोराघोर तपश्चरण कर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। वे महामुनि विष्णुकुमार तथा अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि हम सबकी रक्षा करें।

विशेष—

सुमेरु पर्वत जम्बूद्वीप के बीचों-बीच में हैं। मानुषोत्तर पर्वत पुष्कर द्वीप के मध्य है, यह चूड़ी के आकार का है। इस मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्यलोक की सीमा है। इसके आगे चारणऋद्धिधारी या विक्रियाऋद्धिधारी मुनि तथा विद्याधर मनुष्य नहीं जा सकते हैं। इसीलिए श्रीविष्णुकुमार मुनि ने विक्रिया से दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखकर सारा मनुष्यलोक नाप लिया था।

इसी प्रकार से जो भी साधु या श्रावक धर्मात्माओं को देखकर स्नेहभाव से ओत-प्रोत हो जाते हैं। वे ही समय आने पर इस प्रवचनवत्सल भावना को पाल सकते हैं। यह भावना भी तीर्थंकरप्रकृतिबंध के लिए एक अद्वितीय कारण है।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध करने वाले कर्मभूमिज मनुष्य ही होते हैं। यदि वे सम्यक्त्व के पूर्व तिर्यंचायु या मनुष्यायु का बंध कर चुके हैं तो इसका बंध नहीं कर सकते। कदाचित् नरकायु के बंध जाने पर भी इसका बंध कर सकते हैं। जैसे कि राजा श्रेणिक ने बंध किया है। केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही यह प्रकृति बंधती है। यथा-'प्रथमोपशम सम्यक्त्व में या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में स्थित हुये जीव असंयत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, महाव्रती अथवा अप्रमत्तमुनि हों, कर्मभूमिज मनुष्य केवली या श्रुतकेवली

के पादमूल में ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ करते हैं।" इस तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में ही होता है। तब वे अपनी दिव्यदेशना से असंख्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।

नोट —इन सोलह कारण भावनाओं के नाम तत्त्वार्थसूत्र के आधार से हैं। षट्खंडागम ग्रन्थ में इन भावनाओं के नाम में कुछ अन्तर है।

सोलहकारण भावनायें

(षट्खंडागमसूत्र के आधार से)

"दर्शनविशुद्धता, विनयसंपन्नता, शीलव्रतों में निरतिचारता, छह आवश्यकों में अपरिहीनता, क्षण लव प्रतिबोधनता, लब्धि संवेग संपन्नता, यथाशक्ति तप, साधुओं के लिए प्रासुक परित्यागता, साधुओं की समाधि संधारण, साधुओं की वैयावृत्य योगयुक्तता, अरहंत भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचन प्रभावनता और अभीक्ष्णज्ञानोपयोग युक्तता इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म को बांधते हैं।" तीर्थंकर प्रकृति का चूँकि उच्च गोत्र के साथ अविनाभाव पाया जाता है, इसीलिए उसे यहाँ 'गोत्र' नाम से कहा गया है।

(१) दर्शन से यहाँ अभिप्राय सम्यग्दर्शन का है। तीन मूढ़ता, आठ शंकादि दोष, छह अनायतन और आठ मद इन पच्चीस दोषों से रहित निर्मल सम्यग्दर्शन का नाम दर्शन विशुद्धता है।

(२) विनय के तीन भेद हैं —ज्ञान विनय, दर्शन विनय और चारित्र विनय। ज्ञान के विषय में उपयोगयुक्त रहना, उपाध्याय, श्रुत आदि की भक्ति करना ज्ञान विनय है। निर्दोष सम्यक्त्व बनाना दर्शन विनय है। निर्दोष शील-व्रतों को पालते हुये आवश्यकों में दोष न लगाना चारित्र विनय है। इन तीनों विनय की परिपूर्णता ही विनय सम्पन्नता है।

(३) हिंसा आदि पाँचों पापों के त्याग को व्रत और उनके रक्षण को शील कहा जाता है। मद्यपान आदि करने एवं कषायादि के त्याग न करने को अतिचार कहते हैं। अतिचारों से रहित शील और व्रतों का पालन करना शीलव्रतेषु अनतिचारता है।

(४) समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। शत्रु-मित्र आदि इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष का परित्याग समता है। त्रैकालिक पाँच

---

१. गोम्मटसार कर्मकांड

परमेष्ठियों में भेद न करके "णमो अरिहंताणं, णमोजिणाणं" आदि उच्चारणपूर्वक नमस्कार करना स्तव है। ऋषभ आदि तीर्थंकर, भरत आदि केवली, आचार्य तथा चैत्यालय आदि में भेद करके उनके गुण स्मरणपूर्वक नमस्कार करना वंदना है। चौरासी लाख उत्तर गुणों से सहित महाव्रतों में उत्पन्न हुये मल को धोने का नाम प्रतिक्रमण है। महाव्रतों में मलोत्पादन के कारण जिस प्रकार न होंगे ऐसा मैं करता हूँ ऐसी मन से आलोचना करके चौरासी लाख व्रतों की शुद्धि को ग्रहण करना प्रत्याख्यान है। एकाग्रतापूर्वक ध्येय वस्तु की ओर मन को रोकना व्युत्सर्ग है। इन छह आवश्यकों की अखंडता अर्थात् परिपूर्णता का नाम आवश्यक अपरिहीनता है।

(५) क्षण और लव ये काल विशेष के नाम हैं। सम्यक्त्व व्रतादि को उज्ज्वल करने, मल को धोने अथवा जलाने का नाम प्रतिबोधन है। प्रत्येक क्षण में व लव में होने वाले प्रतिबोध को क्षण लव प्रतिबोधनता कहते हैं।

(६) रत्नत्रय का लाभ लब्धि है। उसमें हर्ष होना संवेग है। इस लब्धि संवेग की पूर्णता का नाम लब्धि संवेग सम्पन्नता है।

(७) थाम का अर्थ बल– वीर्य है। अपनी शक्ति के अनुसार बाह्य और अभ्यंतर तप करना यथानाम तथा तप अर्थात् शक्तितस्तप है।

(८) अनंतज्ञानादि क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणों के साधक साधु हैं। ज्ञान, दर्शन आदि निरवद्य निर्दोष होने से प्रासुक कहलाते हैं। साधुओं के द्वारा दयापूर्वक जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि का त्याग या दान है वह 'प्रासुक परित्यागता" है। यह कारण गृहस्थों में सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थों में सम्भव नहीं है क्योंकि दृष्टिवाद आदि उपरिम श्रुत का उपदेश देने का उनको अधिकार नहीं है। अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है।

(९) रत्नत्रय में सम्यक् अवस्थान का नाम समाधि है। उसको सम्यक् प्रकार से धारण या सिद्ध करना समाधि संधारणता है।

(१०) रोगादि से व्याकुल साधु के विषय में जो उपचार आदि किया जाय वह वैयावृत्य है। जो जीव सम्यक्त्वादि और अर्हंतभक्ति आदि से वैयावृत्य में प्रवृत्त होता है उससे वैयावृत्य योगयुक्ता होती है।

(११) जो घातिया कर्म या आठों कर्मों को नष्ट कर चुके हैं, वे अरिहंत हैं। उनके गुणों में अनुराग करना, उनके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान के अनुकूल प्रवृत्ति करना या उक्त अनुष्ठान का स्पर्श करना अरिहंत भक्ति है।

(१२) द्वादशांग के पारगामी बहुश्रुत होते हैं। उनकी भक्ति करना, उनके द्वारा उपदिष्ट आगम अर्थ के अनुकूल प्रवृत्ति करना बहुश्रुत भक्ति है।

(१३) सिद्धान्त या बारह अंगों का नाम प्रवचन है। श्रेष्ठ वचन सर्वज्ञ की दिव्यध्वनिरूप वाणी प्रवचन है। उसकी भक्ति करना प्रवचन भक्ति है।

(१४) सिद्धांत या बारह अंग का नाम प्रवचन है। इसमें होने वाले देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टि भी प्रवचन कहे जाते हैं। इनमें जो अनुराग, आकांक्षा अथवा "ममेदं" ये मेरे हैं ऐसी बुद्धि होना प्रवचनवत्सलता है।

(१५) आगमार्थ का नाम प्रवचन है। उसकी कीर्ति को विस्तृत करना या वृद्धिंगत करना यह प्रवचन प्रभावनता कहलाती है।

(१६) अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण का अर्थ बहुत बार या बार-बार है। ज्ञानोपयोग से भावश्रुत अथवा द्रव्यश्रुत लिया जाता है। दोनों प्रकार के श्रुत में बार-बार उपयोग लगाते रहना अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग युक्तता है। इन सोलह कारणों के होने पर जीव तीर्थंकर नाम कर्म को बाँधते हैं अथवा सम्यग्दर्शन के होने पर शेष कारणों में से एक-दो आदि कारणों के संयोग से तीर्थंकर नाम कर्म बँधता है। "जिन जीवों के तीर्थंकर नाम-गोत्र का उदय होता है वे उसके उदय से देव, असुर और मनुष्य लोक के अर्चनीय, पूजनीय, वंदनीय, नमस्करणीय, नेता, धर्मतीर्थ के कर्ता जिन व केवली होते हैं।"

इस प्रकार "महावीर देशना" ग्रंथ
में 'सोलहकारण भावना'
का वर्णन करने वाला
सप्तम अधिकार
पूर्ण हुआ।

अष्टम अधिकार

दशलक्षण धर्म

सिद्धिप्रासाद निःश्रेणी पंक्तिवत् भव्यदेहिनाम।
दशलक्षणधर्मोऽयं नित्यं चित्तं पुनातु नः।।१।।

भव्यजीवों के सिद्धिमहल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की पंक्ति के समान यह दशलक्षणमय धर्म नित्य ही हम लोगों के चित्त को पवित्र करे।

इन दशधर्मों के उपासना के पर्व को पर्यूषण पर्व भी कहते हैं। चूंकि इसमें उपवास आदि के द्वारा आत्मा को पवित्र बनाया जाता है। यह पर्व भाद्रपद में मुख्यरूप से मनाया जाता है। भाद्रपद मास सर्वमासों में श्रेष्ठ है। कहा भी है-

अहो भाद्रपदाख्योऽयं मासोऽनेकव्रताकरः।
धर्महेतुपरो मध्येऽन्यमासानां नरेंद्रवत्[1]।।१।।

जिस प्रकार मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार से सर्व महीनों में यह भाद्रपद नाम का महीना श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अनेकों व्रतों की खान है और धर्म का प्रधान कारण है।

यह भादों मास सभी महीनों, में राजा है उत्तम जग में।
यह धर्म हेतु है औ अनेक, व्रत रत्नों का सागर सच में।।
यह महापर्व है पर्यूषण, दशधर्ममयी मंगलकारी।
रत्नत्रय निधि को देता है, सोलहकारणमय सुखकारी।।

इस महीने में सबसे अधिक व्रत आते हैं। षोडशकारण, श्रुतस्कंध, जिनमुखावलोकन और मेघमाला ये चार व्रत तो पूरे महीने भर किये जाते हैं तथा दशलक्षण, रत्नत्रय, पुष्पांजलि, आकाश पंचमी, सुगंधदशमी, अनंत-चतुर्दशी, चंदनषष्ठी, निर्दोषसप्तमी, तीसचौबीसी, रूक्मिणीव्रत, निःशल्य-अष्टमी, दुग्धरसी, धनद्कलश, शीलसप्तमी, कांजीबारस, लघुमुक्तावली, त्रिलोकतीज और श्रावणद्वादशी ये व्रत संपन्न किये जाते हैं।

इन सभी कारणों से पर्यूषण पर्व अपने आप में बहुत ही महान् है, यह बहुत ही उल्लासपूर्ण वातावरण में मनाया जाता है। इन दिनों में सर्वत्र ही धर्म का निर्झर बहने लगता है।

कुछ विद्वान[2] लोग इस पर्व के प्रांरभ में ऐसा कहते हैं कि इस पर्व का प्रारंभ भाद्रपद शुक्ला पंचमी से होता है। अतः इस पर्व का आरंभदिन सृष्टि का आदिदिन है क्योंकि छठे काल के अंत

---

१. मल्लिपुराण। २. डा. नेमीचंद्र ज्योतिषाचार्य, व्रततिथिनिर्णय, पृ. ३७।

में भरत और ऐरावतक्षेत्र के आर्यखंड में प्रलय होती है। यथा—

'छठे काल के अंत में संवर्त नामक पवन, पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदि को चूर्णकर समस्त दिशा और क्षेत्र में भ्रमण करता है। इस पवन के कारण समस्त जीव मूर्छित हो जाते हैं। देवों द्वारा सुरक्षित रखे गये ७२ युगल तथा अन्य कुछ जीवों के अतिरिक्त समस्त प्राणियों का संहार हो जाता है। इस काल के अंत में पवन, अत्यंत शीत, क्षाररस, विष, कठोर अग्नि, धूलि और धुआँ की वर्षा एक-एक सप्ताह तक होती है इसके बाद उत्सर्पिणी काल का प्रवेश होता है अर्थात् नवीन युग का आरंभ होता है'।

छठे काल का अंत आषाढ़ी पूर्णिमा को होकर नवीन युग का आरंभ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को अभिजित नक्षत्र के होने पर होता है। अतः आषाढ़ी पूर्णिमा के बाद श्रावणी प्रतिपदा से ४९वां दिवस भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी है। इस क्रम में भाद्रपद शुक्ला पंचमी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरंभ का दिन हो जाता है इस निमित्त से सृष्टि की आदि का दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी हो गया। इसीदिन की स्मृति में यह पर्व आरंभ हुआ है।

कुछ लोग इसी दिन को सृष्टि की आदि समझ लेते हैं सो ठीक बात नहीं है यद्यपि उत्सर्पिणी की आदि में सृष्टि का आदि दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी है तो भी छठे काल के बाद पाँचवाँ काल आता है पुनः चौथा काल आता है। उस चतुर्थ काल की आदि में तीर्थंकर होते हैं तभी से धर्म की परंपरा चलती है। ऐसे ही अवसर्पिणी में प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल के बाद चतुर्थ काल की आदि में तीर्थंकर के होने पर धर्म परंपरा चलती हैं अतः उस सृष्टि के दिन की स्मृतिमात्र को समझना।

वैसे यह बात युक्ति से कथंचित् संगत है फिर भी यह पर्व वर्ष में तीन बार आता है। माघ, चैत्र और भाद्रपद। दूसरी बात यह है कि इस दशलक्षण व्रत की कथा में धातकीखंड के पूर्व विदेह में विशाला नगरी में चार कन्याओं को मुनिराज ने यह व्रत दिया था ऐसा कहा है इससे यह व्रत विदेह में भी चलता है जहाँ प्रलय की कोई बात नहीं है अतः यह व्रत अनादि निधन है ऐसा समझना।

---

१. त्रिलोकसार

उत्तम क्षमा धर्म

इस पर्यूषण पर्व में दश दिन क्रम से दश धर्मों की उपासना की जाती है—
उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश-धर्म अक्षय—अविनाशी हैं और संसार के भय को दूर करने वाले हैं।

सर्वं यो सहते नित्यं क्षमादेवीमुपास्य सः।
पार्श्ववत् जायते जित्वोपसर्गांश्च परीषहान्।।१।।
शांतिः किं स्यात्क्रुधा किं नु नश्येत् वैरं हि वैरतः।
रक्तेन रञ्जितं वस्त्रं, किं रजसा विशुद्धयति।।२।।
अपकर्त्रे हि कोपश्चेत्, किं न कोपाय कुप्यसि।
क्रोधोऽयं ते महाशत्रुर्लोकद्वयविनाशकृत।।३।।
मुनयः पांडवाद्याश्च प्राणहारिरिपूनपि।
क्षान्त्या सर्वंसहाः सिद्धा जातास्तेभ्यो नमोऽस्तु मे।।४।।
द्रव्यं भावं द्विधा क्रोधं भित्वाहं स्वात्मचिंतनात्।
उत्तमक्षांतियुक्स्वात्मज्ञानं लप्स्ये सुखं ध्रुवम्।।५।।

सब कुछ अपराध सहन करके, भावों से पूर्ण क्षमा करिये।
यह उत्तम क्षमा जगन्माता, इसकी नितप्रति अर्चा करिये।
कमठासुर ने भव भव में भी, उपसर्ग अनेकों बार किया।
पर पार्श्वप्रभू ने सहन किया, शान्ति का ही उपचार किया।।१।।

क्या बैर से बैर मिटा सकते, क्या रज से रज धुल सकता है?
क्या क्रोध से भी शान्ती मिलती, क्या क्रोध सुखी कर सकता है?
यदि अपकारी पर क्रोध करो, तो क्रोध महा अपकारी है।
इस क्रोध पे क्रोध करो बंधू, यह शत्रु महा दुखकारी है।।२।।

यह क्रोध महा अग्नी क्षण में, संयम उपवन को भस्म करे।
यह क्रोध महा चांडाल सदृश, आत्मा की शुचि अपहरण करे।।
पांडव आदि मुनियों ने भी, इस क्षमा को मन में धारा था।
मुनिगण ने सर्वंसह असि से, इस क्रोध शत्रु को मारा था।।३।।

यह क्रोध अनंत अनुबंधी, अगणित भव तक संस्कार रहे।
अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, छह महीने ऊपर नहीं रहे।।
यह प्रत्याख्यानावरण क्रोध, पन्द्रह दिन तक रह सकता है।
संज्वलन क्रोध अंतर्मुहूर्त से, अधिक नहीं टिक सकता है।।४।।
उदयागत क्रोध द्रव्य पुद्गल, इसको भी निज से भिन्न करूँ।
फिर निज में ही स्थिर होकर, सब भाव क्रोध को छिन्न करूँ।।
निज उत्तम क्षमा स्वभावमयी, निज को निज में पा जाऊँ मैं।
पर से संबंध पृथक् करके, निज पूर्ण सौख्य प्रगटाऊँ मैं।।५।।

'क्षमूष्' धातु सहन करने अर्थ में है उस से यह 'क्षमा' शब्द बना है। तत्त्वार्थ सूत्र महाग्रन्थ में मुनियों के संवर के प्रकरण में इन दश धर्मों को लिया है। वहां पर भाष्यकार श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि—संवर का प्रथम कारण तो प्रवृत्ति के निग्रह हेतु है किंतु जो वैसा करने में असमर्थ है उन्हें प्रवृत्ति का उपाय दिखलाने के लिए दूसरा कारण कहा गया है। जो साधु समिति में प्रवृत्त हैं उनके प्रमाद को दूर करने हेतु ये दश धर्म कहे गये हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं। इन धर्मों में 'उत्तम' विशेषण लोकैषणा, दुष्टप्रयोजन आदि के परिहार के लिए हैं।

'शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोश-प्रहसनावज्ञा-ताडनशरीरव्यापादनादीनां सन्निधाने कालुष्यानुत्पत्तिः क्षमा[1]।'

शरीर की स्थिति का हेतु जो आहार उसके खोजने के लिए अर्थात् आहार के लिए निकले हुये साधु परघरों में जा रहे हैं उस समय नग्न देखकर दुष्टजन उन्हें गाली देते हैं, उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते-पीटते हैं और शरीर को पीड़ित करते हैं, नष्ट करते हैं तो भी उस किसी प्रसंग में अपने परिणामों में कलुषता की उत्पत्ति न होना क्षमा है। इस प्रकार से साधु तो पूर्णरूप से क्षमाधर्म का पालन करते हैं किन्तु श्रावक भी एकदेशरूप से इन क्षमा आदि धर्मों का पालन करते हैं। ये धर्म तो सभी संप्रदायों में मान्य हैं किसी भी संप्रदाय वालों को इनमें विवाद नहीं है।

आचार्यों ने क्रोध को अग्नि की उपमा दी है उसे शांत करने के लिए क्षमाजल ही समर्थ है। जैसे जल का स्वभाव शीतल है वैसे ही आत्मा का स्वभाव शांति है। जैसे अग्नि से संतप्त हुआ जल भी जला देता है वैसे ही क्रोध से संतप्त हुई आत्मा के धर्मरूपी सार जलकर खाक हो जाता

---

१. सर्वार्थसिद्धि अ.९, सूत्र ६।

है। क्रोध से अंधा हुआ मनुष्य पहले अपने आपको जला लेता है पश्चात् दूसरों को जला सके या नहीं भी। क्षमा के लिए बहुत उदार हृदय चाहिए, चंदन घिसने पर सुगंधि देता है, काटने वाले कुठार को भी सुंगधित करता है और गन्ना पिलने पर रस देता है। उसी प्रकार से सज्जन भी घिसने-पिलने से ही चमकते हैं। देखो! अग्निमय स्थान टिकता नहीं है, खाक हो जाता है किंतु जलमय स्थान टिके रहते हैं तभी तो असंख्यातों समुद्र और नदियाँ जहाँ की तहाँ स्थिर हैं।

कषायों की वासना काल को समझकर हमेशा अपने अंतरंग का शोधन करते रहना चाहिए। अनंतानुबंधी कषाय अनंतसंसार का कारण है यह मिथ्यात्व की सहचारिणी है। इसका काल संख्यात, असंख्यात और अनंत भव है। भव-भव में बैर को बाँधते चले जाना भी इसी का काम है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय एक देशव्रत को भी नहीं होने देती है। इसका वासनाकाल अधिक से अधिक छह महीना है। सम्यग्दृष्टि को अधिक से अधिक इतनी वासना रह सकती है। प्रत्याख्यानावरण महाव्रत नहीं होने देता है, इसका वासनाकाल पन्द्रह दिवस का है। व्रती श्रावकों में अधिक से अधिक इतने दिन तक बैर के संस्कार रह सकते हैं। संज्वलन की वासना का अंतर्मुहूर्त मात्र काल है इसलिए साधु यदि किसी पर क्रोध भी करते हैं तो भी अंतर्मुहूर्त के बाद उसके प्रति दया और क्षमा का भाव जाग्रत हो जाता है।

'जो क्षमादेवी की उपासना करके हमेशा सभी कुछ सहन कर लेता है वह उपसर्गों और परीषहों को जीतकर पार्श्वनाथ तीर्थंकर के सदृश महान् हो जाता है। क्या क्रोध से शांति हो सकती है? क्या बैर से बैर का नाश हो सकता है? क्या खून से रंगा हुआ वस्त्र खून से ही साफ हो सकता है? यदि अपकार करने वाले के प्रति तुझे क्रोध आता है तो फिर तू क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करता है? क्योंकि यह क्रोध तो तेरे दोनों लोकों का विनाश करने वाला महाशत्रु है। पांडव, गजकुमार, आदि महामुनि अपने प्राणों का घात करने वाले महाशत्रुओं को भी क्षमा करके 'सर्वंसह' सिद्ध हो गये हैं उनको मेरा नमस्कार होवे। द्रव्य और भाव इन दो प्रकार के क्रोध को मैं अपने आत्मचिंतन के बल से भेदन करके उत्तम क्षमा से युक्त अपने ज्ञान और सौख्य को निश्चित रूप से प्राप्त करूँगा।। १-से-५।। हमेशा ऐसी भावना रहना चाहिए।

क्षमामूर्ति भगवान पार्श्वनाथ

कमठ और मरुभूति सगे भाई थे। ये पोदनपुर के राजा अरविन्द के मंत्री थे। कमठ ने किसी समय छोटे भाई मरुभूति की पत्नी से व्यभिचार किया तब राजा ने उसे दंडित कर देश से निकाल दिया। वह तापसाश्रम में जाकर कुतप करने लगा। मरुभूति भाई के प्रेम से एक बार उससे मिलने गया तब उसने उस भाई के प्रति अकारण क्रोध करके हाथ की शिला उस पर पटक दी जिससे

वह मर गया और सल्लकी वन में हाथी हो गया।। किसी एक दिन अरविन्द महाराज ने विरक्त हो दीक्षा ले ली। वे संघ लेकर सम्मेद शिखर की यात्रा के लिए जाते हुये उसी वन में ठहरे। उन्हें ध्यान में स्थित देख यह हाथी मारने के लिए दौड़ा किन्तु उनके वक्षस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह देखकर जातिस्मरण को प्राप्त होकर शांत हो गया। मुनिराज ने उसे उपदेश देकर सम्यक्त्व और पांच अणुव्रत ग्रहण करा दिये। यह उस दिन से व्रती श्रावक बन गया, सूखे पत्ते आदि खाकर अपना पेट भरने लगा। कालांतर में एक नदी के कीचड़ में फंस गया। उसके पूर्व भव के भाई कमठ का जीव मरकर कुक्कुट सर्प हुआ था उसने आकर उस समय उसे डस लिया। यह हाथी महामंत्र के स्मरणपूर्वक प्राण छोड़कर बारहवें स्वर्ग में देव हो गया और वह सर्प मरकर पांचवे नरक चला गया। पुनः यह मरुभूति का जीव देवपर्याय से चयकर विद्याधर हुआ, पुनः अच्युत स्वर्ग में गया वहां से आकर वज्रनाभि चक्रवर्ती हुआ, पुनः अहमिंद्र हुआ, वहां से आकर आनन्द नामक राजा होकर सोलहकारण भावना भाकर आनत इंद्र हुआ, वहाँ से आकर भगवान पार्श्वनाथ हुये हैं। यह कमठ का जीव नरक से निकलकर अजगर सर्प हुआ, पुनः नरक गया, पुनः भिल्ल हुआ, पुनः नरक गया, पुनः सिंह हुआ, पुनः नरक गया, वहां से आकर महीपाल राजा होकर पंचाग्नि तप करके शंबर नामक ज्योतिषी देव हो गया। इसने हर मनुष्य व तिर्यंच पर्याय में मरुभूति के जीव पर उपसर्ग किया है, पुनः अंत में पार्श्वनाथ भगवान के ऊपर घोर उपसर्ग किया है। प्रभु उपसर्ग केवली हुये हैं। इस प्रकार से जो सहन करके क्षमा धारण करते हैं वे पार्श्वनाथ जैसे महान् बन जाते हैं और जो क्रोध के वशीभूत रहते हैं वे कमठ जैसे महादुःखों को उठाते रहते हैं।

ऐसे ही पाँचों पांडव महामुनियों ने भी शत्रु द्वारा लोहे के तप्त आभूषण पहनाये जाने पर भी क्षमा भाव नहीं छोड़ा है। अनेकों महासाधुओं के तो उदाहरण हैं ही, श्रावकों व श्राविकाओं के भी बहुत से उदाहरण हैं। तुंकारी ब्राह्मणी की कथा प्रसिद्ध ही है।

तुंकारी की क्षमा

'मणिवत' नाम के एक महामुनि अनेक देशों में विहार करते हुये किसी समय उज्जैन के बाहर श्मशान में ठहर गये। रात्रि के समय मृतक शय्या द्वारा ध्यान कर रहे थे। इतने में वहाँ एक कापालिक वैतालीविद्या सिद्ध करने के लिए आया। उसे चूल्हा बनाने के लिए तीन मुर्दे चाहिए थे। अतः वह कुछ दूर पड़े हुये दो मुर्दों को घसीट लाया और इन महामुनि को भी मुर्दा समझकर उसने तीनों के शिर का चूल्हा बना दिया। उस चूल्हे पर उसने नर कपाल रखा और आग जलाकर कुछ नैवेद्य पकाने लगा। थोड़ी देर बाद जब आग जोर से जलने लगी तब जीवित मुनिराज के शिर की नसें जलने लगीं और तीव्र वेदना से उनका हाथ ऊपर की ओर उठ गया जिससे शिर पर रखा

कपाल गिर गया और आग भी बुझ गयी। इधर इस घटना से कापालिक ने भूत आया समझा और वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

मुनिराज मेरु के समान अचल पड़े-पड़े आत्मतत्व का चिंतवन कर रहे थे। प्रातः होते ही आते-जाते किसी ने मुनिराज की यह दशा देखी तो झट दौड़कर मुनिभक्त सेठ जिनदत्त को सारा हाल सुना दिया। जिनदत्त सेठ उसी समय दौड़े आये, मुनिराज के इस उपसर्ग को देखकर बहुत ही दुःखी हुये। तत्क्षण ही उन्हें अपने घर ले आये और वैद्य को बुलाकर इलाज के लिए पूछा। वैद्य ने कहा—'हे सेठ! सोमशर्माभट्ट के यहाँ 'लक्षपाक' नाम का बहुत ही बढ़िया तेल है उसे लाकर लगाओ, उससे बहुत ही जल्दी आराम हो जायेगा। इतने अधिक जले का इसके अतिरिक्त और कोई इलाज नहीं है।'

सेठ जिनदत्त उसी क्षण सोमशर्मा के घर पहुँचे। सोमशर्मा ब्राह्मण तो कहीं बाहर गया था अतः उसकी पत्नी से सेठ जी ने तेल देने की प्रार्थना की। उस ब्राह्मणी ने ऊपर एक कमरे में ले जाकर कहा—'सेठ जी! यह अनेक घड़े तेल से भरे हुये रखे हैं इनमें से एक घड़ा तेल ले जाओ।'

जिनदत्त ने एक घड़ा उठाकर सिर पर रखा और सीढ़ियों से उतरने लगा किन्तु अकस्मात् उनके हाथ से घड़ा गिर गया और फूट गया। जिनदत्त को बहुत ही डर लगा, अब क्या होगा? पुनः डरते-डरते उसने ब्राह्मणी से घड़ा फूटने की बात कही, तब ब्राह्मणी ने कहा-

'कोई बात नहीं, जाओ दूसरा घड़ा ले जाओ।'

सेठ के हाथ से पुनः दूसरा घड़ा भी फूट गया, बेचारे बहुत घबड़ाये फिर भी ब्राह्मणी ने शांति से कहा--जावो, तीसरा घड़ा ले आवो।

तीसरा घड़ा भी गिरकर फूट गया तब तो बेचारे सेठ जी थर-थर काँपने लगे। किन्तु ब्राह्मणी ने कहा—'सेठ जी! चिंता की कोई बात नहीं तुमने जानकर तो घड़े फोड़े नहीं हैं, शांति रखो चौथा घड़ा ले जावो, देखो! तुम्हें जितने भी तेल की जरूरत हो ले जाना, डरना नहीं।'

अब बेचारे सेठ जी बहुत ही संभलकर चले और चौथा घड़ा तेल का लेकर अपने घर आ गये। मुनिराज के जले घावों पर लगाया तब उन्हें कुछ शांति हुई। किन्तु वे मन में सोचने लगे-

'अहो! कोई भी महिला हो या पुरुष, उसका इतना बड़ा नुकसान हो जाने पर उसे गुस्सा आये बगैर नहीं रह सकता। उस ब्राह्मणी में भला इतनी शान्ति, इतनी क्षमा कहाँ से आ गई?

सेठ जी पुनः सोमशर्मा के घर आये और ब्राह्मणी से पूछा-

'हे माँ! मेरे द्वारा इतना बड़ा अपराध होने पर भी तुम्हें क्रोध क्यों नहीं आया?'

ब्राह्मणी ने कहा-

'सेठ जी! क्रोध का फल जैसा चाहिए वैसा मैं भोग चुकी हूं इसलिए क्रोध के नाम से ही मेरा जी कांप उठता है।'

पुनः सेठ की जिज्ञासा होने पर उसने कहना शुरू किया—

'सेठ जी सुनिए! चंदनपुर में एक शिवशर्मा ब्राह्मण रहता है। वह बहुत ही धनवान है और राजा का आदरपात्र है। उसकी भार्या का नाम कमलश्री है। उनके आठ पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्री का नाम भट्टा रखा सो मैं ही हूँ। मैं बहुत ही सुन्दर थी पर मुझमें एक अवगुण था कि मैं अत्यन्त घमन्डी थी और बोलने में बहुत तेज थी इसलिए सभी लोग मुझसे डरते थे और किसी को मुझे 'तू' कहने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। यदि कदाचित् कोई मुझे 'तू' कहकर पुकार दे तो मैं लड़-झगड़कर उसकी सौ पीढ़ियों तक गालियाँ दे डालती, जिससे भयंकर तूफान खड़ा हो जाता। इसके विपरीत मेरे पिताजी लड़ाई-झगड़े से बहुत डरते थे तथा राजा के द्वारा बहुत सम्मान मिलते रहने से वे निर्भीक भी थे। अतः एक बार उन्होंने शहर में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि—

'कोई भी मेरी बेटी को 'तू' कहकर न पुकारे।'

पिताजी ने तो अच्छा ही किया था किंतु मेरे दुर्भाग्य से वह उल्टा हो गया। उस दिन से मेरा नाम ही 'तुंकारी' पड़ गया और सभी लोग मुझे इस नाम से चिढ़ाने लगे। मैं चिढ़ती, लड़ती-झगड़ती और लोगों को गालियाँ देने लगती थी। युवावस्था में आने पर नतीजा यह निकला कि मेरे से कोई भी विवाह करने को तैयार नहीं हुआ। बहुत दिन बाद मेरे भाग्य से इन सोमशर्मा ब्राह्मण ने इस बात की प्रतिज्ञा की कि—'इन्हें 'तू' कहकर नहीं पुकारूँगा।'

तब पिताजी की चिंता मिटी और मेरा विवाह सम्पन्न हो गया, मैं यहाँ अपने ससुराल आ गयी। मैं इस घर में बहुत दिनों तक सुखपूर्वक रही।

एक दिन की घटना है मेरे पतिदेव रात्रि में नाटक देखते रहे और बहुत देर से आये। दरवाजा खोलो-खोलो, पुकारने लगे। उस समय मुझे बहुत ही गुस्सा आ रहा था इसलिए दरवाजा खोलने नहीं उठी। पतिदेव भी जब दरवाजा खटखटाते और पुकारते-पुकारते थक गये तब उन्हें बहुत ही गुस्सा आया और बोले—

'अरे 'तू' सुनती नहीं है। मैं इतनी देर से बाहर खड़ा चिल्ला रहा हूँ'। बस पति के मुख से 'तू' निकलते ही मैं आपे से बाहर हो गयी। बड़ों की सूक्ति ठीक ही है कि 'पड़ा स्वभाव न जाये कभी जीव से। करेलो मीठो न होय सींचों गुड-घी से।' उस समय मैं क्रोध से अंधी हो गयी और दरवाजा खोलकर घर से बाहर भाग निकली, उस क्षण मुझे कुछ न सूझा कि मैं कहां जा रही हूँ।

मैं दौड़ते हुये शहर के बाहर जंगल की ओर निकल गयी। इसी बीच जंगल में चोरों ने मुझे देख लिया। उन्होंने मेरे सब कीमती गहने-जेवर उतार लिये और विजयसेन भील को सौंप दिया। उस भील ने मुझे सुन्दर देखकर मेरा शीलभंग करना चाहा किन्तु मेरी दृढ़ता के प्रभाव से किसी दिव्यस्त्री ने आकर मेरे शील की रक्षा की। तब उस भील ने डरकर मुझे एक सेठ को सौंप दिया। सेठ ने भी मेरा शील भंग करना चाहा पर उस समय भी दैवी शक्ति ने मेरी रक्षा की। तत्पश्चात् उस सेठ ने मुझे एक रंगरेज मनुष्य के हाथ सौंप दिया। वह दुष्ट मनुष्य मेरे शरीर पर बहुत सी जौंके लगा-लगाकर मेरा रोज-रोज बहुत सा खून निकाल लेता था और फिर उसमें कंबल रंगा करता था। इस दुःख को भोगते हुये मेरे कितने ही दिन निकल गये थे।

एक दिन मेरा भाई इधर से निकला कि अचानक मैंने उसे देख लिया और जोर से बुलाया। किंतु वह मेरी इस दुर्दशा में जल्दी पहचान भी न सका जब उसने मेरे मुख से सारा हाल सुना तब वह रो पड़ा। पुनः उसने मुझे धैर्य बँधाया और उसी क्षण उसने राजा के पास जाकर मेरा परिचय बताकर उस पापी रंगरेज से मेरा उद्धार किया। वहाँ से लाकर मेरे भाई ने पुनः मेरे पतिदेव को समझा-बुझाकर यहाँ पहुँचा दिया। इस समय मेरे शरीर का प्रायः सारा खून निकल चुका था इसलिए मुझे लकवे की बीमारी हो गई। तब वैद्य ने यह लक्षपाक तेल बनाकर मुझे बचाया है।

इसके बाद मैंने एक वीतरागी निर्ग्रंथ मुनि के मुख से धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया है और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी कर ली है कि अब मैं किसी पर भी क्रोध नहीं करूँगी। अतः अब मैं बहुत ही शान्त रहती हूं जिससे मुझे स्वयं बहुत ही सुख का अनुभव होता है। मैं मन में किसी के प्रति क्रोध का भाव नहीं लाती हूँ जिससे मेरे मस्तिष्क में बहुत शांति रहती है।

सेठ जिनदत्त इस सच्ची घटना को सुनकर बहुत प्रभावित हुये और उस ब्राह्मणी की बहुत-बहुत प्रशंसा करते हुये अपने घर आकर मुनिराज की परिचर्या में लग गये।

सचमुच में, क्रोध का फल इस भव में तो बुरा है ही, परभव में भी बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाला है।

रामचन्द्र की क्षमा

जब रामचन्द्र जी वन में विचरण कर रहे थे अरुण ग्राम में कपिल ब्राह्मण के यहाँ पहुँचे, सीता प्यास से व्याकुल थी। कपिल की पत्नी ने पानी पिलाया उसी समय कपिल आकर गाली बकने लगा। लक्ष्मण को गुस्सा आया उन्होंने उसको उठाकर उल्टा कर दिया और जमीन में पटकना चाहा तब श्री रामचन्द्र ने कहा वत्स! इसे क्षमा कर दो। कुछ दिन बाद वह ब्राह्मण रामपुरी नगरी में राम के दर्शन करने गया। उन्हें पहचानकर डरकर भागने लगा तब श्रीराम ने उसे बुलाकर सम्मान करके खूब

मालामाल कर दिया।

शरणागत शत्रु भी हो वह भी क्षमा के योग्य है। महाभारत में बताया है कि युद्ध के समय जो कौरव-पांडवों में शर्तें हुयी थी उसमें एक यह थी कि सूर्यास्त के समय युद्ध बंद हो जाये और एक यह थी कि युद्ध बंद होने के बाद दोनों पक्षों के लोग आपस में मिलें। आपस में पहले राजा लोग युद्ध भूमि में लड़ते थे और अनन्तर एक दूसरे से सौहार्द स्थापित करते थे। यह यमराज कभी भी आकर आपको अपना ग्रास बना सकता है। इसलिए क्षमा धर्म के लिए आजकल की प्रतीक्षा न करो जिससे आपकी कषाय हो उसे प्रेमभाव से क्षमा कर दो और करा लो-यही इस धर्म को सुनने का सार है। क्षमा में बहुत ही निराकुलता और आत्मशांति रहती है।

क्रोध से संचित हुयी शक्ति आत्मा को जला देती है जैसे कि आतिशी शीशा से छनकर सूर्य की किरणें केन्द्रित होकर वस्त्र को आग लगा देती हैं तथा क्षमारूप शक्ति आध्यात्मिक ऋद्धियों को, आत्मिक तेज को प्रकट करती है। अतः जो तुम्हें अच्छा लगे उसी को अपनाओ। शास्त्रों के स्वाध्याय और महामंत्र के स्मरण के बल से क्रोध को सहज ही जीता जा सकता है। आज जो भाई-भाई में कलह, बाप-बेटे में कलह, माँ-बेटी में बैर, पति-पत्नी में अलगाव दिखते हैं, वे सब असहनशीलता के ही परिणाम हैं। यदि आपस में छोटी-छोटी बातों को सहन करना सीख लें और आपस में क्षमाभाव धारण करना सीख लें तो परस्पर में स्नेह का पूरा प्रवाह सदैव बहता रहे और सबका हृदय आनंद रस से प्लावित रहे। इसलिए छोटी-छोटी बातों में क्रोध करने की आदत छोड़कर प्रेम का वातावरण निर्मित करके समाजदेश और घर में शांति की स्थापना करनी चाहिए। आज के इस संघर्षमयी राष्ट्र में सहनशीलता की, क्षमा की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इस धर्म के बल से ही देश में सुख-शांति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जाप्य—ॐ ह्रीं उत्तमक्षमाधर्मांगाय नमः।

उत्तम मार्दव धर्म

मार्दवः स्यान्मृदोर्भावो, मानशत्रोर्विमर्दकः।
चतुर्धा विनयोपेतो, वर्जितः सोऽष्टभिर्मदैः।।१।।
इन्द्रवत् खग इन्द्राख्यो, रावणेन विनिर्जितः।
रावणोऽपि स्वयं नष्टः, किं मानेन प्रयोजनम्।।२।।
उच्चं नीचं धृतं सर्वं, पर्यायं भुवने मया।
इन्द्रसौख्यमवाप्तं हा! निगोदेष्वपि दुःखितः।।३।।
चक्रभृत् भरतेशोऽपि, वृषभाद्रिं व्यलोकयत्।
स्फेटयित्वाक्षरं तत्र, स्वप्रशस्तिं लिलेख सः।।४।।
स्वात्मगुणस्य सन्मानैः स्वात्मानंदामृतं स्वदे।
स्वाभिमाने पदे स्थित्वा ज्ञानादिगुणमाप्नुयाम्।।५।।

मृदुता का भाव कहा मार्दव, यह मान शत्रु मर्दनकारी।
यह दर्शन ज्ञान चरित्र तथा, उपचार विनय से सुखकारी।
मद आठ जातिकुल आदी हैं, क्या उनसे सुखी हुआ कोई।
रावण का मान मिला रज में, यमनृप ने सब विद्या खोई।।१।।

था इन्द्र नाम का विद्याधर, वह इन्द्र सदृश वैभवशाली।
रावण ने उसका मान हरा, अपमान हृदय को दुःखकारी।।
जब चक्री गर्व सहित जाकर, वृषभाचल पूर्ण लिखा लखते।
हो मान शून्य इक नाम मिटा, निज नाम प्रशस्ति को लिखते।।२।।

बहु इन्द्र सदृश भी सुख भोगे, औ बार अनन्त निगोद गया।
बहु ऊँच नीच पर्याय धरी, नहिं किंचित् भी तब मान रहा।।
यह मान स्वयं निज आत्मा का, अपमान सदा करवाता है।
मार्दव गुण अपनी आत्मा को, सन्मान सदा दिलवाता है।।३।।

व्यवहार विनय सब सिद्ध करे, इसको सब शिव द्वार कहें।
गुणमणि साधूजन का नित प्रति, बहु विनय भक्ति सत्कार रहे।।
अपनी आत्मा है अनन्त गुणी, दुर्गति से उसे बचाऊँ मैं।
निज स्वाभिमान रक्षित करके, अपने को अपना पाऊँ मैं।।४।।

निज दर्शन ज्ञान चरित गुण का, सम्मान करूँ सब मान हरूँ।
निज आत्म सदृश सबको लखकर, नहिं किस ही का अपमान करूँ।।
निज आत्मा के मार्दव गुण को, निज में परिणत कर सौख्य भरूँ।
जिन स्वाभिमानमय परमामृत, पीकर निज को झट प्राप्त करूँ।।५।।

"जात्यादिमदावेशारभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणम्[1]।।"

जाति आदि मदों के आवेशवश होने वाले अभिमान का अभाव करना मार्दव है। मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना।

"मृदु का भाव मार्दव है, यह मार्दव मानशत्रु का मर्दन करने वाला है, यह आठ प्रकार के मद से रहित है और चार प्रकार की विनय से संयुक्त है। देखो! इन्द्र नाम का विद्याधर इंद्र के समान वैभवशाली था फिर भी रावण के द्वारा पराजय को प्राप्त हुआ है और वह रावण भी एक दिन मान के वश में नष्ट हो गया, अतः मान से क्या लाभ है? मैंने इस संसार में ऊँच और नीच सभी पर्यायें धारण की हैं। अहो! मैंने इन्द्रों के सुख भी प्राप्त किये हैं और हा! खेद है कि निगोद पर्याय में दुःख भी प्राप्त किये गये हैं। देखो! चक्ररत्न को धारण करने वाला भरत चक्रवर्ती भी वृषभाचल पर्वत को देखता है। पुनः उस पर से अक्षर को मिटाकर वह अपनी प्रशस्ति को लिखता है। अपने आत्मगुणों के सन्मान से अपनी आत्मा के आनन्दरूपी अमृत को चखना चाहता हूँ। अपने स्वाभिमानमय पद में स्थित होकर मैं ज्ञानादिगुण को प्राप्त कर लेऊँ मेरी यही भावना है।।१ से ५।। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी भावना सदा भाते रहना चाहिए।

जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप, तप, विद्या और धन इन आठ मदों के आश्रय से जो मान करते हैं वे तत्काल नीच गति के कारणभूत कर्मों का संचय करते हैं। मानी पुरुष मान के वश होकर पूज्य-पूजा का व्यतिक्रम कर देते है। इस संसार में मान किसका करना? जहां पर प्राणी राजा होकर विष्ठा में कीड़ा हो गया।

विनय के चार भेद हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार।

ज्ञानविनय के अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि, उभयशुद्धि, कालशुद्धि, विनयशुद्धि, उपधान, बहुमान और अनिन्हव ये आठ भेद हैं। इनका पालन करना और ज्ञानी की विनय करना। दर्शन के निःशंकित आदि आठ अंगों का पालन करना और दर्शनधारी की विनय करना। चारित्र के अतीचारों को दूर कर चारित्रधारी की विनय करना तथा गुरू की प्रत्यक्ष और परोक्ष में मन-वचन-काय से विनय करना। गुरुओं की वैयावृत्ति करना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना आदि। इंद्र का रावण से पराजय होना साक्षात् गुरु के अपमान का फल है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि अ.६, सूत्र ६।

इन्द्र विद्याधर

विद्याधर की श्रेणी पर रथनूपुर नगर में राजा सहस्रार की रानी मानस सुन्दरी के गर्भ में पुण्यशाली बालक के आने से उसे इन्द्र की संपदा भोगने की इच्छा हुयी। राजा ने रानी का दोहला पूर्ण किया, पुत्र का जन्म होने पर उसका नाम 'इन्द्र' रखा। इंद्र ने तरुण होकर अपने वैभव को इंद्र सदृश बनाया। उसके ४८ हजार रानियाँ थीं। २६ हजार नृत्यकार थे, ऐरावत नाम का हाथी था, पट्टरानी का नाम शची, चारों दिशाओं में चार लोकपाल, सुधर्मा सभा, वज्र नाम का शस्त्र, उर्वशी, मेनका आदि अप्सराएं और बृहस्पति मंत्री आदि वैभव थे।

रावण जब दिग्विजय के लिए निकला तब उसने इन्द्र विद्याधर को जीतकर बाँध लिया। उधर इन्द्रजीत ने इंद्र के पुत्र जयंत को बांध लिया और लंका नगरी वापस आ गये। दुःख से व्याकुल हो इंद्र के सामंत सहस्रार पिता को आगे कर रावण के पास पहुंचे। सहस्रार ने रावण से अपने पुत्र को छोड़ने के लिए कहा। उस समय रावण ने हँसकर कहा कि मैं इस शर्त पर इंद्र को छोड़ सकता हूँ कि आज से तुम सब मेरे नगर के भीतर और बाहर बुहारी देने का कार्य करो। इंद्र घड़ा लेकर पृथ्वी को सिंचित करें और उसकी रानियाँ रंगोली बनावें। पुनः विनयावनत होकर उसने सहस्रार को पितृतुल्य कहकर आदर देकर इंद्र को बंधनमुक्त कर दिया और कहा कि आज से यह मेरा चौथा भाई है इत्यादि।

इंद्र अपने विजयार्ध पर्वत पर आ गया किंतु इस पराजय से वह अतीव दुःखी रहने लगा। विरक्त होकर निर्वाणसंगम मुनिराज के पास प्रश्न किया। भगवन्! मैं किस पाप से मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी इस पराजय को प्राप्त हुआ हूँ। मुनि ने कहा इंद्र! अरिंजयपुर में अहिल्या के स्वयंवर में तुम भी गये थे किंतु उस सुन्दरी ने आनंदमाल के गले में वरमाला डाली। इससे तुम्हें आनंदमाल से ईर्ष्या हो गयी। किसी समय आनंदमाल विरक्त हो मुनि होकर रथावर्त पर्वत पर प्रतिमायोग से विराजमान थे। अकस्मात् आकाश मार्ग से जाते हुये तूने उन्हें देखकर क्रोधवश उनकी हँसी की और कहा अरे! काम भोग का प्रेमी अहिल्यापति! तू इस समय यहां क्यों बैठा है? पुनः उन्हें रस्सियों से कसकर बाँध दिया। फिर भी वे मुनि निर्विकार हुये तत्वचिंतन में लीन थे। उन्हीं के समीप उनके भाई कल्याणमाल मुनि ऋद्धिधारी थे। वे प्रतिमायोग संकुचित कर दुखी होकर बोले—'तूने अकारण मुनिराज का तिरस्कार किया है अतः तू भी बहुत भारी तिरस्कार को प्राप्त होगा' उन मुनि का क्रोध बढ़ रहा था कि तेरी पत्नी सर्वश्री ने उनसे क्षमायाचना करते हुये उन्हें शांत किया।

"जो मनुष्य मन से भी साधुजनों का पराभव करता है वह उससे उभय लोक में पराभव को प्राप्त होता है। जो दुष्टचित्त मनुष्य निर्ग्रंथ मुनि को गाली देता है अथवा मारता है उस पापी मनुष्य के विषय में क्या कहा जाये'?

हे इन्द्र! इस भव के ही उस पाप के फल से तुम्हें यह पराजय का दुःख सहना पड़ा है। पुनः इंद्र ने उन्हीं गुरू के पास दीक्षा लेकर अंत में निर्वाणधाम को प्राप्त कर लिया। जिस रावण ने इंद्र को पराजित किया था उसी ने मान कषाय में आकर सीता के निमित्त रामचंद्र से युद्ध करके नरक गति प्राप्त कर ली।

रूप का मद

सिंधुमती रानी ने रूप के गर्व में उन्मत्त होकर मुनि को कड़वी तूंमड़ी का आहार दे दिया। फलस्वरूप नरक, तिर्यंचों के दुःख भोगकर कालांतर में गुरु के उपदेश से रोहिणी व्रत करके रोहिणी नाम की रानी होकर सुख प्राप्त किया। ऐसे ही एक मद के निमित्त से जीवों ने दुःख उठाए हैं।

जब राजा भी मरकर कीड़े जैसी तुच्छ पर्याय में जन्म ले सकता है तब किसका मद करना?

मिथिला नगर के राजा का नाम 'शुभ' था, उनकी रानी का नाम मनोरमा और पुत्र का नाम देवरति था। राजा को आर्तध्यान के निमित्त से किसी समय तिर्यंचायु का बंध हो गया। एक समय उनके शहर में देवगुरू नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज अपने चतुर्विध संघ सहित आये। राजा ने गुरुदेव का दर्शन किया अनंतर प्रश्न किया—

'भगवन्! इस राजपद के बाद मरणकर मेरी कौन सी गति होगी'?

मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान से जानकर कहा-

'राजन् ! आज से सातवें दिन तुम्हारी मृत्यु हो जावेगी और तुम मरकर अपने विष्ठागृह में पंचरंगी कीड़ा हो जावोगे।'

राजा को अपनी इस भावी गति को सुनकर बहुत ही आश्चर्य हुआ और साथ ही महान् दुःख हुआ। उनके मन में कुछ शंकाएं उठने लगीं-

'क्या यह सच है? मुनिराज के वचन तो झूठे नहीं होते हैं ऐसा सुनने में आता है सो क्या ऐसा भी हो जायेगा! मैं मरकर मेरे ही विष्ठागृह में कीड़ा हो जाऊँगा।'

मुनिराज ने सही प्रतीति के लिए कहा-

'राजन्! इसी बीच शहर में प्रवेश करते समय तुम्हारे मुँह में विष्ठा प्रविष्ट हो जायेगी। तुम्हारा

---

१. पद्मपुराण पर्व १३, पृ. ३।

छत्र भंग हो जावेगा और आज से सातवें दिन बिजली के गिरने से तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी।'

राजा चिंतित और दुःखी वापस घर आ गया। एक दिन उद्यान से शहर में प्रवेश करते समय रथ के घोड़ों के पांव की ठोकर से विष्ठा उछलकर राजा के मुंह में आ पड़ी। यहां से वह थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि अकस्मात् जोर की आंधी आने से उनका छत्र टूटकर गिर गया। इस घटना से राजा को मुनिराज का कथन सत्य प्रतीत होने लगा। तब उसने अपने पुत्र देवरति को बुलाकर मुनि द्वारा कथित सब बातें सुना दीं और बोले—

'हे पुत्र! यदि मैं मरकर विष्ठागृह में कीड़ा हो जाऊँ तो तुम शीघ्र ही आकर मुझे मार देना कि जिससे मैं इस निंद्ययोनि में अधिक दिन न रह सकूँ।

पिता की बात पुत्र ने स्वीकार कर ली। फिर भी राजा के मन में संदेह झूलता ही रहा, तब उसने अपनी रक्षा के उपायस्वरूप एक लोहे का बड़ा संदूक बनवाया। उसमें आप बैठ गये और मंत्रियों से कहा कि—

'तुम लोग इस संदूक को बंदकर गंगा नदी के गहरे जल में रख दो कि जिससे बिजली के गिरने से इस पर कुछ भी असर नहीं होगा और मैं बच जाऊँगा। फिर अमुक दिन के बाद तुम लोग संदूक को वापस लाकर हमें खोल देना।'

मंत्रियों ने वैसा ही किया, राजा का संदूक गंगा नदी में रख दिया। किन्तु होनहार टलती नहीं है और मुनियों के वचन झूठे नहीं होते हैं। ठीक मुनि के कहे अनुसार उसी दिन बादल घिर आए, बिजली चमकने लगी। इसी समय बड़े मच्छ ने संदूक को एक ऐसा उथेला दिया कि संदूक जल के बाहर दो हाथ ऊपर तक उछल आया। संदूक का बाहर होना और आकाश में बिजली का गिरना एक साथ हो गया। बिजली ठीक संदूक पर पड़ी कि जिसने लोहे को भेद कर राजा को जला दिया। वह शुभ राजा उसी क्षण मरकर तिर्यंच योनि में अपने ही विष्ठागृह में एक बड़ा सा पंचरंगी कीड़ा हो गया। तूफान और बिजली के बाद राजा के पुत्र देवरति ने पहले तो गंगा के किनारे से संदूक मंगाया, पिता को मरा हुआ पाकर बहुत ही दुःखी हुये, अन्त्येष्टि क्रिया करके विष्टागृह के निकट गये और पंचरंगी कीड़ा देखकर उसे मारने के लिए तलवार उठाई किन्तु वह कीड़ा उसी गूथ में छिप गया। बार-बार वह कीड़ा बाहर आता था और देवरति की तलवार उठते ही अंदर घुस जाता था। अंत में देवरति वापस चला गया। परन्तु इस घटना से उसे अत्यन्त दुःख और आश्चर्य हो रहा था।

सो उसने महामुनि के दर्शन कर उनसे सारी घटना सुना दी। मुनिराज ने देवरति को समझाया और कहा—

'हे वत्स! जीव जिस गति में जाता है वहीं आसक्त हो जाता है पुनः मरना नहीं चाहता है। भले ही वह कितना ही निकृष्ट योनि में क्यों न हो। अतः तुम्हारे पिता का जीव भी अब तिर्यंच योनि से मरना नहीं चाह रहा है। अब वह उसी में अपने को सुखी मानेगा। संसार में प्रत्येक जीव अनादिकाल से इसी तरह नाना योनियों में जन्म लेता रहता है कोई भी ऐसी निकृष्ट योनि नहीं है कि जिसमें इस जीव ने जन्म न लिया हो और उत्कृष्ट योनियों में भी राजा, महाराजा तो क्या नव ग्रैवेयक तक के अहमिन्द्र को भी प्राप्त कर लिया है किन्तु पुनः मिथ्यात्व के निमित्त पंच परावर्तनरूप संसार में भटकता ही रहा है। अतः किस चीज का गर्व करना यह मान कषाय ही जीवों को नीचयोनियों में ले जाने वाली है। इसीलिए तो तुम पूजा में पढ़ते हो कि 'भूप कीड़ों में गया।'

अतः जाति, कुल आदि के घमंड को छोड़कर मार्दव धर्म धारण करना चाहिए। मार्दव धर्म के प्रसाद से उच्चगोत्र का आस्रव होता है। रामचंद्र ने अपने कुल का गर्व नहीं किया किन्तु गौरव रखा अतः आज भी कहते हैं कि-

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जायें पर वचन न जाई।।

हम मनु की संतान हैं 'मनोरपत्यं मानवः'। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम मानवता को अपनावें। जो सदैव अपने कुल, जाति और धर्म का गौरव रखते हुये गर्व का त्याग करते हैं वे ही अपने स्वाभिमान की रक्षा करके इस लोक में सर्वमान्य होते हैं तथा परलोक में उच्च कुल में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि-

'जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।' उच्च जाति, गोत्र और क्रिया आदि शुक्लध्यान के हेतु माने गये हैं। इसलिए उच्च वर्ण आदि को मोक्ष के लिए कारणसामग्री मानकर मान कषाय को छोड़कर विनय का आश्रय लेकर मार्दव धर्म को हृदय में स्थान देना चाहिए।

जाप्य—ॐ ह्रीं उत्तममार्दवधर्मांगाय नमः।

उत्तम आर्जव धर्म

आर्जवः स्यादृजोर्भावः त्रियोगं सरलं कुरु।
तिर्यग्योनिर्भवेल्लोके माययानंतकष्टदा।।१।।
छद्मतः सगरो राजाऽवमेने मधुपिंगलः।
सोऽपि कालासुरो भूत्वा हिंसायज्ञमकारयत्।।२।।
साधुर्मृदुमतिः छद्मभावात् हस्ती बभूवच।
धिक् धिक् मायामहादेवीं यत्प्रसादाद् भुवि भ्रमेत।।३।।
ऊर्ध्वगः ऋजुभावेन कौटिल्येन चतुर्गतिः।
यत्ते रोचेत तत्कुर्याः किमन्यैर्बहुजल्पनैः।।४।।
विश्वासं परतः त्यक्त्वा, स्थित्वा स्वस्मिन् स्वयं स्वतः।
त्रियोगमचलं कृत्वा स्वकं रत्नत्रयं लभे।।५।।

ऋजु भाव कहा आर्जव उत्तम, मन वच औ काय सरल रखना।
इन कुटिल किये माया होती, तिर्यंचगति के दुःख भरना।।
नृप सगर छद्म से ग्रन्थ रचा, मधुपिंगल का अपमान किया।
उसने भी कालासुर होकर, हिंसामय यज्ञ प्रधान किया।।१।।

मृदुमति मुनि ने ख्याती पूजा-हेतू माया को ग्रहण किया।
देखो हाथी का जन्म लिया, इस माया को धिक्कार दिया।।
यह कुटिल भाव गति कुटिल करे, औ अशुभ नाम का बंध करे।
ऋजुगति से मुक्तिगमन होता, ऋजुभावी सुख की प्राप्त करे।।२।।

जो मन में हो वह ही वच से, तन चेष्टा भी वैसी होवे।
दुर्गति स्त्री पशुयोनि छुटे, भव भव का भ्रमण तुरत खोवे।।
मैं अपने योग सरल करके, अपने में ही नितवास करूँ।
पर से विश्वास हटा करके, अपने में ही विश्वास करूँ।।३।।

माया कषाय से रहित स्वयं, आत्मा ऋजु गुण से मंडित है।
यह भाव विभाव कहा ऋषि ने, बहिरात्मा इसमें रंजित है।।
मैं अन्तर आत्मा निर्विकार, शुद्धात्म स्वयं का ध्यान करूँ।
पर से अपने को पृथक् समझ, निज परमात्मा को प्राप्त करूँ।।४।।

अपने त्रय योग अचल करके, रत्नत्रय निजगुण प्राप्त करूँ।
योगों की चंचलता छूटे, अपना भव भ्रमण समाप्त करूँ।।
मन वच काया से आत्मा को, ध्यानाचल से मैं पृथक् करूँ।
निजदर्शन ज्ञान वीर्य सुखमय, अनुपम निजपद के विभव भरूँ।।५।।

'योगस्यावक्रता आर्जवम्'[1]। मन-वचन-काय की सरलता का नाम आर्जव है। ऋजु अर्थात् सरलता का भाव आर्जव है। अर्थात् मन-वचन-काय को कुटिल नहीं करना, इस मायाचारी से अनंतों कष्टों को देने वाली तिर्यंच योनि मिलती है। सगर राजा ने सुलसा के स्वयंवर में मायाचारी से मधुपिंगल का अपमान किया था पुनः वह मधुपिंगल मरकर 'काल' नाम का असुरदेव हो गया और उसने द्वेष में आकर हिंसामयी यज्ञ को चला दिया। मृदुमति नाम के मुनि ने मायाचारी की, जिसके फलस्वरूप वह त्रिलोकमंडन हाथी हो गया। इसलिए इस माया नाम की महादेवी को धिक्कार हो! धिक्कार हो! कि जिसके प्रसाद से यह जीव संसार में परिभ्रमण करता है। सरल भाव से ऊर्ध्वगति होती है। इसका अर्थ यह भी है कि ऋजुगति से जीव मोक्षगमन करता है और कुटिलता से चारों गतियों में अर्थात् वक्रगति से संसार में भ्रमण करता है। अतः बहुत अधिक कहने से क्या इसमें से तुझे जो रुचता है सो कर। परवस्तु से विश्वास को त्यागकर अपने में आप स्वयं स्थित होकर मन-वचन-काय को स्थित करके अपने रत्नत्रय को प्राप्त करूँगा।।१ से ५।। ऐसी भावना प्रतिदिन भाते रहना चाहिए।

सूत्र में 'मायातैर्यग्योनस्य' माया से तिर्यंच योनि होती है तथा 'योगवक्रताविसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः।' मन-वचन-काय की कुटिलता से अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है।

श्री शुभचंद्राचार्य कहते हैं—वीतराग सर्वज्ञ भगवान ने मुक्तिमार्ग को सरल कहा है, उसमें मायावीजनों के स्थिर रहने की योग्यता स्वप्न में भी नहीं है।

मायाचारी के निमित्त से राजा सगर को दुर्गति में जाना पड़ा है और उसी निमित्त से हिंसामयी यज्ञ की परंपरा चल पड़ी है।

इसी भरतक्षेत्र में 'चारणयुगल' नाम का नगर है। उसमें सुयोधन नाम का राजा राज्य करता था, उसकी 'अतिथि' नाम की पट्टरानी थी, इन दोनों के 'सुलसा' नाम की पुत्री हुयी थी। उसके स्वयंवर के लिए विधिवत् सर्वत्र सूचना पहुँचने पर बहुत से राजागण 'चारणयुगल' नगर में आ गये।

---

१. सर्वार्थसिद्धि।

अयोध्या का राजा सगर उस स्वयंवर में जाने को उत्सुक था कि उसने अपने तेल लगाने वाले के मुख से सुना कि शिर में एक सफेद केश आ गया है। राजा कुछ विरक्त हो गया। राजा सगर की मंदोदरी धाय ने उसका फल किसी उत्तम वस्तु का लाभ सूचक बतला दिया और मंत्री विश्वभू ने आकर राजा से कहा कि महाराज! हम ऐसा ही प्रयत्न करेंगे कि वह 'सुलसा' तुम्हें ही वरण करे। सगर की मंदोदरी धाय ने सुलसा के पास जाकर राजा सगर के अनेकों गुणों का वर्णन करके 'सुलसा' को राजा सगर में आसक्त कर लिया। इधर रानी 'अतिथि' को जब यह बात मालूम हुयी तब उसने राजा सगर की निन्दा करके अपने भाई के पुत्र 'मधुपिंगल' को वरण करने के लिए सुलसा को समझाया और मंदोदरी का सुलसा के पास आना-जाना बंद कर दिया। मंदोदरी ने यह बात राजा सगर को कही और राजा सगर ने अपने 'विश्वभू' मंत्री को बुलाकर कार्यसिद्धि के लिए आदेश दिया।

बुद्धिमान् मंत्री ने राजा की बात स्वीकार कर कूटनीति से 'स्वयंवर विधान' नामक एक ग्रन्थ बनवाया और उसमें वर के अच्छे-बुरे लक्षण दिये और उस ग्रन्थ को संदूकची में बंद करके गुप्त रूप से उसी नगर के बगीचे में गड़वा दी। किसी समय वह संदूकची निकाली गयी और यह 'प्राचीन शास्त्र' है ऐसा समझकर वह पुस्तक राजकुमारों के समूह में बंचवाई गयी।

उसमें लिखा था कि कन्या और वर के समुदाय में जिसकी आंख सफेद और पीली हो, माला के द्वारा उसका सत्कार नहीं करना चाहिए अन्यथा कन्या की मृत्यु हो जाती है या वर मर जाता है इत्यादि। ये बातें मधुपिंगल में मौजूद थीं अतः वह यह सब सुन लज्जावश वहां से बाहर चला गया ओर हरिषेण गुरू के पास जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। राजा सगर में आसक्त सुलसा ने स्वयंवर में उसे ही वरण कर लिया।

मधुपिंगल मुनिराज किसी दिन आहार के लिए किसी नगर में गये थे। वहाँ कोई निमित्तज्ञानी उनके लक्षण देखकर कहने लगा कि 'इस युवा के चिन्ह तो पृथ्वी का राज्य करने के योग्य हैं, परन्तु यह भिक्षा भोजन करने वाला है इससे ऐसा जान पड़ता है कि इन सामुद्रिक शास्त्रों से कोई प्रयोजन नहीं है यह सब व्यर्थ है।" उसके साथ दूसरे निमित्तज्ञानी ने कहा कि 'यह तो राज्य लक्ष्मी का ही उपभोग करता किन्तु सगर के मंत्री ने झूठमूठ कृत्रिम शास्त्र दिखलाकर इसे दूषित ठहरा दिया इसलिए इसने लज्जावश दीक्षा ले ली है।' उस निमित्तज्ञानी के वचन सुनकर मधुपिंगल मुनि क्रोधाग्नि से प्रज्ज्वलित हो गये। 'मैं इस तप के फल से अगले जन्म में राजा सगर के समस्त वंश को निर्मूल करूँगा।" ऐसा उन बुद्धिहीन मधुपिंगल ने निदान कर दिया। अंत में मरण करके वह असुरेन्द्र की महिष जाति की सेना की पहली कक्षा में चौंसठ हजार सुरों का नायक 'महाकाल' नाम का असुर हुआ, वहां पर कुअवधिज्ञान से पूर्वभव के सब वृत्तांत विदितकर वह देव क्रोध से भर गया। मंत्री और राजा सगर के ऊपर उसका बैर और दृढ़ हो गया, फिर भी वह उन्हें जान से

नहीं मारना चाहता था किन्तु उसके बदले में वह उनसे कोई भयंकर पाप करवाना चाहता था। अपने अभिप्राय को सफल करने के लिए वह उपाय और सहायकों की चिंता में यत्र-तत्र घूम रहा था, इधर उसके अभिप्राय को सिद्ध करने वाली दूसरी घटना हो गयी।

इसी भरतक्षेत्रसंबंधी धवलदेश में एक 'स्वस्तिकावती' नाम का नगर है। उसके राजा विश्वावसु की श्रीमती रानी से 'वसु' नाम का पुत्र हुआ था। उसी नगर में 'क्षीर कदंब' नाम का एक श्रेष्ठ अध्यापक ब्राह्मण था। उसके पास उसका पुत्र पर्वत, दूसरे देश से आया हुआ नारद और राजा का पुत्र वसु ये तीन छात्र पढ़ते थे। एक दिन ये तीनों छात्र कुशा आदि लाने के लिए गुरु के साथ वन में गये थे। वहां एक पर्वत की शिला पर 'श्रुतधर' नाम के गुरु विराजमान थे। अन्य तीन मुनि उन श्रुतधर मुनिराज से अष्टांग निमित्तज्ञान का अध्ययन पूर्ण होने पर तीनों मुनि गुरु की स्तुति कर विनय से बैठ गये और श्रुतधर मुनि ने उनकी परीक्षा के लिए प्रश्न किया कि 'जो ये तीन छात्र बैठे हैं इनमें किसका क्या नाम है? क्या कुल है? क्या अभिप्राय है? और अंत में किसकी क्या गति होगी? यह सब आप लोग कहें। उनमें से एक मुनि ने कहा कि यह जो राजा का पुत्र वसु है वह तीव्र रागादि परिणामों से दूषित है, हिंसारूप धर्म का निश्चय करके नरक जावेगा। दूसरे मुनि ने कहा कि जो यह ब्राह्मण का लड़का पर्वत है वह निर्बुद्धि क्रूर है यह 'महाकाल' के उपदेश से अथर्ववेद नामक पाप प्रवर्तक शास्त्र का अध्ययन कर खोटे मार्ग का उपदेश देगा और हिंसा में धर्म बतलाकर हिंसा के पाप से नरक जावेगा। तीसरे मुनि ने कहा कि जो यह पीछे बैठा है इसका नाम नारद है, यह जाति का ब्राह्मण है, बुद्धिमान है, धर्मध्यान का उपदेश देगा, आगे चलकर 'गिरितट' नामक नगर का राजा होगा और अंत में परिग्रह छोड़कर तपस्वी होकर अंतिम अनुत्तर विमान में उत्पन्न होगा। इस प्रकार से तीनों मुनियों के वचन सुनकर गुरुदेव अत्यधिक प्रसन्न हुये।

इधर एक वृक्ष के आश्रय में बैठे क्षीरकदंब उपाध्याय ने यह सब सुन लिया और बहुत ही दुखी हुआ। पुनः दीक्षित होकर तपश्चरण करने लगा। एक वर्ष बाद राजा विश्वावसु वसु को राज्यपद देकर तपोवन को चले गये। इधर समस्त शास्त्रों का जानने वाला पर्वत भी पिता के स्थान पर बैठकर सब प्रकार की शिक्षाओं की व्याख्या प्रेम से करने लगा। उसी नगर में सूक्ष्म बुद्धि वाला नारद भी अनेक विद्वानों के साथ निवास करता था और शास्त्रों की व्याख्या द्वारा यश प्राप्त करता था।

किसी एक दिन शास्त्र की सभा में 'अजैर्होतव्यं' इस वाक्य का अर्थ निरूपण करने में बड़ा भारी विवाद चल पड़ा। नारद कहता था कि जिस में अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई है ऐसा तीन वर्ष का पुराना जो 'अज' कहलाता है और उससे बनी हुयी वस्तुओं के द्वारा अग्नि में आहुति देना यज्ञ कहलाता है। नारद का यह व्याख्यान गुरु परम्परा के अनुसार निर्दोष था। फिर

भी पर्वत कहता था कि 'अज' शब्द एक पशु विशेष का वाचक है अतः उससे बनी हुई वस्तुओं के द्वारा अग्नि में होम करना यज्ञ कहलाता है। इन दोनों की बातें सुनकर उत्तम प्रकृति वाले पुरुष नारद की प्रशंसा करने लगे और कहने लगे कि वह पर्वत नारद से ईर्ष्या करके ही प्राणीवध को धर्म कह रहा है। सबने पर्वत का तिरस्कार किया। सबके द्वारा बाहर निकाला गया पर्वत मान भंग से वन में चला गया। वहीं महाकाल नामक वह असुर ब्राह्मण के वेश में घूम रहा था। महाकाल ने पर्वत से पूछा कि तुम कहाँ से आये हो? पर्वत ने भी प्रारंभ से लेकर सारा वृत्तांत इस ब्राह्मण वेषधारी असुर को सुना दिया। यह सुनकर महाकाल ने यह निर्णय लिया कि यह हमारे शत्रु के वंश को निर्वंश करने में समर्थ है और उसने कहा कि देखो! तुम्हारे पिता ने और मैंने एक गुरु के पास विद्याध्ययन किया है अतः वे मेरे साधर्मी भाई हैं, तुम डरो मत मैं तुम्हारा सहायक हूं। इस प्रकार उस महाकाल ने पर्वत की इष्टसिद्धि के लिए 'अथर्ववेद' संबंधी साठ हजार ऋचाएं पृथक्-पृथक् बनाईं और पर्वत को उनका अध्ययन कराया और कहा कि पूर्वोक्त मंत्रों से यदि अग्नि में पशुओं की हिंसा की जावे तो इष्टफल प्राप्त होगा। तदनंतर उन दोनों ने विचार-विमर्श करके अयोध्या में जाकर यज्ञ द्वारा अपना प्रभाव फैलाना शुरू किया।

महाकाल ने अपने क्रूर असुरों को बुलाकर अयोध्या में तीव्र ज्वर आदि कराकर पीड़ा उत्पन्न करा दी और स्वयं पर्वत के साथ राजा सगर के पास जाकर बोला कि हे राजन्! मैं आपके राज्य के इस घोर अमंगल को मंत्र सहित यज्ञ विधि द्वारा शीघ्र ही शांत कर दूँगा। विधाता ने पशुओं की सृष्टि यज्ञ के लिए ही की है। इत्यादि अनेक प्रकार के शब्दों से राजा को विश्वास दिलाकर पापी ने कहा कि तुम यज्ञ की सिद्धि के लिए हजार पशुओं का तथा यज्ञ के योग्य अन्य पदार्थों का संग्रह करो। राजा सगर ने भी सब वस्तुएं उसके लिए मँगा दीं।

इधर पर्वत ने यज्ञ प्रारम्भ कर प्राणियों को मंत्रित करके यज्ञ में डालना शुरू किया, उधर महाकाल नामक असुर ने विक्रिया से प्राणियों को विमान में बिठा-बिठा कर शरीर सहित आकाश में जाते हुये दिखलाया और लोगों को विश्वास दिला दिया कि ये सब पशु स्वर्ग गये हैं और उसी समय उसने देश के सब अमंगल और उपसर्ग दूर कर दिये। यह देख बहुत से भोले प्राणी उसकी माया से मोहित हो गये और स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा से यज्ञ में मरने की इच्छा करने लगे। यज्ञ के समाप्त होने पर उस दुष्ट पर्वत ने विधिपूर्वक एक उत्तम जाति का घोड़ा तथा राजा की आज्ञा से उसकी सुलसा नाम की रानी को भी होम दिया। प्रिय स्त्री के वियोग से शोक से दग्ध हुआ राजा सगर अत्यधिक चिंतित होता हुआ, इसमें संशय करने लगा कि यह प्राणीहिंसा धर्म है या अधर्म? राजा संशय करता हुआ मतिवर नामक मुनि के पास गया और नमस्कार करके उसने पूछा—कि हे स्वामिन्!

मैंने जो कार्य प्रारंभ किया है उसका फल पुण्यरूप है या पापरूप? मुनिराज ने उसे अहिंसा धर्म का उपदेश दिया और कहा कि यह पापकार्य सप्तम पृथ्वी को भेज देगा इत्यादि। मुनि के वचनों को सुनकर राजा सगर ने आकर ज्यों की त्यों बात पर्वत से कह दी। पर्वत ने कहा कि वह नंगा साधु कुछ नहीं जानता है और महाकाल ने पुनः विमान में बैठे हुये सुलसा रानी को और सभी पशुओं को देव पर्याय प्राप्त किये हुये दिखाया। इस माया से वंचित होता हुआ वह राजा पुनः पाप में ही प्रवृत्त हो गया और मरकर सातवें नरक चला गया। अत्यंत दुष्ट महाकाल असुर भी तीव्र क्रोध करता हुआ उसे और अधिक दंड देने के लिए नरक में गया। तीसरे नरक तक न पाकर तथा यह सातवें नरक गया है ऐसा समझकर वापस आ गया। तभी से यज्ञ में जीवों को होमा जाने लगा है।

गुणभद्र स्वामी कहते हैं-

भेयं मायामहागर्तात् मिथ्याघनतमोमयात्। यस्मिन् लीना न लक्ष्यंते क्रोधादिविषमाहयः।।

निविड़ मिथ्यात्वरूपी अंधकार से व्याप्त इस मायारूपी महा गड्ढे से हमेशा डरना चाहिए क्योंकि इसमें छिपे हुये क्रोध आदि विषम सर्प दिख नहीं सकते हैं।

गुणनिधि नामक मुनिराज दुर्गगिरि पर्वत पर चार माह योग में लीन हो गये। सुर-असुरों ने उनकी स्तुति की। वे चारण ऋद्धिधारी हैं अतः योग समाप्त होने पर वे आकाश मार्ग से चले गये। उसी समय मृदुमति मुनि आकर गांव में आहार हेतु गये। सो नगर वासियों ने "ये वे ही मुनि हैं," ऐसा जानकर उनकी विशेष भक्ति की तथा कहा भी कि 'आप वे ही महाराज हो जो पर्वत पर ध्यान कर रहे थे।' भोजन के स्वाद में आसक्त होकर मृदुमति ने यह नहीं कहा कि मैं वह नहीं हूँ उसने सोचा कि यदि मैं यह बता दूँ कि मैं वह नहीं हूँ तो लोग मेरी भक्ति कम करेंगे अतः उन्होंने मायाचारी से अपने को पुजवाया। अतः वे अंत में स्वर्ग में जाकर वहां के सुख को भोग कर पुनः इस माया के पाप से मरकर 'त्रिलोक मंडन' नाम के हाथी हो गये। यह माया हमेशा आत्म वंचना ही करती है। काष्ठांगार ने मायाचारी से विश्वासघात करके सत्यंधर महाराज को मार डाला। आखिर जीवंधर कुमार ने काष्ठांगार को मारकर अपना राज्य हस्तगत कर लिया।

दुर्योधन ने पांडवों के प्रति मायाचारी करके लाख के घर में उन्हें भेजा, पुनः लोभी ब्राह्मण को धन देकर उस मकान में आग लगवा दी। पांडव अपने पुण्य से महामंत्र के प्रभाव से बच निकले किंतु दुर्योधन की निंदा आज तक हो रही है और अभी भी वे नरक में दुःख उठा रहे हैं। अतः मायाचारी का त्याग करके सरल परिणामों द्वारा अपनी आत्मा की उन्नति और ऊर्ध्वगति करनी चाहिए।

जाप्य— ॐ ह्रीं उत्तमआर्जवधर्मांगाय नमः।

उत्तम शौच धर्म

शुर्चेभावो भवेत् शौचमन्तर्लोभो निवार्यताम्।
या निर्लोभवती देवी त्वया नित्यमुपास्यताम्।।१।।
कामधेनुं ऋषिं हत्वा कृतवीरोऽहरत् ततः।
जघानैकविंशतिशः क्षत्रियान् जमदग्निजः।।२।।
देहीति वाक्यतो नूनं, नाऽप्यणुवल्लघुर्भवेत्।
दाता गगनवल्लोके, विशालः स्याच्च कीर्तिमान्।।३।।
जलाद्यैर्बाह्यशुद्धिं च, कुर्वंति श्रावकाः सदा।
स्वात्मशुद्धिं च कुर्वंति साधवो ब्रह्मचारिणः।।४।।
ज्ञानामृतैरहं शश्वदात्मकर्ममलं नुदन्।
स्वयं शौचगुणैः लप्स्ये स्वात्मसौख्यामृतं शुचि।।५।।

शुचि का जो भाव शौच वो ही, मन से सब लोभ दूर करना।
निर्लोभ भावना से नित ही, सब जग को स्वप्न सदृश गिनना।।
जमदग्नि ऋषि की कामधेनु, हर ली वह कार्तवीर्य लोभी।
बस परशुराम ने नष्ट किया, क्षत्रिय कुल सात बार क्रोधी।।१।।

तनु इन्द्रिय जीवन औ निरोग, के लोभ महादुःखदायी हैं।
इनको तज निज गुण का लोभी, मैं बनूँ यही सुखदायी है।।
निर्लोभवती भगवती कही, उसको मैं वन्दन करता हूँ।
जिसके प्रसाद से सभी जगत्, को इन्द्रजाल सम गिनता हूँ।।२।।

'देहि' यह शब्द उचरते ही, जन परमाणु सम लघु होते।
आकाश समान विशाल वही, जो जन देकर दानी होते।।
जल मंत्र और व्रत से त्रयविध, स्नान सदा जो करते हैं।
शुचि धौत वसन धरकर पूजन, दानादि क्रिया जो करते हैं।।३।।

व्यवहार शुद्धि करके श्रावक, मुनि निश्चय शुद्धी करते हैं।
वे ब्रह्मचारी हैं नित्य शुचि, रत्नत्रय से शुचि रहते हैं।।
यद्यपि रज स्वेद सहित मुनिवर, अतिशुष्क मलिनतन होते हैं।
पर वे अन्तःशुचि गुणधारी, नितकर्म मैल को धोते हैं।।४।।

यह आत्मा कर्म मलीमस है, बस प्राणों को धर धर मरता।
जब तन से लोभ सम्मत हरता, तब बाह्याभ्यंतर मल हरता।।
मैं ज्ञानामृत का लुब्धक बन, पर में सब लोभ समाप्त करूँ।
तब स्वयं शौचगुण से पवित्र, अपने में परमाल्हाद भरूँ।।५।।

'प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम्'[1]। प्रकर्षता को प्राप्त ऐसे लोभ का अभाव करना शौच धर्म है। शुचि—पवित्रता का भाव शौच है अर्थात् अंतरंग के लोभ को दूर करिये और जो निर्लोभवती देवी है उसकी नित्य ही उपासना कीजिये। राजा कृतवीर ने जमदग्नि ऋषि को मारकर उसकी कामधेनु का अपहरण कर लिया तब ऋषि पुत्र परशुराम ने भी क्रुद्ध होकर इक्कीस बार राजवंश को समूल नष्ट कर दिया। 'देहि' अर्थात् देओ! इस वाक्य से निश्चित ही यह मनुष्य अणु के समान लघु हो जाता है और देने वाला दाता लोक में आकाश के समान विशाल और कीर्तिमान हो जाता है। श्रावक हमेशा जल आदि से बाह्य शुद्धि करते हैं और साधुगण तथा ब्रह्मचारी जन आत्म शुद्धि करते हैं। मैं ज्ञानरूपी अमृत से हमेशा आत्मा के कर्म मल को दूर करते हुये स्वयं शौच गुणों से पवित्र अपनी आत्मा के सुखरूपी अमृत को प्राप्त करूँगा।।१ से ५।। प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा ऐसी भावना करते रहना चाहिए।

शुद्धि के मुख्य रूप से दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यंतर। जल आदि से बाह्य शरीर आदि के मल का नाश होता है और लोभ कषाय आदि के त्याग से अंतरंग की पवित्रता होती है। गंगा आदि तीर्थों में स्नान करने से यदि पापमल धुलते होते तो सारे मगरमच्छ मोक्ष चले जाते। पापमल को धोने के लिए धर्मतीर्थ में ही स्नान करना पड़ेगा। निर्धन धन को प्राप्त न करके दुःखी होते हैं और धनी लोग भी तृप्त न होकर दुःखी रहते हैं। बड़े कष्ट की बात है कि संसार में सभी दुःखी हैं बस एक मुनि ही सुखी है। आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसमें सारा विश्व अणु के समान प्रतीत होता है फिर बताओ यदि सबको इस विश्व का बंटवारा करके दिया जाये तो किसके पल्ले कितना पड़ेगा?

धन की आशा का उदाहरण देखिये—

चम्पापुर के राजा अभयवाहन की रानी पुण्डरीका बहुत ही दयालु थी। उसी शहर में लुब्धक नाम का एक सेठ रहता था। इसकी स्त्री का नाम नागवसु था। इनके दो पुत्र थे—गरुड़दत्त और नागदत्त।

लुब्धक के पास बहुत धन था किन्तु वह महाकंजूस था। उसने बहुत कुछ खर्च करके पक्षी

---

१. सर्वार्थसिद्धि।

मोर, कबूतर, तोता आदि तथा पशुओं में हिरण, हाथी, घोड़ा, सिंह, ऊँट, बकरा आदि अनेक पशु-पक्षियों की सोने की जोड़ियाँ बनवाई थीं। इनके सींग, पूँछ, खुर आदि में अच्छे-अच्छे बहुमूल्य हीरा, मोती, माणिक, रत्नों को जड़वाया था। जो इन जोड़ियों को देखता वह बहुत ही खुश होता और लुब्धक सेठ की तारीफ किये बगैर नहीं रहता। स्वयं लुब्धक भी अपनी इस जगमगाती प्रदर्शनी को देखकर फूला नहीं समाता था। इतना सब कुछ करने के बावजूद भी उसे एक दुःख खटकता रहता था। वह यह कि उसने बैल की जोड़ी बनवाना शुरू की थी, उसमें एक ही बैल बन पाया था किन्तु सोना न रह जाने के कारण उसकी जोड़ी नहीं बन पाई थी। बस वह उस जोड़ी को पूरी करने की चिंता में ही लगा रहता था।

एक बार वर्षाऋतु में सात दिन तक लगातार पानी की झड़ी लगी रही। नदी-नाले सब में पूर आ गया। तब भी वह कर्मवीर लुब्धक ऐसे समय में भी दूसरे बैल के लिए धन कमाने हेतु लकड़ी इकट्ठा करने के लिए स्वयं नदी पर गया और बहती नदी में से उसने बहुत से लकड़ियाँ निकाल कर उनकी एक गठरी बनाई और उसे आप ही अपने सिर पर लादकर चलने लगा। देखो तो सही लोभियों की तृष्णा कितनी विशाल होती है!

इधर रानी पुण्डरीका अपने महल में बैठी हुई झरोखे से सारा दृश्य देख रही थी। महाराज अभयवाहन भी राजमहल में ही थे तब रानी ने राजा से कहा-

'हे महाराज! यह देखिये आपके शहर में इतना दरिद्र प्राणी रह रहा है। देखो तो सही! उसने नदी के बहते पूर से कितनी मेहनत से यह लकड़ियाँ इकट्ठी की हैं। यदि यह बेचारा इस पूर के प्रवाह में बह जाता तो अपने प्राणों से और जाता। ओह! इस बेचारे गरीब पर दया कीजिये और उसे उचित धन देकर उसकी दरिद्रता दूर कीजिये।'

इतना सुनते ही राजा ने फौरन नौकर भेजकर उसे बुलाया। उसके आने पर राजा ने कहा—

'मालूम पड़ता है तुम्हारे घर की हालत अच्छी नहीं है। इसका मुझे खेद है कि इतने दिनों तक मेरा तुम्हारी ओर ध्यान नहीं गया। खैर! अभी तुम्हें जितने रुपये-पैसों की जरूरत हो, तुम मेरे खजाने से ले जावो, लो मैं तुम्हें एक पत्र लिखे देता हूँ।'

इतना कहकर राजा पत्र लिखने लगे कि वह कहता है—

'महाराज! मुझे और कुछ नहीं चाहिए, बस एक बैल की जरूरत है। कारण मेरे पास एक बैल तो है पर उसकी जोड़ी मिलाना है।'

राजा ने कहा—'अच्छी बात है, तो जावो हमारे यहाँ बाड़े में बहुत से बैल हैं, उनमें से तुम्हें जो पसंद आये उसे ले जाओ।'

वह राजा के नौकरों के साथ गया और सारे बैलों को देखकर बोला—
'मेरा बैल सरीखा इनमें से एक भी नहीं है।
तब नौकर उसे राजा के पास वापस ले आये। राजा ने पूछा—

'भाई! तुम्हारा बैल कैसा है, मेरी समझ में नहीं आया, क्या तुम मुझे उसे दिखाओगे?

लुब्धक बड़ी खुशी के साथ महाराज को अपना बैल दिखाना स्वीकार कर उन्हें अपने साथ घर लिवा लाया और अपने बड़े से हाल में रखे हुये सारे पशु-पक्षियों के जोड़े दिखाने लगा पुनः एक अकेले बैल को भी दिखाया। राजा लुब्धक के इतने सारे वैभव को देखकर दंग रह गये और सोचने लगे—'अरे! जिसे तुमने इतना बड़ा दरिद्री समझा था वह इतना बड़ा सेठ ?'

लुब्धक की स्त्री नागवसु अपने यहाँ राजा को पधारे देखकर खुशी से उनके भेंट के लिए सोने के थाल में बहुमूल्य सुंदर-सुंदर रत्नों को सजाकर ले आयी और पति के हाथ में देती हुयी बोली—'लीजिये, यह राजा को भेंट कीजिए।'

रत्नों के थाल को देना सुनते ही बेचारे महाकंजूस लुब्धक की तो ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे रह गयी। क्या करता, महाराज साहब उसके साथ ही थे। अतः उसने काँपते हुये वह थाल हाथ में ले लिया और तो और ज्यों ही उसने थाल देने को महाराज के पास हाथ बढ़ाया तो लोभ के मारे उसकी अँगुलियां सर्प के फण के सदृश दीखने लगीं। तब राजा ने उसके लोभ की सारी स्थिति जान ली और उससे नफरत करते हुये बोले—

'अहो! तू कितना कंजूस और कितना मूर्ख है। देख, तेरे हाथों से दान कैसे दिया जा सकता है? तू तो 'फणहस्त' है।

ग्लानि से मुख बिगाड़कर ऐसा कहते हुये महाराज अभयवाहन अपने सामंतों के साथ उसके घर से तत्क्षण ही निकल पड़े और रास्ते में उसके लोभकषाय की चर्चा करते हुये अपने राजमहल वापस आ गये।

इधर लुब्धक की दूसरा बैल बनाने की आकांक्षा अभी पूरी नहीं हुयी थी। अतः वह धन कमाने के लिए सिंहलद्वीप गया। वहां से चार करोड़ का धन कमा कर सारा माल-असबाब जहाज में लादकर वापस आ रहा था कि तूफान ने जहाज को समुद्र में उलट दिया। लुब्धक सेठ सारे धन को लेकर गहरे समुद्र में डूब गया और धन के अतीव लोभ से मरकर अपने ही घर में साँप हो गया। वह सर्प सदा अपने धन की रक्षा किया करता था, यहां तक कि अपने पुत्रों को भी धन लेने नहीं देता था। तब लुब्धक सेठ के बड़े लड़के ने क्रोध में आकर उसे मार डाला। उस समय वह बहुत ही खोटे रौद्र परिणामों से मरकर चौथे नरक में चला गया। देखो! लोभ के वश

हुआ बेचारा सेठ न ठीक से खा सका, न खिला सका और न किसी को फूटी कौड़ी दे सका, केवल संग्रह-संग्रह में ही लगा रहा और मरकर तिर्यंच तथा नरकों के दुखों का भाजन बन गया। इसलिए लोभ से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है। इस परिग्रह में आसक्त हुये मनुष्य पता नहीं कौन-कौन से पाप कर बैठते हैं।

अयोध्या का राजा सहस्रबाहु अपने पुत्र कृतवीर के साथ किसी तपोवन में पहुँच गया। ऋषि पत्नी रेणुका ने उन्हें खीर का भोजन कराया तब राजा ने पूछा कि ऐसा भोजन तो हम लोगों के यहाँ भी नहीं है। रेणुका ने बताया कि मेरे यहाँ गुरु प्रसाद से यह कामधेनु है। राजा के पुत्र कृतवीर ने उसकी याचना की, न देने पर ऋषि जमदग्नि को मारकर उसने उसकी गाय छीन ली। ऋषि पुत्र इंद्र और श्वेतराम जब समिधा लेकर आये उन्हें यह घटना विदित होते ही सीधे अयोध्या पहुँचे और अपने देवोपनीत फरसा के बल से सहस्रबाहु को मार डाला। उन ऋषि पुत्रों ने क्रोधित होकर इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय रहित कर दिया। अंत में सुभौम चक्रवर्ती के द्वारा मारे गये हैं[1]।

और भी अनेकों उदाहरण लोभ की हानि से देखने को मिलते हैं।

अयोध्या नगरी में एक सुरेंद्रदत्त था। वह प्रतिदिन दस दीनारों से, अष्टमी को सोलह दीनारों से, अमावस को चालीस दीनारों से और चौदस को अस्सी दीनारों से भगवान की पूजा करता था। प्रतिदिन पात्रों को दान देता तथा शील का पालन करता था और उपवासों को भी करता रहता था। किसी समय धन कमाने के लिए जल मार्ग से बारह वर्ष के लिए जाने लगा तब वह अपने मित्र रुद्रदत्त को बहुत सा धन देकर पूर्ववत् जिन पूजा आदि करने को कहकर आप चला गया। रुद्रदत्त धन पाकर लोभ में आकर उस धन को जुँआ, परस्त्री सेवन आदि व्यसनों में समाप्त कर चोरी करने लगा। किसी समय कोतवाल द्वारा मारा गया और नरक में चला गया। वहां से निकलकर महामच्छ हुआ, फिर नरक गया, शार्दूल हुआ, नरक गया, गरुड़ हुआ, नरक गया, सर्प हुआ, नरक गया, भील हो गया, पुनः असंख्य भवों तक त्रस-स्थावर योनियों में भटकता रहा। पुनः कुछ पाप कर्म के मंद होने पर एक दरिद्र ब्राह्मण के पुत्र हुआ, उसका नाम गौतम था। पाप से सर्व कुल के क्षय हो जाने पर भीख मांगता फिरता था, बहुत ही दुःखी था। एक दिन आहार के लिए ग्राम में जाते हुये समुद्रसेन मुनिराज को देख कौतुक से उनके पीछे लग गया। वैश्रवण सेठ के यहाँ मुनि का आहार हुआ, सेठ ने उस बालक को भी भरपेट भोजन करा दिया पुनः वह मुनि के आश्रम में पहुँचा और बोला आप मुझे अपने जैसा बना लीजिये। मुनिराज ने उसके वचन सुनकर भव्य समझकर कुछ दिन अपने पास रखा तदनंतर उसे संयम ग्रहण करा दिया। उसने गुरुभक्ति,

---

१. आत्मानुशासन।

संयम और तपश्चरण के बल से अनेकों ऋद्धियां प्राप्त कर लीं। आयु के अंत में उपरिम ग्रैवेयक में अहमिंद्र हो गये[1]।

देखो! धर्म की संपत्ति के भक्षण से उसने कितने दुःख उठाये तथा एक बार की गुरु संगति ने उसे अहमिंद्र बना दिया। इस उदाहरण को देखकर व्यसन और धर्म के धन से हमेशा दूर रहना चाहिए।

जो मुनि पसीने और धूलि के मैल से लिप्त शरीर के होने पर भी ग्लानि नहीं करते हैं वे ही अपने कर्ममैल को धो डालते हैं।

शुचि भूमिगतं तोयं, शुचिर्नारी पतिव्रता। शुचिर्धर्मपरो राजा, ब्रह्मचारी सदा शुचिः।।

भूमि से निकला हुआ जल शुद्ध है, पतिव्रता स्त्री पवित्र है, धर्म में तत्पर राजा भी पवित्र है और ब्रह्मचारी गण सदा ही पवित्र रहते हैं। यही कारण है कि दिगंबर मुनि स्नान नहीं करते हैं, यह उनका एक मूलगुण कहा गया है।

श्रावक स्नान आदि से व्यवहार शुद्धि करते हैं और धर्म के द्वारा आत्मा की भी शुद्धि करते हैं। तृष्णारूप अग्नि को संतोषरूपी जल से ही बुझाया जा सकता है। 'जो ग्रहण करने की इच्छा करने वाले हैं वे नीचे गिरते हैं और जो निःस्पृह रहते हैं वे ऊँचे उठते हैं। देखो!' तराजू के दो पलड़ों में से एक में कुछ भार होता है वह नीचे जाता है और हल्का पलड़ा ऊपर उठ जाता है। इन सब उदाहरणों को समझकर अपनी आत्मा को शौच धर्म के द्वारा पवित्र बनाना चाहिए।

जाप्य—ॐ ह्रीं उत्तमशौचधर्मांगाय नमः।

---

१. उत्तम पुराण, पर्व. ६५।

उत्तम सत्य धर्म

सत् सम्यक् च प्रशस्तं स्यात् सत्यं पीयूषभृद् वचः।
मिथ्यापलापकं वाक्यं धर्मशून्यं सदा त्यज।।१।।
गर्हितं निंदितं हिंसापैशून्याप्रियकर्कशं।
आक्रोशक्रोधवैरादिसावद्योत्सूत्रकं त्यजेः।।२।।
मंत्री श्रीवंदकोऽसत्यैर्वाक्यै र्दृग्भ्यां च्युतः क्षणात्।
वसुराजाप्यसत्पक्षात् सप्तमं नरकं गतः।।३।।
सत्यं प्रियं हितं वाक्यं सुंदरं सर्वसिद्धिदं।
विश्वासघातवल्लोके महापापं न वर्तते।।४।।
स्वस्मात् भिन्नं परद्रव्यं मा कुर्वात्मन्! स्वकीयकम्।
सम्यक् स्वस्मिन् स्वकं ध्यात्वा, स्वात्माल्हादं सुखं भज।।५।।

सत् सम्यक् और प्रशस्त वचन, कहना है सत्यधर्म सुन्दर।
अस्ति को अस्तिरूप कहना, मिथ्या अपलाप रहित सुखकर।।
गर्हित निंदित पैशून्य वचन, अप्रिय कर्कश हिंसादि वचन।
क्रोधादि बैर अपमान करी, उत्सूत्र और आक्रोश वचन।।१।।

छेदनभेदन सावद्य वचन, आरोप अरति करने वाले।
मंत्री श्रीवंदक सम झूठे, वच निज के दृग् हरने वाले।।
वसु नृपति असत् का पक्ष लिया, सिंहासेन पृथ्वी में धसका।
मरकर वह सप्तम् नरक गया, है झूठ वचन सबको दुखदा।।२।।

प्रिय वचनों से मन को हरले, ऐसे मृदुभाषी बहुजन हैं।
जो अप्रिय पर हितकर होवे, ऐसे वक्ता श्रोता कम हैं।।
हितकर औ पथ्य सहित वाणी, जग में वचसिद्धी करती है।
सच भाषा सचमुच ही जग में, दिव्यध्वनि को भी वरती है।।३।।

प्रिय हित मित मधुर वचन सुन्दर, सबमें विश्वास प्रगट करते।
ये उत्तम सत्य वचन जग में, अप्रिय जन को भी वश करते।।
विश्वासघात है पाप महा, नहिं कभी भूलकर करना तुम।
जैसा तुम अपने प्रति चाहो, वैसा सबके प्रति करना तुम।।४।।

आत्मा से भिन्न सभी पर हैं, उनको नहिं अपना मानो तुम।
सब से मन भाव हटा करके, अपने को ही पहचानो तुम।।
हे आत्मन्! अपने में सम्यक्, अपना अवलोकन कर लो तुम।
सब ही संकल्प विकल्पों को, तजकर अपने को भज लो तुम।।५।।

'सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमित्युच्यते।' सत् अर्थात् प्रशस्तजनों में अच्छे वचन बोलना सत्य है।

सत् अर्थात् समीचीन और प्रशस्त वचन सत्य कहलाते हैं। ये वचन अमृत से भरे हुये हैं। मिथ्या अपलाप करने वाले और धर्मशून्य वचन सदा छोड़ो। गर्हित, निंदित, हिंसा, चुगली, अप्रिय, कठोर, गाली-गलौज, क्रोध, बैर आदि के वचन, सावद्य के वचन और आगम विरुद्ध वचन इन सबको छोड़ो। देखो! श्रीवंदक नामक बौद्ध मंत्री असत्य वचनों के द्वारा क्षणमात्र में आंखों से अंधा हो गया, वसु राजा भी असत्य के पक्ष से सातवें नरक में चला गया। सत्य,प्रिय, हितकर और सुंदर वचन सर्वसिद्धि को देने वाले हैं। इस लोक में विश्वासघात के समान महापाप कोई नहीं है। हे आत्मन्! अपने से भिन्न परद्रव्य को अपना मत बनाओ और अपने में अपने को अच्छी तरह से ध्याकर अपनी आत्मा के आल्हादमय सुख को प्राप्त करो।।१ से ५।। ऐसी भावना सतत भाते रहना चाहिए।

असत्य के चार भेद हैं—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो वस्तु सत्रूप है उसका निषेध करना प्रथम असत्य है। जैसे सुमेरु आदि हैं उनको न मानना।

परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु अविद्यमान है, उसको विद्यमान कहना दूसरा असत्य है। जैसे यहाँ घड़ा नहीं है कह दो 'यहाँ घड़ा है।'

अपने स्वरूप से विद्यमान भी पदार्थ अन्य स्वरूप से कहना वह तीसरा असत्य है। जैसे बैल को घोड़ा कहना।

चतुर्थ असत्य के गर्हित, सावद्य और अप्रिय ये तीन भेद हैं।

पैशून्य, चुगली युक्त कठोर, असमंजस प्रलापपूर्ण और शास्त्रविरुद्ध जो वचन हैं, इन सबको गर्हित कहते हैं।

छेदने, भेदने, मारने, शोषणे अथवा व्यापार चोरी आदि के वचन सावद्य—पापयुक्त वचन हैं। क्योंकि ये प्राणी हिंसा आदि पाप में प्रवृत्ति कराते हैं।

दूसरे को अप्रीति करने वाले, भय करने वाले, खेद करने वाले, बैर, शोक, कलह करने वाले तथा जो और भी संताप को करने वाले हों वे सब अप्रिय वचन हैं।[1]

---

१. पुरुषार्थसिद्धि उपाय

श्रीवंदक की कथा

कनकपुर के राजा धनदत्त का श्रीवंदक मंत्री बौद्ध था। किसी दिन राजमहल की छत पर राजा और मंत्री बैठे थे, आकाशमार्ग से दो चारण मुनि जाते हुये दिखे। राजा ने विनय से उनका आह्वान किया जिससे वे उनकी छत पर उतरे। राजा ने उन्हें उच्च आसन पर विराजमान करके नमस्कार आदि करके उपदेश के लिए प्रार्थना की। उपदेश के बाद प्रभावित होकर श्रीवंदक ने सम्यक्त्व के साथ श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये। दूसरे दिन श्रीवंदक अपने बौद्ध गुरु की वंदना करने नहीं गया तब गुरु ने उसे बुलाया। उसने वहाँ जाकर नमस्कार न करके अपने व्रत ग्रहण का सर्व समाचार सुना दिया। बौद्ध गुरु ने पुनः उसे खूब समझाकर वह धर्म छुड़ा दिया और बोला कि ये लोग इंद्रजालिया हैं, कहीं कोई साधु आकाश में चल सकते हैं?

दूसरे दिन राजसभा में राजा ने आकाशगामी मुनियों की सारी कथा सुनाई और श्रीवंदक से कहा कि आपने भी जो कल आँखों से दिगंबर मुनियों का प्रभाव देखा है सो कहिये। श्रीवंदक ने असत्य बोल दिया और कहा मैंने कुछ भी नहीं देखा है। उसी समय उसकी दोनों आँखें मुनिनिंदा के पाप से फूट गयीं। उसी समय सभी ने मंत्री के असत्य भाषण की निंदा करके जैनधर्म की खूब प्रशंसा की।

ऐसे ही वसुराजा द्वारा पर्वत का पक्ष रखते हुये 'अजैर्यष्टव्यं' में यही सत्य है ऐसा असत्य का पक्ष लेने से बकरों से होम करने की निंद्य प्रथा पड़ गई है।

राजा वसु की कथा

स्वस्तिकावती नगरी के राजा विश्वावसु के एक पुत्र था उसका नाम वसु था। वहीं क्षीरकंदब उपाध्याय रहते थे। वे चरित्रवान और सरल स्वभावी थे, जिनदेव के परमभक्त थे, गृहस्थों के लिए शांति सुख हेतु शांतिविधान, हवन, अनुष्ठान कराते रहते थे। उनकी स्त्री का नाम स्वस्तिमती था। उनके एक पुत्र था उसका नाम पर्वत था। पिता उपाध्याय जितने सरल और बुद्धिमान थे यह पुत्र उतना ही कुटिल और मूर्ख था। जैन धर्म का अनुयायी एक नारद नाम का बालक था जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि था। राजपुत्र वसु, नारद और गुरुपुत्र पर्वत तीनों ही उपाध्याय क्षीरकदंब के पास पढ़ते थे।

एक दिन की बात हे कि वसु से कोई ऐसा अपराध बन गया, जिससे उपाध्याय ने उसे बहुत मारा। उस समय स्वस्तिमती ने बीच में पड़कर उसे बचा लिया। वसु ने समय पाकर अपनी गुरुमाता से कहा—मातः! तुमने मुझे बचाया है इससे मैं बहुत ही उपकृत हुआ हूँ। कहो, तुम्हें क्या चाहिए? सो मैं देने को तैयार हूं। स्वस्तिमती ने कहा—पुत्र! इस समय तो मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है, पर जब होगी तब मांगूँगी। तू मेरे इस वर को अभी अपने पास रख।

एक दिन उपाध्याय क्षीरकदंब अपने तीनों शिष्यों को वन के एक पवित्र प्रदेश में विद्या अध्ययन करा रहे थे। वहीं निकट में दो महामुनि स्वाध्याय कर रहे थे। तभी शिष्य ने दिव्यज्ञानी महामुनि-गुरु से कहा प्रभो! देखो यह उपाध्याय अपने शिष्यों को कितना अच्छा पढ़ा रहा है। तभी गुरु ने कहा—वत्स! इनमें से उपाध्याय और उनका एक शिष्य ये दो तो स्वर्ग जायेंगे और राजपुत्र व गुरुपुत्र दोनों नरक जायेंगे। दिव्यज्ञानी मुनि के वचन उपाध्याय क्षीरकदंब ने सुन लिये। अपने शिष्यों को बिना कुछ बताये ही वे उन्हें घर भेजकर आप मुनि के पास दीक्षित हो गये।

कालांतर में राजकुमार वसु अपने पिता के दीक्षित हो जाने पर राजा बना। वह भी न्यायपूर्वक राज्य संचालन करता था। उसने अपने सिंहासन के नीचे के पाये स्फटिक मणि के बनवा रखे थे। जिससे देखने वाले सभी लोग यही समझते थे कि राजा का सिंहासन अधर है। उसके पुण्य से जनता में भी यही प्रसिद्धि हो गई थी कि राजा बहुत ही सत्यवादी है। इसलिए सत्य के बल से राजा का सिंहासन आकाश में अधर टिका हुआ है।

इधर क्षीरकदंब के दीक्षित हो जाने पर पर्वत को पिता का उपाध्याय पद मिल गया और वह बालकों को धर्माध्ययन कराने लगा। नारद भी गुरू से ज्ञान प्राप्त कर उनकी दीक्षा के बाद अन्यत्र चले गये थे। एक समय वह नारद अपने सहपाठी गुरुपुत्र पर्वत से मिलने आ गये। उस समय पर्वत अपने शिष्यों को पढ़ा रहा था। एक सूत्र वाक्य का अर्थ उसने समझाया "अजैर्यष्टव्यम्" इसका अर्थ है अज अर्थात् बकरों से हवन करना चाहिए। उसमें बाधा देकर नारद ने कहा—नहीं, इस श्रुतिवाक्य का ऐसा अर्थ नहीं है। गुरुजी ने तो हमें और आपको इसका अर्थ ऐसा बतलाया था कि "अजैस्त्रिवार्षिकैर्धान्यैर्यष्टव्यम्" अज अर्थात् तीन वर्ष पुराने धान्य से हवन करना चाहिए। इस पर पापी पर्वत ने दुराग्रहवश हो कहा—नहीं, तुम्हारा अर्थ गलत है, असल में 'अज' का अर्थ बकरा ही है। यह विवाद अधिक बढ़ गया तब कुछ समाज के प्रतिष्ठित जनों ने राजा वसु की सभा में इसका निर्णय रखा।

पर्वत ने घर आकर अपनी माँ से सारा हाल कह सुनाया। माता ने पर्वत को बहुत ही फटकारा और कहा—पापी! तूने इस श्रुति का उल्टा अर्थ कर दिया है। मुझे भी मालूम है कि तेरे पिता पूर्ण अहिंसाधर्मी थे और वे इसका अर्थ न उगने योग्य पुराने धान ही करते थे। फिर भी पर्वत अपने दुराग्रह से नहीं हटा। तब माता स्वस्तिमती भी पुत्र की रक्षा के मोह में आकर राजा वसु के पास पहुँची और बोली—पुत्र! तुम्हें याद होगा कि मेरा एक वर तुम्हारे पास धरोहर में है सो आज मैं उसको चाहती हूँ। राजा वसु ने कहा—हाँ याद है माता, तुम जो चाहो सो माँग लो। तब स्वस्तिमती ने कहा—पर्वत और नारद का किसी सूत्रार्थ पर झगड़ा हो गया है उसके निर्णय के लिए आपको चुना गया है सो आप पर्वत के पक्ष का ही समर्थन कीजिये।

राजा ने 'तथास्तु' कहकर उसे वर दे दिया।

अगले दिन राजसभा में पर्वत-नारद के विवाद का निर्णय देखने के लिए बहुत से लोग एकत्रित हो गये थे। राजा वसु भी अपने रत्न सिंहासन पर आरूढ़ थे। इतने में पर्वत और नारद अपना न्याय कराने के लिए आये। दोनों ने 'अजैर्यष्टव्यम्' का अपना-अपना अर्थ सुना दिया और कहा कि आप भी हम दोनों के सहपाठी हैं, गुरुजी ने इसका क्या अर्थ दिया है सो आप बतलाइये? यद्यपि राजा वसु के स्मरण में तत्क्षण ही सही अर्थ आ गया कि तीन वर्ष के पुराने धान से हवन करना चाहिए, ऐसा गुरुजी ने अर्थ किया था। फिर भी उन्होंने गुरु माता को दिये गये 'वर'(वचन) के निमित्त से सत्य से विपरीत असत्य का पक्ष लेते हुये अपने मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा की कुछ परवाह न कर कह दिया—

'जो पर्वत कहता है सो सत्य है, गुरुजी ने हमें ऐसा ही अर्थ बताया था'।

प्रकृति को ऐसा यह घोर अन्याय सहन नहीं हुआ अतः राजा वसु का सिंहासन पृथ्वी में गिर पड़ा और उसी के साथ राजा वसु भी पृथ्वी में धँसने लगा। यह देख नारद ने तथा सभा में बैठे प्रतिष्ठित लोगों ने जोर-जोर से कहा—

'राजन्! देख लो, इतने महाझूठ का फल, जो कि तुम्हारा सिंहासन पृथ्वी में धँसता जा रहा है। संभलो-संभलो अभी भी सत्य बोलो, सत्य बोलो।'

इतना समझाया जाने पर भी राजा वसु नहीं संभला और पुनः बोला—

'जो पर्वत कहता है वही सत्य है।'

इस महापाप के फलस्वरूप उसी समय पृथ्वी फटती चली गयी और राजा का सिंहासन उसमें धँसता चला गया। तब वह राजा मरकर सातवें नरक में चला गया। अहो! इस मूढ़ बुद्धिरूप असत्य को धिक्कार हो, धिक्कार हो। इस दुर्घटना से शहर में हाहाकार मच गया। पर्वत की इस दुष्टता से शहर के न्यायप्रिय लोगों ने उसे गधे पर बिठा कर शहर से बाहर निकाल दिया और नारद का बहुत प्रकार से आदर-सत्कार किया। इसलिए पूजा में यह पंक्ति आती है 'वसु झूठ सेती नरक पहुँचा स्वर्ग में नारद गया।' अतः असत्य न कभी बोलना चाहिए और न असत्य का पक्ष ही लेना चाहिए।

असत्यवादी लोग अपने गुरु, मित्र और बंधुओं के साथ भी विश्वासघात करके दुर्गति में चले जाते हैं किंतु सत्य बोलने वाले लोगों को वचनसिद्धि हो जाया करती है। क्रमशः सत्य के प्रभाव से वे दिव्यध्वनि के स्वामी होकर असंख्य प्राणियों को धर्म का उपदेश देकर मोक्ष मार्ग का प्रणयन करते हैं। इसलिए हमेशा सत्य धर्म का आदर करना चाहिए।

जाप्य—ॐ ह्रीं उत्तमसत्यधर्मांगाय नमः।

उत्तम संयम धर्म

प्राणीन्द्रियैर्द्विधा प्रोक्तः, संयमः संयतै र्जनैः।
षट्कायजीवरक्षा स्यात् पंचेंद्रियमनोजयः।।१।।
जीवानां संकुले लोके, कुर्वे ह्याचरणं कथम्।
भाषे भुंजे कथं स्वामिन्! यतो पापं न बध्यते।।२।।
यत्नादाचरणं कुर्याः, यत्नात् भाषण भोजनम्।
यत्नात् सर्वां क्रियां कृत्वा त्वया पापं न बध्यते।।३।।
एकव्रतयुतं शत्रुं सीताचरोऽपि रावणम्।
सम्यक्त्वं ग्रहयित्वा सोऽकार्षीत् वैरविमोचनम्।।४।।
संयम्येंद्रियचेतोऽहं वाञ्छामि स्वात्मनि स्थितिं।
कर्म कर्मफलं भुंजन्, मनाक् खेदमनाप्नुयाम्।।५।।

व्रत धारण समिती का पालन, क्रोधादि कषाय विनिग्रह है।
मन वच तन की चेष्टा त्यागे, इन्द्रिय जप संयम पाँच कहे।।
अथवा त्रसथावर षट्कायों की, रक्षा पंचेन्द्रिय मन जय।
द्वादशविध संयम को पालें, वे मुनिवर संतत व्रतगुणमय।।१।।

इस जीव लोक में हे स्वामिन्! कैसे आचरण करें मुनिगण?
कैसे ठहरें, कैसे बैठें, कैसे सोयें, कैसे भोजन?
कैसे बोलें जिस विध पापों, से बंध नहीं फिर हो सकता?
बस यत्नाचार प्रवृत्ति हो, तब बंध स्वयं ही रुक सकता।।२।।

जितना भी संयम पालो, थोड़ा भी संयम गुणकारी।
श्रावक भी एक देश पालें, त्रस हिंसा के नित परिहारी।।
रावण के एक नियम से ही, सीतेन्द्र नरक में जा करके।
सम्यक् निधि देकर तृप्त किया, लक्ष्मण से बैर मिटा करके।।३।।

यह संयम है व्यवहार धर्म, निश्चय संयम को प्रकट करे।
आत्मा में ही निश्चित होकर, रागादि विभाव अभाव करे।
निश्चय संयम ही इन्द्रिय के, मन के व्यापार खत्म करके।
अपनी ही रक्षा करता है, षट् जीव काय का वध हरके।।४।।

इन्द्रिय व्यापार नियंत्रण कर, मन का भी निग्रह कर पाऊँ।
उस क्षण में अंतर में स्थिर हो, स्वात्म सुधारस को पाऊँ।।
सम्यक् पूर्वक यम के बल से, यमराज शत्रु को वश्य करूँ।
निज उत्तम संयम धर्म सहित, मैं सिद्धिवधू को शीघ्र वरूँ।।५।।

'समितिषु वर्तमानस्य प्राणींद्रियपरिहारस्संयमः[1]।' समिति में प्रवृत्त हुये मुनि जो प्राणी हिंसा और इंद्रिय विषयों का परिहार करते हैं सो संयम है।

संयत मुनियों में प्राणी संयम और इंद्रिय संयम की अपेक्षा दो भेद हैं। पाँच स्थावर और त्रस ऐसे षट्काय जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है और पाँच इन्द्रिय तथा मन का जय करना इंद्रिय संयम है। हे भगवन्! जीवों से ठसाठस भरे हुये इस संसार में मैं कैसे प्रवृत्ति करूँ? कैसे बोलूँ? और कैसे भोजन करूँ? कि जिससे पाप का बंध नहीं होवे? इस प्रकार से प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि यत्नपूर्वक आचरण करो, यत्नपूर्वक भाषण और भोजन करो तथा यत्नपूर्वक संपूर्ण क्रिया करने से तुम्हें पाप का बंध नहीं होगा। देखो! सीता का जीव जब अच्युतेन्द्र हुआ 'एक व्रत को धारण करने से रावण मेरे साथ बलात्कार के लिए प्रयत्नशील नहीं हुआ' ऐसा सोचकर वह अच्युतेंद्र नरक में जाकर रावण को सम्यक्त्व ग्रहण कराकर वैर का त्याग करा देता है। मैं सर्वइन्द्रिय और मन को नियंत्रित करके अपनी आत्मा में स्थिति करना चाहता हूँ कि जिससे कर्म और कर्म के फल को भोगता हुआ किंचित्मात्र खेद को न प्राप्त होऊँ। ।।१ से ५।। प्रतिदिन ऐसी भावना भाते रहना चाहिए।

इस प्रकार से वह संयम पूर्णतया मुनियों के ही होता है किंतु गृहस्थ भी एकदेशरूप से संयम का पालन करते हैं चूँकि उनकी छह आवश्यक क्रियाओं में संयम भी एक क्रिया है। कुछ न कुछ नियम का लेना एक संयम है। गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी प्रत्येक कार्य को सावधानीपूर्वक करना संयम है। सावधानीपूर्वक चलना, फिरना, उठना, बैठना भी संयम है। चौराहे की लालबत्ती संयम को सिखाती है जो उसकी उपेक्षा करते हैं वह जीवन को भी खतरे में डाल देते हैं। अभक्ष्य का त्याग कर देना तथा खाने योग्य वस्तु को भी जब तक नहीं खाते, तब तक के लिए छोड़ देना भी संयम है। इसलिए जो रात्रि में सर्वथा आहार का त्याग कर देते हैं तो एक महीने में पंद्रह दिन के उपवास के फल को प्राप्त कर लेते हैं।

'कुलवांता नाम की एक दरिद्र कन्या ने धर्म बुद्धि से किसी समय एक मुहूर्त तक के लिए अन्न

---

१. सर्वार्थसिद्धि।

का त्याग कर अनशन धारण कर लिया जिसके फलस्वरूप सल्लेखना से मरणकर किंपुरुष नामक देव की क्षीरधारा नामक देवी हुयी। कालांतर में इंद्र नाम का विद्याधर होकर निर्वाण को प्राप्त कर लिया[1]।'

अनंतबल मुनिराज केवली हो गये थे। उनके निकट धर्मोपदेश सुनकर रावण ने व्रत लिया कि 'जो परस्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे ग्रहण नहीं करूंगा।' कुंभकर्ण ने यह नियम लिया कि 'मैं प्रतिदिन प्रातःकाल अभिषेकपूर्वक जिनेंद्र देव की पूजा करूंगा और जब तक निर्ग्रंथ मुनियों की विधिपूर्वक पूजा नहीं कर लूंगा आज से मैं तब तक भोजन नहीं करूँगा[2]।' क्योंकि सम्यग्दृष्टि के लिए एक ही व्रत मुक्ति का बीज हो जाता है। रावण की इस प्रतिज्ञा के निमित्त से सीता के जीव इंद्र ने प्रभावित होकर नरक में जाकर उसे सम्यग्दर्शन ग्रहण करा दिया। 'संयम से युक्त मुनिजन चतुर्थकाल में एक हजार वर्ष में जितने कर्मों की निर्जरा करते थे आज के संयमी मुनि एक वर्ष में उतनी निर्जरा कर लेते हैं चूँकि आजकल संहनन हीन है[3]।' आचार्य शांतिसागर महाराज कहा करते थे-

'बाबा नो संयम धारण करा, भिऊ नका भिऊ नका। भव्यों! संयम धारण करो डरो मत, डरो मत।' जब तीर्थंकर महापुरुष संयम धारण करने के सन्मुख होते हैं उस समय किसी कल्याणक में न आने वाले लौकांतिक देव आकर उनकी पूजा करते हैं उनके वैराग्य की स्तुति करते हैं।

'अहिच्छत्र के राजा वसुपाल ने 'सहस्रकूट' जिनमंदिर बनवाकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान की, उस पर लेप चढ़ाने के लिए कारीगर बुलाया। वह रोज प्रतिमा पर लेप चढ़ाता था, किंतु लेप रात्रि में गिर जाता था। तब मुनि ने बताया कि जब यह कारीगर माँस न खाने का व्रत लेगा तब लेप चढ़ेगा। कारीगर के नियम लेकर लेप चढ़ाने के बाद लेप टिक गया।'

इन सब उदाहरणों से संयम का महत्व समझकर संयम धर्म को धारण करना चाहिए। समय आरे के समान आयु के क्षणों को काटता चला जा रहा है अतः जल्दी करना चाहिए।

संयम से ही मनुष्य महान् और पूज्य बन जाता है

एक राजा ने विशाल वैभव को महान समझते हुये दिगम्बर मुनि से उसके त्याग का कारण पूछा। जब मुनि ने त्याग-संयम में ही सच्चा सुख बतलाया तो उसने भी राज्य वैभव को छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। कथा ऐसी है।

पद्मिनी नामक नगर में किसी समय"मतिवर्धन" नाम के दिगम्बराचार्य चतुर्विध संघ सहित पधारे। उनके संघ में महातपस्वी ज्ञानी और ध्यानी सभी तरह के मुनि धर्मध्यान में परायण थे। "अनुद्धरा" नाम की आर्यिका थीं जो कि सर्व आर्यिकाओं की रक्षा करने में तत्पर गणिनी थीं।

---

१. पद्मपुराण प्र. पर्व १३, पृ. ३०१। २. पद्मपुराण प्र.पर्व १४, पृ. ३३३। ३. भावसंग्रह गा. १३१।

वह विशाल संघ वहाँ आकर नगर के बाहर के उद्यान में आचार्य देव की आज्ञा से ठहर गया। उस उद्यान का माली अपने साथियों को साथ लेकर भय से काँपता हुआ पद्मिनी नगरी के महाराजा विजयपर्वत के राजदरबार में पहुँचा और नमस्कार करके निवेदन करने लगा—

"महाराज! आगे तो बहुत अधिक ऊँची ढालू चट्टान है और पीछे व्याघ्र है, बताइये हम किसकी शरण में जायें?

महाराज ने आश्चर्य युक्त हो पूछा-

"बोलो, बोलो, क्या कह रहे हो? क्या संकट उपस्थित हुआ है?" उन किंकरों में प्रमुख वनपाल ने कहा-

'महाराज! उद्यान की रमणीय भूमि में मुनियों का एक विशाल संघ आकर ठहर गया है। यदि इस संघ को हम मना करते हैं तो शाप को प्राप्त होते हैं और यदि नहीं मना करते हैं तो आप क्रोध को प्राप्त होंगे, इस प्रकार हम लोगों पर बड़ा संकट आ पड़ा है। हे राजन्! आपके प्रसाद से हम लोगों ने वह उद्यान कल्प-वृक्षों के उद्यान के समान बना रखा है। उसमें साधारण पामर मनुष्य प्रवेश भी नहीं कर सकते हैं, किन्तु जो तप के तेज से अत्यंत दुर्गम हैं ऐसे निर्ग्रंथ मुनियों को देव भी रोकने में समर्थ नहीं हैं फिर भला हम जैसे लोगों के द्वारा उन्हें कैसे रोका जा सकता है?

यह सुनकर राजा आश्चर्य से युक्त होकर उन लोगों को सान्त्वना देते हुये बोले—

'डरो मत, वे मुनिगण ठहर चुके हैं तो अब कोई बात नहीं है, हम स्वयं ही वहाँ आ रहे है।'

पुनः राजा विशाल वैभव के साथ उद्यान भूमि में पहुँचकर उस चतुर्विध संघ को देखता है। वहाँ पर सभी साधु वन की धूलि से धूसरित हो रहे थे। उनमें से कोई मुनिराज जिनेंद्र देव की स्तुति, वंदना में तत्पर थे, कोई भुजाओं को लटकाकर जिनमुद्रा से ध्यान कर रहे थे, कोई स्वाध्याय में लीन थे, कोई अध्ययन कर रहे थे, तो कोई महाविद्वान मुनि अन्य साधुओं को सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन करा रहे थे। किन्हीं मुनियों के शरीर बेला, तेला आदि उपवासों से अतिशय क्षीण हो रहे थे फिर भी उनके चेहरे की दीप्ति व उनका अपना उत्साह उनके आत्मबल को, उनके मनोबल को स्पष्ट घोषित कर रहा था।

एक तरफ आर्यिकाओं के समुदाय में भी वन की धूलि से लिप्त एक साड़ीमात्र परिग्रह को धारण करने वाली उन आर्यिकाओं में कुछ आर्यिकाएं मधुर स्वर से पाठ गुनगुना रही थीं, कुछ स्वाध्याय क्रिया में तत्पर थीं, कुछ पठन-पाठन में व्यस्त थीं, कहीं पर सिद्धान्त के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन हो रहा था तो कहीं पर महापुरुषों के चरित्र का बखान चल रहा था।

राजा क्रम-क्रम से सभी साधु-साध्वियों की वंदना करते हुये उनके गुणों से प्रसन्न हो रहे थे।

अंत में वे आचार्य देव की वंदना करके उनके निकट बैठकर विनयपूर्वक बोले-

'भगवन्! आपके शुभ लक्षणों से युक्त जैसी आपकी दीप्ति है वैसे भोग आपके चरण कमल में स्थित क्यों नहीं हैं?'

आचार्य देव ने उत्तर दिया-

हे नरश्रेष्ठ! ये संसार के विषयभोग सुखदायी हैं यह कल्पना कहाँ तक सत्य है? पहले आप इसे समझो तब आपको पता चलेगा कि ये भोग महान् नहीं हैं प्रत्युत इनको तृणवत् समझकर इनका त्याग करने वाले संयमी साधु ही महान् हैं। देखो! यह जीवन, यह यौवन, यह राज्यसंपदा, यह विशाल वैभव कितने दिन तक टिकने वाला है? क्या इनमें से कोई भी वस्तु स्थायी शांति दे सकती है?

राजा गुरुदेव के इन प्रश्नों को सुनकर कुछ क्षण के लिए परमविस्मय को प्राप्त हो गया और विचार करने लगा कि वास्तव में इनमें से कुछ भी टिकने वाला नहीं है? पुनः किस वस्तु से सुख की आशा की जाये? पुनरपि राजा प्रश्न करता है-

'भगवन्! पुनः इस संसार में स्थायी वस्तु क्या है?'

'राजन्! स्थायी वस्तु अपनी आत्मा है और उसका सुख ही सच्चा सुख है। यह शरीर नश्वर है, जड़ है और अनंत दुखों की खान है।'

इत्यादिरूप से मुनिपति के मुखकमल से निर्गत धर्मोपदेश को सुनकर राजा संसार के भोगों से विरक्त हो गया और उसी समय वह अपने विशाल वैभव को जीर्ण-तृणवत् त्यागकर तथा संयम धारण कर दिगम्बर मुनि हो गया। उस समय राजा को दीक्षित हुआ देखकर अनेकों भव्य जीवों ने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। जो दीक्षा लेने में अपने को सर्वथा असमर्थ समझ रहे थे ऐसे अनेकों ने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये।

सच है यदि संयम का महत्व अधिक न होता तो बड़े-बड़े राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और इन्द्र भी मुनियों को नमस्कार क्यों करते!

जाप्य—ॐ ह्रीं उत्तमसंयमधर्मांगाय नमः।

उत्तम तप धर्म

तपो द्वादशधा प्रोक्तं, बाह्याभ्यंतरसंयुतम्।
बाह्यमनशनादि स्यात्, प्रायश्चित्तादि चांतरम्।।१।।
सम्यक् तपांसि रुन्ध्दंति, पतनं भववारिधौ।
कायं कृष्ट्वा समाप्नोति नरोऽनंतबलं सुखम्।।२।।
मयनाममुनीशं सा स्पृष्ट्वा सिंहेन्दुकं पतिं।
अस्प्राक्षीत् तत्क्षणं सोऽपि, निर्विषस्तमपूजयत्।।३।।
तपोभिर्दीप्ततप्ताद्याः ऋद्धयः प्रभवन्त्यरम्।
निस्पृहा अपि ते सन्तः कथ्यन्तेऽत्र तपोधनाः।।४।।
इच्छां सर्वां निरुध्याशु, तप्त्वा सम्यक् तपः स्वयं।
ध्यानाग्नौ कर्मकाष्ठानि क्षिप्त्वा शुद्धो भवाम्यहम्।।५।।

उत्तम तप द्वादश विध माना, बाह्याभ्यंतर के भेदों से।
अनशन ऊनोदर वृत्तपरीसंख्या,[1] रस त्याग प्रभेदों से।।
एकान्त शयन आसन करना, तनु क्लेश यथाशक्ति तप है।
तपने से स्वर्ण शुद्ध होता, आत्मा भी तप से शुद्धी लहे।।१।।

प्रायश्चित विनय सुवैयावृत, स्वाध्याय उपाधि का त्याग कहे।
शुचि ध्यान छहों अन्तर तप ये, इनसे ही कर्म कलंक दहे।।
आगम विधि से सम्यक् तप ये, आत्मा की पूर्ण शुद्धि करते।
जो तप से तन को कृश करते, वे आत्मबली सिद्धि वरते।।२।।

व्रत कर्मदहन चारित्रशुद्धि, जिनगुणसंपति कहे उत्तम।
कनकावली रत्नावली आदिक, सर्वतोभद्र जग में उत्तम।।
व्रत श्रेष्ठ सिंह निष्क्रीड़ितादि, नन्दन मुनि ने भी व्रत पाला।
सोलह कारण भावित करके, महावीर बने सब अघ टाला।।३।।

'मय' मुनि को कर स्पर्श सती, सिंहेंदु का स्पर्श किया।
पति भी निर्विष हो खड़ा हुआ, मय मुनि की पूजा भक्ति किया।।
तप बल से शुद्धि तभी प्रगटें, भविजन के बहुविध त्रास हरें।
ऋषि स्वयं तपोधन होकर भी, निस्पृह हो निजसुख चाह करें।।४।।

१.व्रतपरिसंख्यान।

सब इच्छाओं का रोध करूँ, बस स्वात्म सुखामृत को चाहूँ।
निज आत्मा में ही लीन हुआ, निश्चय सम्यक्तप को पाऊँ।।
बहिरंतर तप तपते तपते, मै स्वयं तपोधन बन जाऊँ।
अपने में ही रमते-रमते, मैं स्वयं स्वयंभू बन जाऊँ।।५।।

'कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः'। कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है।

तप के बाह्य और आभ्यंतर से युक्त बारह भेद कहे गये हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेश से छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान ये छह अंतरंग तप हैं। सम्यक् तप जीव के संसार समुद्र में पतन को रोक लेते हैं। मनुष्य काय को कृश करके अपने अनंतबल और सुख को प्राप्त कर लेता है। एक रानी ने मय नाम के ऋद्धियुक्त मुनि का स्पर्श करके विष से मूर्च्छित अपने पति राजा सिंहेंदु का स्पर्श किया तो उसी क्षण वे निर्विष हो गये पुनः उन मुनि की पूजा की। तप के प्रभाव से दीप्त तप, तप्ततप आदि ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं फिर भी वे साधु उनसे निस्पृह रहते हैं अतः वे 'तपोधन' इस सार्थक नाम से पुकारे जाते हैं। संपूर्ण इच्छाओं का निरोध करके मैं सम्यक् तप को तपकर ध्यानरूपी अग्नि में कर्म ईंधन को डालकर शुद्ध हो जाऊँगा।। १ से ५।। ऐसी भावना से ही कर्म नष्ट होते हैं।

पद्मपुराण में कहा है—

'सुखासनविहारः सन् सदा कशिपुसक्तधीः। सिद्धंमन्यो विमूढात्मा जनोऽयं स्वस्य वञ्चकाः'[1]।।

जो मनुष्य सुखपूर्वक उठता-बैठता और विहार करता है तथा सदा भोजन और वस्त्रों में आसक्त रहता है फिर भी अपने आपको सिद्ध मानता है वह मूर्ख अपने आपकी वंचना करता है।

तीर्थंकरों ने भी पूर्व भव में सिंहनिष्क्रीडित आदि बहुत से व्रत किये हैं आजकल के मुनि भी उपवास आदि तपश्चरण में महान् सिद्ध होते हैं। देखो! चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज ने अपने ३५ वर्ष के मुनि जीवन में तमाम व्रत किये हैं जिनके उपवासों के दिनों की संख्या २५ वर्ष छह महीने तक की है और आहार के दिनों की संख्या केवल साढ़े नौ वर्ष की है। अन्य-अन्य साधु वर्गों ने भी महीने, पक्ष आदि के उपवास करके अपने देह निःस्पृह का परिचय दिया है।

श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि 'जिससे जीव का उपकार होता है उससे शरीर का अपकार होता है और जिससे शरीर का उपकार होता है उससे जीव का अपकार होता है'[2] तथा श्री कुंदकुंद देव कहते हैं कि 'जो सुखिया जीवन में तत्व की भावना भाते हैं उनका ज्ञान दुःख आने पर नष्ट

---

१. पद्मपुराण पर्व ११, पृ. २४७। २. इष्टोपदेश।

हो जाता है अतः दुख को बुलाकर आत्म तत्व का अभ्यास करना चाहिए।' तथा 'तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप अकार्यकारी है अतः ज्ञान और तप से युक्त होकर निर्वाण प्राप्त होता है। देखो! तीर्थंकर को निर्वाण जाना निश्चित है, दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान हो जाता है फिर भी वे तप करते हैं, ऐसा जानकर तप करना चाहिए[1]।'

इस कथन से उपवास आदि का महत्व स्पष्ट हो जाता है। तपश्चरण के प्रभाव से अनेकों ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। मय विद्याधर (मंदोदरी के पिता) मुनि हो गये। ऋद्धि सहित थे एक समय सिंहेंदु राजा अपनी रानी के साथ वन में विचरण कर रहे थे। सर्प के डसने से मूर्च्छित हो गये। तब रानी ने 'मयमुनि' के शरीर का स्पर्श कर पति को स्पर्श किया, उसी क्षण वे राजा निर्विष हो गये। विशल्या ने पूर्वभव में तप किया था जिसके फलस्वरूप उसके स्नान के जल से सर्वरोग और विष नष्ट हो जाते थे। अनंतवीर्य मुनिराज अपने ५६ हजार मुनियों सहित आकाशमार्ग से लंका में पहुंचे। जिस दिन रावण की मृत्यु हुई थी उसी दिन के अंतिम प्रहर में वे पहुंचे और रात्रि के पिछले प्रहर में अनंतवीर्य मुनि को केवलज्ञान हो गया। गणधर देव कहते हैं कि—

'रावणे जीवति प्राप्तो यदि स्यात् स महामुनिः। लक्ष्मणेन समं प्रीतिर्जाता स्यात्तस्य पुष्कला।।'

यदि रावण के जीवित रहते यह महामुनि आ जाते तो लक्ष्मण के साथ रावण की बहुत बड़ी प्रीति हो जाती क्योंकि ऋद्धिधारी मुनि और केवली जहाँ रहते हैं उनसे दो सौ योजन तक उपद्रव आदि नहीं होता है[2]।

वास्तव में जो शरीर से आत्मा को भिन्न समझते हैं वे अध्यात्मप्रेमी ही शरीर से निःस्पृह होकर तप कर सकते हैं। भीम मुनि ने भाले के अग्रभाग से आहार लेने का नियम ले लिया, वह छह महीने में मिला तब उनका आहार हुआ। मुनियों के सिवाय श्रावकों-श्राविकाओं ने भी रोहिणी, जिनगुण संपत्ति आदि उपवासों को करके परंपरा से मुक्ति को प्राप्त किया है।

इन तपों में विनय करना, वैयावृत्य करना, स्वाध्याय करना ये अंतरंग तप हैं। अंत में ध्यान तप है उसी के द्वारा ही कर्मों का पूर्णतया नाश किया जाता है। इस प्रकार से इन बारह तपों में से यथाशक्ति तप करते रहना चाहिए। शरीर से निर्मम होने के लिए तप का अभ्यास अतीव उपयोगी है। प्रमाद छोड़कर अभ्यास करने से सर्वकार्य सिद्ध हो जाते हैं अतः तपधर्म हमेशा ग्राह्य है यह भी श्रावक के छह आवश्यकों में एक आवश्यक माना गया है।

बाह्य तप के प्रभाव से भी अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। जैसा कि उदाहरण प्रसिद्ध है—

---

१. मोक्षपाहुड़, गाथा ६२, ६३, ६४। २. पद्मपुराण प्र. पृ. ८०।

विदेहक्षेत्र में पुण्डरीक नाम का एक देश है। उसके चक्रधर नामक नगर में त्रिभुवनानंद नाम का चक्रवर्ती छह खंड पृथ्वी पर एकच्छत्र अनुशासन करता हुआ स्थित था। उसकी अनंगशरा नाम की एक कन्या थी जो कि सर्वगुणों से मंडित और सौंदर्य की एक अपूर्व सृष्टि थी। चक्रवर्ती का एक पुनर्वसु नाम का सामन्त था जो कि प्रतिष्ठपुर का स्वामी था। उस कन्या के सौन्दर्य पर आसक्त हो उसने किसी समय उसका अपहरण कर लिया और विमान में बिठाकर आकाश मार्ग से भागा। क्रोध से भरे चक्रवर्ती की आज्ञा पाकर सेवकों ने उसका पीछा किया और युद्ध कर उसके विमान को चूर कर डाला। तब पुनर्वसु ने पर्णलघ्वी विद्या के सहारे उस कन्या को विमान से नीचे छोड़ दिया। वह कन्या उस विद्या के सहारे धीरे से श्वापद नामक महाअटवी में आ गिरी।

वह महावन ऐसा था जो कि बड़े-बड़े विद्याधरों को भी भय उत्पन्न करने वाला था। जिसके अन्दर प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था, जहाँ पर बड़े-बड़े वृक्षों की सघन झाड़ियों से अंधकार ही अंधकार बना रहता था अतः सूर्य की किरणें जहाँ पर अवकाश नहीं पा सकती थीं। उस सघन वन में भेड़िये, शरभ, चीते, तेंदुए और सिंह आदि क्रूर जंतु ही अपना निवास स्थान बनाये हुये थे। वहाँ की भूमि कठोर थी और कहीं अतीव ऊँची थी तो कहीं अतीव नीची थी। जिधर देखो उधर ही बड़े-बड़े बिल दिखाई देते थे जिनमें से निकल-निकलकर बड़े-बड़े सर्प फण उठाये घूम रहे थे। उस वन में अनंगशरा बालिका चारों तरफ दृष्टि डालते हुये महाभय से आक्रांत हो मूर्च्छित हो गयी। जब होश आया भय से काँपती हुई जोर-जोर से दहाड़ मार-मार कर रोने लगी। वह कन्या विलाप कर रही है—

हाय! मैं लोक की रक्षा करने वाले, इन्द्र के समान सुशोभित त्रिभुवनानंद नाम के चक्रवर्ती पिता से उत्पन्न हुई हूँ और महास्नेह से लालित हुई हूँ फिर भी आज भाग्य की प्रतिकूलता से इस महाकष्ट की अवस्था को प्राप्त हो रही हूं। हाय, पिता! तुम तो महापराक्रमी हो, षट्खंड स्वरूप इस लोक की पूर्णतया रक्षा करते हो, फिर वन में असहाय पड़ी हुई मुझ पर दया क्यों नहीं करते? हाय माता! गर्भ में धारणकर वैसा दु :ख सहकर इस समय तुम मुझ पर दया क्यों नहीं करती हो? हाय! मेरे भाई-बंधु आदि परिजन तुमने मुझे एक क्षण के लिए भी अकेली नहीं छोड़ा था पुनः आज मेरी सुध क्यों नहीं ले रहे हो? हाय, हाय, मैं दुखिया इस समय क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसका आश्रय लूँ? किसे देखूँ? और इस महावन में मैं पापिनी कैसे रहूँ? क्या यह स्वप्न है अथवा नरक में मेरा जन्म हो गया है? क्या मैं वही हूं अथवा यह कौन सी दशा प्रकट हुई है?

इस प्रकार चिरकाल तक विलाप कर वह अत्यन्त विह्वल हो गयी। उसका वह विलाप क्रूर पशुओं के भी मन को द्रवित करने वाला था। जब वह भूख की बाधा से व्याकुल होती थी। तब वन के फल-पत्तों को खाकर, नदी अथवा झरने का पानी पीकर कुछ शांत हो जाती थी पुनः कुटुम्बी जनों

को याद कर-करके रोने लगती थी और कभी-कभी महामंत्र का स्मरण करते हुये धैर्य धारण करती थी। उसका सारा शरीर शोकरूपी अग्नि से झुलस गया था। कभी रो-रोकर पागल जैसी हो जाती थी, कभी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर जाती थी, कभी उठकर इधर-उधर चलने लगती थी और जंगल से निकलने का मार्ग ढूँढने लगती थी। उस भयावह जंगल में मार्ग न प्राप्त कर पुनः निराश हो धरती माता की गोद में सो जाती थी। शीतकाल की बर्फ से, कुहरे से, बरसात से उसका शरीर नष्टप्राय हो गया था किन्तु फिर भी उसका मरण नहीं हो रहा था, न ही कोई जंगली प्राणी ही उसका भक्षण करते थे। ग्रीष्म ऋतु की भयंकर गर्मी से वह झुलसने लगती थी और सोचती थी कि क्या यह ही नरक स्थान है? वर्षा ऋतु की मूसलाधार बारिश भी वह अपने खुले शरीर पर ही झेलती थी। उसके पहने नये वस्त्र गलकर समाप्त हो चुके थे अतः वन के पत्तों से ही वह अपने शरीर को ढकने का प्रयत्न करती रहती थी। कैथा आदि के वृक्षों के नीचे बैठकर वह पिता का स्मरण कर-करके रोया करती थी। हाय! मैं चक्रवर्ती से उत्पन्न होकर भी इस निर्जन वन में ऐसी दुरावस्था को प्राप्त हो रही हूँ। सो निश्चित ही मैंने जन्मांतर में घोर पाप संचित किया होगा, उसी का यह फल आज मुझे भोगने को मिल रहा है। इस प्रकार अविरल अश्रुवर्षा से जिसका मुख दुर्दिन के समान हो गया था। ऐसी वह अनंगशरा नीची दृष्टि से पृथ्वी की ओर देखकर स्वयं पककर गिरे हुये ऐसे फलों को खाकर शांत हो जाती थी। कभी वह बेला करती थी, कभी तेला करती और कभी अनेकों उपवास कर लेती थी पुनः उपवास से अत्यन्त कृश हो जाने के बाद कभी वह केवल पानी से पारणा करती थी सो भी एक ही बार और कभी कुछ फल खाकर संतुष्ट होती थी।

जो अनंगशरा पहले अपने केशों से च्युत हो शैय्या पर पड़े हुये फूलों से भी खेद को प्राप्त होती थी वह इस वन में मात्र ऊबड़-खाबड़ कंकरीली पृथ्वी पर ही अनेकों रात्रियाँ निकाल चुकी है। जो पहले पिता के संगीत को सुनकर जागती थी, वह यहाँ पर सियार आदि के भयंकर शब्दों को सुनकर जागती है। इस प्रकार से सर्दी, गर्मी और बरसात के दुखों को अपने शरीर पर झेलती हुई तथा अनेकों उपवास कर-करके प्रासुक आहार से पारणा करती हुई उस कन्या ने तीन हजार वर्ष तक महान उग्र घोरातिघार बाह्य तप किया। इतने दिनों तक उस वन में उसे मनुष्य का दर्शन तो क्या, शब्द भी सुनने को नहीं मिला। शरीर भी उसका तपश्चरण से और कष्ट के झेलने से अब शुष्क हो चुका था। तब जीवन से निराश हो उस धीर-वीर बाला ने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर सल्लेखना धारण कर ली। उसने जिनशासन में पहले जैसा सुन रखा था वैसा नियम ग्रहण कर लिया कि मैं अब सौ हाथ से बाहर की भूमि में नहीं जाऊँगी।

उसे सल्लेखना का नियम लेकर जब छह दिन व्यतीत हो गये तब लब्धिदास नामक एक पुरुष

जो कि मेरुपर्वत की वंदना कर लौट रहा था उसने उस कन्या को देखा। वह उसे उसके पिता के पास ले जाने के लिए तैयार हुआ तब कन्या ने यह कहकर मना कर दिया कि मैंने अब यम सल्लेखना ग्रहण कर ली है। लब्धिदास ने शीघ्र ही चक्रवर्ती त्रिभुवनानंद के पास पहुँचकर कन्या का समाचार सुना दिया। कन्या के अपहरण के बाद चक्रवर्ती ने सर्वत्र अपने लोगों को भेज-भेजकर उसका पता लगवाया था किंतु कोई भी उसे ढूँढ नहीं सके थे। इसी कन्या के शोक में चक्रवर्ती भी अपनी विशाल संपत्ति को तुच्छ समझते थे। उसकी माता भी रो-रोकर शरीर को दुर्बल कर चुकी थी। उस समय चक्रवर्ती तमाम परिजन को लेकर अति शीघ्र ही वहाँ पहुँचे। वह वहां देखते हैं कि अत्यंत भयंकर एक मोटा अजगर उस बाला को खा रहा था। यह देख उस कन्या को छुड़ाने में तत्पर हो चक्रवर्ती ने उस अजगर को अलग करना चाहा कि कन्या ने तत्क्षण ही रोक दिया। उस स्थूल अजगर के द्वारा खाई गई वह कन्या महामंत्र का स्मरण करते हुये धैर्यपूर्वक शरीर छोड़कर ईशान स्वर्ग में देवी हो गई।

इस घटना से चक्रवर्ती त्रिभुवनानंद को महान वैराग्य उत्पन्न हो गया। उस समय उन्होंने अपने बाईस हजार पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली।

अनंगशरा कन्या स्वर्ग के सुखों का अनुभव करके राजा द्रोणमेघ की रानी के गर्भ में आ गई। उस समय रानी अनेकों रोगों से पीड़ित थी, कन्या के गर्भ में आते ही माता पूर्णतया निरोग हो गई।

किसी समय विंध्य नाम का व्यापारी ऊँट, गधे तथा भैंसे आदि जानवरों पर सामान लाद कर अयोध्या में आया और वहाँ ग्यारह माह तक रहा। उनमें से एक भैंसा तीव्र रोग से पीड़ित हो नगर के बीच में गिर पड़ा। कितने ही दिनों तक पड़ा रहा। लोग उसे ठुकरा कर चलते थे कभी कोई उसके मस्तक पर पैर रख-रखकर चले जाते थे। वेदना से और भूख-प्यास से पीड़ित होकर भी शांतभाव धारण करते हुये उसने प्राण छोड़ा। तब अकाम निर्जरा के प्रभाव से वह वायवावर्त नाम का धारक वायुकुमार जाति के देवों का स्वामी हो गया। अवधिज्ञान के निमित्त से उसने पूर्वभव के पराभव को जान लिया। तब उसने अयोध्या में आकर महारोग उत्पन्न करने वाली बहुत ही भयंकर विषम वायु चला दी, जिससे अयोध्या में भयंकर रोगों का प्रकोप फैल गया। महादाहज्वर, सर्वशूल रोग, अरुचि वमन, फोड़े, सूजन आदि अनेकों रोगों से शहर में त्राहि-त्राहि मच गयी। जब भरत महाराज ने सुना कि हमारे शहर में क्या सारे देश में कोई भी निरोग नहीं बचा है। मात्र एक द्रोणमेघ नाम का राजा है जो अपने मंत्री, परिवार आदि के साथ-साथ पूर्ण स्वस्थ रह रहे हैं। भरत महाराज ने उन्हें बुलाकर कहा कि हे महानुभाव! आप जैसे स्वस्थ हैं वैसे ही हम लोगों को स्वस्थ करना उचित है। तब राजा द्रोणमेघ ने अपने अन्तःपुर से सुगन्धित जल मंगवाकर उन सभी पर सिंचित किया जिससे सभी का

रोग शांत हो गया। तब भरत राजा के कहने से द्रोणमेघ ने सारे अयोध्या निवासियों को निरोग कर दिया।

उस प्रसंग में भरत महाराज ने प्रश्न किया कि यह महिमाशाली सुगन्धित श्रीजल आपने कैसे प्राप्त किया है? द्रोणमेघ ने कहा—हे देव! मेरी कन्या विशल्या है, यह उसी पुण्यशालिनी के स्नान का जल है जो कि सर्व रोगों का नाशक सिद्ध हो चुका है और इस जल के द्वारा अब तक अगणित जीवों ने जीवनलाभ प्राप्त किया है।

किसी समय देवगीतपुर के विद्याधर चन्द्रप्रतिम आकाशमार्ग में विचरण कर रहे थे। उसी समय उनका शत्रु सहस्रविजय कुछ पुराने वैर को याद कर क्रोध को प्राप्त हो उसके साथ युद्ध करने लगा। उस युद्ध में चंडरवा नाम की शक्ति (देवोपनीत अस्त्र) से उसे मारा जिससे वह मरणासन्न होकर रात्रि के समय आकाश से गिरा जहाँ वह गिरा वह अयोध्या का महेन्द्रोदय नामक उद्यान था। आकाश से पड़ते हुये ताराबिंब के समान उसे देखकर राजा भरत तर्क करते हुये उसके पास पहुँचे और शक्ति से शल्ययुक्त वक्षस्थल को देखकर दया से आर्द्र हो उठे। उन्होंने तत्क्षण ही जीवनदान देने वाले जल को मँगाकर उस चन्द्रप्रतिम विद्याधर को स्वस्थ कर दिया।

जब राम-रावण के युद्ध में रावण ने लक्ष्मण को अमोघविजया नामक शक्ति से घायल कर दिया था और उनके जीवन में संशय उपस्थित हो गया था, उस समय यह चंद्रप्रतिम विद्याधर वहाँ पहुँचकर इस विशल्या के स्नान जल के महत्व को बतलाकर रामचन्द्र को आश्वस्त करता है। तब रामचन्द्र शीघ्र ही रात्रि में ही भामंडल, हनुमान आदि को अयोध्या नगरी में भरत के पास उसी सुगंधित जल हेतु भेज देते हैं। भरत राजा सर्व समाचार विदित कर अपने अग्रज के जीवन हेतु उपाय में सन्नद्ध हो द्रोणमेघ के पास पहुंचते हैं तब वे द्रोणमेघ अपनी विशल्या कन्या को ही भामंडल आदि के साथ वहां भेज देते हैं। विशल्या के निकट पहुँचते ही लक्ष्मण के वक्षस्थल से शक्ति नामक अस्त्र निकल जाता है और वे स्वस्थ हो जाते हैं, यह है बाह्य तप का अद्भुत चमत्कार!

जिस समय वह अमोघशक्ति नाम की विद्या, लक्ष्मण के वक्षस्थल से निकलकर आकाश मार्ग से जाने लगी, हनुमान ने उसे पकड़ लिया तब वह देवी के रूप में प्रकट हो बोली—हे हनुमान! मैं तीनों लोकों में प्रसिद्ध अमोघविजया नाम की विद्या हूँ। इस समय इस संसार में इस विशल्या के सिवाय मैं किसी से पराजित नहीं की जा सकती थी। पूर्वभव में इसने अपना शिरीष के फूल के समान सुकुमार शरीर ऐसे तप में लगाया था कि जो प्रायः मुनियों के लिए भी कठिन था। सचमुच में इसलिए यह मानव शरीर जीवन सारभूत है कि जहाँ पर ऐसे-ऐसे कठिन तप किये जा सकते हैं।

जाप्य—ॐ ह्रीं उत्तमतपोधर्मांगाय नमः।

उत्तम त्याग धर्म

रत्नत्रयस्य दानं सः प्रासुक त्याग उच्यते।
चतुर्धा दानमप्यार्षात् त्रिधा पात्राय दीयते।।१।।
वज्रजंघो नृपो राज्ञा श्रीमत्या सह कानने।
भुक्तिं ददौ मुनिभ्यां स तीर्थेशो ऋषभोऽभवत्।।२।।
भूत्वा श्रीमत्यपि श्रेयान् दानतीर्थप्रवर्तकः।
श्रीकृष्ण औषधेर्दानात्पुण्यभाक् भावितीर्थकृत्।।३।।
सच्छास्त्रदानतो गोपः कौंडेशः श्रुतपारगः।
वसतेर्दानमाहात्म्यात् धृष्टिः स्वर्गतिमाप्तवान्।।४।।
रत्नत्रयमहं दत्वा स्वस्मै सर्वगुणात्मकं।
स्वात्मतत्त्वं लभेयाशु स्वस्मिन्नेव लयं पुनः।।५।।

उत्तम त्याग कहा जग में, जो त्यागे विषय कषायों को।
शुभ दान चार विध के देवें, उत्तम आदि त्रय पात्रों को।।
आहार सुऔषधि ज्ञान दान, औ अभय दान उत्तम सबमें।
नृपवज्रजंघ और श्रीमती, आहार दान से पूज्य बने।।१।।

नृप ऋषभ हुए श्रीमती, तभी श्रेयांस हुए जग में वंदित।
श्रीकृष्ण मुनि को औषधि दे, तीर्थंकर होंगे पुण्य सहित।।
ग्वाला भी शास्त्र दान फल से, कौंडेश मुनि श्रुतपूर्ण हुआ।
मुनि को दे सूकर अभयदान, लड़कर मरकर सुर शीघ्र हुआ।।२।।

रत्नों की वर्षा पुष्प वृष्टि, अनहद बाजे वायू सुरभित।
जयजयकारा ये पाँच कहें, आश्चर्य वृष्टि सुरगण निर्मित।।
पंचाश्चर्यों की वर्षा बस, आहार दान में ही होती।
भद्रों को मिलती भोगभूमि, समकित को सुर शिवगति होती।।३।।

पात्रों का दान सुफल देता, कुपात्रों का कुत्सित फल है।
हो दान अपात्रों का निष्फल, ये चारों दान महा फल हैं।।
थोड़े में भी थोड़ा दीजे, बहु धन की इच्छा मत करिये।
इच्छा की पूर्ति नहीं होगी, सागर में कितना जल भरिये।।४।।

यह सब व्यवहार त्याग माना, निश्चय से आत्मा सिद्ध सदृश।
सब त्याग ग्रहण से रहित सदा, टाँकी से उकेरी मूर्ति सदृश।।
सम्पूर्ण विभावों को तजकर, गुणपुँज अमल निज को ध्याऊँ।
बस ज्ञायक भाव हमारा है, उसमें ही तन्मय हो जाऊँ।।५।।

'संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः।' संयत के योग्य ज्ञान आदि को देना त्याग है।

'रत्नत्रय का दान देना वह प्रासुक त्याग कहलाता है और तीन प्रकार के पात्रों के लिए चार प्रकार का दान देना भी त्याग है' ऐसा आर्ष में कहा है। राजा वज्रजंघ ने रानी श्रीमती के साथ वन में युगल मुनि को आहार दान दिया था जिसके फलस्वरूप वे ऋषभ तीर्थंकर हुये हैं तथा उनकी रानी श्रीमती भी उसी के प्रभाव से आगे राजा श्रेयांस होकर दान तीर्थ के प्रवर्तक हुये हैं। श्रीकृष्ण ने एक मुनि को औषधिदान दिया था जिससे वे भविष्य में पुण्य के स्थान ऐसे तीर्थंकर होवेंगे। सच्चे शास्त्र के दान से एक ग्वाला अगले भव में कौंडेश मुनि होकर महान् श्रुतज्ञानी हुआ। वसतिका के दान के प्रभाव से सूकर ने स्वर्ग को प्राप्त कर लिया। मैं भी रत्नत्रय का दान अपने को देकर सर्वगुणों से परिपूर्ण स्वात्मतत्त्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेऊँ और उसी में लीन हो जाऊँ।।१ से ५।। ऐसी भावना प्रत्येक व्यक्ति को भाते रहना चाहिए।

धवला में कहा है कि 'दया बुद्धि से जो साधु रत्नत्रय का दान देते हैं वही प्रासुकपरित्यागता है। यह कारण गृहस्थों से संभव नहीं है चूंकि वे रत्नत्रय के उपदेश के अधिकारी नहीं हैं[1]।' अन्यत्र ग्रन्थों में इस त्याग के चार भेद किये हैं। आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान, और अभयदान। वज्रजंघ राजा ने वन में आहार दिया। देखने वाले मंत्री आदि चार जन एवं व्याघ्र, नेवला, बंदर तथा सूकर इन आठों ने मात्र अनुमोदना से कैसा पुण्य प्राप्त किया है। देखिए—

जगदगुरू भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा लेकर छह महीने का योग धारण कर लिया था। जब छह महीने पूर्ण हो गये, तब वे प्रभु मुनियों को चर्याविधि बतलाने के लिए आहारार्थ निकले। यद्यपि भगवान को आहार की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी वे मोक्षमार्ग को प्रगट करने के लिए पृथ्वी तल पर विचरण करने लगे।

उस समय लोग दिगम्बर मुनियों के आहार की विधि को नहीं जानते थे, अतः कोई-कोई भगवान के पास आकर उन्हें प्रणाम करते और उनके पीछे-पीछे चलने लगते, कोई बहुमूल्य रत्न लाकर भगवान के सामने रखते और ग्रहण करने की प्रार्थना करते कि हे देव! प्रसन्न होइये और

---

१. धवला पुस्तक ८ पृष्ठ ८७।

स्नान करके भोजन कीजिए, कोई हाथी, घोड़ा, पालकी आदि वाहन लेकर आते और भेंट करते, कितने ही लोग रूप-यौवन संपन्न कन्याओं को लाते और कहते कि प्रभो! आप इन्हें स्वीकार कीजिये। आचार्य कहते हैं कि लोगों की मूर्ख चेष्टा को धिक्कार हो! जो ऐसी-ऐसी चेष्टा कर रहे थे। इस प्रकार जगत् में आश्चर्यकारी, गूढ़चर्या से भ्रमण करते हुये भगवान के छह मास और व्यतीत हो गये।

अनन्तर भगवान ऋषभदेव हस्तिनापुर पधारे। उस समय वहाँ के राजा सोमप्रभ कुरुवंश के शिखामणि थे और उनके भाई श्रेयांस कुमार थे। श्रेयांस कुमार ने उसी रात्रि के पिछले प्रहर में सुमेरु पर्वत, कल्पवृक्ष, सिंह-बैल, सूर्य, चन्द्र, समुद्र और व्यन्तर देवों की मूर्ति, ऐसे सात स्वप्न देखे थे। प्रातः पुरोहित ने इन स्वप्नों का फल यही बतलाया था कि जिनका सुमेरू पर्वत पर अभिषेक हुआ है, ऐसे कोई देव आज आपके घर आयेंगे। उसी समय नगर में भगवान के दर्शनों के लिए दौड़ते हुये जनों से बहुत बड़ा कोलाहल व्याप्त हो गया। इधर सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने प्रभु के आगमन की सूचना दी। दोनों भाई उठ खड़े हुये और बाहर आये। भगवान को देखते ही गद्गद् हो उन्हें नमस्कार किया और उनकी तीन प्रदक्षिणायें दीं। तत्क्षण ही राजा श्रेयांस को अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया, तब आहार दान देने की सारी विधि याद आ गई। जब वज्रजंघ और श्रीमती ने वन में चारण मुनि को आहार दान दिया था उस समय का दृश्य ज्यों का त्यों उपस्थित हो गया। राजा वज्रजंघ का जीव ही भगवान ऋषभदेव हुए हैं और रानी श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस हुए हैं।

उस समय राजा श्रेयांस कुमार ने अपने बड़े भाई सोमप्रभ और भाभी लक्ष्मीमती के साथ बड़ी ही भक्ति से प्रभु का पड़गाहन करके अन्दर लाकर नवधा भक्तिपूर्वक उनके हाथों की अँजुली में शुद्ध प्रासुक इक्षुरस का आहार दिया। उसी समय आकाश में देवों का समुदाय उमड़ पड़ा।

रत्नों की वर्षा, पुष्पों की वर्षा, मंद सुगंधित वायु, दुन्दुभी बाजे और जय-जयकार के नाद से आकाश तथा भूमण्डल व्याप्त हो गया। उस समय दोनों भाईयों ने अपने आपको कृतकृत्य माना। जहाँ स्वयं तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव आहार लेने वाले हैं और श्रेयांस कुमार जैसे पुण्यशाली दाता देने वाले हैं, देवों के द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि की जा रही हो, उस समय के आहारदान का महत्व कौन कह सकता है? भगवान आहार के अनन्तर वन को विहार कर गये। राजा सोमप्रभ और श्रेयांस भी कुछ दूर तक प्रभु के पीछे-पीछे गये पुनः नमस्कार करके वापस आ गये।

उस दिन राजा के यहाँ भोजन अक्षय हो गया था, चाहे चक्रवर्ती का कटक भी जीम ले तो भी उसका क्षय नहीं हो सकता था। वह दिन वैशाख सुदी तृतीया का दिन था। इसलिए तब से लेकर आज

तक भी वह दिन पवित्र 'अक्षय तृतीया' के नाम से पृथ्वी तल पर सर्वत्र विख्यात है और महान पर्व के रूप में मनाया जाता है। उस समय राजा श्रेयांस 'दान तीर्थ के प्रवर्तक' कहलाये थे।

देवों ने भी आश्चर्य के साथ श्रेयांस कुमार की बड़ी भारी पूजा की थी तथा भरत चक्रवर्ती ने आकर हर्ष से गद्‌गद् हो पूछा था कि हे कुरुवंश शिखामणे! तुमने यह आहारदान की विधि कैसे जानी? तब राजा श्रेयांस ने अपनी जातिस्मरण की बात कहना शुरू की।

हे भरत सम्राट! इस भव से आठवें भव पूर्व की बात है। जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह के पुष्कलावती देश में एक उत्पलखेट नाम का नगर है, उसके राजा वज्रजंघ अपनी श्रीमती रानी के साथ ससुराल जाते समय मार्ग में वन में पड़ाव डालकर ठहर गये। उस समय अकस्मात् चारण ऋद्धि के धारक दो मुनिराज वहाँ आहार हेतु आ गये। उनका वन में आहार ग्रहण करने का वृत्तपरिसंख्यान व्रत था। राजा ने उन्हें देखते ही अत्यर्थ आदर के साथ रानी श्रीमती सहित खड़े होकर उनका पड़गाहन किया, पुनः उन्हें ऊँचे आसन पर बिठाया, उनके चरण कमलों का प्रक्षालन किया, पूजा की, नमस्कार किया और मन-वचन काय तथा आहार को शुद्ध निवेदन करके श्रद्धा आदि गुणों से समन्वित राजा ने रानी सहित उन दोनों मुनियों को विधिपूर्वक आहार दिया। उस समय देवों ने भावविभोर होकर रत्नों को वर्षाया और पुष्पों की वर्षा करने लगे, सुगन्धित मन्द पवन चलाई, दुन्दुभि बाजे बजाये और 'अहो दानं', "अहो दानं" ऐसी प्रशंसात्मक ध्वनि करने लगे। अनन्तर आहार के पश्चात् राजा ने पुनः उनकी पूजा और वन्दना की।

अनन्तर कंचुकी के द्वारा राजा को पता चला कि ये दोनों महामुनि आपके ही अन्तिम युगलिया पुत्र हैं, इनके दमधर और सागरसेन ये नाम हैं, मतलब रानी श्रीमती के अठानवे पुत्र हुए थे। उन सभी ने अपने बाबा के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ले ली थी। उन्हीं में से ये अन्तिम हैं। इतना सुनते ही राजा को अतिशय प्रेम उमड़ पड़ा। भक्ति में विभोर हो राजा ने उनके चरण सान्निध्य में बैठकर अपने व श्रीमती के पूर्वभव पूछे। पुनः पूछने लगे कि -हे भगवन्! ये हमारे मंत्री, सेनापति, पुरोहित और सेठ जी अतिशय भक्ति से आपका आहार देख रहे थे, इन पर मुझे अत्यधिक स्नेह है एवं ये जो सिंह, सूकर, नकुल और बन्दर बड़ी ही उत्कण्ठा से शांतचित्त हो आपका आहार देख रहे थे, ये सभी कोई भव्यजीव हैं। कृपया इन सबके पूर्वभवों को भी बतलाकर सभी को कृतार्थ कीजिये। तब गुरुदेव ने क्रम-क्रम से सभी के भव-भवान्तर सुना दिये। अनन्तर राजा ने पुनः निवेदन किया कि आगे हम लोगों के अभी इस संसार में कितने भव और शेष हैं? मुनिराज ने कहा—

राजन्! आप सभी निकटभव्य हैं, आप तो इससे आठवें भव में युग के आदि विधाता तीर्थंकर

ऋषभदेव होवेंगे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति चलायेंगे। माता श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस कुमार दानतीर्थ का प्रवर्तक होगा। आपके ये मतिवर मंत्री उस भव में आपके प्रथम पुत्र सम्राट भरत चक्रवर्ती होवेंगे कि जिसके नाम से यह देश 'भारत' इस सार्थक नाम से सनाथ होगा। ये आनन्द पुरोहित बाहुबली नाम के कामदेव पदवीधारी महापराक्रमी पुत्र होवेंगे। सेनपाति का जीव वृषभसेन होगा जो आपका प्रथम गणधर होवेगा। ये धनमित्र सेठ अनन्तविजय नाम के पुत्र होंगे तथा ये सिंह, सूकर, बन्दर और नकुल के जीव भी अभी दान की अनुमोदना के प्रभाव से अतिशय पुण्य संचित कर चुके हैं। ये मरकर उत्तम भोगभूमि में मनुष्य होकर पुनः कालान्तर में आपकी ऋषभदेव पर्याय में आपके ही अनन्तवीर्य, अच्युत, वीर और सुवीर नाम के पुत्र होंगे अर्थात् ये आठों जीव आपके ही साथ उत्तम देव व मनुष्य के सुखों को भोगकर पुनः तीर्थंकर पर्याय में आपके ही पुत्र होकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार से राजा श्रेयांस के मुख से सर्व अतीत वृत्तांत सुनकर भरत चक्रवर्ती अत्यर्थ प्रमोद को प्राप्त हुये और बहुत से रत्नों-आभूषणों द्वारा उनका आदर सम्मान करके तथा उन्हें दानतीर्थ प्रवर्तक उपाधि से विभूषित करके वे अपनी अयोध्या में वापस आ गये।

एक बार के आहार दान के प्रभाव से उन युगल दम्पत्ति राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती ने कितना उत्कृष्ट फल प्राप्त किया तथा उस दान को देखकर मात्र अनुमोदना करने वाले उन मंत्री, सेनापति, पुरोहित और सेठ ने तथा चारों पशुओं ने उन्हीं के सदृश कैसा महान् अचिन्त्य फल प्राप्त कर लिया। अहो! दान की महिमा अचिन्त्य ही है। आज के युग में भी जो अपने को महामुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि साधुवर्ग दिखते हैं उनके प्रति असीम भक्ति रखकर पूजा, दान, भक्ति आदि करके अपने मनुष्य जीवन को सफल कर लेना चाहिए। कहा भी है—

भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्[1]।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति।।

अर्थ—भोजनमात्र प्रदान करने के लिए तपस्वियों की क्या परीक्षा करना! वे सद्गुणों से युक्त सज्जन हों या न हों किन्तु गृहस्थ तो दान से शुद्ध हो ही जावेगा।

गुरुओं की भक्ति दानादि का क्या फल है सो देखिए—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु[2]।।

अर्थ—साधुओं को नमस्कार करने से उच्च गोत्र प्राप्त होता है, उनको दान देने से भोग

---

१. श्री सोमदेव सूरि। २. श्रीसमन्तभद्रस्वामी

मिलते हैं, उनकी उपासना से पूजा प्राप्त होती है, सम्मान होता है, उनकी भक्ति से सुन्दर रूप और उनकी स्तुति करने से कीर्ति होती है।

ऐसे ही अनेकों उदाहरण हैं—

विश्वभूति ब्राह्मण ने मुनिराज को सत्तू के लड्डू का आहार दिया जिसके फल से उसने देवों द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि को प्राप्त कर लिया। किसी समय श्रीकृष्ण ने एक मुनि के शरीर में कुछ रोग देखा, वैद्य को दिखाकर उसकी औषधि का निर्णय करके औषधि मिश्रित लड्डू बनवाए और अन्यत्र सूचना करा दी कि राजमहल के सिवाय उन्हें कोई न पड़गाहे। मुनि को औषधि मिल जाने से उनका रोग ठीक हो गया। उस समय उन्होंने महान् पुण्य का संचय कर लिया। कुरमरी गाँव में एक गोविंद नाम का ग्वाला रहता था। उसे वृक्ष की कोठर से एक ग्रंथ मिल गया। उसने उस ग्रंथ को लाकर बहुत दिनों तक उसकी पूजा की, पुनः पद्मनंदि नामक मुनि को वह ग्रंथ दे दिया। उस दान के प्रभाव से मरकर वह चौधरी का पुत्र हुआ। जिन मुनिराज को उसने पुस्तक दान दी थी। उनके दर्शन करते ही उसे जातिस्मरण हो गया। उनसे दीक्षा लेकर अन्त में शांति से मृत्यु लाभ कर कौंडेश नाम का राजा हो गया। किसी समय दीक्षित होकर संपूर्ण द्वादशांग का ज्ञान प्राप्तकर श्रुतकेवली हो गया। सच है ज्ञानदान का फल तो केवलज्ञान ही है।

घटगाँव नाम के शहर में एक देविल नाम का कुंभार और एक धर्मिल नाम का नाई रहता था। दोनों ने मिलकर एक धर्मशाला बनवाई। देविल ने मुनि को ठहरा दिया तब धर्मिल ने उन्हें निकालकर एक सन्यासी को ठहरा दिया। देविल को ऐसा मालूम होने से वे दोनों आपस में लड़ मरे और क्रम से सूकर और व्याघ्र हो गये। एक दिन कर्मयोग से गुप्त और त्रिगुप्तिगुप्त ऐसे दो मुनिराज वन की गुफा में ठहर गये। सूकर को जातिस्मरण हो जाने से वह उनके पास आया और शांतभाव से उपदेश सुनकर कुछ व्रत ग्रहण कर लिये। इसी समय वह व्याघ्र वहाँ आया और मुनियों को खाने के लिए गुफा में घुसने लगा। सूकर ने उसका सामना किया अन्त में दोनों लहूलुहान होकर मर गये। सूकर के भाव मुनि रक्षा के थे और व्याघ्र के भाव भक्षण के थे। अतः सूकर सौधर्म स्वर्ग में अनेक ऋद्धियों सहित देव हो गया और व्याघ्र मरकर नरक चला गया। इस प्रकार से अभयदान का फल सूकर ने प्राप्त कर लिया।

दान से ही संसार में गौरव प्राप्त होता है। देखो! देने वाले मेघ ऊपर रहते हैं और संग्रह करने वाले समुद्र नीचे रहते हैं। बड़े कष्ट से कमाई कई सम्पत्ति को यदि आप अपने साथ ले जाना चाहते हैं तो खूब दान दीजिये। यह असंख्यगुणा होकर फलेगी किन्तु खाई गई अथवा

गाड़कर रखी गई संपत्ति व्यर्थ ही है परोपकार में खर्चा गया धन ही परलोक में नवनिधि ऋद्धि के रूप में फलता है।

उत्तम, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा से पात्र के तीन भेद हैं। उत्तम पात्र मुनि हैं, मध्यम पात्र देशव्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं। उत्तम पात्र में दिया गया दान उत्तम भोगभूमि को, मध्यम पात्र को दिया गया दान मध्यम भोगभूमि को और जघन्य पात्र में दिया गया दान जघन्य भोगभूमि को प्राप्त कराता है। कुपात्र (मिथ्यादृष्टि) को दिया गया दान कुभोगभूमि को देता है और अपात्र में दिया धन व्यर्थ चला जाता है। जो सम्यग्दृष्टि उपर्युक्त तीन प्रकार के पात्रों को दान देते हैं वे नियम से स्वर्ग को अथवा मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

दीन, दुःखी, अंधे, लंगड़े आदि को भोजन, वस्त्र आदि देना करुणादान है। यह भी करुणा बुद्धि से करना ही चाहिए।

इस प्रकार से त्यागधर्म के महत्व को समझकर यथाशक्ति दान देना चाहिए।

देयात् स्तोकमपि स्तोकं न व्यपेक्षा महोदये।
इच्छानुसारिणी शक्तिः कदा कस्य भविष्यति।।

थोड़े में थोड़ा तथा उसमें भी थोड़ा-थोड़ा देते ही रहना चाहिए। बहुत धन होगा जब दान देंगे, ऐसी अपेक्षा नहीं रखना चाहिए क्योंकि इच्छानुसार शक्ति कब किसको हुई है? लखपती करोड़पति बनना चाहता है, करोड़पति अरबों-खरबों को पाकर भी तृप्त नहीं हो सकता है, क्या कभी ईंधन से अग्नि की तृप्ति हुई है? नहीं। अतः यदि संपत्ति को वृद्धिंगत करने की इच्छा है तो दान देते ही रहना चाहिए। कुएँ से जल निकालने से बढ़ता है वैसे ही धन दान देने से बढ़ता है।

जाप्य—ॐ ह्रीं उत्तमत्यागधर्मांगाय नमः।

उत्तम आकिंचन्य धर्म

अकिञ्चनो न मे किंचित् आत्मानंतगुणात्मकः।
परद्रव्यात् सदा भिन्नस्त्रैलोक्याधिपतिर्महान्।।१।।
अणुमात्रं परं स्वस्य, मत्वा जीवो भवे भ्रमेत्।
कायेऽपि निर्ममो भूयात् लोकाग्रे निवसेत्तदा।।२।।
जमदग्निमुनिर्मिथ्यातापसोऽभूत् परिग्रही।
भवाब्धौ पतितो दीर्घभारैः स्यात्कथमूर्ध्वगः।।३।।
पिच्छि-कमंडलू शास्त्रं गृण्हाति देहनिःस्पृहः।
आतापनादियोगेषु तिष्ठेत् स्वात्मैक्यसंगतः।।४।।
भगवन्! त्वत्प्रसादान्मे शक्तिः प्रादुर्भवेत्तवरम्।
गिरिकंदरदुर्गेषु स्वं ध्यायन् सिद्धिमाप्नुयाम्।।५।।

नहिं किंचित् भी मेरा जग में, यह ही आकिंचन भाव कहा।
बस एक अकेला आत्मा ही, यह गुण अनन्त का पुँज अहा।
अणुमात्र वस्तु को निज समझें, वे नरक निगोद निवास करें।
जो तन से भी ममता टारें, वे लोकशिखर पर वास करें।।१।।

जमदग्नी मिथ्या तापस ने, निज ब्याह रचा था आश्रम में।
परिग्रह का पोट धरा शिर पर, बस डूब गया भवसागर में।।
जिनमत के मुनिगण सब परिग्रह, तज दिग् अम्बर को धरते हैं।
बस पिच्छी और कमंडलु लेकर, भवसागर से तिरते हैं।।२।।

धन-धन्य महामुनि वे जग में, गिरि शिखरों पर तप करते हैं।
वे जग में रहते हुये सदा निज, में ही विचरण करते हैं।।
ग्रीष्म में पर्वत चोटी पर, सर्दी में सरिता तट तिष्ठें।
वर्षा में तरुतल ध्यान धरें, निश्चलतन से परिषह सहते।।३।।

मैं काल अनादी से अब तक, एकाकी जन्म मरण करता।
एकाकी नरक निगोदों के, चारों गतियों के दुःख सहता।।
इस जग में जितने भी भव हैं, मैं उन्हें अनन्तों बार धरा।
बस मेरा निर्मम एक शुद्धपद, उसे न अब तक प्राप्त करा।।४।।

भगवन्! ऐसी शक्ती दीजे, मैं निर्मम हो वनवास करूँ।
आतापन आदि योग धारूँ, भवभव का त्रास विनाश करूँ।।
उपसर्ग परीषह आ जावें, मुझको नहिं किंचित् भान रहे।
हो जाये अवस्था ऐसी ही, बस मेरा ही इक ध्यान रहे।।५।।

'उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिञ्चन्यम्।' जो शरीर आदि अपने द्वारा ग्रहण किये हुये हैं उनमें संस्कार को दूर करने के लिए 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिंचन्य है। 'नास्य किञ्चनास्त्यकिञ्चनः, तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्'। जिसका कुछ नहीं है वह अकिंचन है और अकिंचन का भाव या कर्म आकिंचन्य है।

'न मे किञ्चन अकिञ्चनः' मेरा कुछ भी नहीं है अतः मैं अकिंचन हूँ। फिर भी मेरी आत्मा अनंतगुणों से परिपूर्ण है। मैं सदा परद्रव्य से भिन्न हूँ और तीन लोक का अधिपति महान् हूँ। यह अणुमात्र भी परवस्तु को जब तक अपनी मानता रहता है तब तक संसार में भ्रमण करता रहता है और जब काय से भी निर्मम हो जाता है तब लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाता है। जगदग्नि मुनि ने मिथ्यातापसी होकर स्त्री आदि का परिग्रह स्वीकार कर लिया अतः यह संसार समुद्र में डूब गया। सच है, दीर्घभार लेकर मनुष्य ऊपर कैसे गमन कर सकता है? शरीर से भी निःस्पृह हुये साधु पिच्छी, कमंडलु और शास्त्र को ग्रहण करते हैं फिर भी अपनी आत्मा में एकाग्र होते हुये आतापन आदि योगों में स्थित हो जाते है। हे भगवन्! आपके प्रसाद से शीघ्र ही मुझमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जावे कि मैं पर्वत पर, कन्दराओं में और दुर्ग आदि प्रदेशों में अपनी आत्मा का ध्यान करते हुये सिद्धिपद को प्राप्त कर लेऊँ। ।।१ से ५।। ऐसी भावना सदा भाते रहना चाहिए।

जो भव्यजीव संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर गृह का त्याग कर देते हैं वे ही महासाधु अकिंचन कहलाते हैं पुनः अपनी रत्नत्रय निधि को संभालकर तीन लोक के नाथ हो जाते हैं, कहा भी है—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः[1]।।१०।।

हे भव्य! तू मेरा कुछ भी नहीं है, ऐसी भावना के साथ स्थित हो। ऐसा होने पर तू तीन लोक का स्वामी (सिद्ध परमेष्ठी) हो जावेगा। यह तुझे परमात्मा का रहस्य बतला दिया है जो कि केवल

१. आत्मानुशासन।

योगियों के द्वारा ही प्राप्त करने योग्य है या उनके ही अनुभव का विषय है।

अभिप्राय यही है कि त्याग से तीनलोक की सम्पत्तिरूप अनंतगुण प्राप्त हो जाते हैं।

एक समय था जब राजा लोग नियम से राज्य को छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेते थे। देखो! भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत ने कैलाश पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया पुनः उनके पुत्र अर्ककीर्ति ने अपने पुत्र को राज्य देकर मोक्ष प्राप्त किया। ऐसे ही भरत को आदि लेकर चौदह लाख इक्ष्वाकुवंशीय राजा लगातार मोक्ष गये हैं। उसके बाद एक राजा सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हुये फिर अस्सी राजा मोक्ष गये परन्तु उनके बीच में एक-एक राजा इन्द्रपद को प्राप्त होते रहे[1]।

इस समय तो इस कालिकाल में तीन लोक की रक्षा करने वाले ऐसे केवली भगवान नहीं हैं, फिर भी इस भरतक्षेत्र में जगत में उद्योत करने वाले ऐसे उनके श्रेष्ठ वचन विद्यमान हैं और उन वचनों का अवलंबन लेकर रत्नत्रय धारण करके वो मुनि भी विचरण कर रहे हैं। इसलिए आज जिनदेव की वाणी सदा पूज्य है और उसकी पूजा से ऐसा समझना चाहिए कि साक्षात् जिनेन्द्र देव की ही पूजा की है[2]।

श्रीकुन्दकुन्दस्वामी ने भी मुनियों के अस्तित्व का विधान किया है—

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झायेइलहइ इंदत्तं। लोयत्तिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति[3]।।

आज भी रत्नत्रय से शुद्ध मुनि आत्मा का ध्यानकर इन्द्रपद को अथवा लौकांतिक पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से चयकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

जो सब कुछ त्याग कर देते हैं वे ही महामुनि सब कुछ देने में समर्थ होते हैं। सो सच ही है कि समुद्र से कोई भी नदी नहीं निकलती है किन्तु पर्वत से ही निकलती है।

एक दृढ़ग्राही नाम के राजा थे। हरिशर्मा नाम के ब्राह्मण के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। किसी समय राजा को वैराग्य हो गया अतः उसने दिगम्बर मुनिराज के पास में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। यह देखकर हरिशर्मा भी भोगों से विरक्त हुआ और जाति के संस्कार से वह तापसी हो गया। राजा ने जिनेन्द्रप्रतिपादित तपश्चरण के प्रभाव से अंत में समाधिमरण करके सौधर्म स्वर्ग में देवपद प्राप्त कर लिया और हरिशर्मा ने अज्ञानतप करके अंत में शरीर छोड़कर ज्योतिषी देवों में जन्म धारण कर लिया।

पूर्वभव की मित्रता के संस्कार से राजा के जीव ने अपने अवधिज्ञान से यह जानना चाहा कि मेरा मित्र कहाँ जन्मा है? जब उसने उसे ज्योतिर्लोक में देव हुआ जाना तब वह अपने स्वर्ग से वहाँ आकर अपना परिचय देते हुये बोला—

---

१. हरिवंशपुराण पर्व १३, पृ. २१७। २. पद्मनंदिपंचविंशतिका। ३. मोक्षपाहुड़।

'मित्र! देख सम्यक्त्व का प्रभाव! मैं इस वैमानिक देवों के कुल में जन्मा हूं और मिथ्यात्व के निमित्त से तुम ज्योतिषी देवों के यहाँ जन्मे हो। इसलिए हे बंधु! जो मोक्ष को प्राप्त कराने में मूल कारण है ऐसे सम्यग्दर्शन को तुम ग्रहण करो।'

मित्र के ये वाक्य सुनकर ज्योतिषी देव संशय को प्राप्त होता हुआ पूछने लगा-

'मित्र! तापसियों का तप अशुद्ध क्यों है?'

वैमानिक देव ने कहा—'तुम पृथ्वी तल पर चलो मैं तुम्हें सब दिखाता हूँ।'

इसके अनंतर वे दोनों मध्यलोक में आकर आपस में कुछ सलाह कर एक तापसी के निकट पहुँचे। विक्रिया से चिड़ा-चिड़िया का रूप बनाया और उस तापसी की बड़ी-बड़ी दाढ़ी में रहने लगे। वहाँ कुछ समय रहने के बाद युक्ति से चतुर सम्यग्दृष्टि देव ने अपनी भार्या चिड़िया से कहा-

'प्रिये! मैं पास के इस वन में जा रहा हूँ कुछ ही क्षण बाद वापस आ जाऊँगा अतः तुम चिन्ता नहीं करना। यहीं इसी स्थान पर रहते हुये मेरी प्रतीक्षा करना।'

तब चिड़िया ने कहा—'आपका क्या विश्वास? यदि वापस नहीं आये तो?'

चिड़िया ने कहा—'तुम जो कहो, सो मैं शपथ ले सकता हूं मैं वापस अवश्य ही आऊँगा। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप हैं इनमें से तुम जो कहो मैं उसकी शपथ ले सकता हूं। मतलब यदि मैं वापस न आऊँगा तो मुझे हिंसा करने का जो पाप होता है सो लगे।'

अनेक प्रकार से वह चिड़ा शपथ लेने को तैयार था किन्तु चिड़िया राजी नहीं हो रही थी। तब चिड़ा ने कहा—'अच्छा तुम्हीं कहो क्या शपथ करके जाऊँ?'

तब चिड़िया ने कहा—'आप यह शपथ कीजिये कि 'यदि मैं वापस न आऊँ तो जो गति इस तापसी की होगी सो मेरी हो।' 'हे प्रियतम्! यदि तुम यह शपथ करके जाना चाहो तो मैं जाने दूँगी अन्यथा नहीं'।

चिड़िया की यह बात सुनकर चिड़ा बोला-

'प्रिये! तुम इस शपथ के सिवाय और चाहे जो शपथ करा सकती हो किन्तु यह शपथ तो मैं किसी भी हालत में लेने को तैयार नहीं हूँ।'

चिड़ा-चिड़िया का ऐसा वार्तालाप सुनकर वह तापसी क्रोध से भड़क उठा। उसका चेहरा लाल हो गया और नेत्र घूमने लगे। उसने क्रूरतावश दोनों को मारने के लिए मजबूती से अपनी दाढ़ी पकड़ ली और बोला—

'अरे दुष्टों! मेरे इतने कठोर तपश्चरण से मेरी जो भावी गति होने वाली है उसे तुम क्यों नहीं पसंद कर रहे हो?'

यह सुनकर चिड़ा बोला—'महात्मा जी! आप क्रोध न करें अन्यथा आपकी सज्जनता नष्ट हो जायेगी। देखो ना, थोड़ी सी जामिन की छाँछ से ही दूध नष्ट हो जाता है। यद्यपि आपका तपश्चरण कठोर है फिर भी आपकी दुर्गति का कारण क्या है? सो आप सुनें—

आपने जो कुमार काल से ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया है सो सन्तान के लिए ही है और सन्तान का घात करने वाले पुरुष की नरक गति के सिवाय अन्य दूसरी गति नहीं है। देखोवेद में लिखा हुआ है कि-'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' पुत्र रहित मनुष्य की कोई गति नहीं होती है। बाबाजी! क्या आपने यह वेदवाक्य नहीं सुना है? यदि सुना है तो फिर बिना विचारे क्यों इस तरह मूढ़ होकर क्लेश उठा रहे हो?'

चिड़ा की ऐसी युक्तिपूर्ण बातें सुनकर वह मंदबुद्धि तापसी अपने तप से विचलित हो गया और उसने स्त्रीपरिग्रह स्वीकार करने का निश्चय कर लिया। वह चिड़ा-चिड़ी को अपना परमोपकारक मानता हुआ उसी क्षण वहाँ से चल पड़ा और कन्याकुब्ज नगर के राजा पारत के राजदरबार में आ गया। महाराज पारत इस जमदग्नि तापसी के मामा थे, उसे अकस्मात् दरबार में आया देखकर उन्होंने उसके सामने दो तरह के आसन रखवाये। वह अज्ञानी तापस अपने अज्ञान को ही प्रकट करता हुआ वीतरागी काष्ठासन को छोड़कर सरागी आसन पर बैठ गया पुनः वह अपने आने का वृत्तान्त राजा को बतलाते हुये बोला—

'राजन्! मेरे परम सौभाग्य से किसी देवता ने प्रगट होकर मुझे सही मार्ग दिखलाया है कि तुम पहले विवाह करके पुत्र उत्पन्न करो पुनः तपश्चरण करो अन्यथा नरक जाना पड़ेगा। सो मैं आपके यहां आपकी पुत्री की याचना करने के लिए आया हूँ।

उस तापस की इस निर्लज्जतापूर्ण बात को सुनकर महाराज अवाक् रह गये। पुनः मन ही मन उसके अज्ञान तप की निंदा करते हुये बोले—

'जमदग्नि मुने! मेरे सौ पुत्रियाँ हैं, उनमें से तुम्हें जो वरण करना चाहे उसके साथ विवाह कर लो।'

राजा ने ऐसा कहते हुये समझा था कि न कोई कन्या इस अर्धमृतकवत् जर्जरित शरीर वाले वृद्ध को चाहेगी और न यह यहाँ से कन्या ले जा सकेगा। किन्तु होनहार जो होनी है सो होकर ही रहती है।

उसके सामने सभी लड़कियाँ बुलाई गईं और राजा की आज्ञा के अनुसार कंचुकी ने कहा—

'पुत्रियों! ये तापसी तुम्हारे पिता के पास तुममें से किसी कन्या की याचना के लिए यहाँ आये हैं अतः तुममें से कोई भी कन्या इसे स्वीकार करो।'

इतना सुनते ही सभी कन्याएं उस तापसी को देखकर डर गईं और एक साथ ही सब वहाँ

से भाग गईं। यह देख वह तापसी बहुत ही दुःखी हुआ और पुनः राजा से अनुनय-विनय करने लगा। तब राजा ने कहा—

'ऋषे! तुम जिस कन्या को राजी कर सको उसे ले जा सकते हो।'

इतना सुनकर वह दरबार से बाहर निकला। कन्याओं से क्रीड़ा करने के लिए बगीचे में पहुंचा। वहां पर एक छोटी सी राजकन्या धूलि में खेल रही थी। उसके निकट जाकर और एक केला दिखाकर उससे बोला—

'यदि तू मुझे चाहेगी तो यह केला मैं तुझे दूंगा।' बेचारी अबोध बालिका कुछ भी नहीं समझती थी अतः वह बोली-'हाँ मैं तुम्हें चाहूँगी'।

बस फिर क्या था? उस मूढ़ ने उसे केला दिया और झट से गोद में लेकर राजा के निकट पहुँचकर बोला—'राजन्! यह लड़की मुझे चाहती है।'

महाराज ने अपना माथा ठोक लिया, बेचारे कर ही क्या सकते थे? वह जमदग्नि उस लड़की को लेकर अपने वन की ओर चला जा रहा था और देखने वाले लोग उसकी निंदा कर रहे थे। कुछ दिनों तक उसने उस बालिका को पाल-पोस कर बड़ी किया पुनः युवती होने पर उसके साथ विवाह करके वन में ही आश्रम बनाकर रहने लग गया।

उसी समय से तापसाश्रम में रहकर तापसी बनकर तपश्चरण करने की प्रथा चल पड़ी है। आगे चलकर इस जमदग्नि तापसी के दो पुत्र हुये जिनके इन्द्र और श्वेतराम ये नाम रखे गये। इनमें से ही बड़े पुत्र ने अपनी परशु विद्या के प्रभाव से अयोध्या के राजा सहस्रबाहु को मारकर बहुत दिनों तक राज्य किया है ओर अपने राज्यकाल में इक्कीस बार क्षत्रिय वंश का निर्मूल नाश किया है। परशु विद्या के प्रभाव से परशुराम इस नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुये इस ऋषि पुत्र को सुभौम नामक क्षत्रिय पुत्र ने मारकर चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया था।

आचार्य कहते हैं, इस भोगवासना की निंद्यबुद्धि को धिक्कार हो, कि जहाँ स्त्री, पुत्र आदि परिग्रह रखकर भी मूढ़ लोग अपने को तपस्वी मान लेते हैं। क्या वे इस परिग्रह के भार को लेकर संसार समुद्र को पार कर सकते हैं? नहीं। ऐसा समझकर निर्ग्रंथमुद्रा को ही मोक्षमार्ग मानना चाहिए और इस आकिंचन्य धर्म की उपासना करके अपने आत्मगुणों को विकसित करना चाहिए।

जाप्य—ॐ ह्रीं उत्तमआकिंचन्यधर्मांगाय नमः।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

आत्मैव ब्रह्म तस्मिन् स्यात् चर्येति ब्रह्मचर्यभाक्।
वासो वा गुरुसंघेऽपि ब्रह्मचारी स उत्तमः।।१।।
एकमंकं विनाऽसंख्याविंदूनां गणना नु का?
ऋते ब्रह्मव्रताल्लोकेऽन्यव्रतानां फलं कुतः?।।२।।
अभुक्त्वापि परित्यक्तं विश्वमुच्छिष्टवत् पुरा।
यैस्तान्नमामि भक्त्याहं कौमारब्रह्मचारिणः।।३।।
अणुब्रह्मव्रती श्रेष्ठी यशस्वीह सुदर्शनः।
सीतायाः शीलमाहात्म्यात् अग्निर्वारिसरोऽभवत्।।४।।
स्वब्रह्मणि रमित्वाहं हित्वा सर्वान् विकल्पकान्।
लब्ध्वा ज्ञानवतीं लक्ष्मीं भविष्यामि जगत्पतिः।।५।।

यह ब्रह्मस्वरूप कही आत्मा, इसमें चर्या ब्रह्मचर्य कहा।
गुरुकुल में वास रहे नित ही, वह भी है ब्रह्मचर्य दुखहा[1]।।
सब नारी को माता भगिनी, पुत्रीवत् समझे पुरुष सही।
महिलाएं पुरुषों को भाई, पितु पुत्र सदृश समझें नित ही।।१।।

इक अंक लिखे बिन अगणित भी, बिन्दू की संख्या क्या होगी?
इक ब्रह्मचर्य व्रत के बिन ही, धर्मादि क्रिया फल क्या देगी?
भोगों को जिनने बिन भोगे, उच्छिष्ट समझकर छोड़ दिया।
उन बालयती को मैं नित प्रति, वंदूँ प्रणमूँ निज खोल हिया।।२।।

इक देश ब्रह्मव्रत जो पाले, वे शीलव्रती नर नारी भी।
सीता सम अग्नि नीर करें, सुर वंदित मंगलकारी भी।।
शूली से सिंहासन देखा, वह सेठ सुदर्शन यश मंडित।
रावण से नरक गति पहुँचे, वह चन्द्रनखा भी यश खंडित।।३।।

मेरी आत्मा है परम ब्रह्म, भगवान् अमल चिदरूपी है।
यह है शरीर अपवित्र अथिर, आत्मा शाश्वत चिन्मूर्ती है।।
यह द्रव्यकर्म मल भावकर्म, मल आत्मस्वरूप मलिन करते।
जब मैं इन सबसे पृथक् रहूँ, तब सब कर्म स्वयं भगते।।४।।

---

१. दुःख को हनन करने वाला

निज आत्मा में ही रमण करूँ, निज सौख्य सुधा को पाऊँ मैं।
पर के संकल्प विकल्पों को, इक क्षण में ही ठुकराऊँ मैं।।
पर का किंचित् भी भान न हो, निज में तन्मयता पाऊँ मैं।
निज 'ज्ञानमती' लक्ष्मी पाकर, त्रैलोक्यपती बन जाऊँ मैं।।५।।

है उत्तम क्षमा मूल जिसमें, मृदुता सुतना, आर्जव शाखा।
शुचि भाव नीर पत्ते सच हैं, संयम तप त्याग कुसुम भाषा।
आकिंचन ब्रह्मचर्य कोंपल, से सुन्दर वृक्ष सघन छाया।
फल स्वर्ग मोक्ष का देता है, दश धर्म कल्पद्रुम मन भाया।।१।।

दोहा- धर्म कल्पद्रुम के निकट, माँगू शिवफल आज।
'ज्ञानमती' लक्ष्मी सहित, पाऊँ सुख साम्राज्य।।२।।

'अनुभूतांगनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते। स्वतंत्रवृत्तिनिवृत्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। अनुभूत स्त्री का स्मरण, उनकी कथाओं का श्रवण और उनसे संसक्त शयन, आसन आदि इन सबका त्याग करना ब्रह्मचर्य है अथवा स्वतंत्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुओं के पास रहना सो ब्रह्मचर्य है[1]।'

'आत्मा ही ब्रह्म है उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा में चर्या करना सो ब्रह्मचर्य है अथवा गुरु के संघ में रहना भी ब्रह्मचर्य है। इस विध चर्या को करने वाला उत्तम ब्रह्मचारी कहलाता है। जिस प्रकार से एक (१) अंक को रखे बिना असंख्य बिन्दु भी रखते जाइये किन्तु क्या कुछ संख्या बन सकती है? नहीं, उसी प्रकार से एक ब्रह्मचर्य के बिना अन्य व्रतों का फल कैसे मिल सकता है? अर्थात् नहीं मिल सकता। पहले बिना भोगे भी जिन्होंने इस विश्व को उच्छिष्ठ के सदृश समझकर छोड़ दिया है, मैं उन बाल ब्रह्मचारियों को नमस्कार करता हूँ। देखो! सुदर्शन सेठ ने ब्रह्मचर्याणुव्रत का ही पालन किया था फिर भी वे आज तक यशस्वी हैं। सीता के शील के माहात्म्य से अग्नि भी जल का सरोवर हो गयी थी। मैं भी सर्व विकल्पों को छोड़कर अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा में रमण करके ज्ञानवती लक्ष्मी को प्राप्त करके पुनः निश्चिंत हो तीन लोक का स्वामी हो जाऊँगा।।१ से ५।। ऐसी भावना सतत करनी चाहिए।

विद्या और मंत्र भी ब्रह्मचर्य से ही सिद्ध होते हैं। किसी भी विधि-विधान व अनुष्ठान में ब्रह्मचर्य के बिना सिद्धि नहीं मिल सकती। जो ब्रह्मचर्य से च्युत हो जाते हैं इनका नाम लेना भी

१. सर्वार्थसिद्धि

पाप समझा जाता है, चूँकि वह ब्रह्मघाती हैं।

शिवकुमार नाम के चक्रवर्ती पुत्र ने विरक्त होकरर तीन हजार स्त्रियों के बीच में रहते हुये भी 'असिधारा' व्रत अर्थात् निरतिचार ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया। चौंसठ हजार वर्ष तक इस प्रकार असिधारा व्रत का पालन करके वे स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुये। वहाँ से आकर जम्बूकुमार हो गये हैं।

किसी समय पुष्कलावती देश में राजभवन के निकट किसी सेठ के घर में चारणऋद्धिधारी श्रुतकेवली ऐसे सागरचन्द्र नाम के मुनिराज आहार के लिए पधारे। सेठ जी ने शुद्ध भावपूर्वक नवकोटिविशुद्ध प्रासुक आहार मुनिराज को दिया। ऋद्धिधारी मुनिराज को दान देने के माहात्म्य से सेठ के आँगन में आकाश से रत्नों की वृष्टि आदि पंच-आश्चर्य होने लगे। उस समय जय-जयकार शब्दों के द्वारा कोलाहल के फैल जाने पर राजभवन में स्थित राजपुत्र शिवकुमार ने कौतुकपूर्वक बाहर देखा। अहो! मैंने किसी भव में इन मुनिराज का दर्शन किया है। ऐसा सोचते ही उसे तत्क्षण जातिस्मरण हो गया। पूर्वभव के ये बड़े भाई हैं, ऐसा निश्चित करके वह मुनिराज के पास आया और स्नेह के अतिरेक से मूर्च्छित हो गया। इस वृत्तांत को सुनकर चक्रवर्ती स्वयं वहाँ आकर पुत्र के मोह से व्याकुल होते हुये अत्यधिक विलाप करने लगे। पिता के इस प्रकार शोक को देखकर अत्यर्थ विरक्त हो कुमार ने जैसे-तैसे घर में रहना स्वीकार कर लिया और उसी दिन से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुये यह शुद्ध सम्यग्दृष्टि अपने मित्र दृढ़वर्मा के द्वारा भिक्षा से लाये गये कृत-कारित आदि दोषों से रहित शुद्ध भोजन को कभी-कभी ग्रहण करता था।

उसी दिन से कुमार निश्चित ही संपूर्ण परिग्रह का त्याग करके एक वस्त्रधारी, ब्रह्मचारी होता हुआ मुनि के समान घर में रहता था। बहुत प्रकार के पक्ष, मास उपवास आदिरूप से अनशन आदि तपों को करते हुये महाविरक्तमना कुमार ने पांच सौ स्त्रियों के बीच में रहते हुये असिधाराव्रत (पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत) का पालन किया था। इस प्रकार से चौंसठ हजार वर्ष तक असिधाराव्रत का पालन करते हुये आयु के अंत में दिगम्बर मुनि होकर समाधिपूर्वक मरण करके ब्रह्मोत्तर नामक छठे स्वर्ग में दश सागर की आयु को प्राप्त करने वाला विद्युन्माली नाम का महान अहमिंद्र हो गया।

श्रेणिक महाराज द्वारा अनुशासित राजगृह नगर में अर्हद्दास नाम के सेठ रहते थे उनकी धर्मपरायणा जिनमती नाम की भार्या थीं। किसी समय रात्रि के पिछले भाग में जिनमती सेठानी ने जंबूवृक्ष आदि पंच उत्तम-उत्तम स्वप्न देखे। प्रातःकाल अपने पतिदेव के साथ

जिनमंदिर में जाकर तीन ज्ञानधारी मुनिराज के मुखारविंद से 'चरम शरीरी पुत्र का तुम्हें लाभ होगा' ऐसा सुनकर दोनों जन बहुत ही संतुष्ट हुये। विद्युन्माली नाम का अहमिंद्रचर जीव स्वर्ग से च्युत होकर जिनमती के गर्भ में आया और नवमास के अनन्तर जिनमती ने पुत्र को जन्म दिया।

फाल्गुन मास की शुक्लपक्ष पूर्णिमा के प्रातःकाल पुत्र का जन्म होने पर उत्सव मनाया गया। दान, सम्मान, नृत्य, गीत आदि के द्वारा सर्वत्र हर्षोल्लास का वातावरण हो गया। माता-पिता ने उस बालक का 'जंबूकुमार' यह नामकरण किया। बचपन में वह कुमार सभी गुण और सभी कलाओं में विख्यात थे, पवित्रमूर्ति और पुण्यात्मा थे।

युवावस्था में प्रवेश करने पर उसी नगर के सागरदत्त आदि चार सेठों ने अपनी-अपनी पुत्रियों की जंबूकुमार के साथ ब्याह करने के लिए सगाई कर दी थी, वे कन्याएं पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नाम वाली बहुत ही सुन्दर और नवयौवना थीं।

कदाचित् बसन्त ऋतु की क्रीड़ा में जंबूकुमार ने अपनी शक्ति के बल से एक मदोन्मत्त हाथी को वश में कर लिया जिससे कि वे सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त हुये।

किसी समय जंबूकुमार ने रत्नचूल नाम के विद्याधर को युद्ध में जीतकर मृगांक नामक राजा की विशालवती कन्या की रक्षा की और राजा श्रेणिक के साथ उसका विवाह हो गया। अनन्तर युद्ध क्षेत्र को देखकर जंबूकुमार के मन में महती दया के साथ-साथ ही वैराग्य उत्पन्न हो गया।

राजगृही नगरी के उपवन में अपने पांच सौ शिष्यों सहित श्रीसुधर्माचार्यवर्य पधारे। जंबूकुमार वहां पहुँचे, उन्हें नमस्कार कर स्तुति आदि के द्वारा उनकी पूजा करके और उनसे पूर्व जन्म के वृत्तांत को सुनकर जैनेश्वरी दीक्षा की याचना की। आचार्यश्री ने कहा कि तुम घर में जाकर माता-पिता की आज्ञा लेकर क्षमा करके और क्षमा कराके आओ तब मैं दीक्षा दूँगा। इस प्रकार गुरु के वचन के अनुरूप बिना इच्छा के ही कुमार ने घर जाकर माता-पिता से दीक्षा की बात कह दी। मोह के माहात्म्य से माता-पिता ने जिस-तिस किसी प्रकार से उसी दिन ही जिन से सगाई हुई थी उन चारों कन्याओं के साथ विवाह करा दिया और उसी रात्रि में एक कमरे में चारों ही नव-विवाहित पत्नियों के साथ बैठे हुये वे कुमार उन स्त्रियों से अलिप्त रहते हुये वैराग्य को बढ़ाने वाली कथाओं से रात्रि बिताने लगे।

इसी बीच अत्यन्त चिंतित हुई माता जिनमती बार-बार जंबूकुमार के कमरे के पास घूम रही थीं कि कुमार इन स्त्रियों में आसक्त होता है या नहीं? उसी समय विद्युच्चर नाम का चोर, चोरी

करने के लिए उस भवन में आया था। इस घटना को जानकर माता जिनमती के आग्रह से वह चोर बहुत प्रकार के उपायों से जंबूकुमार को घर में रहने के लिए समझाने लगा किंतु कुमार ने सभी की उपेक्षा करके प्रातःकाल ही गुरु के पास पहुँचकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली, उस समय विद्युच्चर चोर भी अपने पाँच सौ साथियों के साथ दीक्षित हो गया, पिता अर्हद्दास ने भी दीक्षा ले ली। माता जिनमती ने भी अपनी चारों बहुओं के साथ सुप्रभा आर्यिका के समीप आर्यिका दीक्षा ले ली। जिस दिन सुधर्माचार्य गुरु भक्ति को प्राप्त हुये हैं उसी दिन जंबूस्वामी को केवलज्ञान प्रगट हो गया, इसलिए जंबूस्वामी अनुबंद्ध केवली कहलाये हैं। जंबूस्वामी के मोक्ष जाने पर उस दिन से कोई केवली नहीं हुये हैं।

धन्य हैं ये जंबूस्वामी! जो पूर्वभव में असिधारा व्रत का अनुष्ठान करके इस भव में तत्काल विवाही हुई नवीन पत्नियों में सर्वथा अनासक्त होते हुये अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके मुक्ति लक्ष्मी में आसक्त हो गये, उन्हें मेरा बारंबार नमस्कार होवे।

भीष्म पितामह ने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत के प्रसाद से लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लिया था। विशल्या के प्रभाव से लक्ष्मण के लगी हुई 'अमोघशक्ति' नाम की विद्या का प्रभाव खत्म हो गया था किन्तु विवाहित होने के बाद में उसमें वह विशेषता नहीं रह सकी थी। इस प्रकार से पूर्ण ब्रह्मचर्य की महिमा तो अलौकिक है ही यह तीन लोक पूज्य व्रत माना जाता है किन्तु जो एक देशरूप ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे भी देवों द्वारा पूजा को प्राप्त होते हैं।

सीता, मनोरमा, सेठ सुदर्शन आदि के उदाहरण विश्व प्रसिद्ध हैं किन्तु जो व्यभिचार की भावना भी करते हैं वे लोक में निंद्य होकर अपयश के भागी बनते हैं तथा परलोक में दुर्गति को प्राप्त कर लेते हैं। उनका नाम भी लोगों को नहीं सुहाता है जैसे कि रावण, सूर्पनखा, दुःशासन आदि।

कुछ लोगों का कहना है कि भोगों को भोगकर पुनः त्याग करना चाहिए अन्यथा इंद्रियों का दमन नहीं हो सकता है किन्तु यह सर्वथा गलत धारणा है। देखो! अग्नि में यदि तीन लोक प्रमाण भी ईंधन डालते चले जाओ तो क्या वह कभी तृप्त हो सकती है? वह जलती ही रहेगी और उसकी ज्वालाएं बढ़ती ही चली जायेंगी। उसी प्रकार से भोगों की लालसा भोगने से कभी भी शांत न होकर वृद्धिंगत ही होती है अतः उसको शांत करने के लिए शील की नव बाड़ लगानी चाहिए और मन-वचन-काय से स्त्री के संपर्क को छोड़कर आत्मा के अपूर्व आनंद का अनुभव करना चाहिए। विषयों में आसक्त हुये मनुष्य प्रायः विवेकशून्य हो

जाते हैं। कहा भी है—

'चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित्'[1]।

अन्धा मनुष्य चक्षु से ही नहीं देखता है किन्तु विषयों में अंधा हुआ मनुष्य किसी भी प्रकार से नहीं देखता है। अतः हमेशा वैराग्य भावना आदि पाठों को पढ़ते हुये अंतरंग में विरक्ति को बढ़ाना चाहिए। यथा—

'ज्यों त्यों भोग संजोग मनोहर, मनवांछित फल पावे।
तृष्णा नागिन त्यों त्यों डंके, लहर जहर की आवे'[2]।।

बिना ब्रह्मचर्य के आज तक किसी ने मुक्ति को प्राप्त न किया है और न कर ही सकते हैं। ऐसा समझकर ब्रह्मचर्य व्रत की उपासना करते हुये अपने आत्मिक सुख को प्राप्त करना चाहिए।

जाप्य—ॐ ह्रीं उत्तमब्रह्मचर्यधर्मांगाय नमः।

दशधर्म एक कल्पवृक्ष है—

क्षमामूलं मृदुत्वं स्यात्, स्कंधशाखाः सदार्जवम्।
शौचं कं सत्यपत्राणि, पुष्पाणि संयमस्तपः।।१।।
त्यागश्चाकिञ्चनो ब्रह्म, मंजरी सुमनोहरा।
धर्मकल्पद्रुमश्चैष, दत्ते स्वश्च शिवं फलम्।।२।।
धर्मकल्पतरो! त्वाहं, समुपास्य पुनः पुनः।
ज्ञानवत्या श्रिया युक्तं, याचे मुक्त्यैकसत्फलम्।।३।।

क्षमा जिसकी जड़ है, मृदुता स्कंध है, आर्जव शाखाएं हैं, उसको सिंचित करने वाला शौचधर्म जल है, सत्यधर्म पत्ते हैं, संयम, तप और त्यागरूप पुष्प खिल रहे हैं, आकिंचन और ब्रह्मचर्यधर्मरूप सुन्दर मंजरियाँ निकल आयी हैं। ऐसा यह धर्मरूप कल्पवृक्ष स्वर्ग और मोक्षरूप फल को देता है। हे धर्मकल्पतरो! मैं तुम्हारी पुनः-पुनः उपासना करके तुमसे ज्ञानवती लक्ष्मी से युक्त मुक्तिरूप एक सर्वोत्कृष्ट फल की ही याचना करता हूँ।।१ से ३।।

---

१. आत्मानुशासन। २. वैराग्य भावना, भूधरदासकृत।

क्षमावणी

पर्यूषण पर्व का प्रारंभ भी क्षमाधर्म से होता है और समापन भी क्षमावणी पर्व से किया जाता है। दश दिन धर्मों की पूजा करके, जाप्य करके जो परिणाम निर्मल किये जाते हैं और दश धर्मों का उपदेश श्रवण कर जो आत्म शोधन होता है उसी के फलस्वरूप सभी श्रावक-श्राविकाएं किसी भी निमित्त से परस्पर में होने वाली मनोमलिनता को दूर कर आपस में क्षमा कराते हैं क्योंकि यह क्रोध कषाय प्रत्यक्ष में ही अग्नि के समान भयंकर है। क्रोध आते ही मनुष्य का चेहरा लाल हो जाता है, ओंठ काँपने लगते हैं, मुखमुद्रा विकृत और भयंकर हो जाती है किंतु प्रसन्नता में मुख मुद्रा सौम्य, सुन्दर दिखती है, चेहरे पर शांति दिखती है। वास्तव में शांतभाव का आश्रय लेने वाले महामुनियों को देखकर जन्मजात बैरी ऐसे क्रूर पशुगण भी क्रूरता छोड़ देते हैं। यथा—

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नंदिनी व्याघ्रपोतं।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकांता भुजंगीम्।।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जंतवोऽन्ये त्यजंति।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्[1]।।

हरिणी सिंह के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है, गाय व्याघ्र के बच्चे को दूध पिलाती है, बिल्ली हंस के बच्चों को प्रीति से लालन करती है एवं मयूरी सर्पों को प्यार करने लगती है। इस प्रकार से जन्मजात भी बैर को क्रूर जंतुगण छोड़ देते हैं। कब? जबकि वे पापों को शान्त करने वाले मोहरहित और समताभाव में परिणत ऐसे योगियों का आश्रय पा लेते हैं अर्थात् ऐसे महामुनियों के प्रभाव से हिंसक पशु अपनी द्वेष भावना छोड़कर आपस में प्रीति करने लगते हैं। ऐसी शांत भावना का अभ्यास इस क्षमा के अवलंबन से ही होता है।

क्रोध कषाय को दूर कर इस क्षमाभाव को हृदय में धारण करने के लिए भगवान पार्श्वनाथ का चरित्र, श्री संजयंत मुनि का चरित्र और तुंकारी की कथाएं पढ़नी चाहिए तथा क्षमाशील साधु पुरुषों का आदर्श जीवन देखना चाहिए। आचार्य शांतिसागर जी आदि साधुओं ने इस युग में भी उपसर्ग करने वालों पर क्षमाभाव धारण करके सदैव प्राचीन आदर्श प्रस्तुत किया है। बहुत से श्रावक भी क्षमा करके-कराके अपने में अपूर्व आनंद का अनुभव करते हैं अतः हृदय से क्षमा करना तथा दूसरों से क्षमा कराना ही क्षमावणी पर्व है।

१.ज्ञानार्णव।

दशलक्षण व्रत

दशलक्षणव्रत विधि—भादों सुदी पंचमी से चतुर्दशी तक यह व्रत किया जाता है। यदि दश के मध्य कोई तिथि क्षय होवे तो चतुर्थी से व्रत प्रारंभ करें और यदि कोई तिथि अधिक होवे तो ग्यारह दिन का व्रत करना चाहिए। व्रत में दशों दिन उपवास करना चाहिए और यदि शक्ति न हो तो पंचमी और चतुर्दशी को उपवास तथा मध्य के दिनों में एकाशन करना चाहिए। प्रतिदिन जिन प्रतिमा का पंचामृत या मात्र जल से अभिषेक करके चौबीसी पूजा और दशलक्षण की पूजा करना चाहिए। दश दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हुये प्रतिदिन तीनों काल में पुष्पांजलि करना चाहिए। एक उपवास एक पारणा ऐसे एकांतर से भी व्रत किया जाता है।

इसी प्रकार से माघ और चैत्रमास की शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक व्रत करना चाहिए। दश वर्ष तक विधिवत् व्रत करके शक्ति के अनुसार उद्यापन विधि करना चाहिए। दशलक्षण व्रत के उद्यापन का विधान करके यथाशक्ति छत्र, चामर आदि उपकरण मंदिर में चढ़ाने चाहिए। उद्यापन शक्ति न होने से व्रत दूना करना चाहिए। व्रत के दिन निम्नलिखित[1] जाप्य करना चाहिए।

१. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमक्षमाधर्मांगाय नमः।
२. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तममार्दवधर्मांगाय नमः।
३. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमआर्जवधर्मांगाय नमः।
४. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमशौचधर्मांगाय नमः।
५. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमसत्यधर्मांगाय नमः।
६. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमसंयमधर्मांगाय नमः।
७. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमतपोधर्मांगाय नमः।
८. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमत्यागधर्मांगाय नमः
९. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमआकिंचनधर्मांगाय नमः।
१०. जाप्य— ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमब्रह्मचर्यधर्मांगाय नमः।

व्रत की कथा

धातकी खंड के पूर्व विदेह में विशालाक्षा नाम की नगरी थी। यहाँ के राजा प्रियंकर की पुत्री मृगांकरेखा, मंत्री की पुत्री कामसेना, सेठ मतिसागर की पुत्री मदनवेगा और लक्षभद्र पुरोहित की पुत्री रोहिणी इन चारों कन्याओं ने एक साथ ही गुरु से विद्या प्राप्त की थी अतः इनमें परस्पर बहुत

१. व्रततिथिनिर्णय, (पुस्तक, पृ. २४२)

ही प्रेम था। एक दिन बसंत ऋतु में ये कन्याएं वन क्रीड़ा के लिए गईं, वहाँ मुनिराज के दर्शन करके बहुत ही प्रसन्न हुईं। पुनः प्रार्थना की—हे भगवन्! हमें ऐसा कोई व्रत दीजिये कि जिससे निंद्य स्त्रीपर्याय से छुटकारा मिल जाये। मुनिराज ने कहा—

बालिकाओं! तुम दशलक्षण व्रत करो, विधिवत् अभिषेक, पूजा, जाप्य आदि करके दश दिन धर्म-ध्यान में व्यतीत करो। भादों सुदी पंचमी से चौदश तक पूर्वोक्त विधि का स्पष्टीकरण कर दिया। इन चारों कन्याओं ने दश वर्ष व्रत करके उद्यापन किया। अंत समय समाधिमरण से मरणकर दशवें स्वर्ग में चारों कन्याओं के जीव महर्द्धिक देव हो गये। वहाँ की सोलह सागर की आयु समाप्त कर इस जंबूद्वीप के मालव देश में उज्जयिनी नगरी के राजा स्थूलभद्र की रानी लक्ष्मीमती के गर्भ से क्रम से देवप्रभु, गुणचन्द्र, पद्मप्रभ और पद्मसारथि नाम के पुत्र हो गये। ब्याह योग्य होने पर निकलप्रभ राजा की ब्राह्मी, कुमारी, रूपवती और मृगनेत्रा इन कन्याओं के साथ क्रम से विवाह हो गया। पिता के दीक्षित हो जाने पर इन राजपुत्रों ने नीतिपूर्वक राज्य का संचालन किया। किसी समय विरक्त होकर चारों ने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर घोर तपश्चरण किया और अंत में निर्वाणधाम को प्राप्त हो गये। इस प्रकार से इस व्रत के प्रभाव से कन्याओं ने स्त्रीलिंग छोड़कर देवों के सुख का अनुभव किया पुनः मर्त्यलोक में राज्य सुख भोगकर अंत में शाश्वत सुख को प्राप्त कर लिया है।

इस प्रकार "महावीर देशना"
ग्रंथ में 'दशलक्षण धर्म' का
वर्णन करने वाला
अष्टम अधिकार
पूर्ण हुआ।

(नवम अधिकार)

भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर

आगम के दर्पण में कुण्डलपुर और वैशाली

लेखिका-गणिनी ज्ञानमती

कुण्डलपुर —

भगवान महावीर की जन्मभूमि "कुण्डलपुर" है ऐसा वर्णन श्री यतिवृषभ आचार्यदेव ने अतिप्राचीन तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में कहा है—

सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं, णयरम्मि कुण्डले वीरो। उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।।५४६।।

भगवान महावीर कुण्डलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी के गर्भ से चैत्र शुक्ला तेरस के दिन उत्पन्न हुए हैं।

षट्खण्डागम महाग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में (वर्तमान में प्रकाशित ९वीं पुस्तक में) लिखा है—

"आषाढजोण्हपक्खछट्ठीए कुंडलपुरनगराहिव णाहवंस-सिद्धत्थ-णरिंदस्स तिसिलादेवीए गब्भमागते तत्थ अट्ठदिवसाहिय णवमासे अच्छिय चइत्तसुक्खपक्ख तेरसीए उत्तराफग्गुणी गब्भादो णिक्खंतो।।"

आषाढ़ मास की शुक्ला षष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवंशी राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला देवी के गर्भ में आकर वहां आठ दिन अधिक नवमाह पर्यंत रहकर चैत्रशुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान महावीर ने जन्म लिया था।

भगवान का जन्म रात्रि में हुआ था ऐसा कथन इसी ग्रंथ में है।

कुण्डपुरवरिस्सर, सिद्धत्थक्खत्तियस णाहकुले।
तिसिलाए देवीए, देवीसदसेवमाणाए।। २३।।
अच्छित्ता णवमासे, अट्ठ य दिवसे चइत्त-सियपक्खे।
तेरसिए रत्तीए, जादुत्तरफग्गुणीए दु।। २४।।

अर्थात् कुण्डलपुर नगर के सिद्धार्थ क्षत्रिय के घर नाथकुल में, सैकड़ों देवियों से सेवमान त्रिशला देवी के गर्भ में महावीर का जीव आया और वहां नौ माह आठ दिन रहकर चैत्रशुक्ला त्रयोदशी की रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुये भगवान का जन्म हुआ।

इस कुण्डलपुर को अनेक ग्रंथों में कुंडपुर भी कहा है लेकिन यह छोटा सा कुण्डग्राम नहीं है प्रत्युत्

विदेहदेश (वर्तमान बिहार प्रदेश) की विशाल राजधानी थी। देखिए—

अथदेशोऽस्ति विस्तारी, जम्बूद्वीपस्य भारते, विदेह इति विख्यातः, स्वर्गखण्डसमः श्रिया।।१।।
प्रतिवर्षविनिष्पन्नधान्यगोधनसंचितः, सर्वोपसर्गनिर्मुक्तः प्रजासौस्थित्य सुन्दरः।। २।।
सखेटखर्वटाटोपिमटम्बपुटभेदनैः, द्रोणामुखाकरक्षेत्रग्रामघोषैर्विभूषितः।।३।।
किं तस्य वर्ण्यते यत्र स्वयं क्षत्रियनायकाः, इक्ष्वाकवः सुखक्षेत्रे संभवंति दिवश्च्युता।।४।।
तत्रखण्डलनेत्रालीपद्मनीखण्डमण्डलम्, सुखाम्भः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरं।।५।।
यत्र प्रासादसंघातैः शंखशुभ्रैर्नभस्तलम्, धवलीकृतमाभाति शरन्मेघैरिवोन्नतैः।।६।।
चन्द्रकान्तकरस्पर्शाच्चन्द्रकान्तशिलाः निशि, द्रवन्ति यद्गृहाग्रेषु प्रस्वेदिन्य इव स्त्रियः।।७।।
सूर्यकान्तकरासंगात् सूर्यकान्ताग्रकोटयः, स्फुरन्ति यत्र गेहेषु विरक्ता इव योषितः।।८।।
पद्मरागमणिस्फीतिर्यत्र प्रासादमूर्धनिं, इनपादपरिष्वंगादंगनेवातिरज्यते।।९।।
मुक्तामरकतालोकैर्वज्रवैडूर्यविभ्रमैः, एकमेवं सदा धत्ते यत्समस्ताकरश्रियम्।।१०।।
शाल शैलमहावप्रपरिखापरिवेषिणः, यस्योपरि परं गच्छत्यमित्रेतरमण्डलम्।।११।।
एतावतैव पर्याप्तं पुरस्य गुणवर्णनम्, स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम्।।१२।।
सर्वार्थश्रीमतीजन्मा तस्मिन् सिद्धार्थदर्शनः, सिद्धार्थो भवदर्काभो भूपः सिद्धार्थपौरुषः।।१३।।
यत्र पाति धरित्रीयमभूदेकत्र दोषिणी, धर्मार्थिन्योपि यत्त्यक्तपरलोकभयाः प्रजाः।।१४।।
कस्तस्य तान् गुणानुद्धान्नस्तुलयितुं क्षमः, वर्द्धमानगुरुत्वं यः प्रापितः स नराधिपः।।१५।।
उच्चैःकुलाद्रिसंभूता सहजस्नेहवाहिनी, महिषी श्रीसमुद्रस्य तस्यासीत् प्रियकारिणी।।१६।।
चेतश्चेटकराजस्य यास्ताः सप्तशरीरजाः, अतिस्नेहाकुलं चक्रुस्तास्वाद्या प्रियकारिणी।।१७।।
कस्तां योजयितुं शक्तस्त्रिशलां गुणवर्णनैः, या स्वपुण्यैर्महावीरप्रसवाय नियोजिता।।१८।।

अर्थात् इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में लक्ष्मी से स्वर्गखण्ड की तुलना करने वाला, विदेह इस नाम से प्रसिद्ध एक बड़ा विस्तृत देश है। यह देश प्रतिवर्ष उत्पन्न होने वाले धान्य तथा गोधन से संचित है, सब प्रकार के उपसर्गों से रहित है, प्रजा की सुखपूर्ण स्थिति से सुन्दर है और खेट, खर्वट, मटम्ब, पुटभेदन, द्रोणामुख, सुवर्ण-चांदी आदि की खानों, खेत, ग्रामों और घोषों से विभूषित है।

जो नगर, नदी और पर्वत से घिरा हो उसे बुद्धिमान पुरुष खेट कहते हैं, जो केवल पर्वत से घिरा हो उसे खर्वट कहते हैं, जो पाँच सौ गांवों से घिरा हो उसे पण्डितजन मटम्ब कहते हैं, जो समुद्र के किनारे हो तथा जहां पर लोग नाव से उतरते हों उसे पत्तन या पुटभेदन कहते हैं, जो किसी नदी के किनारे बसा हो उसे द्रोणामुख कहते हैं, जहां सोना-चांदी आदि निकलता हो उसे खान कहते हैं, अन्न उत्पन्न होने की भूमि को क्षेत्र या खेत कहते हैं, जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते

हैं तथा जो बाग-बगीचा और मकानों से सहित हों उन्हें ग्राम कहते हैं और जहां पर अहीर लोग रहते हैं उन्हें घोष कहते हैं। वह विदेहदेश इन सबसे विभूषित था। उस देश का क्या वर्णन किया जाए जहां के सुखदायी क्षेत्र में क्षत्रियों के नायक स्वयं इक्ष्वाकुवंशी राजा स्वर्ग से च्युत हो उत्पन्न होते हैं।

उस विदेहदेश (बिहार प्रदेश) में कुण्डलपुर नाम का एक ऐसा सुन्दर नगर है जो इन्द्र के नेत्रों की पंक्तिरूपी कमलिनियों के समूह से सुशोभित है तथा सुखरूपी जल का मानो कुण्ड ही है। जहां शंख के समान सफेद एवं शरदऋतु के मेघ के समान उन्नत महलों के समूह से सफेद हुआ आकाश अत्यन्त सुशोभित होता है। जिसके महलों के अग्रभाग में लगी हुई चन्द्रकांतमणि की शिलाएं रात्रि के समय चन्द्रमारूपी पति के कर अर्थात् किरण स्पर्श से स्वेदयुक्त स्त्रियों के समान द्रवीभूत हो जाती हैं। जहां के मकानों पर लगे हुए सूर्यकान्तमणि के अग्रभाग की कोटियां, सूर्यरूपी पति के कर अर्थात् किरण के स्पर्श से विरक्त स्त्रियों के समान देदीप्यमान हो उठती हैं। जहां के महलों के शिखर पर लगे हुए पद्मराग मणियों की पंक्ति सूर्य की किरणों के संसर्ग से स्त्री के समान अत्यन्त अनुरक्त हो जाती है। उस नगर में कहीं मोतियों की मालाएं लटक रही हैं, कहीं मरकत मणियों का प्रकाश फैल रहा है, कहीं हीरा की प्रभा फैल रही है और कहीं वैडूर्यमणियों की नीली-नीली आभा छिटक रही है। उन सबसे वह एक होने पर भी सदा सब रत्नों की खान की शोभा धारण करता है। कोटरूपी पर्वत, बड़े-बड़े धूलि कुट्टिम और परिवार से घिरे हुए उस नगर के ऊपर यदि कोई जा सकता था तो मित्र अर्थात् सूर्य का मण्डल ही जा सकता है अमित्र अर्थात् शत्रुओं का मण्डल नहीं जा सकता था। इस नगर के गुणों का वर्णन तो इतने से ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्ग से अवतार लेते समय भगवान महावीर का आधार हुआ अर्थात् भगवान महावीर वहां स्वर्ग से आकर अवतीर्ण हुए।

राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमती से उत्पन्न, समस्त पदार्थों को देखने वाले, सूर्य के समान देदीप्यमान और समस्त अर्थ—पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले "सिद्धार्थ" वहां के राजा थे। जिन सिद्धार्थ के रक्षा करने पर पृथिवी इसी एक दोष से युक्त थी कि वहां की प्रजा ने धर्म की इच्छुक होने पर भी परलोक का भय छोड़ दिया था अर्थात् जो प्रजा धर्म की इच्छुक होती है उसे स्वर्ग, नरक आदि परलोक का भय अवश्य रहता है परन्तु वहां की प्रजा परलोक का भय छोड़ चुकी थी यह विरोध है परन्तु परलोक का अर्थ शत्रु लोगों से विरोध दूर हो जाता है अर्थात् वहां की प्रजा धर्म की इच्छुक थी और शत्रुओं के भय से रहित थी। जो राजा सिद्धार्थ साक्षात् भगवान वर्द्धमान के पितृ पद को प्राप्त हुए थे उनके गुणों का वर्णन करने के लिए कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है? जो उच्चकुलरूपी पर्वत से उत्पन्न स्वाभाविक स्नेह की मानो नदी थी ऐसी रानी प्रियकारिणी लक्ष्मी के समुद्रस्वरूप राजा सिद्धार्थ की प्रिय पत्नी थी। जिन सात पुत्रियों ने राजा चेटक के चित्त को अत्यधिक स्नेह से व्याप्त कर रखा था उन पुत्रियों में प्रियकारिणी सबसे बड़ी पुत्री थी जो अपने पुण्य से भगवान महावीर को जन्म देने के लिए प्रवृत्त हुई, उस त्रिशला के गुणवर्णन के लिए कौन समर्थ है?

श्री असगकवि विरचित "वर्द्धमानचरित" में भी कुण्डलपुर का सुन्दर वर्णन आया है यथा—

तत्रास्त्यथो निखिलवस्त्ववगाहयुक्तं, भास्वत्कलाधरबुधैः सवृषं सतारं।
अध्यासितंवियदिवस्वसमानशोभं, ख्यातं पुरं जगति कुण्डपुराभिधानं।।
प्राकारकोटिघटितारुणरत्नभासां, छायामयैः परिगता पटलैः समंतात्।
आभातिवारिपरिखा नितरामनेकां, संध्याश्रियं विदधतीव दिवापि यत्र।।
धौतेन्द्रनीलमणिकल्पितकुट्टिमेषु, यत्रोपहाररचितान्यसितोत्पलानि।
एकीकृतान्यपि सलीलतया प्रयांति, व्यक्तिं पतद्भ्रमरहुकृतिभिः समंतात्।।
जैत्रेषवः सुमनसो मकरध्वजस्य, निस्तेजितांबुजरुचो शशलक्ष्मभासः।
अप्रावृषोः नवपयोधरकांतियुक्ता, यस्मिन्नविभानियसरितः सरसा रमण्यः।।
अत्युन्नताः शशिकरप्रकरावदाता, मूर्धस्थरत्नरुचिपल्लवितांतरिक्षाः।
उत्संगदेशसुनिविष्टमनोज्ञरामाः, पौरा विभांति भुवि यत्र सुधालयाश्च।।
लीलामहोत्पलमपास्य कराग्रसंस्थं, कर्णोत्पलंच विगलन्मधु यत्र भृंगाः।
निश्वाससौरभरता वदने पतन्ति, स्त्रीणां मृदुर्मृदुकराहतिभीप्सवश्च।।

कुण्डलपुर का वर्णन महाकविअसग ने अपने "वर्द्धमानचरित" में किया है। यह नगर सभी प्रकार की वस्तुओं से युक्त परकोटा, खातिका, वापिका एवं वाटिकाओं से परिपूर्ण था। कोट के प्रान्त भागों में लगी हुई अरुणमणियां, पन्नाओं की प्रभा के छायामय पटलों से परिपूर्ण होने के कारण संध्याकालीन श्री का सृजन करती थीं। भूमि पर जटित इन्द्रनीलमणियां अपनी आभा से भ्रमरों की भ्रांति उत्पन्न करती थीं। उन्नत भवन और रत्नजटित गोपुर अपने सौन्दर्य से पथिकों के मन को आकृष्ट करते थे। मुक्ताओं की आभा के कारण इस नगर में श्वेत किरणों का वितान तना रहता था। धन-धान्य, पशु-संपत्ति आदि से युक्त यह नगर प्रजाजनों को अत्यन्त सुखप्रद था।

भगवान महावीर के समय यह कुण्डलपुर कितना वैभवपूर्ण था उसका वर्णन आपने पढ़ा। वास्तव में जहां सौधर्मइन्द्र की आज्ञा से कुबेर लगातार पन्द्रह महिने तक प्रतिदिन साढ़े सात करोड़-साढ़े सात करोड़ प्रमाण रत्नों की वर्षा करता हो और माता का महल नंद्यावर्त नाम से सात खन का होत था जहां माता का पलंग ही रत्नों से निर्मित हो उसके वैभव का हम और आप क्या अनुमान लगा सकेंगे?

ऐसे ही "वीरजिणिंद चरिउ" और "महावीर पुराण" में भी विदेहदेश (जो सदियों से बिहार प्रदेश में राजगृही के निकट अवस्थित है) के अन्तर्गत कुण्डलपुर में भगवान महावीर का जन्म माना है। अब आप वैशाली का वर्णन पढ़िए। यह सिन्धुदेश में थी।

वैशाली—

सिन्ध्याख्यविषये भूभृद्वैशाली नगरे भवत्, चेटकाख्यो तिविख्यातो विनीतः परमार्हतः।।३।।
तस्य देवी सुभद्राख्या तयोः पुत्र दशाभवन्, धनाख्यौ दशभद्रान्तावुपेन्द्रो न्यः सुदत्तवाक्।।४।।
सिंहभद्रः सुकम्भोजो कम्पनः सपतंककः, प्रभंजनः प्रभासश्च धर्मा इव सुनिर्मलाः।।५।।
सप्तर्धयो वा पुत्रयश्च ज्यायसी प्रियकारिणी, ततो मृगावती पश्चात्सुप्रभा च प्रभावती।।६।।
चेलनी पंचमी ज्येष्ठा षष्ठी चान्त्या च चन्दना, विदेहविषये कुण्डसंज्ञायां पुरि भूपतिः।।७।।
नाथो नाथकुलस्यैकः सिद्धार्थास्त्रिसिद्धिभाक्, तस्य पुण्यानुभावेन प्रियासीत्प्रियकारिणी।।८।।
विषये वत्सवासाख्ये कौशाम्बीनगराधिपः, सोमवंशे शतानीको देव्यस्यासीन्मृगावती।।९।।
दशार्णविषये राजा हेमकच्छपुराधिपः, सूर्यवंशाम्बरे राजसमो दशरथो भवत्।।१०।।
तस्याभूत्सुप्रभा देवी भास्वतो वा प्रभामला, कच्छाख्यविषये रोरुकाख्यायां पुरि भूपतिः।।११।।
महानुदयनस्तस्य प्रेमदा भूत्प्रभावती, प्राप शीलव्रतीख्यातिं सा सम्यक्छीलधारणात्।।१२।।
गान्धारविषये ख्यातो महीपालो महीपुरे, याचित्वासत्यकोज्येष्ठामलब्ध्वा क्रुध्यान् विधीः।।१३।।
युद्ध्वा रणांगणे प्राप्तमानभंगः स सत्रपः, सद्यो दमवरं प्राप्य ततः संयममग्रहीत्।।१४।।

सिन्धु नामक देश की वैशाली नगरी में चेटक नाम का अतिशयप्रसिद्ध, विनीत और जिनेन्द्रदेव का अतिशय भक्त राजा था उसकी रानी का नाम सुभद्रा था। उन दोनों के दश पुत्र हुए जो कि धनदत्त, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, पतंगक, प्रभंजन और प्रभास नाम से प्रसिद्ध थे तथा उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों के समान जान पड़ते थे। इन पुत्रों के सिवाय सात ऋद्धियों के समान सात पुत्रियां भी थीं जिनमें सबसे बड़ी प्रियकारिणी थी, उससे छोटी मृगावती, उससे छोटी सुप्रभा, उससे छोटी प्रभावती, उससे छोटी चेलिनी, उससे छोटी ज्येष्ठा और सबसे छोटी चन्दना थीं। विदेहदेश के कुण्डनगर में नाथवंश के शिरोमणि एवं तीनों सिद्धियों से सम्पन्न राजा सिद्धार्थ राज्य करते थे। पुण्य के प्रभाव से प्रियकारिणी उन्हीं की स्त्री हुई थी। वत्सदेश की कौशाम्बी नगरी में चन्द्रवंशी राजा शतानीक रहते थे, मृगावती नामकी दूसरी पुत्री उनकी स्त्री हुई थी। दशार्णदेश के हेमकच्छ नामक नगर के स्वामी राजा दशरथ थे जो कि सूर्यवंशरूपी आकाश के चन्द्रमा के समान जान पड़ते थे। सूर्य की निर्मलप्रभा के समान सुप्रभा नामकी तीसरी पुत्री उनकी रानी हुई थी, कच्छदेश की रोरुका नामकी नगरी में उदयन नाम का एक बड़ा राजा था प्रभावती नामकी चौथी पुत्री उसी की हृदयवल्लभा हुई थी। अच्छी तरह से शीलव्रत धारण करने से इसका दूसरा नाम शीलवती भी प्रसिद्ध हो गया था। गान्धारदेश के महीपुर नगर में राजा सत्यक रहता था उसने राजा चेटक से उसकी ज्येष्ठा नामकी पुत्री की याचना की परन्तु राजा ने नहीं दी इससे उस दुर्बुद्धि मूर्ख ने कुपित होकर रणांगण में युद्ध किया परन्तु युद्ध में वह हार गया जिससे मानभंग होने से लज्जित होने के कारण उसने

शीघ्र ही दमवर नामक मुनिराज के समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली।

इन महाराज चेटक की पांचवी पुत्री चेलना मगधदेश के राजगृही नगरी में राजा श्रेणिक की रानी हुई हैं तथा ज्येष्ठा और चन्दना कुमारी रही हैं। ये राजा चेटक सोमवंशी थे जैसा कि उत्तरपुराण में कहा है—

सुरलोकादभूः सोम-वंशेत्वं चेटको नृपः।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि राजा सिद्धार्थ नाथवंशी थे और वैशाली के राजा चेटक सोमवंशी थे अतः इन दोनों राजाओं के देश अलग-अलग हैं, राजधानी अलग-अलग हैं और गोत्र भी अलग-अलग हैं तब भला विदेह देश अर्थात् बिहार प्रान्त में सिन्धु देश की वैशाली नगरी कैसे संभव हो सकती है? इसके अतिरिक्त तीर्थंकर भगवान के जन्म से पूर्व उनके पिता के राजमहल में माता के आंगन में पन्द्रह महीनों तक रत्नों की वर्षा होती है। गर्भकल्याणक महोत्सव में इन्द्रों द्वारा भगवान के माता-पिता की पूजा की जाती है न कि नाना-नानी की। जैसा कि कहा भी है—

श्रुतस्वप्नफला देवी, तुष्टा प्राप्तेव तत्फलम् अथामराधिपाः सर्वे, तयोरभ्येत्य सम्पदा।।२६०।।
कल्याणाभिषवं कृत्वा, नियोगेषु यथोचितम्, देवान् देवीश्चसंयोज्य, स्वं स्वंधाम ययुःपृथक्।।२६१।।

स्वप्नों का फल सुनकर वह त्रिशला महारानी इतनी संतुष्ट हुई मानों उनका फल उसने उसी समय ही प्राप्त कर लिया हो तदनन्तर इन्द्रादि सभी देवियों ने आकर बड़े वैभव के साथ राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी का गर्भकल्याणकसंबंधी अभिषेक करके देव-देवियों को यथायोग्य कार्यों में नियुक्त करके वे सब देवगण अपने-अपने स्थान चले गए।

इसी प्रकार दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रन्थों में कहीं पर भी तीर्थंकर भगवन्तों के चातुर्मास का वर्णन नहीं आया है। "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" नाम की पुस्तक में छठे परिच्छेद में भगवान महावीर स्वामी के बारह वर्ष के दीक्षित जीवन में बारह चातुर्मास माने हैं और भिन्न-भिन्न उपसर्गों का वर्णन किया है जो दिगम्बर जैन ग्रन्थों के आलोक में संभव नहीं हो सकता है। भगवान के ऊपर मात्र उज्जयिनी नगरी के अतिमुक्तक वन में केवल एक बार ही रुद्र द्वारा उपसर्ग हुआ है न कि प्रतिदिन बार-बार व अनेकों बार। यह सब प्रकरण श्वेताम्बर ग्रन्थों से ही उद्धृत है ऐसा जानना।

भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर एक वास्तविक तथ्य

—प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की तीर्थंकर परम्परा में अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के २६००वें जन्मजयंती महोत्सव के संदर्भ में प्राचीन जैनसिद्धान्त एवं पुराणग्रन्थों के अनुसार महावीर स्वामी का शोधपूर्ण वास्तविक परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

लगभग दो हजार वर्ष पूर्व श्रीयतिवृषभाचार्य द्वारा रचित "तिलोयपण्णत्ति" ग्रन्थ में वर्णन आया है कि—

सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं, णयरम्मि कुंडले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।।५४६।।

(चउत्थो महाधियारो) पृ. २१०

अर्थात् भगवान महावीर कुण्डलपुर जिला नालन्दा (बिहार प्रदेश) में पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी से चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड एवं नवमी पुस्तक की टीका में श्रीवीरसेनाचार्य ने भी कहा है कि-

"आषाढ जोण्ण पक्ख छट्ठीए कुण्डलपुर णगराहिव णाहवंश-सिद्धत्थ-णरिन्दस्स तिसिला देवीए गब्भमागंतणेसु तत्थ अट्ठादिवसाहिय णवमासे अच्छिम चइत्त सुक्ख पक्ख तेरसीए उत्तराफग्गुणी गब्भादो णिक्खंतो।"

वर्तमान समय से २५९९ वर्ष पूर्व बिहार प्रान्त के नालन्दा जिले में स्थित "कुण्डलपुर" नगर में जब भगवान महावीर ने जन्म लिया तो जन्म से १५ महीने पूर्व से ही माता त्रिशला के आँगन में रत्नवृष्टि हुई थी। इस रत्नवृष्टि के विषय में "उत्तरपुराण" नामक आर्षग्रन्थ में श्रीगुणभद्रसूरि कहते हैं—

तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति, भरतेस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे।।२५१।।
राज्ञः कुंडपुरेशस्य, वसुधाराप तत्पृथु, सप्तकोटीमणीः सार्द्धाः, सिद्धार्थस्य दिनं प्रति।।२५२।।
आषाढे सिते पक्षे.....(उत्तरपुराण पर्व ७४)

अर्थ—जब अच्युत स्वर्ग में उसकी आयु छह महीने की रह गई और वह स्वर्ग से अवतार लेने के सन्मुख हुआ उस समय इसी भरतक्षेत्र के विदेह नामक देश में "कुण्डलपुर" नगर के राजा सिद्धार्थ के घर प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ मणियों की भारी वर्षा होने लगी।

हरिवंशपुराण में भी श्रीजिनसेनाचार्य ने द्वितीय सर्ग के अन्दर श्लोक नं. ५ से २४ तक महावीर स्वामी के गर्भकल्याणक का प्रकरण लिखते हुए कुण्डलपुर नगरी का विस्तृत वर्णन किया है तथा उस नगरी की महिमा महावीर के जन्म से ही सार्थक बताते हुये कहा है कि—

एतावतैव पर्याप्तं, पुरस्य गुणवर्णनम्, स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम्।।१२।।

(भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हरिवंशपुराण)

अर्थ—इस कुण्डलपुर नगर के गुणों का वर्णन तो इतने से ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्ग से अवतार लेते समय भगवान महावीर का आधार बनी—भगवान महावीर वहाँ स्वर्ग से आकर अवतीर्ण हुए।

यहाँ विदेह देश के वर्णन से पूरा बिहारप्रान्त माना गया है। उसके अन्दर एक विशाल (६६ मील का) नगर था जैसे—मालवादेश में "उज्जयिनी" नगरी, कौशलदेश में "अयोध्या" नगरी, वत्सदेश में "कौशाम्बी" नगरी आदि के वर्णन से बड़े-बड़े जिलों एवं प्रान्तों के अन्दर राजधानी के रूप में भगवन्तों की जन्मनगरियाँ समझनी चाहिए न कि आज के समान छोटे से ग्राम को तीर्थंकर की जन्मभूमि समझना चाहिए।

महाकवि श्रीपुष्पदंत विरचित "वीरजिणिंदचरिउ" (भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १६७४ में प्रकाशित) के पृष्ठ ११-१२-१३ पर अपभ्रंश भाषा में वर्णन आया है कि—

इह जंबूदीवि भरहंतरालि। रमणीय विसइं सोहा विसालि।।
कुंडउरि राउ सिद्धत्थ सहिउ। जो सिरिहरु मग्गण वेस रहिउ।।

इन पद्यों का हिन्दी अनुवाद करते हुये डॉ. हीरालाल ने लिखा है कि—

जब महावीर स्वामी का जीव स्वर्ग से च्युत होकर मध्यलोक में आने वाला था तब सौधर्म इन्द्र ने जगत कल्याण की कामना से प्रेरित होकर कुबेर से कहा—

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशाल शोभाधारी विदेह प्रदेश में कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ राज्य करते हैं..... ऐसे उन राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी के शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा जिसके चरणों में इन्द्र भी नमन करेंगे। अतएव हे कुबेर! इन दोनों के निवास भवन को स्वर्णमयी, कान्तिमान् व देवों की लक्ष्मी के विलासयोग्य बना दो। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने कुण्डलपुर को ऐसा ही सुन्दर बना दिया।

इसी प्रकरण में आगे देखें—

पहुपंगणि तेत्थु वंदिय चरम जिणिंदे, छम्मास विरइय रयणविट्ठि जक्खिंदे।।७।।

अर्थात् ऐसे उस राजभवन के प्रांगण में अंतिम तीर्थंकर की वन्दना करने वाले उस यक्षों के राजा कुबेर ने छह मास तक रत्नों की वृष्टि की।

माणिक्यचन्द्र जैन बी.ए. खंडवा निवासी ने सन् १६०८ में लिखी गयी अपनी पुस्तक LIFE OF

MAHAVIRA(महावीर चरित्र) में कुण्डलपुर के विषय में निम्न निष्कर्ष दिए हैं—

1. The Description of the magnificence of his palace, the ceremonious rejoicings with which the birth of Mahavira was celebrated and the grandevr and pomp of his court; make us believe that Siddhartha was a powerful monarch of his time and his metropolis; Kundalpura; a big populour city. [Pg. 14-15]

"महाराजा सिद्धार्थ के महल की भव्यता, महावीर के जन्म पर मनाई गई खुशियाँ एवं उनके राजदरबार के वैभव का वर्णन हमें इस तथ्य के लिए विश्वस्त कर देते हैं कि सिद्धार्थ अपने समय के शक्तिशाली राजा थे और उनका महानगर "कुण्डलपुर" एक बड़ा घनी जनसंख्या वाला नगर था। (पृ. १४.१५)

2. As to the birthplace of Mahavira; it is probable but not certain; as Dr. Hoernle suggests; that the Jaina tradition which represents Kundalpura as a large town may be correct; in as much as Kundalpura is taken as equivalent to Vesali [Sanscrit Vaishali]. His puts his birthplace of Kollaga; another sub of Vesali.....

उपर्युक्त कथन के द्वारा लेखक श्रीमाणिक्यचन्द्रजी ने एक विदेशी विद्वान् के द्वारा वैशाली के एक स्थान "कोलागा" को भगवान महावीर का जन्मस्थान कहने पर अपना तर्क प्रस्तुत किया है कि "कोलागा" को महावीर की जन्मभूमि मानना बिल्कुल अनावश्यक एवं निराधार है क्योंकि "कुण्डलपुर" उनका जन्मस्थान निर्विवादित सत्य है जैसाकि उन्हीं के शब्दों में देखें—

Both the Digambaras and Shvetambaras assert that Kundalpura was the place where He was born. [Page 17]

अर्थात् दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही एकमत से कुण्डलपुर को ही महावीर स्वामी की जन्मभूमि मानते हैं।

उन्होंने अपनी इसी पुस्तक में "महावीरपुराण" का संदर्भ देते हुये कुण्डलपुर को एक बड़े शहर के रूप में स्वीकार किया है—

अर्थात् कुण्डलपुर शहर एक बड़ी राजधानी के रूप में सर्वतोमुखी मान्यता का केन्द्र रहा है क्योंकि राजा चेटक अपनी पुत्री त्रिशला जैसी तीर्थंकरजन्मदात्री कन्या का विवाह किसी छोटे-मोटे जमींदार से तो कर नहीं देते बल्कि अपने समान अथवा अपने से भी उच्चस्तरीय राजघराने में ही करते। इसी बात को LIFE OF MAHAVIRA में बताया है।

All these remarks go the show that Siddhartha, if not a powerful

monarch; exercised; at least; a kingly authority; if not more to that of Chetaka. [Page 16]

ये कतिपय प्रमाण यहाँ महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर से संबंधित दिए गए हैं अब महावीर के ननिहाल "वैशाली" के विषय में जानकारी प्राप्त कीजि—

१. वीरजिणिंदचरिउ ग्रन्थ की पाँचवी सन्धि (पृ.६०) में श्रीपुष्पदंत महाकवि कहते हैं कि राजा श्रेणिक ने समवसरण में गौतम गणधर से पूछा है कि हे भगवन्! मुझे उस आर्यिका चन्दना का चरित्र सुनाइये जिसके शरीर में चन्दन की सुगन्ध है तथा जिसने मिथ्यात्वरूपी अंधकार को दूर कर दिया है। राजा के इस प्रश्न को सुनकर गौतमस्वामी ने कहा है कि श्रेणिक! मैं चन्दना का वृत्तांत कहता हूँ सो सुनो—

सिन्धु-विसइ वइसाली-पुरवरि। घर-सिरि-ओहामिय-सुर-वर-घरि।।
चेडउ णाम णरेसरु णिवसइ। देवि अखुद्द सुहद्द महासई।।

अर्थात् सिन्धुविषय (नदी प्रधान विदेह नामक प्रदेश) में वैशाली नामक नगर है जहाँ के घर अपनी शोभा से देवों के विमानों की शोभा को भी जीतते हैं। उस नगर में चेटक नामक नरेश्वर निवास करते हैं।

उनकी महारानी महासती सुभद्रा से उनके धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, शिवदत्त, हरिदत्त, कम्बोज, कम्पन, प्रयंग, प्रभंजन और प्रभास नामक दस पुत्र उत्पन्न हुए।

उनकी अत्यन्त रूपवती सात पुत्रियाँ भी हुईं, जिनके नाम हैं—प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभादेवी, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चन्दना। इनमें से प्रियकारिणी (त्रिशला) का विवाह श्रेष्ठ नाथवंशी कुण्डलपुर नरेश सिद्धार्थ के साथ कर दिया गया।

इसी प्रकार उत्तरपुराण के ७५वें पर्व में वर्णन आया है—

सिंध्वाख्ये विषये भूभृद्वैशाली नगरेभवत्, चेटकाख्योतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः।।३।।

इस ग्रन्थ में भी राजा चेटक के दश पुत्र एवं सात पुत्रियों का कथन करते हुए ग्रन्थकार ने कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ का वर्णन किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से सहज समझा जा सकता है कि बिहार प्रान्त में कुण्डलपुर और वैशाली दोनों अलग-अलग राजाओं के अलग-अलग नगर थे तथा कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ एवं वैशाली के राजा चेटक का अपना-अपना विशेष अस्तित्व था। अतः एक-दूसरे के अस्तित्व को किसी की प्रदेश सीमा में गर्भित नहीं किया जा सकता है।

कुछ व्यवहारिक तथ्य—

१. किसी भी कन्या का विवाह हो जाने पर उसका वास्तविक परिचय ससुराल से होता है न कि मायके (पीहर) से।

२. उसकी सन्तानों का जन्म भी ससुराल में ही होता है। हाँ! यदि ससुराल में कोई विशेष असुविधा हो या सन्तान का जन्म वहाँ शुभ न होता हो तभी उसे पीहर में जाकर सन्तान को जन्म देना पड़ता है।

३. पुत्र का वंश तो पिता के नाम एवं नगर से ही चलता है न कि नाना-मामा के वंश और नगर से उसकी पहचान उचित लगती है।

इन व्यवहारिक तथ्यों से महावीर की पहचान ननिहाल वैशाली और नाना चेटक से नहीं किन्तु पिता की नगरी कुण्डलपुर एवं पिता श्री सिद्धार्थ राजा से ही मानना शोभास्पद लगता है। अपना घर एवं नगर भले ही छोटा हो किन्तु महापुरुष दूसरे की विशाल सम्पत्ति एवं नगर से अपनी पहचान बनाने में गौरव नहीं समझते हैं।

फिर वैशाली के दश राजकुमार किनके उत्तराधिकारी बने?

जैन ग्रन्थों के पौराणिक तथ्यों से यह नितान्त सत्य है कि राजा चेटक के दस पुत्र एवं सात पुत्रियाँ थीं। इनमें से पाँच पुत्रियों के विवाह एवं दो के दीक्षाग्रहण की बात भी सर्वविदित है। किन्तु यदि तीर्थंकर महावीर को वैशाली के राजकुमार या युवराज के रूप में माना गया तो राजा चेटक के दशों पुत्र अर्थात् महावीर के सभी मामा क्या कहलाएंगे? क्या वे कुण्डलपुर के राजकुमार कहे जाएंगे?

यह न्यायिक तथ्य भी महावीर को कुण्डलपुर का युवराज ही स्वीकार करेगा न कि वैशाली का, अतः कुण्डलपुर के राजकुमार के रूप में ही महावीर का अस्तित्व सुशोभित होता है।

अपनी शोध सामग्री छोड़कर दूसरे उधार लिए गए साक्ष्यों पर विश्वास क्यों करें?

महावीर के पश्चात् जैनशासन दो हजार वर्षों से दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो परम्पराओं में विभक्त हो गया यद्यपि यह एक ऐतिहासिक सत्य है तथापि आज भी दिगम्बर जैनधर्म के अतिप्राचीन प्रमाण मौजूद हैं जिनमें महावीर का जन्मस्थान कुण्डलपुर ही माना गया है और उन तथ्यों के आधार पर तीर्थंकर के जन्म से पूर्व १५ माह तक रत्नवृष्टि हो सकती है। पुनः जहाँ रत्नवृष्टि हुई है, भगवान का जन्म तो उसी घर में मानना पड़ेगा अतः "महावीर का जन्म त्रिशला माता की कुक्षि से कुण्डलपुर में ही हुआ था" यह दृढ़ श्रद्धान रखते हुए कुण्डलपुर को विकास और प्रचार की श्रेणी में अवश्य लाना चाहिए।

कुण्डलपुर के विषय में वर्तमान अर्वाचीन (दूसरे साहित्य के अनुसार) शोध का महत्व दर्शाते हुए यदि दिगम्बर जैन ग्रंथों की प्राचीन शोधपूर्ण वाणी को मद्देनजर करके वैशाली को महावीर जन्मभूमि के नाम से माना जा रहा है तो अन्य ग्रन्थानुसार महावीर के दूसरा भाई, महावीर का विवाह, जन्म से पूर्व उनका गर्भपरिवर्तन आदि अनेक बातें भी हमें स्वीकार करनी चाहिए किन्तु शायद इन बातों को कोई भी दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी स्वीकार नहीं कर सकते हैं। अतः हमारा अनुरोध है कि अपनी परमसत्य जिनवाणी को आज के थोथे शोध की बलिवेदी पर न चढ़ाकर संसार के समक्ष उन्हीं प्राचीन दि. जैन ग्रन्थों के दस्तावेज

प्रस्तुत करना चाहिए। कुल मिलाकर दिगम्बर होकर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों को छोड़कर अन्य प्रमाणों से झूठी प्रामाणिकता सिद्ध करें, यह बात कुछ समझ में नहीं आती है।

वैशाली का विकास हो किन्तु महावीर जन्मभूमि के नाम से नहीं—

जहाँ जिस क्षेत्र में तीर्थंकर जैसे महापुरुषों के जन्म होते हैं वहाँ की तो धरती ही रत्नमयी और स्वर्णमयी हो जाती है अतः वहाँ दूर-दूर तक यदि उत्खनन में कोई पुरातत्व सामग्री प्राप्त होती रहे तो कोई अतिशयोक्ति वाली बात नहीं है अर्थात् महावीर के ननिहाल वैशाली में यदि कोई अवशेष मिले हैं तो वे जन्मभूमि के प्रतीक न होकर यह पौराणिक तथ्य दर्शाते हैं कि तीर्थंकर महावीर के अस्तित्व को वैशाली में भी उस समय मानकर उनके नाना-मामा सभी गौरव का अनुभव करते हुए सिक्के आदि में उनके चित्र उत्कीर्ण कराते थे तभी वे आज पुरातत्व के रूप में प्राप्त हो रहे हैं।

दिगम्बर परम्परानुसार तीर्थंकर तो अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र ही होते हैं अर्थात् उनके कोई भाई नहीं होता अतः माता-पिता के स्वर्गवासी होने के पश्चात् कुण्डलपुर की महिमा वैशाली में महावीर के मामा आदि जातिबन्धुओं ने प्रसारित कर वहाँ कोई महावीर का स्मारक भी बनवाया हो तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। अतः संभव है कि उस स्मारक के अवशेष वहाँ मिल रहे हों।

वर्तमान में भी यदि वैशाली जनसामान्य के आवागमन की सुविधायुक्त नगरी है तो वहाँ महावीर स्वामी का स्मारक आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र बन सकता है किन्तु विद्वानों को उपर्युक्त विषयों पर गहन चिन्तन करके ऐसा निर्णय लेना चाहिए कि प्राचीन सिद्धान्त धूमिल न होने पावे और भगवान महावीर के २६०० वें जन्मजयन्ती महोत्सव मनाने के साथ ही जैनसमाज के द्वारा कोई ऐसा विवादित कार्य न हो जावे कि महावीर की असली जन्मभूमि "कुण्डलपुर" ही विवाद के घेरे में पड़कर जन्मभूमि के सौभाग्य से वंचित हो जावे।

महावीरकालीन कुण्डलपुर को शहर की एक कालोनी नहीं कह सकते—

तीर्थंकर भगवान की जन्मनगरी में साक्षात् सौधर्म इन्द्र एक लाख योजन के ऐरावत हाथी पर बैठकर आता है और वहाँ भारी प्रभावना के साथ जन्मकल्याणक महोत्सव मनाता है अतः उस नगरी का प्रमाण साधारण नगरियों के समान न मानकर अत्यन्त विशेष नगरी मानना चाहिए।

जैसाकि शास्त्रों में वर्णन भी है कि तीर्थंकर की जन्मनगरी को उनके जन्म से पूर्व स्वर्ग से इन्द्र स्वयं आकर व्यवस्थित करते हैं। जिस कुण्डलपुर को स्वयं इन्द्रों ने आकर बसाया हो उसके अस्तित्व को कभी नकारा नहीं जा सकता है तथा उसके अन्तर्गत अन्य नगरों का मानना तो उचित लगता है, न कि अन्य नगरियों के अन्तर्गत दिल्ली शहर की एक कालोनी की भाँति "कुण्डलपुर" को मानना चाहिए।

कालपरिवर्तन के कारण लगभग २५०० वर्षों बाद उस कुण्डलपुर नगरी की सीमा भी यदि पहले से

काफी छोटी हो गई हो तो भी उसके सौभाग्यमयी अस्तित्व को नकार कर किसी बड़े नगर को महावीर जन्मभूमि का दर्जा प्रदान कर देना उसी तरह अनुचित लगता है कि जैसे हमारा पुराना घर यदि आगे चलकर गरीब या खण्डहर हो जाये तो किसी पड़ोसी बड़े जमींदार के घर से अपने अस्तित्व की पहचान बनाना।

अभिप्राय यह है कि सर्वप्रथम तो महावीर की वास्तविक जन्मभूमि कुण्डलपुर नगरी का जीर्णोद्धार, विकास आदि करके उसे खूब सुविधा सम्पन्न करना चाहिए अन्यथा उसे विलुप्त करने का दुस्साहस तो कदापि नहीं होना चाहिए।

यदि ५० वर्ष पूर्व समाज के वरिष्ठ लोगों ने सूक्ष्मता से दिगम्बर जैन ग्रन्थों का आलोढन किए बिना कोई गलत निर्णय ले लिया तो क्या प्राचीन सिद्धान्त आगे के लिए सर्वथा बदल दिए जाएँगे?

मेरी तो दिगम्बर जैन धर्मानुयायियों के लिए इस अवसर पर विशेष प्रेरणा है कि यदि इसी तरह निराधार और नए इतिहासविदों के अनुसार प्राचीन तीर्थों का शोध चलता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब अपने हाथ से कुण्डलपुरी, पावापुरी, अयोध्या, अहिच्छत्र आदि असली तीर्थ निकल जाएँगे क्योंकि आज तो बिजौलिया (राज.) के लोग अहिच्छत्र तीर्थ को अस्वीकार करके बिजौलिया में भगवान पार्श्वनाथ का उपसर्ग होना मानते हैं। उसी प्रकार सन् १९९३ में एक विद्वान् अयोध्या में एक संगोष्ठी के अन्दर वर्तमान की अयोध्या नगरी पर ही प्रश्नचिन्ह लगाकर उसे अन्यत्र विदेश की धरती पर बताने लगे तब पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने उन्हें यह कहकर समझाया था कि शोधार्थी विद्वानों को इतना भी शोध नहीं करना चाहिए कि अपनी माँ पर ही संदेह की सुई टिकने लगे अर्थात् तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित जिनवाणी एवं परम्पराचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को सन्देह के घेरे में डालकर या उन्हें झूठा ठहराकर लिखे गए शोध प्रबंध हमें मंजूर नहीं हैं।

शोध का अर्थ क्या है?

मुझे समझ में नहीं आता कि अपनी प्राचीन मूल परम्परा पर कुठाराघात करके अर्वाचीन ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करना ही क्या शोध की परिभाषा है? वैशाली कभी भी सर्वसम्मति से महावीर की जन्मभूमि के रूप में स्वीकार नहीं की गई क्योंकि अनेक साधु-साध्वी इस विषय से सन् १९७४ में भी असहमत थे और आज भी असहमत हैं। यदि इस जन्मजयन्ती महोत्सव पर वैशाली को "महावीरस्मारक" के रूप में विकसित किया जाता है तब तो संभवतः किसी साधु-साध्वी, विद्वान् अथवा समाज का प्रबुद्धवर्ग उसे मानने से इंकार नहीं करेगा किन्तु महावीर की जन्मभूमि वैशाली के नाम पर अधिकांश विरोध के स्वर गूंजेंगे।

इस विषय में चिन्तन का विषय यह है कि यदि दिगम्बर जैनसमाज के ही लोग अपने प्राचीन आगम के प्रमाण छोड़कर दूसरे ग्रन्थों एवं अर्वाचीन इतिहासज्ञों के कथन प्रामाणिक मानने लगेंगे तो उन पूर्वाचार्यों द्वारा कथित आगम के प्रमाण कौन सत्य मानेंगे? इस तरह तो "प्राचीनभारत" पुस्तक में इतिहासकार

प्रो. रामशरण शर्मा द्वारा लिखित जैनधर्म के लिए मिथक कथाओं का गढ़ा जाना आदि बातें भी सत्य मानकर जैनधर्म को भगवान महावीर द्वारा संस्थापित मानने में भी हमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए? यदि सन् १९७२ में लिखे गए उस कथन का हम आज विरोध कर उसे पूर्ण असंगत ठहराते हैं तो वैशाली को महावीर की जन्मभूमि कहने पर भी हमें इतिहास को धूमिल होने से बचाने हेतु गलत कहना ही पड़ेगा अन्यथा अपने हाथों से ही अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने के अतिरिक्त कोई अच्छा प्रतिफल सामने नहीं आएगा।

हम तो शोध का अर्थ यह समझते हैं कि अपने मूल इतिहास एवं सिद्धान्तों को सुरक्षित रखते हुये वर्तमान को प्राचीनता से परिचित कराना चाहिए। वैशाली में न तो महावीर स्वामी का कोई प्राचीन मंदिर है और न ही उनके महल आदि की कोई प्राचीन इमारत मिलती है, केवल कुछ वर्ष पूर्व वहाँ "कुण्डग्राम" नाम से एक नवनिर्माण का कार्य शुरू हुआ है। जैसा कि पण्डित बलभद्र जैन ने भी "भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ" (बंगाल-बिहार-उड़ीसा के तीर्थ) नामक ग्रन्थ में (सन् १९७५ में हीराबाग-बम्बई से प्रकाशित) कुण्डलपुर तीर्थ के विषय में लिखा है—

"कुण्डलपुर बिहार प्रान्त के पटना जिले में स्थित है। यहाँ का पोस्ट ऑफिस नालन्दा है और निकट का रेलवे स्टेशन भी नालन्दा है। यहाँ भगवान महावीर के गर्भ, जन्म और तपकल्याणक हुए थे, इस प्रकार की मान्यता कई शताब्दियों से चली आ रही है। यहाँ पर एक शिखरबन्द मंदिर है जिसमें भगवान महावीर की श्वेतवर्ण की साढ़े चार फुट अवगाहन वाली भव्य पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। वहाँ वार्षिक मेला चैत्र सुदी १२ से १४ तक महावीर के जन्मकल्याणक को मनाने के लिए होता है।"

कुण्डलपुर या कुण्डपुर को कुण्डग्राम कहकर वैशाली साम्राज्य की एक शासित इकाई मानते हुए क्या हमारे कुछ विद्वान् राजा सिद्धार्थ को चेटक राजा का घरजमाई जैसा तुच्छ दर्जा दिलाकर उन्हें वैशाली के ही एक छोटे से मकान का गरीब श्रावक सिद्ध करना चाहते हैं? क्या तीर्थंकर के पिता का कोई विशाल अस्तित्व उन्हें अच्छा नहीं लगता है?

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी इस विषय में बतलाती हैं कि सन् १९७४ में महावीर स्वामी के २५००वें निर्वाणमहोत्सव के समय पूज्य आचार्य श्री धर्मसागर महाराज, आचार्य श्री देशभूषण महाराज, पण्डितप्रवर सुमेरचन्द जैन दिवाकर, पंडित मक्खनलाल शास्त्री, डा. लाल बहादुर शास्त्री-दिल्ली, पं. मोतीचंद कोठारी-फलटण आदि अनेक विद्वानों से चर्चा हुई तो सब एक स्वर से कुण्डलपुर वर्तमान तीर्थक्षेत्र को ही महावीर जन्मभूमि के रूप में स्वीकृत करते थे, वैशाली किसी को भी जन्मभूमि के रूप में इष्ट नहीं थी।

जरा चिन्तन कीजिए!

उदाहरण के तौर पर गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी का जन्म उत्तर प्रदेश के टिकैतनगर (जिला बाराबंकी) ग्राम में हुआ है और उनके द्वारा हुई व्यापक धर्मप्रभावना के कार्य दिल्ली, हस्तिनापुर आदि में

हुए हैं। आगे चलकर सौ-दो सौ वर्ष पश्चात् कोई शोधकर्ता इन स्थानों पर कुछ साक्ष्य पाकर टिकैतनगर की बजाए हस्तिनापुर, दिल्ली आदि को माताजी का जन्मस्थान मान ले तो क्या उसे सच मान लिया जाएगा? अर्थात् उन स्थानों को माताजी की कर्मभूमि तो माना जा सकता है किन्तु जन्मभूमि तो जन्म लिए हुए स्थान को ही मानना पड़ेगा।

इसी प्रकार कुछ पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर "वैशाली" को महावीर जन्मभूमि के नाम से मान्यता नहीं दिलाई जा सकती है अतः विद्वान् आचार्य, साधु-साध्वी सभी गहराई से चिन्तन कर कुण्डलपुर की खतरे में पड़ी अस्मिता की रक्षा करें।

जन्मभूमि के बाद निर्वाणभूमि की भी बारी आने वाली है!

वर्तमान की बुद्धिजीवी पीढ़ी ने महावीर स्वामी की कल्याणक भूमियों के भ्रामक प्रचार का मानो ठेका ही ले लिया है। इसे शायद पंचमकाल या हुण्डावसर्पिणी का अभिशाप ही कहना होगा कि महावीर स्वामी की जन्म एवं निर्वाण दोनों भूमियों को विवादित कर दिया गया है।

पच्चीस सौ उनतीस वर्षों पूर्व बिहार प्रान्त की जिस पावापुरी नगरी से महावीर ने मोक्षपद प्राप्त किया वह आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र है और प्रत्येक दीपावली पर वहाँ देश भर से हजारों श्रद्धालु निर्वाणलाडू चढ़ाने पहुँचते हैं। जैसा शास्त्रों में वर्णन आया है बिल्कुल उसी प्रकार की शोभा से युक्त पावापुरी का सरोवर आज उपलब्ध है और उसके मध्यभाग में महावीर स्वामी के अतिशयकारी श्रीचरण विराजमान हैं फिर भी कुछ विद्वान् एवं समाजनेता गोरखपुर (उ.प्र.) के निकट सठियावां ग्राम के पास एक "पावा" नामक नगर को ही महावीर की निर्वाणभूमि पावा सिद्धक्षेत्र मानकर अपने अहं की पुष्टि कर रहे हैं।

इस तरह की शोध यदि अपने तीर्थ और शास्त्रों के प्रति चलती रही तब तो सभी असली तीर्थ एवं ग्रन्थों पर प्रश्नचिन्ह लग जाएँगे तथा जैनधर्म की वास्तविकता ही विलुप्त हो जाएगी। पावापुरी के विषय में भी अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं किन्तु यहाँ विषय को न बढ़ाते हुये केवल प्रसंगोपात्त जन्मभूमि प्रकरण को ही दिया गया है सो विज्ञजन स्वयं समझें एवं दूसरों को समझावें।

बजी कुण्डलपुर में बधाई, वैशाली कहाँ से आई?

लेखिका- प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती

आज से २६०० वर्ष पूर्व भारत की धरती पर तीर्थंकर भगवान महावीर ने जन्म लेकर संसार को अहिंसा का ब्रह्मास्त्र देकर विश्वकल्याण के साथ-साथ अपनी आत्मा को सम्पूर्ण कर्मों से रहित करके निर्वाण धाम को प्राप्त कर लिया और अनन्त-अनन्त काल के लिए सर्वसुख सम्पन्न सिद्धपद को प्राप्त हो गये।

इतिहास के अनुसार उन्हें मोक्ष प्राप्त हुए भी २५२८ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं उनकी कृतकृत्यता तो किसी के द्वारा भी खंडित नहीं की जा सकती है किन्तु यह समाज का दुर्भाग्य ही कहना होगा कि वर्तमान में उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक पहलुओं को आधुनिक इतिहासकारों द्वारा किस प्रकार से विकृत करके प्रस्तुत किया जा रहा है यह एक अत्यन्त चिन्तनीय स्थिति बन गई है। सर्वप्रथम हम उनके जन्मस्थान को ही लेते हैं कि यह तो निःसंदेह कहा जा सकता है कि महावीर का जन्म तो एक ही स्थान पर हुआ था और जहां उनका जन्म हुआ था वहीं पर उनकी माता के आंगन में पंद्रह महीनों तक रत्नों की वृष्टि भी हुई थी, किन्तु आज उनकी जन्मभूमि के नाम पर तीन-तीन नाम समाज के समक्ष आ रहे हैं—१. कुण्डलपुर (बिहार) २. वैशाली-वासोकुंड (बिहार) ३. लिछवाड़ (बिहार)। अब प्रश्न यह उठता है कि कब से कौन-सी जन्मभूमि को किनके द्वारा मानने की परम्परा प्रारम्भ हुई है? सर्वप्रथम पाठकों का ध्यान प्रथम जन्मभूमि कुण्डलपुर की ओर आकर्षित किया जा रहा है।

सर्वप्राचीन ग्रन्थ (लगभग २००० वर्ष पूर्व प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखित) तिलोयपण्णत्ति, धवला-जयधवला, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण, वीरजिणिंदचरिउ, महावीरपुराण, वर्धमानचरित आदि अनेकानेक ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से विदेहदेश अर्थात् वर्तमान बिहार प्रांत की कुंडलपुर नगरी में महावीर स्वामी का जन्म राजा सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला के पवित्र गर्भ से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था यही बात वर्णित है। लगभग ५० वर्ष पूर्व से महावीर की जन्मभूमि पर प्रश्नचिन्ह किसने लगाया? अगली खोज क्यों प्रारम्भ हुई? यह किसी न किसी षड्यंत्र का ही दुष्परिणाम दिख रहा है।

हमारे जिन प्राचीन ग्रन्थों की उपेक्षा करके आधुनिकता की होड़ में आगे बढ़ रहे लोग केवल "मेरा सो खरा" वाली नीति अपनाते हुए भगवान महावीर की वास्तविक जन्मभूमि "कुण्डलपुर" पर प्रश्नचिन्ह लगाकर अन्य नूतन स्थान को जन्मभूमि बनाने का प्रयास कर रहे हैं, उन्हें निम्न ठोस आगमप्रमाणों की ओर भी अवश्य ध्यान देना चाहिए—

१. देखें कषायपाहुड़ ग्रन्थ की जयधवला टीका - (पृष्ठ ७६-७७)

"आसाढजोण्हपक्खछट्ठीएकुंडपुरणगराहिव-णाहवंससिद्धत्थणरिंदस्स तिसिलादेवीए गब्भमागंतूण तत्थअट्ठदिवसाहिय णवमासे अच्छिय चइत्त-सुक्खपक्ख- तेरसीए रत्तीए उत्तरफग्गुणीणक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो वड्ढमाणजिणिंदो।" अर्थात् आषाढ़ महीना के शुक्लपक्ष की षष्ठी के दिन कुण्डपुर (कुण्डलपुर) नगर के स्वामी नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की त्रिशला देवी के गर्भ में आकर और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुए भगवान महावीर गर्भ से बाहर आये।

इसी जयधवला में श्री वीरसेनाचार्य आगे कहते हैं- (पृ.७८)

कुंडपुरपुरवरिस्सर सिद्धत्थक्खत्तियस णाहकुले। तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए।।२३।।

अच्छित्ता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्त-सियपक्खे। तेरसिए रत्तीए जादुत्तरफग्गुणीए दु।।२४।।

अर्थात् कुण्डपुर नगर के सिद्धार्थ क्षत्रिय के घर, नाथकुल में, सैकड़ों देवियों से सेवमान त्रिशला देवी के गर्भ में महावीर का जीव आया और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुए भगवान का जन्म हुआ।

२. षट्खंडागम[1] के चतुर्थ-खंड एवं नवमी पुस्तक की धवला टीका में पृ. १२१ पर भी यह कथन कुण्डलपुर के सम्बन्ध में आया है।

३. तिलोयपण्णत्ती[2] (श्री यतिवृषभाचार्य रचित) चतुर्थ महाधिकार पृ. २१०-

सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं, णयरम्मि कुंडले वीरो। उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।।५४६।।

४. श्रीजिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराण[3] के द्वितीय सर्ग में महावीर स्वामी के गर्भकल्याणक प्रकरण में कुण्डलपुर नगरी का विस्तृत वर्णन आया है-

तत्राखण्डलनेत्राली, पद्मनीखण्डमण्डलम्। सुखाम्भः कुण्डमाभाति, नाम्ना कुण्डपुरं पुरम्।।५।।

अर्थात् उस विदेह देश में कुण्डपुर नाम का एक ऐसा सुन्दर नगर है जो इन्द्र के नेत्रों की पंक्तिरूपी कमलिनियों के समूह से सुशोभित है तथा सुखरूपी जल का मानो कुण्ड ही है।

५. श्रीगुणभद्राचार्य रचित उत्तरपुराण[4] ग्रन्थ में पर्व ७४ पर-

राज्ञः कुण्डपुरेशस्य, वसुधाराप तत्पृथु। सप्तकोटीमणीः सार्द्धाः, सिद्धार्थस्य दिनं प्रति।।२५२।।

अर्थात् "कुण्डलपुर" नगर के राजा सिद्धार्थ के घर प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ मणियों की भारी वर्षा होने लगी।

---

१. सन् १९४४ में भा.दि. जैनसंघ-मथुरा से प्रकाशित। पं. फूलचंद सिद्धांतशास्त्री, पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य एवं पं. कैलाशचंद्र सिद्धांतशास्त्री द्वारा संपादित। २.श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ-सोलापुर से सन् १९९० में प्रकाशित एवं पं. फूलचंद्र सिद्धांतशास्त्री द्वारा सम्पादित। ३. सोलापुर से ही सन् १९५६ में प्रकाशित एवं प्रो. ए.एन. उपाध्ये एवं प्रो. हीरालाल सिद्धांतशास्त्री द्वारा सम्पादित। ४. भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित सन् १९७८ में।

६. महाकवि श्री पुष्पदन्त विरचित "वीर जिणिन्द चरिउ" में पृष्ठ ११ एवं १५ पर कुण्डलपुर नगरी की शोभा का वर्णन है–

इह जंबुदीवि भरहंतरालि। रमणीय-विसइ सोहा- विसालि।।
कुंडउरि राउ सिद्धत्थु सहिउ। जो सिरिहरु मग्गण-वेस रहिउ।।

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशाल शोभाधारी विदेह प्रदेश में "कुण्डपुर" नगर के राजा सिद्धार्थ राज्य करते हैं।

आगे इसी में सौधर्म इन्द्र के शब्दों में धनकुबेर को दिये गये आदेशानुसार नगरी सजाने का वर्णन भी आया है।–

ता कयउ कुंडपुरु तेण चारु। सव्वत्थ रयण-पायार -भारु।।
सव्वत्थ रइय णाणा दुवारु। सव्वत्थ परिह परिरूद्ध चारु।।

इन्द्र की आज्ञानुसार कुबेर ने "कुण्डपुर" को ऐसा ही सुन्दर बना दिया। उसके चारों तरफ रत्नमयी प्राकार बन गया जिसके सब ओर नाना प्रकार के द्वार थे और उसके चारों ओर ऐसी परिखा थी जिससे वहाँ शत्रुओं का संचार अवरु हो जाये।

७. श्रीमहावीरपुराण' (आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित) के पृष्ठ ४३ पर—

भरतक्षेत्र के इसी विदेहदेश के ठीक मध्य में "कुण्डपुर" एक अत्यन्त रमणीक नगर है। यहाँ पर धर्मात्माओं का विशेषरूप से निवास है। यहाँ के कोट, द्वार एवं अलंघ्य खाइयों को देखकर अपराजिता अयोध्या नगरी का भान होता है। यहाँ के ऊँचे-ऊँचे एवं स्वर्ण रत्नों से निर्मित जैन मन्दिरों को देखकर लोगों को कुण्डलपुर के प्रति अपार श्रद्धा जागृत होती थी। वह नगर धर्म का समुद्र जैसा प्रतीत होता था। उस नगर के राजा का नाम "सिद्धार्थ" था।

इसी कुण्डलपुर नगरी में भगवान महावीर के जन्मवर्णन के साथ सौधर्मेन्द्र द्वारा सुमेरुपर्वत पर जन्माभिषेक करके वापस वर्धमान शिशु को लाकर माता-पिता की गोद में सौंपने का बड़ा रोमांचक वर्णन विशेष पठनीय है—

"इस प्रकार भगवान का नामकरण कर इन्द्र ने देवों के साथ उनको ऐरावत गजराज पर बिठाकर "कुण्डलपुर" की ओर प्रस्थान कर दिया। देवों की सारी मंडली बड़े उत्सव के साथ कुण्डलपुर में आ पहुँची। वहाँ जाकर इन्द्राणी ने मायामयी निद्रा में लीन महारानी को जगाया। उन्होंने बड़े प्रेम से आभूषणों से युक्त अपूर्व कान्तिवाले पुत्र को देखा।

८. श्री पुष्पदन्त कवि रचित महापुराण (भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित) में पृष्ठ ३१०-३१२-३१३ पर

---

१. भारतीय ज्ञानपीठ से सन् २००० में प्रकाशित।

भी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कुण्डलपुर नगरी के राजा सिद्धार्थ का वर्णन, देवों द्वारा कुण्डलपुर की सजावट एवं वहीं पर सिद्धार्थराजा के महल में रत्नवृष्टि का कथन दृष्टव्य है—

घरपंगणि तासु रायहु सुहपब्भारहिं। वुट्ठउ धणणाहु अविहंडियधणधारहिं।।८।। (पृ.३१३)

अर्थात् उस राजा के आंगन में सुख के प्रभारों से युक्त अखण्डित धन-धाराओं के द्वारा कुबेर स्वयं बरस रहा है।

आगे इसी प्रकरण में कुण्डलपुर में ही महावीर स्वामी का जन्म होना बतलाया है।

यह तो मात्र आठ प्रमुख प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रन्थों के अनुसार मैंने महावीर स्वामी की जन्मभूमि कुण्डलपुर नगरी का अस्तित्व पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है और इनमें सब जगह महावीर के ननिहाल राजा चेटक की राजधानी के रूप में "वैशाली" का वर्णन आता है।

इन पूर्वाचार्यों की वाणी के आधार पर ही दिगम्बर जैन परम्परा के समस्त विद्वान, लेखक और कवि अपनी रचनाओं में कुण्डलपुर का वर्णन करते नहीं थकते थे। जैसे– 'महावीर पूजा' में ही पढ़ा जाता है–

९. "जनम चैतसित तेरस के दिन, कुण्डलपुर कन वरना।।"
सुरगिरि सुरगुरु पूज कियो नित, मैं पूजों भव हरना।।
नाथ मोहि राखो हो शरणा... श्री वर्धमान जिनरायजी, मोहिं राखो हो शरणा।।"

१०. कविवर हरिप्रसाद जी द्वारा रचित 'महावीर आरती' में भी भक्तगण श्रद्धापूर्वक पढ़ते हैं–

"ॐ जय महावीर प्रभो, स्वामी जय महावीर प्रभो। कुण्डलपुर अवतारी, त्रिशलानन्द विभो।। ॐ जय।।"

आगम एवं परम्परा का अनुकरण करते हुए सैकड़ों कवियों ने वर्धमान महावीर के चरणों में श्रद्धासुमन समर्पित करते हुए उनकी पावन जन्मभूमि "कुण्डलपुर" को अपनी कृतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, उनमें से कतिपय अर्वाचीन कृतियाँ (२०वीं शताब्दी में लिखी गईं) भी मेरे देखने में आई हैं।

११. सन् १९४१ में श्री १००८ महावीर जैन कीर्तन मण्डल, धर्मपुरा-दिल्ली से प्रकाशित "महावीर जन्मोत्सव की कथा" में कवि ने लिखा है—

तर्ज-राधेश्याम– छः माह पेशतर रतनों की कुण्डलपुर में वर्षा होती।
प्रतीत हुआ विद्वानों को अब जागेगी कोई ज्योती।।
आषाढ़ सुदी छठ जब आई और समय रात्रि का आया था।
त्रिशला देवी को गर्भ रहा यह ग्रन्थों में बतलाया था।।

१२. "तीर्थंकर महावीर भक्ति गंगा" नामक संकलन कृति में "धर्मविलास" के पृ. ५१ की कविता भी दृष्टव्य है—

वर्धमान! जस वर्धमान अच्युत विमान गति। नगर कुण्ड पुर धार सार सिद्धारथ भूपति।।

रानी प्रियकारनी बनी कंचन छवि काया। आयु बहत्तर बरस, जोग खरगासन ध्याया।।
तुम सात हाथ मृगनाथ पति तेमनै अब लों धरम जर सिर नाय नमौ जुग जोरि कर।।
– धर्म विलास पृ. ५१

अर्थ – हे वर्धमान प्रभो! आपका यश निरन्तर वर्धमान है। आप अच्युत विमान को त्याग कर कुण्डलपुर नगर में पधारे। उस नगर के राजा सिद्धार्थ आपके पिता थे और रानी प्रियकारिणी (त्रिशला) आपकी माता थी। आपके शरीर की आभा स्वर्ण जैसी थी। आपकी आयु बहत्तर वर्ष की थी। आपने दीक्षा लेकर खड्गासन से ध्यान लगाया था। आपकी अवगाहना सात हाथ की थी, सिंह आपका लांछन (चिन्ह) है। आप के द्वारा प्ररूपित धर्म ही अबतक जगत में परमधर्म का मूल है। प्रभो! बद्धांजलि होकर मैं आपके चरणों में सिर झुकाता हूँ।

१३. उपर्युक्त कृति की ही एक कविता और भी (कविवर श्री "बुधमहाचन्द्र" द्वारा रचित) यहाँ प्रस्तुत है–

सिद्धारथ राजा दरबारे बटत बधाई रंग भरो हो।। टेक।।
त्रिसला देवी ने सुतजायो वर्द्धमान जिनराज बरी हो,
कुंडलपुर में घर घर द्वारे होय रही आनंद घरी हो।।१।।
रत्नन की वर्षा को होते पंद्रह मास भये सगरी हो,
आज गगन दिश निरमल दीखत पुष्प वृष्टि गंधोद झरी हो।।२।।
जन्मन जिनके जग सुख पाया दूरि गये सब दुक्ख टरी हो,
अन्तर मुहूर्त नारकी सुखिया ऐसो अतिशय जन्म धरी हो।।३।।
दान देय नृपने बहुतेरो जाचिक जन मन हर्ष करी हो,
ऐसे बीर जिनेश्वर चरणों 'बुध महाचन्द्र' जु सीस धरी हो।।४।।

अर्थ – महाराज सिद्धार्थ के दरबार में आज रंगभरी बधाई बट रही हैं। देवी त्रिशला ने पुत्र प्रसव किया है। वह पुत्र (अन्तिम तीर्थंकर) जिनराज वर्धमान हैं। कुण्डलपुर में घर-घर और द्वार-द्वार आनन्द की यह शुभ घड़ी व्याप्त हो रही है। अहो! रत्नों की वर्षा होते पन्द्रह मास हो गये। आज आकाश, दिशाएं, निर्मल प्रतीत हो रही हैं और पुष्प वृष्टि हो रही है, गन्धोदक की झड़ी 'वर्षा' लगी हुई है। भगवान के जन्म ग्रहण करते समय संसार ने सुख पाया और सब दुःख दूर हो गये, टल गये। भगवान का अतिशय युक्त जन्म वर्णन कैसे किया जाए? उस समय अन्तर्मुहूर्त के लिए नारकियों को भी सुख की प्राप्ति हुई। राजा ने बहुत सा दान देकर याचकों तथा जनमानस को प्रहर्षित कर दिया। ऐसे वीर जिनेश्वर के चरणों में 'बुध महाचन्द' मस्तक नमाते हुए विनय भक्ति करते हैं।

१४. श्री ताराचन्द जैन शास्त्री द्वारा लिखित सन् १९७७ में प्रकाशित "जीवन झांकी तीर्थंकर महावीर"

के प्रथम पद्य में–

आओ दिखाएं जीवन-झांकी, महावीर भगवान की।
सिद्धारथ के राजदुलारे, त्रिशला मां के प्राण की।।
क्षत्रिय नाथ वंश प्राची के, दिनकर श्री महावीर थे।
कुंडलपुर में जन्म लिया था, जन्मजात अति वीर थे।
चैत्र शुक्ल तेरस के दिन की, शोभासीम निराली थी।
राजमहल, पुरजन, परिजन के, मुख पर छाई लाली थी।।
रत्नों, पुष्पों की वर्षा हुई, वृद्धि हुई धन-धान की।।
आओ दिखाएं, जीवन-झांकी महावीर भगवान की।
सिद्धारथ के राजदुलारे, त्रिशला मां के प्राण की।।

१५. श्रीकृष्ण जैन द्वारा लिखित "भगवान महावीर और उनका दिव्य सन्देश" (अप्रैल १९७६ में प्रकाशित) में भगवान महावीर के जन्म समय का सुन्दर प्रकरण है—

अज्ञानमय इस लोक में, आलोक सा छाने लगा।
होकर मुदित सुरपति नगर में, रत्न बरसाने लगा।।
उदित बालक की प्रभा, ज्ञान ज्योति प्रगट होने लगी।
नभ की निशा की कालिमा, अभिनव उषा धोने लगी।।
द्वार-द्वार पर सज उठे, तोरण बन्दनवार।
कुण्डलपुर नगरी में हुआ, वीर प्रभू अवतार।।
प्राची दिशा के अंक में, नूतन दिवाकर आ गया।
सत्य अहिंसा का आलोक, पुनः जग में छा गया।।

प्रसंगोपात्त कुछ ग्रंथ एवं पुस्तकों के नाम मात्र यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनमें कुण्डलपुरी का वर्णन लेखकों ने किया है, पाठकगण यथासंभव स्वाध्याय के द्वारा इनका अवलोकन करें–

१६. "अहिंसा के अवतार भगवान महावीर", लेखक-पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज (प्रकाशक – जैनमित्र मण्डल– देहली, अप्रैल सन् १९५६)

१७. "जैनतीर्थ और उनकी यात्रा", लेखक– श्री कामता प्रसाद जैन, प्रकाशक– भारतीय दिगम्बर जैन परिषद्, मार्च १९६९

१८. "भगवान महावीर और उनका समय" लेखक–पंडित जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक–हीरालाल पन्नालाल जैन– देहली, मार्च १९३४

१९. "महाश्रमण महावीर" लेखक–पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर प्रकाशित सन् १९६८

२०. "भगवान महावीर" (जीवन दर्शन) लेखक– पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर प्रकाशित सन् १९७०

२१. "भगवान महावीर और उनका सन्देश", लेखक– पं. परमेष्ठी दास जैन, प्रकाशित सन् १९७५

२२. "तीर्थंकर महावीर" लेखक– अनूप चन्द्र जैन, प्रकाशित– अप्रैल सन् १९९३

२३. "वृहद् महावीर कीर्तन" प्रकाशित– दिसम्बर सन् १९६२, श्री दिगम्बर जैन वीर पुस्तकालय, महावीरजी (राजस्थान)

२४. "महावीर चालीसा" – जनम लिया कुण्डलपुर नगरी, हुई सुखी तब प्रजा सगरी।
सिद्धारथ जी पिता तुम्हारे, त्रिशला की आँखों के तारे।।

२५. "भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ" (सन् १९७५ में हीराबाग-मुम्बई से प्रकाशित) नामक ग्रन्थ में बिहार प्रान्त के तीर्थों का वर्णन करते हुए पं. श्री बलभद्र जैन ने कुण्डलपुर तीर्थ के विषय में लिखा है–

"कुंडलपुर बिहार प्रान्त के पटना जिले में स्थित है। यहाँ का पोस्ट ऑफिस नालन्दा है और निकट का रेलवे स्टेशन भी नालन्दा है। यहाँ भगवान महावीर के गर्भ, जन्म और तपकल्याणक हुए थे, इस प्रकार की मान्यता कई शताब्दियों से चली आ रही है। यहाँ पर एक शिखरबन्द मन्दिर है जिसमें भगवान महावीर की श्वेतवर्णी साढ़े चार फुट अवगाहना वाली भव्य पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। वहाँ वार्षिक मेला चैत्र सुदी द्वादशी से चतुर्दशी तक महावीर के जन्मकल्याणक को मनाने के लिए होता है।"

२६. पण्डित श्री कैलाशचन्द्र जैन सिद्धांत शास्त्री द्वारा लिखित "जैनधर्म" नामक पुस्तक (सन् १९४८ में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा चौरासी से प्रकाशित) में पृ. १८ पर भगवान महावीर के बारे में स्पष्ट वर्णन है–

"भगवान महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। लगभग ६००ई. पूर्व बिहार प्रान्त के "कुण्डलपुर" नगर के राजा सिद्धार्थ के घर में उनका जन्म हुआ। उनकी माता त्रिशला वैशाली नरेश राजा चेटक की पुत्री थी। महावीर का जन्म चैत्रशुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। इस दिन भारतवर्ष में महावीर की जयन्ती बड़े धूमधाम से मनाई जाती है।"

२७. भारतगौरव पूज्य आचार्य श्री देशभूषण महाराज द्वारा रचित "भगवान महावीर और उनका तत्त्वदर्शन" (सन् १९७४ में श्री जैनसाहित्य समिति, कूचा बुलाकी बेगम, ऐस्लेनेड रोड-देहली) में भी जगह-जगह भगवान महावीर का कुण्डलपुर नगरी में जन्म लेना, बालक्रीड़ा करना आदि जीवन को दर्शाया है।

विषय की अधिकता के कारण यहाँ अत्यधिक प्रमाणों का उल्लेख नहीं किया जा रहा है किन्तु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सम्पूर्ण दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थ इसी सत्य को स्वीकार करते हैं कि भगवान महावीर ने बिहार प्रान्त के कुण्डलपुर नगर में जन्म लेकर सम्पूर्ण विश्व को अहिंसा के अमर सिद्धांत से

प्रभावित किया था। उनके इस व्यापक प्रभाव के कारण ही कुछ इतिहासकारों ने उन्हें जैनधर्म का संस्थापक कह दिया जबकि पण्डित श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर के शब्दों में महावीर को जैनधर्म का संस्थापक न कहकर पुनरुद्धारक कहना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि वैशाली को महावीर जन्मभूमि के रूप में किसने और कब प्रस्थापित करने का प्रयास किया?

इस विषय में डॉ. हीरालाल जैन एवं ए.एन. उपाध्ये ने सन् १९७४ में लिखित अपनी पुस्तक 'महावीर युग और जीवन दर्शन' में अनेक युक्तियोंपूर्वक वैशाली के उपनगर जिला मुजफ्फरपुर में (दो किमी. दूर) वासुकुण्ड को भगवान महावीर की जन्मभूमि के रूप में बताने का प्रयास करते हुए स्वयं लिखा है–"अनेक प्राचीन नगरों के साथ इस वैशाली का दीर्घकालीन इतिहासज्ञों को अता-पता नहीं था किन्तु विगत एक शताब्दी में जो पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज-शोध हुई है, उससे प्राचीन भग्नावशेषों, मुद्राओं व शिलालेखों आदि के आधार से प्राचीन वैशाली की ठीक स्थिति अवगत हो गयी है और निःसंदेह रूप से प्रमाणित हो गया है कि बिहार राज्य में गंगा के उत्तर में मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत बसाढ़ नामक ग्राम ही प्राचीन वैशाली है। स्थानीय खोज-शोध से यह भी माना गया है कि वर्तमान बसाढ़ के समीप ही जो वासुकुण्ड नामक ग्राम है, वही प्राचीन कुण्डपुर होना चाहिए। वहां एक प्राचीन कुण्ड में चिन्ह पाये जाते हैं जो क्षत्रियकुण्ड कहलाता रहा होगा" अर्थात् लेखक स्वयं यह स्वीकार कर रहे हैं कि सौ वर्ष पूर्व वैशाली नाम का इस भारत देश में कोई नगर ही नहीं था और उस बसाढ़ नामक ग्राम को वैशाली नाम देकर स्थापित कर दिया गया है अतः कटु सत्य तो यह है कि यह वैशाली नगरी भी केवल इतिहासकारों के द्वारा बनाई गयी वैशाली है न कि २६०० साल पहले से चली आयी वास्तविक वैशाली है।

मैंने तो अभी तक वैशाली या कुण्डग्राम के विषय में जो भी प्रमाण पढ़े हैं वे श्वेताम्बर ग्रन्थ जैसे भगवतीसूत्र, आचारांग, कल्पसूत्र, उपासकदशांग सूत्र, सूत्रकृतांग आदि ग्रन्थ हैं।

महानुभावों! यदि श्वेताम्बर ग्रन्थों की मान्यताओं के आधार पर हम भगवान महावीर को वैशालिक कहकर उनका जन्म वैशाली में अथवा उसके निकट वासुकुण्ड में मानने लगे तब तो श्वेताम्बर ग्रन्थों में वर्णित स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र मुक्ति, महावीर की माता का चौदह स्वप्नों का देखना, देवानन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ से त्रिशला के गर्भ में महावीर का परिवर्तन किया जाना, महावीर का विवाह तथा उनके पुत्री होना, दीक्षा से पूर्व ही उनके माता-पिता का स्वर्गस्थ हो जाना आदि अनेक बातें भी उनकी हमें माननी पड़ेंगी किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के लिए ऐसा तीन काल में भी संभव नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि इधर श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार दिगम्बर जैन समाज के कुछ गिने चुने लोग व्यक्तिगत मान्यताओं के आधार पर वैशाली को जन्मभूमि कहने का दुष्प्रयास कर रहे हैं और स्वयं श्वेताम्बर सम्प्रदाय वालों ने

उसे जन्मभूमि न मानकर मुंगेड़ जिले के एक ग्राम लिछवाड़ को जन्मभूमि माना है.....अस्तु! इस बात पर दिगम्बर जैन समाज को अति सूक्ष्मता से विचार करने की आवश्यकता है।

दूसरी बात, महावीर जन्मभूमि के रूप में वैशाली को बौद्ध ग्रन्थों (मज्झिमनिकाय, महावस्तु) के अनुसार भी कुछ लोग स्वीकार कर लेते हैं तब तो बौद्धमत के क्षणिकवाद आदि उनके एकान्त सिद्धांतों को भी हमें मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा क्योंकि किसी मत की एक बात मानने पर उनकी अनेक बात मानने का भी प्रसंग आता है। बौद्ध और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में बिहार प्रांत के अन्दर लिच्छवी वंश, गणराज्य पद्धति आदि को स्वीकार किया गया है और इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर लगभग ५० वर्ष पूर्व कवि रामधारी सिंह दिनकर ने–"वैशाली जन का प्रतिपादक गण का आदि विधाता" इत्यादि कविता लिख दी है। हमारे प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रन्थों को विद्वानों ने सार्वजनिक रूप में प्रसिद्ध नहीं किया कि आधुनिक इतिहासकार, कवि और लेखक उससे भी कुछ ले सकते जबकि श्वेताम्बर और बौद्ध साहित्य प्रचुर मात्रा में लोगों के हाथों में दो हजार सालों से पहुँचता रहा है।

तीसरी बात, इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में भी कहीं-कहीं वैशाली को ही सीधे महावीर की जन्मभूमि लिख दिया गया है और कहीं वैशाली के उपनगर कुण्डग्राम को महावीर की जन्मभूमि के रूप में लेखकों ने प्रस्तुत किया है। बन्धुओं! इन इतिहासकारों के बारे में तो क्या कहा जाए, आप लोग आजकल सुन ही रहे हैं कि इन लोगों ने इतिहास के नाम पर जैनधर्म एवं अन्य दूसरे धर्मों पर भी कितना कुठाराघात किया है और जब पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने दश वर्ष के पुरुषार्थ के पश्चात् सरकार एवं शिक्षा विभाग तक पुरजोर बात पहुँचायी तब सरकार को उन पाठ्यपुस्तकों में संशोधन करने के लिए बाध्य होना पड़ा। हमारे संशोधनों के साथ अन्य धर्मावलम्बियों के भ्रान्त विषयों का भी संशोधन हो रहा है जिससे प्रायः लोग प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं किन्तु इतिहास में किया गया छोटा सा संशोधन अभी पर्याप्त नहीं है क्योंकि बहुत सारे भ्रान्त विषयों में से केवल कुछ लाइनों का संशोधन मात्र हो रहा है, उसमें अभी और अधिक संशोधन की आवश्यकता है जिसके लिए हमें बराबर पुरुषार्थ करते रहना है। अब आप स्वयं सोचिये कि जिन इतिहासकारों पर हम पचासों वर्षों से विश्वास करते आए, उन्होंने हमारे साथ कितना विश्वासघात किया कि हमारे ही धर्म और तीर्थंकर महापुरुषों को विकृत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी तो भला उनकी निराधार खोजों के आधार पर हम वैशाली या वासुकुण्ड को महावीर की जन्मभूमि मानकर यदि उसे प्रचारित कर देंगे तो आगे इसका नतीजा अगली पीढ़ी को तो भुगतना पड़ेगा ही, साथ ही असली जन्मभूमि को अपने ही हाथों से गंवाकर हमें क्या हासिल होगा?

प्रो. आर.एस. शर्मा, रोमीला थापर आदि इतिहास लेखकों के समान क्या आप स्वयं एक नई गलती और नहीं करने जा रहे हैं? यह अपने हाथ से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसा ही दुष्प्रयास है। ऐसी शोध और

खोज करके तो कुछ विद्वान् मानने लगे हैं कि शाश्वत तीर्थ अयोध्या भारत में न होकर थाइलैंड में है, वर्तमान में जिस शाश्वत निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर को सभी श्रद्धा से पूजते हैं वह भी खोजकर्ताओं ने गलत बता दिया है। इतना ही नहीं, लगभग समस्त तीर्थंकरों की जन्मभूमि को दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में बताते हुए एक लेखक ने (डा. जिनेश्वरदास जैन ने "अंगकोर के पंचमेरु मंदिर-इतिहास के नवीन परिप्रेक्ष्य में") नामक पुस्तक में अयोध्या को थाईलैंड में, हस्तिनापुर को बर्मा में, चम्पापुर को दक्षिण वियतनाम में, बिदेह को दक्षिण चीन में, रतनपुरी को कम्बोडिया में और कुण्डलपुर को विदेह का १०वाँ नगर के रूप में लिखा है। तो क्या वर्तमान भारत में स्थित सभी तीर्थ छोड़कर आप विदेश की नगरियों का उद्धार करने जाएंगे? भ्रांति के इस परिप्रेक्ष्य में हमें तो भारत में ही स्थित अपने प्राचीन तीर्थों का संरक्षण करना चाहिए, शेष स्थानों पर मिले अवशेषों को जैन संस्कृति का गौरव मानना चाहिए। चौथी बात आती है कि सन् १९६० के दशक में तत्कालीन बिहार सरकार ने वैशाली को महावीर जन्मभूमि स्वीकार कर लिया।

भाइयों! जिसे जैन समाज के कुछ कार्यकर्ताओं तथा शोधकर्ताओं ने समाज से शास्त्रोक्त निर्णय लिए बिना ही सरकार को बता दिया, इसमें सरकार का क्या दोष है? उसी के अनुसार उन्होंने उद्घाटन कर दिया। आगम से आप सोचिए कि अपने भगवान की जन्मभूमि का निर्णय हमें करना है या सरकार से कराना है यह एक विचारणीय विषय है। यदि सरकार की ही सारी बातें मानी जाएं तो सरकार के द्वारा तो मांस का निर्यात भी किया जा रहा है, शराब के ठेके धड़ल्ले से चलाए जा रहे हैं, अण्डे को शाकाहार प्रचारित किया जा रहा है, बूचड़खानों को नये-नये लाइसेन्स प्रदान किये जा रहे हैं.....इत्यादि सभी बातें क्या सरकार की हम लोग मान्य करेंगे? यदि नहीं, तो फिर केवल उसकी मान्यता के आधार पर महावीर जन्मभूमि का ही परिवर्तन क्यों? दिगम्बर जैन समाज सोचे और विवेक का परिचय दे।

कुछ लोग इसमें भूगोल की दृष्टि लगाते हुए कहते हैं कि कुण्डलपुर तो मगधदेश के राजगृही नगरी से केवल १६ किमी. दूर है इसलिए हम कुण्डलपुर को मगधदेश में कैसे मानें? इस विषय में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि काल परिवर्तन के साथ-साथ देश और प्रदेशों की दूरियां काफी विषम परिस्थितियों को प्राप्त हो चुकी हैं जो नगरियां तीर्थंकरों के समय में ९६ मील की हुआ करती थीं वह आज की स्थिति में केवल एक-दो किमी. की ही परिधि में सिमटकर रह गई हैं और उनके आस-पास ही तमाम दूसरी नगरियों का अस्तित्व मान लिया गया है। इस प्रकार फिर जो वैशाली नगरी राजा चेटक की राजधानी बताई गई थी उसके उपनगर वासुकुण्ड या कुण्डग्राम को राजा सिद्धार्थ की राजधानी कहने में तो बहुत ही अधिक विकृति उत्पन्न हो जाएगी क्योंकि वह स्थान तो वैशाली से दो-तीन किमी. ही दूर है इस अल्प दूरी में दो राजाओं की रियासत कभी भी स्वीकार नहीं की जा सकती है अन्यथा राजा सिद्धार्थ को राजा चेटक का ही घरजमाई जैसा स्वीकार करना पड़ेगा और फिर महावीर यदि वैशाली के युवराज कहे जाएंगे तो आगम

में वर्णित राजा चेटक के दस पुत्र किसकी सत्ता के स्वामी कहलायेंगे? एक वास्तविक कुण्डलपुर को छोड़ने से इस प्रकार के अनेक विचारणीय प्रश्न सहज ही उभर जाते हैं अतः भलाई इसी में है कि हम सभी मिलकर प्राचीन कुण्डलपुर नगरी को ही अपने आराध्य महावीर की जन्मभूमि मानें, उसी का विकास करें और वैशाली को भी महावीर के स्मारक के रूप में यदि सरकार विकसित करना चाहती है तो वहां स्मारक बनाएं, शैक्षणिक संस्थान आदि चलाएं, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

कुण्डलपुर नहीं मानते हो तो पावापुरी भी जाने वाली है– वैशाली या वासुकुण्ड (कुण्डग्राम) को महावीर की जन्मभूमि मानने वाले लोग तो आधुनिक शोध और खोज के अनुसार बिहार शरीफ के निकट वाली पावापुरी नगरी को भी उनकी निर्वाणभूमि नहीं मानते हैं। डॉ. हीरालाल जी ने तो 'महावीर युग और जीवनदर्शन' के पृष्ठ ३० पर स्पष्ट लिखा है कि इन सब बातों पर विचार कर इतिहासकार इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि "जिस पावापुरी के समीप भगवान का निर्वाण हुआ था, वह यथार्थतः उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में व कुशीनगर के समीप वह पावा नामक ग्राम है जो आजकल सठियाँव (फाजिलनगर) कहलाता है और जहाँ बहुत से प्राचीन खण्डहर व भग्नावशेष पाये जाते हैं। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस स्थान को स्वीकार कर उसे भगवान महावीर की निर्वाणभूमि के योग्य तीर्थक्षेत्र बनाना चाहिए।"

किन्तु इनकी बात न मानकर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय के लोगों ने सरकार के साथ मिलकर बिहार शरीफ के निकट वाली पावापुरी का ही विकास किया है यह बात कहां तक उचित है? यदि उन लेखकों के आधार पर आप कुण्डलपुरी को छोड़ना चाहते हैं तो निःसंदेह ही आप इस पावापुरी का विकास न करके फाज़िलनगर के पास वाले पावाग्राम का विकास करें और वहीं प्रतिवर्ष दीपावली मनाकर महावीर निर्वाणोत्सव का कार्यक्रम करें। इन दोनों प्राचीन भूमियों का हम सभी दिगम्बर जैन समाज के लोग मिलकर सरकार की बिना मान्यता एवं सहयोग के भी विकास कर लेंगे लेकिन इन भूमियों को हम इनके सौभाग्य से वंचित नहीं होने देंगे और यदि पावापुरी को मानते हैं तो निश्चित रूप से प्राचीन कुण्डलपुर को भी जन्मभूमि मानें और शत प्रतिशत दिगम्बर जैन समाज की श्रद्धा के साथ खिलवाड़ न करें, अन्यथा पापबन्ध के साथ-साथ भावी इतिहास कभी आपको माफ नहीं कर पाएगा।

दिगम्बर जैन समाज के श्रद्धालु भक्तों के लिए यह सौभाग्य की बात है कि स्वामी अकलंकदेव, कुन्दकुन्दस्वामी, बज्रकुमार मुनि एवं समन्तभद्राचार्य के समान अपने धर्म और धर्मायतन की रक्षा करने में सक्षम वर्तमान काल की सरस्वती माता के रूप में मानी जाने वाली जिनधर्म प्रभाविका पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने स्वयं महावीर स्वामी की वास्तविक जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) के विकास का संकल्प लेकर सम्पूर्ण समाज पर महान उपकार किया है। यही कारण है कि ५० वर्षों से उपेक्षित वह कुण्डलपुर तीर्थ अब विकास के चरमशिखर पर पहुँचकर २६०० वर्षों पूर्व के इतिहास को साकार कर रहा है।

महावीर की पहचान कुण्डलपुर से करें न कि वैशाली से

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जैनरामायण पद्मपराुण की निम्न पंक्तियां वर्तमान के संदर्भ में अक्षरशः सार्थक सिद्ध हो रही हैं-

आचाराणां विघातेन, कुदृष्टीनां च सम्पदा। धर्मग्लानिपरिप्राप्तमुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमाः।।

अर्थात् जब-जब धरती पर सदाचार नष्ट होने लगता है, सच्ची शास्त्रीय दृष्टि निराधार विषयों से बदलने लगती है, धर्म हानि को प्राप्त होने लगता है, तब-तब कोई न कोई जिनोत्तम अथवा जिनमार्ग के पोषक महापुरुष इस धरती पर अवतरित होते हैं अर्थात् हमेशा इस देश में बलि के साथ विष्णुकुमार, रावण के साथ राम, सूर्पणखा के साथ सीता, कंस के साथ कृष्ण जैसी महान आत्माओं ने जन्म लेकर अधर्म और अत्याचार पर धर्म और सदाचार की विजयपताका फहराई है।

वर्तमान कलियुग में भी जैनसंस्कृति के पतन और उत्थान दोनों का मिश्रितरूप चल रहा है। जब संस्कृति से अज्ञात आधुनिक इतिहासवेत्ता मनमानी शोध करने में अपनी अहं भूमिका निभा रहे हैं तब क्यों न हम अपने प्राचीन इतिहास का अवलोकन कर अपनी धरोहरों पर कुठाराघात होने से उन्हें बचाने एवं संरक्षण करने में अपना सर्वस्व न्योछावर कर दें? एक प्राचीन विद्वान ने कहा है कि—

"इतिहास के सृष्टा तो चले गए, पर सृष्ट इतिहास को एकत्र करने वाले भी उत्पन्न नहीं होते। अपनी ही मिट्टी में अपने रत्न दबे पड़े हैं, उनको हमने अपने पैरों से रौंदा और उनको चुनने के लिए समुद्र के उस पार से टॉड, फार्ब्स, ग्रोस, कनिंघम आदि आए। वे इतिहास गवेषणा के लिए नियुक्त नहीं हुए थे परन्तु वे अपने राजकीय कार्य के बाद अवकाश के समय यहां की प्रेमगाथाएं व शौर्यकथाओं से प्रभावित हुए। इनका स्वर उनके कानों में पड़ा और उसी प्रकार ने उनके हृदय में शोधक बुद्धि उत्पन्न कर दी।" श्री सत्यकेतुविद्यालंकार ने "भारत का इतिहास" नामक पुस्तक के पृ. ५०६ पर इतिहास का लक्षण लिखा है-

इतिहास प्रदीपेन, मोहावरण घातिना। सर्वलोक धृतं गर्भ, यथावत्संप्रकाशयेत्।।

अर्थात् इतिहास एक ऐसे दीपक के समान है जो मोहरुपी अर्थात् भ्रमरूपी अंधकार को नष्ट करता है जिसका प्रयोजन यह है कि संसार की घटनाओं की आधारभूत बातों व तथ्यों पर सही-सही रूप से प्रकाश डाला जाए। दीपक द्वारा काली वस्तु काली दिखाई देती है और सफेद वस्तु सफेद वह किसी से पक्षपात नहीं करता। इतिहास का भी यही प्रयोजन है।

महावीर के शासन में जन्म लेने वाले महावीर के भक्तों!

इतिहास का लक्षण बताने वाली ये प्राचीन पंक्तियां आज केवल इतिहास की ही धरोहर बन गई हैं, इन पर अमल करने वाले वर्तमान में कोई इतिहासकार शायद शेष नहीं रहे हैं इसलिए आज का इतिहास

भारत सरकार की बदलती राजनीतियों से जुड़कर इतिहासलेखकों की धर्मविद्रोही नीतियों का परिचयमात्र प्रदान करने वाला रह गया है। इन दूषित इतिहासों को पढ़ने से क्षुभित होकर ही एक लेखक ने पत्रिका के सम्पादकीय में लिखा है—

"प्रागैतिहासिक काल में हुए आदि तीर्थंकर ऋषभदेव, राम, कृष्ण आदि की जन्मभूमि के संबंध में जहां कोई मतभेद नहीं है वहीं ऐतिहासिक युग में हुए भगवान महावीर की जन्मभूमि का सर्वमान्य निर्णय न हो पाना आश्चर्यजनक है।

किसी नीतिकार ने कहा है कि—

स्वजातिपूर्वजानां तु, यो न जानाति सम्भवम्। स भवेत् पुश्चलीपुत्र, सदृशः पुत्रवेदकः।।

अर्थ—अपने पूर्वजों के विषय में जो जानकारी नहीं रखता वह उस कुलटा पुत्र के समान है जिसे अपने पिता के विषय में पता नहीं अर्थात् अतीत ही वर्तमान का सांस्कृतिक आधार है और इस अतीत को न जानने वाला अपनी सनातन निधि के परिज्ञान बिना निराधार सदृश है।

जिन तीर्थंकर भगवन्तों की दिव्यदेशना से वर्तमान में जैनशासन विद्यमान है, उनके जीवन का परिज्ञान रखना हमारा परम पुनीत कर्तव्य है। आज से २६०० वर्ष पूर्व जब चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर राजा सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला से जन्म लेने वाले थे तब इन्द्र ने कुण्डलपुर नगरी की भव्य रचना की थी। ६६ मील विस्तृत उस नगरी का वैभव मानो स्वर्गपुरी के समान ही शोभता था। तीर्थंकर भगवान महावीर के जन्म से वह नगरी सदैव-सदैव के लिए पूज्यनीय बन गई थी जो सौभाग्य से आज भी बिहार प्रदेश में नालन्दा के निकट विद्यमान है। यद्यपि काल के प्रभाव और समाज की सुप्तता ने उसका वैभव अपने आंचल में समेटकर हमारी आंखों से ओझल कर दिया है परन्तु उसकी पूज्यता निरंतन बनी रही है। सम्यग्ज्ञान के पिछले अंकों में कई प्राचीन आगम प्रमाणों द्वारा मैंने कुण्डलपुर का भगवान महावीर जन्मभूमि के रूप में दिग्दर्शन कराया है जिसके मूल में विडम्बना छिपी है और वह है कुछ आधुनिक शोधों के आधार से वैशाली को भगवान महावीर की जन्मभूमि कहने का दुष्प्रयास करना।

यह कलियुग की बेबुनियादी शोध का ही प्रभाव मानना पड़ेगा कि महावीर की वास्तविक जन्मभूमि होते हुए भी उसके निराधार विकल्प हमारे समक्ष आ रहे हैं। कुछ ऐसे तथ्यों की ओर सुधी पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहती हूं जो निरन्तर शोध की प्रक्रिया में मेरे सामने उजागर हुए हैं।

पं. बलभद्र जैन द्वारा लिखित "भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ-महाराष्ट्र" में पृष्ठ २०३ पर गजपन्था क्षेत्र की अवस्थिति के विषय में लिखा है—कुछ विद्वान वर्तमान गजपंथा क्षेत्र को वास्तविक न मानकर आधुनिक खोज मानते हैं उनका तर्क है कि इस क्षेत्र पर न तो कोई प्राचीन मंदिर है और न पुरातत्व ही, किन्तु प्राचीन साहित्य में कुछ प्रसंग या स्थल ऐसे भी प्राप्त होते हैं जिनसे इस बात का निर्णय हो जाता है कि यह क्षेत्र कहां पर अवस्थित था। असगकवि कृत "शान्तिनाथ चरित" में एक प्रसंग है—अमिततेज और श्रीविजय ने अपनी

विशाल वाहिनी को लेकर अशनिवेगविद्याधर का पीछा किया तब वह अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर भाग खड़ा हुआ और नासिक्य नगर के बाहर गजध्वजपर्वत पर जा पहुंचा। उल्लेख इस प्रकार है—

"उर्जयन्त-शत्रुंजय--------नासिक्यनगरसमीपवर्ति
गजध्वजगजपंथ-सिद्धकूट------- तीर्थंकरपंचकल्याणस्थानानि।"

उपर्युक्त उल्लेख में "नासिक्यसमीपवर्ती गजध्वज गजपंथ" नाम देकर सारी शंकाओं का समाधान कर दिया है इसका अर्थ यह ही है कि गजपंथ नासिक नगर के समीप था और उसका अपरनाम "गजध्वज" भी था। वर्तमान में भी गजपन्था क्षेत्र नासिक शहर से केवल ६ किमी. दूर है।

यहां पर इस उदाहरण को लेने का तात्पर्य यही है कि जब-जब आधुनिक इतिहासकार एवं शोधकर्ताओं ने किसी वास्तविकता पर प्रश्नचिन्ह लगाया तब-तब अपने-अपने प्राचीन दिगम्बर जैन आगमग्रन्थों के आधार से ही निर्णय हुए हैं अन्यथा प्रत्येक तीर्थ एवं धर्म की बातें विवाद की कोटि में आ जाएंगी।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा प्रकाशित "श्रमण" पत्रिका अप्रैल-सितम्बर २००१ जन्मभूमि के संदर्भ में कुछ और अधिक प्रकाश डाल रही है।

इस पत्रिका में प्रकाशित लेख "वैशाली-आचार्य विजयेन्द्रसूरि" पृष्ठ २०-४६ द्वारा यह स्पष्ट है कि वास्तव में श्वेताम्बर परम्परा द्वारा प्रारंभ में वैशाली को भगवान महावीर की जन्मभूमि माना गया है और दिगम्बर जैन सम्प्रदाय नालन्दा के निकट कुण्डलपुर को महावीर की जन्मभूमि मानता है।

यहां पर विशेष विचारणीय तथ्य यह है कि इसी पत्रिका में प्रकाशित दूसरे आलेख "महावीर के जन्मस्थान पर नया प्रकाश " पृष्ठ ५०—५४ में पुरातत्व विभाग, बिहार के निदेशक श्री अजय कुमार सिन्हा ने विभिन्न भूगर्भीय, भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा भाषायी साक्ष्यों के आधार से वैशाली का भगवान महावीर की जन्मभूमि के रूप में पूर्णतया विरोध किया है। वह लिखते हैं कि भगवान महावीर यदि वैशाली से संबंधित होते तो उनकी भाषा वैगई होती उन्होंने यह भी लिखा है कि कोई प्राचीन जैन भग्नावशेष वैशाली के निकट प्राप्त नहीं हुआ है जिससे उनकी जन्मभूमि का तथ्य सामने आ सके-----इत्यादि।

पुरातत्व सम्बधी **Directory of Bihar Archaeology by B.P. Sinha** का मैंने अवलोकन किया। उसमें पृष्ठ २२३ पर वैशाली के संदर्भ में लिखा है-

"It is still more significant that Vaishali known as the birth place of Mahavira Kundgrama and also as the place which Mahavira visited several times has not yided nany clear Jaina antiquity. Nor the various sites of Yaksha worship; Sarandada; Capala; Vdena; Bahupujiya and the last visited by Mahavira have been indentified. Even Vasukunda believed to be the birthplace of Mahavira has not been excavate.....while Vasukunda has not7 been touched by archaeologist's spade. Thus even Vaishali needs further excavation."

अर्थात् " यह और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि वैशाली जिसे महावीर की जन्मभूमि-कुण्डग्राम कहा जाता है और जहां महावीर कई बार गए वहां से कोई स्पष्ट प्राचीन जैन अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं---यहां तक कि वासोकुण्ड, जिसे महावीर का जन्मस्थान माना जाता है, की भी खुदाई की गई है-----जबकि वासोकुण्ड को पुरातत्वशास्त्रियों द्वारा स्पर्श भी नहीं किया गया है। इस प्रकार वैशाली में भी आगे खुदाई किये जाने की आवश्कयता है।" सार यह है कि पुरातत्व एवं प्राचीन भग्नावशेषों के आधार पर वैशाली की स्थिति भगवान महावीर की जन्मभूमि के रूप में तो कभी सुदृढ़ हो ही नहीं सकती बल्कि यह वैशाली भी वास्तविक वैशाली नहीं है क्योंकि सन् १९५० से १९६० के मध्य उस नगर का नाम "बसाढ़" था और कुछ लोगों ने मिलकर उसका नाम "वैशाली" रख दिया। इस तरह से तो राजधानी दिल्ली में भी एक कॉलोनी का नाम है "वैशाली", वहीं पर निकट में "कौशाम्बी" नामक एक विशाल कॉलोनी है किन्तु ये सभी स्थल महावीर से कोई संबंध नहीं रखते, उसी प्रकार प्राचीन बसाढ़ आज की वैशाली भी केवल नाम बदल देने से महावीर की ननिहाल नहीं हो सकती है। शास्त्रों में वर्णित वैशाली सिन्धुदेश में मानी गई है और कुण्डलपुर नगरी विदेहदेश में कही है। विदेहदेश तो वर्तमान का बिहार प्रदेश है तो वहां सिन्धुदेश हो ही नहीं सकता है अतः अभी तो सिन्धुदेश की असली "वैशाली" नगरी की खोज होनी चाहिए एवं ५० वर्ष से स्थापित वैशाली को प्राचीन नाम "बसाढ़" के रूप में ही माननी चाहिए।

इसी **Directory of Bihar Archaeology** का अवलोकन करने पर मैंने देखा कि पृष्ठ २६४ पर लिखा है-

Besides being located in Basukunda-Vaishali; Kundalpur-baragaon near Nalanda is the considered belief of Digamber Jainas as Mahavira's birthplace while many Svetamvara Jains take Lacchuar; near the Lakhisarai railway station as his birthplace-

अर्थात्-नालन्दा के निकट कुण्डलपुर-बड़गांव दिगम्बरजैनों की मान्यतानुसार महावीर की जन्मभूमि है--।।

The site earlier was known as baragaon; which is even today a village adjacent to Nalanda ruins and formed a part of Nalanda complex; who according to Buchanan belonged to he dynasty of the Andhras wo began their rule 80 years after christ and continued for 200 years. But Jains priests told Buchanan that the site represents the residence of Raja Shrenik and his oncesores; who preceded the establishment of the Andhra dynasty here and lived about six or seven centrues earlier.

----अर्थात् नालन्दा के निकट बड़गांव-कुण्डलपुर को "बुकनैन" के अनुसार Andhra dynasty के "मग" राजा द्वारा स्थापित माना गया है। इस **dynasty** का शासनकाल ईसा के ८० वर्ष बाद प्रारंभ होकर २०० वर्ष तक चला परन्तु जैन पुजारियों ने "बुकनैन" को बताया कि इस स्थान पर वास्तव में राजा

श्रेणिक और उनके संबंधियों का निवास था जो **Andhra dynasty** के पूर्ववर्ती थे और उनसे छह या सात शताब्दी पूर्व हुए थे।"

पुरातत्व की इन पंक्तियों से कुण्डलपुर की जो पहचान नालन्दा और बड़गांव की निकटता से हुई है वही प्रामाणिकता "दिगम्बर जैन पुस्तकालय" श्रीमहावीरजी-राज. से दिस. सन् १९६२, वी.नि.सं. २४८६ में प्रकाशित "वृहद् महावीर कीर्तिन" के पृष्ठ ६०४ पर निम्न पंक्तियों के द्वारा तीर्थयात्रियों को सूचना दी जाती रही है।

कुण्डलपुर —

यहां का स्टेशन बड़गांव है। इस दर्शनीय स्थल पर जमीन के अंदर एक विशाल नगरी और जैनमूर्तियां निकली हैं। एक विशाल भवन बौद्धधर्म का भी निकला है। इसके संबंध में कहा जाता है कि यह नालन्दा विश्वविद्यालय और छात्रालय है। दिगम्बरी धर्मशाला में एक मंदिर है जिसमें महावीर स्वामी की प्रतिमा बड़ी सुन्दर है। यह महावीर स्वामी का जन्मस्थान है। बड़गांव स्टेशन वापस आकर राजगृही की टिकट लें।

इन पंक्तियों से एकदम स्पष्ट हो जाता है कि सभी लोग ईसा से छह-सात शताब्दी पूर्व से नालन्दा के निकट कुण्डलपुर को ही महावीर का जन्म और निवासस्थल मानते हैं।

जहां तक पर्यटन विभाग का प्रश्न है- बिहार सरकार के पर्यटन विभाग द्वारा प्रकाशित फोल्डर राजगिर में Kundalpur को दिगम्बर जैन मान्यतानुसार भगवान महावीर की जन्मभूमि लिखा गया है।

Kundalpur—

The Digamber Sect of the Jains Believes that Lord Mahavir was born at Kundalpur, 18 Km. From Rajgir. A Jain Temple and two lotus lakes- the Dirga Pushkarni and Pandava Pushkarni mark the spot.

बिहार से प्रकाशित "सप्ततीर्थ दर्शन" नामक रंगीन चित्र वाली पुस्तक में भी 'कुण्डलपुर' और 'लिछवाड़' इन दो जन्मभूमियों के चित्र प्रकाशित हैं जिसमें से कुण्डलपुर दिगम्बर जैनों के अनुसार और लिछवाड़ श्वेताम्बर जैनों के अनुसार महावीर जन्मभूमि है।

लालचन्द एण्ड संस, दरियागंज-दिल्ली द्वारा प्रकाशित "बिहार तथा झारखण्ड के प्रमुख जैन तीर्थ" में पृष्ठ ४७ पर वैशाली-कुण्डग्राम के लिए लिखा है कि "उत्तराध्ययन सूत्र, भगवती सूत्र आचारांग सूत्र आदि से यह सिद्ध होता है कि विदेहक्षेत्र में स्थित कुण्डग्राम-वैशाली भगवान महावीर का जन्म स्थल है। इसी कारण भगवान महावीर को विदेह, विदेहदन्त, विदेहसुकुमार और वैशालिक भी कहा गया है।

स्पष्ट है कि ये मान्यताएं श्वेताम्बर ग्रंथों पर ही आधारित हैं एक भी दिगम्बर जैन आगमग्रन्थ वैशाली का समर्थन महावीर जन्मभूमि के रूप में नहीं करता। वर्तमान की वास्तविकता यह है कि वैशाली को छोड़कर अब श्वेताम्बर समाज 'लिछवाड़' का जन्मभूमि के रूप में समर्थन कर रहा है। इसलिए वैशाली और लिछवाड़ तो श्वेताम्बर मान्यतानुसार जन्मभूमियां हुईं तथा दिगम्बर मान्यतानुसार तो एकमात्र जन्मभूमि कुण्डलपुर-नालन्दा

ही है। इसलिए कुण्डलपुर के विकास में ही भारत के सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज को अपने तन-मन-धन को समर्पित करना चाहिए और इतिहासकारों की बातों में आकर कदापि दिग्भ्रमित नहीं होना चाहिए।

उपरोक्त पुस्तक में पृष्ठ ३२ पर श्वेताम्बर परम्परानुसार ही भगवान महावीर स्वामी के गणधर इन्द्रभूति, अग्निभूति व वायुभूति का जन्म कुण्डलपुर-नालंदा में माना है जबकि दिगम्बर जैनागम के अनुसार गौतम गणधर का कुण्डलपुर से कोई संबंध ही नहीं है वह तो ब्राह्मण नामक एक गांव में जन्मे थे। तात्पर्य यही है कि हमें वास्तविकता का निर्णय करने के लिए दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों के आइने में देखना होगा अन्यथा हमारी मान्यताएं बौद्ध एवं श्वेताम्बर आम्नाय को ही पुष्ट करेंगी और दिगम्बर जैन समाज की समस्त सांस्कृतिक धरोहरें एक दिन विनाश के कगार पर पहुँच जाएंगी।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक समझ रही हूँ- श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ संरक्षिणी महासभा-लखनऊ द्वारा प्रकाशित "अंगकोर के पंचमेरु मंदिर" पुस्तक के पृष्ठ ४६ पर एक सारणी दी गई है जिसके अनुसार अधिकतर तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमियों को अन्य देशों में अवस्थित माना गया है—

वर्तमान तीर्थंकरों के जन्म नगरों से मिलते-जुलते नाम जो दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में पाए जाते हैं-

क्र.स.	तीर्थंकर नाम	जन्मनगरी	देश का नाम जहां यह नगर अवस्थित है
१.	ऋषभनाथ	अयोध्या	थाईलैंड
२.	अजितनाथ	अयोध्या	थाईलैंड
३.	अभिनंदनाथ	अयोध्या	थाईलैंड
४.	सुमतिनाथ	अयोध्या	थाईलैंड
५.	चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	थाईलैंड
६.	श्रेयांसनाथ	सिंहपुर	थाईलैंड
७.	वासुपूज्य	चम्पा	दक्षिण वियतनाम व बर्मा
८.	अनन्तनाथ	अयोध्या	थाईलैंड
९.	धर्मनाथ	रत्नपुर	कम्बोडिया
१०.	शांतिनाथ	हस्तिनागपुर	बर्मा
११.	कुंथुनाथ	हस्तिनागपुर	बर्मा
१२.	अरनाथ	हस्तिनागपुर	बर्मा
१३.	नमिनाथ	विदेह दक्षिण	चीन
१४.	वर्धमान	कुण्डलपुर	विदेह का १०वां नगर

यहां विचारणीय बात यह है कि क्या आधुनिक शोध के आधार पर अयोध्या को थाईलैंड में, रत्नपुर

को कम्बोडिया में, चम्पापुर को वियतनाम में और हस्तिनापुर को वर्मा में मानना चाहिए और इन तीर्थों की यात्रा करने सभी को विदेह में ही जाना चाहिए तथा भारत के सभी तीर्थंकरों की जन्मभूमियों को तिलांजलि दे देना चाहिए? इसी पुस्तक में पृष्ठ ४८ पर लेखक ने लिखा है कि —"मैं तो समस्त मुनियों को विनम्र यही प्रस्ताव देना चाहूंगा कि एक बार सिर्फ एक दिन के लिए नियम तोड़कर वायुयान में बैठकर इन मंदिरों के दर्शन अवश्य करें। अगर मुनिसंघ इस भ्रमण के लिए स्वीकृति दें तो कम्बोडिया सरकार से बातचीत की जा सकती है।"

इस पुस्तक के लेखक से मेरा प्रश्न यह है कि क्या करोड़ों-अरबों रुपये देकर भी अयोध्या के कारसेवकों को भगवान राम की जन्मभूमि थाईलैंड में मानने के लिए राजी किया जा सकता है? जरा हिन्दू समाज को एक बार यह कहकर तो देखें? वर्तमान में किया जा रहा शोध तो अपनी माता पर ही प्रश्नचिन्ह लगाए दे रहा है अतः ऐसे शोधकर्ताओं से तो सावधान रहना ही अच्छा है अन्यथा हमें न जाने क्या-क्या खोना पड़ेगा?

अंत में यही कहना है कि जि. नालंदा-बिहार कुण्डलपुर ही भगवान महावीर की वास्तविक जन्मभूमि है। समस्त दिगम्बर जैन आगम ग्रंथों, प्राचीन मान्यताओं इत्यादि के अनुसार दिगम्बर जैन समाज को यदि भगवान महावीर जन्मभूमि को सम्मान प्रदान करना है तो वह कुण्डलपुर-नालंदा को करना है। आधुनिक शोधों पर जाएंगे तो शाश्वत सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखर को पुरलिया-पं. बंगाल में और अहिच्छत्र को बिजौलिया-राजस्थान में मानना पड़ेगा क्योंकि श्वेताम्बर ग्रंथों, बौद्ध प्रमाणों एवं आधुनिक खोजों के आधार पर ही वैशाली को जन्मभूमि बताया जा रहा है।

अंत में समस्त दिगम्बर जैन समाज से मेरी यह प्रेरणा है कि कहीं भी आप महावीर जन्मस्थली कुण्डलपुर के साथ वैशाली का उल्लेख न करें क्योंकि वह भगवान की ननिहाल थी। कुण्डग्राम, क्षत्रियकुण्ड, वासोकुण्ड इत्यादि नामों के स्थान पर एकमात्र कुण्डलपुर ही प्रयुक्त करें। न ही भगवान महावीर को वैशालिक, विदेहदन्त, विदेहसुकुमार, नाथपुत्र, णिगण्ठपुत्त आदि लिखें वरन् उनके वीर, वर्धमान, महावीर अतिवीर और सन्मति ये पांच नाम ही दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य हैं इनके अतिरिक्त सिद्धार्थपुत्र, त्रिशलानन्दन एवं नाथवंशी विशेषण भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं। आप अपनी प्राचीन परम्परा का अनुकरण करें और जैनधर्म की शाश्वत सत्ता के संवर्धन में सहयोगी बनें।

वैशाली भी तो असली वैशाली नहीं है

पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर

जैनशास्त्रों के अनुसार सिन्धुदेश में "वैशाली" नगरी का वर्णन आता है। वहां राजा केक के पुत्र "चेटक" राज्य करते थे। श्री गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण ग्रंथ में लिखा है—

"सुरलोकादभूः सोमवंशे त्वं चेटको नृपः।"

अर्थात् स्वर्गलोक से आकर वैशाली के "सोमवंश" में राजा चेटक ने जन्म लिया था। उन्हीं की सात पुत्रियों में से सबसे बड़ी पुत्री "त्रिशला" का विवाह विदेहदेश की कुण्डलपुर नगरी के राजा "सिद्धार्थ" के साथ हुआ था।

धर्मप्रेमी बन्धुओं! दिगम्बर जैन आगमग्रन्थों के अनुसार यह निश्चित है कि आज से छब्बिस सौ वर्ष पूर्व वैशाली और कुण्डलपुर दोनों ही नगरियां अत्यन्त समृद्ध और राजघरानों से पहचानी जाती थीं किन्तु २६ शताब्दियों के इस अंतराल के मध्य विश्व के समस्त देश और प्रदेशों में बड़े-बड़े परिवर्तन आए जिससे बड़े-बड़े देश आज छोटे-छोटे प्रदेश के रूप में परिवर्तित हो गए। इन परिवर्तनों के बावजूद भी इन्द्र के द्वारा बसाई गई कुछ नगरियां जैसे—अयोध्या, सम्मेदशिखर, बनारस, हस्तिनापुर, श्रावस्ती आदि का अस्तित्व काल भी समाप्त नहीं कर पाया। यही कारण है कि हम सभी उन तीर्थभूमियों पर जाकर तीर्थंकरों के कल्याणक की वन्दना करते हैं।

यहां हमें "वैशाली" के विषय पर सूक्ष्मता से अवलोकन करना है कि जिस विदेहदेश में कुण्डलपुर नगरी का अस्तित्व बताया गया है वह तो बिहार प्रान्त के नाम से जाना जाता है किन्तु सिन्धुदेश की खोज आज तक नहीं हो सकी है। एक ही बिहारप्रान्त में विदेह और सिन्धु दोनों देशों की कल्पना कदापि उचित प्रतीत नहीं होती है।

कुछ आधुनिक विद्वानों ने सिन्धुदेश की जगह सिन्धु नदी का संबंध जोड़कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बिहार में मुजफ्फरपुर के पास वैशाली नगर होना चाहिए। कुछ शोधकर्ता विद्वानों ने—डॉ. हीरालाल एवं ए.एन. उपाध्ये ने स्वयं यह बात लिखी है कि "अनेक प्राचीन नगरों के साथ इस वैशाली का दीर्घकालीन इतिहासज्ञों को अता-पता ही नहीं था किन्तु विगत एक शताब्दी के मध्य शोध-खोज के आधार पर मुजफ्फरपुर के पास "बसाढ़" नामक ग्राम को "वैशाली" नाम दे दिया गया है।

इससे सिद्ध होता है कि समय-समय पर ग्राम, नगर, शहर, उद्यान एवं शिक्षणसंस्थान आदि के नामकरण एवं नाम परिवर्तन की परम्परा पुरानी रही है। उसी क्रम में जिस प्रकार दिल्ली के निकट वैशाली,

कौशाम्बी नामकी बहुत बड़ी-बड़ी कॉलोनियों पिछले एक दशक में निर्मित हुई हैं उसी प्रकार लगभग ५० वर्ष पूर्व बिहारप्रदेश में "वैशाली" नामक उपनगर की स्थापना हुई है। इसको छब्बीस सौ वर्ष पूर्व की ऐतिहासिक वैशाली नगरी न कहकर वर्तमान की वैशाली ही मानना चाहिए। यहां पर यह भी कहना अनुचित न होगा कि यदि हमें वैशाली का उन्नतरूप वर्तमान में दर्शाना ही है तो राजधानी दिल्ली वाली वैशाली कॉलोनी में वह महावीरकालीन रूपक दर्शाना चाहिए क्योंकि वह कॉलोनी जमना नदी के पार होने से नदी की निकटता भी वहां प्राप्त हो रही है। शोध और खोजकर्ताओं को अब अविलम्ब दिल्ली की इसी वैशाली का पुनरुत्थान करने की सलाह जैनसमाज के लिए देना चाहिए, राजधानी की निकटता इसे शीघ्र ही गगनचुम्बी ख्याति प्राप्त कराने में सहायक बनेगी और जैन समाज के इशारे पर भारतसरकार भी बिहारप्रान्त की अपेक्षा दिल्ली में अधिक आर्थिक सहयोग और मान्यता प्रदान करेगी।

कब जागेगी जैन समाज?

समाज के प्रबुद्ध नागरिकों! जैनशासन की अस्मिता को बचाने हेतु अब सभी को सचेत होना आवश्यक है वरना आप मंदिर में पूजा-पाठ करते रहेंगे और बाहरी संसार में अनादि जैनशासन पर निरन्तर कुठाराघात होकर एक दिन मरणासन्न देखने को मजबूर होना पड़ेगा। यूं तो धर्म की व्याख्या इतनी व्यापक है कि तीनों लोकों का सम्पूर्ण सुख उसमें समा जाने की क्षमता है तथापि काल के थपेड़ों में पड़कर जब-जब धर्म का ह्रास हुआ है तब-तब किसी न किसी महापुरुष ने जन्म लेकर उसका पुनरुद्धार किया है। तभी सतयुग से लेकर वर्तमान के कलियुग तक भारत की धरती पर जैनधर्म का और उसके सिद्धान्तों का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है किन्तु ईसवी सन् की बीसवीं सदी के इतिहासकारों ने इस धर्म के प्रति एवं इसे प्रवर्तित करने वाले तीर्थंकर महापुरुषों के प्रति अपनी लेखनी के द्वारा जिस प्रकार अनभिज्ञता एवं द्वेषभाव का परिचय दिया है वह अब सहन करना अपने जैनत्व पर प्रश्नचिन्ह लगाना है।

विद्वत्शिरोमणि पं. प्रवर श्री सुमेरुचंद जैन दिवाकर ने उस समय भी चल रही अनर्गल शोधपरम्परा से दुखी होकर ही शायद "जैनशासन" जो कि सन् १९४७ तथा १९५० में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा एवं सन् १९९८ में प्राच्यश्रमणभारती- मुजफ्फनगर द्वारा प्रकाशित है, के पृ. २२२-२२३ पर लिखा है-

"भगवान महावीर के जीवन का इतिहास और उनके त्याग की अमर कहानी बिहारप्रान्त के पावापुर ग्राम में विद्यमान सरोवरस्थ धवल जिनमंदिर में मिलती है। भगवान महावीर ने ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व कुण्डलपुर में क्षत्रियशिरोमणि महाराजा सिद्धार्थ के यहां माता त्रिशला के उदर से जन्म लिया था। वे नाथवंश के भूषण थे। संसार के भोगों में उनका विवेकपूर्ण मन न लगा अतः बालब्रह्मचारी रहकर उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारणकर १२ वर्ष तपश्चर्या कर ४२ वर्ष की अवस्था में कैवल्य प्राप्त किया और विश्वहितंकर धर्म का उपदेश ३० वर्ष तक देकर ७२ वर्ष की अवस्था में परमनिर्वाण—मुक्ति

प्राप्त की। प्रभु के चारित्र को विकृत करते हुए श्री शं.रा. राजवाड़े ने नादसीय सूक्त के भाष्य-पूर्वार्ध में पृ. १८६ पर भगवान के नाथवंश को नटवंश मान उन्हें नटपुत्र कहने की असत् चेष्टा की है और लिखा है—गौतम व महावीर हे दीघे क्षत्रिय व्रात्य होते, कारण महावीरा 'नातपुत्त' म्हटला आहे व गौतमाचा जन्म लिच्छवी कुलांत झाला आहे। नातपुत्त-नटपुत्त नट व लिच्छवी ही दोन्हीं कुलें मनूनें व्रात्य-क्षत्रिय म्हणून उल्लेखिलीं आहेत।

खेद है कि अपने सम्प्रदाय के मोहवश मनुष्य सत्य का अपलाप करते हुए लज्जित नहीं होता। हरिवंशपुराण में भगवान के पिता महाराज सिद्धार्थ को प्रतापी भूप बताया है—

"सिद्धार्थो भवदर्कांभो भूपः सिद्धार्थपौरुषः"। सर्ग २-१३

वास्तव में ऐसे आगमनिष्ठ विद्वानों के द्वारा रचित शास्त्रों से ही हमें अपनी असली विरासत और निराधार आगमविरुद्ध शोध-खोज की पोलें ज्ञात हो सकती हैं इसके विपरीत जिन विद्वानों ने किसी संस्थाविशेष या श्रेष्ठी आदि की मनोभावनापूर्ति हेतु लेखन किया है उनकी रचनाओं में स्पष्ट दुराग्रह और आगमविरुद्धता के स्वर गुंजते नजर आते हैं।

आखिर वास्तविकता कभी न कभी तो सामने आती ही है—

बन्धुवर! आपको कुछ वास्तविक तथ्यों से परिचित होना परम आवश्यक है। हमने पिछले कई वर्ष और महीनों से जब-जब वैशाली से जुड़े विद्वानों से वार्तालाप किया तो उन लोगों से भी यही तथ्य सुना कि हम "महावीर को वैशाली के राजकुमार" के रूप में कभी स्वीकार नहीं कर सकते हैं। उनका कहना है कि वैशाली बिल्कुल अलग स्थान है और वहां से ३ किमी. दूर मुजफ्फरपुर जिले के एक ग्राम को महावीर की जन्मभूमि बनाया गया है जिसे वासोकुण्ड या कुण्डग्राम के नाम से जाना जा रहा है। पहली बात तो इसमें चिन्तन करने की यह है कि सदियों की परम्परानुसार जब "कुण्डलपुर" नालंदा-बिहार महावीर जन्मभूमि के रूप में जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र था तो दूसरे स्थान को ढूंढ़ने की आवश्यकता क्यों पड़ी? उस पवित्रस्थल के प्रति शंका के चिन्ह क्यों उभरे? क्या उससे पहले सन् १९५६ के दशक से पूर्व के लोग पूर्णअज्ञानी थे, उन्हें आगम का ज्ञान नहीं था? दूसरी बात यह है कि जब वैशाली ढूंढी गई तो उसे महावीर की जन्मभूमि क्यों कहा गया? जबकि महावीर के साथ "कुण्डलपुर अवतारी" विशेषण जुड़ा रहा है और वैशाली माता त्रिशला की जन्मभूमि के रूप में पहचानी जाती रही है।

इस स्थिति में यदि शोधकर्ताओं के अनुसार नाम देना ही था तो खुले रूप में उसका नाम मात्र "कुण्डलपुर" रखा जाता और वैशाली किसी दूसरे प्रदेश में बसाई जाती तब तो शायद कुछ श्रद्धा भी वहां के लिए उमड़ती। आप स्वयं सोचें कि सिन्धुदेश और विदेहदेश क्या मात्र दो-तीन किलोमीटर के अंतराल पर रह सकते हैं? वह तो वास्तविक जन्मभूमि कुण्डलपुर से लगभग १५० किमी. दूर महावीर की ननिहाल

के रूप में फिर भी स्वीकार किया जा सकता है वह भी उसी प्रकार से जैसे वर्तमान में भारत के अन्दर ऋषभदेव भगवान की निर्वाणभूमि कैलाशपर्वत उपलब्ध न होने से बद्रीनाथ के पर्वत पर एक संस्थाविशेष द्वारा "अष्टापद" नाम से एक नया तीर्थ पिछले कुछ वर्षों पूर्व से बना दिया है जहां श्रद्धालु यथाशक्ति दर्शन करने पहुंचते हैं।

वैशाली में राजा चेटक के दस पुत्रों का आधिपत्य था, न कि राजा सिद्धार्थ या युवराज महावीर का। इस बात की पुष्टि प्राकृतविद्या अक्टूबर-दिसम्बर २००१ के पृष्ठ ३० पर प्रकाशित स्व. पं. बलभद्र जैन के लेख "भगवान महावीर" से भी हो रही है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने एक ओर प्रारंभ का शीर्षक ही दिया है—"महावीर की जन्मनगरी वैशाली"। इसके अंदर सभी बौद्ध एवं श्वेताम्बर तथ्यों के आधार पर उन्होंने वैशाली में महावीर का जन्म घोषित किया है पुनः आगे चलकर उसी लेख में पृ. ३४ पर महासती चंदना द्वारा कौशाम्बी में भगवान महावीर को आहार देकर अपनी बहन मृगावती से मिलन के पश्चात् माता-पिता तक पहुंचने का वर्णन करते हुए लेखक ने दिगम्बर जैन ग्रंथों का अनुसरण करते हुए लिखा है—

"वहां से उसका भाई सिंहभद्र वैशाली ले गया किन्तु चन्दना को इस अल्पवय में ही संसार का कटु अनुभव हुआ था जिसके कारण उसे संसार से निर्वेद हो गया—अपनी योग्यता के बल पर ३६००० आर्यिकाओं के संघ की गणिनीपद पर प्रतिष्ठित हुई।"

इस सत्यता को ही स्वीकार कर लेने से महावीर की जन्मभूमि वैशाली भला कैसे हो सकती है? जिस वैशाली में त्रिशला, चंदना आदि सातों बहनों के और सिंहभद्र आदि दस भाइयों के जन्म हुए उसी वैशाली में अर्थात् ननिहाल में महावीर का जन्म होना कदापि संभव नहीं है क्योंकि माता त्रिशला ने अपनी ससुराल कुण्डलपुर के नंद्यावर्त महल में ही तीर्थंकर बालक को जन्म दिया था और वहीं उनके आंगन में पन्द्रह महिने तक रत्नवृष्टि हुई थी। जन्म के पश्चात् महावीर अपने ननिहाल कई बार गए हों, उनका समवसरण वैशाली में जाता रहा हो, इसमें कोई विसंवाद की बात ही नहीं है। भारत में आए विदेशी यात्रियों के अनुसार बौद्धग्रंथ पोषित परम्परानुसार वैशाली में हजारों-हजार सोने, चांदी, तांबे के गुम्बद वाले महलों का वर्णन आप यदि सहज में स्वीकार कर सकते हैं तो आपको अपने प्राचीन आगम ग्रंथानुसार महावीर की असली जन्मभूमि कुण्डलपुर का देवोपुनीत वैभव भी अवश्य जानकर गौरव का अनुभव करना चाहिए। उत्तरपुराणग्रंथ में स्पष्ट वर्णन आया है कि—

नंद्यावर्तगृहे रत्नदीपिकाभिः प्रकाशिते। रत्नपर्यंकके हंसतिलकादिविभूषते।।२५४।। पृ. ४६०

अर्थ—सात खंड वाले राजमहल के भीतर रत्नमय दीपकों से प्रकाशित नंद्यावर्त नामक राजभवन में हंस-तूलिका आदि से सुशोभित रत्ननिर्मित पलंग पर रानी त्रिशला सो रही थीं अर्थात् तीर्थंकर भगवान महावीर की माता का तो शयन करने वाला पलंग ही स्वर्ण और रत्ननिर्मित था। रात-दिन स्वर्ग की देवियां

उनकी सेवा करती थीं साक्षात् इन्द्र और देवगण भगवान के समक्ष किंकर बने खड़े रहते थे, शचि इन्द्राणी स्वयं गुप्तवेश बनाकर माता की सेवा और रक्षा में संलग्न रहती थी तथा जिस नगरी में लगातार १५ महिनों तक प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की मोटी धारा स्वयं धनकुबेर आकर बरसाता था उस कुण्डलपुर नगरी की समृद्धता तो शब्दों में वर्णित भी नहीं की जा सकती है।

आज छब्बिस सौ वर्षों के बाद न तो कुण्डलपुर में वह वैभव दिखता है और न ही आज की स्थापित वैशाली-वसाढ़ में कुछ अवशेष दिखते हैं अतः वैशाली तो अब केवल खोज का विषय है और कुण्डलपुर अपने सौभाग्य को पुनः प्राप्त करने की इंतजार कर रहा है।

क्या पावापुरी अब मध्यमापावा के रूप में स्वीकृत हो चुकी है?

पाठकों! जन्मभूमि वैशाली को मान्यता देने वाले विद्वान महावीर की निर्वाणभूमि को अब तक तो मज्झिमा पावा-फाजिलनगर, गोरखपुर, उ.प्र. के निकट पावाग्राम को मानते आए हैं। प्राकृतविद्या के पिछले अंकों में महावीर निर्वाणभूमि के नाम को "मध्यमा पावा" के रूप में ही लिखा जाता था किन्तु आश्चर्य हुआ अक्टूबर-दिसम्बर २००१ अंक के पं. बलभद्रजी के ही लेख में पृ. ३७ पर स्पष्ट लिखा है-

"भगवान महावीर ७२ वर्ष की आयु में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के प्रातःकाल "मज्झिमा पावा" में वर्तमान पावापुरी में कर्मों का नाश करके मुक्त हो गए।"

आखिर वास्तविकता पर तो कभी न कभी सबको आना ही पड़ता है। कुछ लोग अपनी बुद्धि-वैशिष्ट्य का परिचय देने हेतु भूगोल की दलील देने लगते हैं कि मगधदेश में राजगृही नगरी थी तो उसी के इतने नजदीक १८ किमी. दूर पर ही विदेहदेश की कुण्डलपुर नगरी कैसे आ गई?

इस विषय में सबसे पहला ही प्रश्न तो आधुनिक स्थापित वैशाली के प्रति ही उठ जाता है कि सिन्धुदेश की वैशाली नगरी के अंदर मात्र २ किमी. दूर विदेहदेश का कुण्डग्राम आपने कैसे बना लिया? यदि २ किमी. के अंतराल में दो बड़े राजाओं के देश कलियुगी मानव स्थापित कर सकता है तो सतयुग में मगध और विदेह थोड़ा पास-पास रहे हों इसमें कौन सी भौगोलिक परिस्थिति बिगड़ गई?

खैर! आधुनिक बुद्धि ने तो आजकल आगमपरम्परा, तीर्थ, पूजनपद्धति आदि में परिवर्तन करते-करते अब सिद्धशिला को ही पलटकर औंधी कर दी है जबकि आगम में अर्धचन्द्र या उत्तान कटोरे के समान सिद्धशिला का आकार माना गया है अतः अपनी-अपनी श्रद्धा ही इसमें प्रधान मानकर एक-दूसरे का विरोध करने की बजाए प्राचीन आचार्य प्रणीत आगम ग्रंथों का ही सहारा लेना चाहिए।

यह मगध देश के निकट कुण्डलपुर नगरी का अस्तित्व भी आप उत्तरपुराण के निम्न प्रमाण से देखें-

दरनिद्रावलोकिष्ट, विशिष्टफलदायिनः। स्वप्नान् षोडशविच्छिन्नान् प्रियास्य प्रियकारिणी।।२५६।।
तदन्ते पश्यदन्यन्च, गजं वक्त्रप्रवेशिनम्। प्रभातपटहध्वानैः पठितैर्वन्दिमागधैः।।२५७।।पृ. ४६०

अर्थात् रात्रि के चतुर्थ प्रहर में त्रिशला ने कुछ खुली सी नींद में सोलह स्वप्न देखे। सोलह स्वप्नों के बाद उसने मुख में प्रवेश करता हुआ एक अन्य हाथी देखा तदन्तर सबेरे के समय बजने वाले नगाड़ों की आवाज से तथा चारण-बन्दीजनों और मागधजनों के द्वारा पढ़े हुए मंगल पाठों से वह जाग उठी।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो रहा है कि कुण्डलपुर के निकट ही मगधदेश था और वहां के मागधीजन भी कुण्डलपुर में रहा करते थे। जैसे—आज भी हमारे भारतदेश में अनेक देशों के लोग भी निवास करते हैं और तमाम देशों का पारस्परिक व्यवहार, व्यापार आदि भी सदैव से ही चलते रहे हैं। शायद उसी परम्परा का अनुसरण करते हुए आज भी कुण्डलपुर के आस-पास के तमाम आदिवासी नागरिक अपने को मगैया कहते हैं और कुण्डलपुर के महावीरप्रभु को अपना परम आराध्य मानते हैं। अंत में आप सब श्रद्धालु भक्तों को यही प्रेरणा लेना है कि बसाढ़ग्राम में बसाई गई वैशाली को २६०० वर्ष पुरानी वैशाली न मानकर उसे दिल्ली की एक कॉलोनी की भांति ही समझें और असली वैशाली के खोज का साधन बनाएं एवं महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर के विकास में एकजुट होकर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने का संकल्प कर लें।

भगवान महावीर के समय गणतंत्र शासन नहीं था

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से ब्र. कु. सारिका जैन की

एक वार्ता

भगवान महावीर के जीवन से संबंधित अनेक आगमविरुद्ध बातों को पत्र-पत्रिकाओं में पढ़कर मेरे मन में जिज्ञासा हुई कि पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से दिगम्बर जैन आगम के परिप्रेक्ष्य में कतिपय विवादित विषयों का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें समाज के समक्ष प्रस्तुत करूँ अतः मैंने दिनांक ५-१२-०२ को पूज्य माताजी से कुछ प्रश्नों का समाधान प्राप्त किया उसे मैं यहाँ प्रस्तुत कर रही हूँ-

कु. सारिका — वंदामि, माताजी!

पूज्य माताजी —बोधिलाभोस्तु!

कु. सारिका —माताजी! आज मैं आपसे कुछ शंकाओं का समाधान करना चाहती हूँ। आप आज्ञा प्रदान करें।

पूज्य माताजी —बहुत अच्छी बात है, बताओ, क्या शंका हैं?

कु. सारिका—पूज्य माताजी! मैंने कई पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा है कि राजा चेटक गणतंत्र शासन के प्रमुख शासक थे, इस विषय में मैं आपसे समझना चाहती हूँ।

पूज्य माताजी—वर्तमान में कुछ विद्वान् इस बात को स्वीकार कर रहे हैं और लिख भी रहे हैं कि राजा चेटक गणतंत्र शासन के प्रमुख शासक थे लेकिन दिगम्बर जैन ग्रन्थों के अनुसार यदि देखा जाये तो उस समय गणतंत्र शासन ही नहीं था। आज से २००० वर्ष पूर्व श्रीयतिवृषभाचार्य द्वारा लिखित तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में मैंने स्वयं पढ़ा है कि—

जिस समय भगवान महावीर ने मोक्ष को प्राप्त किया उस समय "**पालक**" नाम के अवन्तिसुत का राज्याभिषेक हुआ। ६० वर्ष तक उस पालक राजा ने राज्य किया, उसके बाद विजयवंशियों ने १५५ वर्ष तक राज्य किया, अनन्तर मुरुंडवंशियों का राज्य ४० वर्ष तक चला, ३० वर्ष तक पुष्यमित्र का राज्य रहा, इसके पश्चात् ६० वर्ष तक वसुमित्र-अग्निमित्र ने राज्य किया, १०० वर्ष गंधर्व ने राज्य किया और नरवाहन ४० वर्ष तक राज्य करते रहे पश्चात् भृत्य आन्ध्र राजा उत्पन्न हुए हैं, इन भृत्य आन्ध्रों का काल २४२ वर्ष है, इसके बाद गुप्तवंशी हुए, इनका प्रमाणकाल २२१ वर्ष माना जाता है कहने का तात्पर्य यह है कि यह राज्य परंपरा १००० वर्ष तक चली है तो

उससे १००० वर्ष पूर्व राजा चेटक को गणतंत्र का शासक कहना दिगम्बर जैन आगम से तो कथमपि मेल नहीं खाता है। हरिषेणाचार्यकृत वृहत्कथाकोष में लिखा है कि — विशाली नगरी के राजा केक और उनकी रानी यशोमति थीं। उनका पुत्र चेटक था। "**अभूत् साधुकृतानंदश्चेटकाख्यः सुतोनयोः।**" उनकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। उनकी सुरूप सम्पन्न सात पुत्रियाँ हुईं। यह जो मान्यता है वह बौद्धग्रन्थ और श्वेताम्बर ग्रंथों से है। तो अगर हम उनकी एक बात मानते हैं तो हमें उनकी हर एक बात माननी चाहिए। हम उनकी एक बात मान लें गणतंत्र शासन के बारे में, और उनकी दूसरी बातें न मानें ऐसा तो हमें समझ में नहीं आता। दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रंथों में तो जो राज्यपरम्परा मानी है कि इतने वर्ष तक उनने राज्य किया फिर उनका राज्याभिषेक हुआ.....तो राज्याभिषेक तो विधिवत् राजाओं का ही होता है इस संबंध में किसी भी दिगम्बर जैन आगम में यह नहीं लिखा है कि पहले वे गणतंत्र शासन में चुने गए फिर उनको राष्ट्रपति बनाया गया।

अतः मेरा तो बार-बार यही कहना है कि दिगम्बर जैन आगम में कहीं भी गणतंत्र शासन का उल्लेख नहीं आया है।

कु. सारिका — माताजी! फिर आपकी दृष्टि से लिच्छविवंश की क्या व्यवस्था है?

पूज्य माताजी — दिगम्बर जैन परम्परा में भगवान महावीर का वंश नाथवंश माना है तो ये राजा सिद्धार्थ और उनके पिता सर्वार्थ सभी नाथवंशी थे और राजा चेटक का वंश सोमवंश माना गया है जिसका कि मैंने पहले भी प्रमाण दिया है। उत्तरपुराणग्रन्थ में यह बहुत स्पष्टरूप से लिखा है कि **सुरलोकादभूःसोम-वंशेत्वं चेटको नृपः अर्थात् सोमवंश में राजा चेटक हुए हैं** तो लिच्छविवंश का नाम मुझे तो आज तक दिगम्बर जैन परम्परा के किसी भी ग्रंथ में देखने को नहीं मिला है अतः मैं समझती हूं कि ये लिच्छविवंश की परम्परा भी श्वेताम्बर ग्रंथों से ही आई है दिगम्बर जैन परम्परा के किसी भी ग्रंथ में यह बात नहीं आई है।

कु.सारिका — माताजी! ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है कि वैशाली तो बहुत ही समृद्धिशाली नगरी थी उसमें सोने-चांदी के हजारों गुम्बज थे, इस विषय में आप क्या कहना चाहती हैं?

पूज्य माताजी — बात यह है कि वैशाली समृद्ध हो इसमें हमारा कोई विरोध नहीं है क्योंकि राजा चेटक भी एक अच्छे महान राजा थे। उनके दस पुत्र थे और सात पुत्रियां थीं लेकिन सबसे बड़ी विचारणीय बात यह है कि जिस वंश में, जिस कुल में, जिस घराने में तीर्थंकर भगवान जन्म लेने वाले हैं वह राजा और वह नगरी उससे हीन हो, उससे छोटी हो, उसका एक मोहल्ला हो यह बात दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार कथमपि स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि आचार्यों का कहना है कि जिस समय तीर्थंकर अवतार लेने को होते हैं उस समय सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर

बारह योजन की नगरी बनाता है और अगर वह समृद्धिशाली नगरी रहती ही है राजधानी के रूप में, तो उसे बाग-बगीचों, महल-अटारी से सुसज्जित करके बहुत ही सुन्दर बना देता है उस समय वह नगरी स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर बन जाती है तो वह वैशाली का एक मोहल्ला हो या वैशाली के अंतर्गत हो यह समझ में नहीं आता है इसलिए मैं तो क्या अनेक विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि वैशाली कुण्डलपुर से अधिक समृद्धिशाली नगरी थी दूसरी बात एक और भी है कि जहां तीर्थंकर भगवान के गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की वर्षा होती है वहां सोने-चांदी के गुम्बज क्या मायने रखते हैं? उसकी समृद्धि और धनपरायणता के आगे वैशाली बहुत ही छोटी नगरी है। उत्तरपुराण में तो वर्णन आता है कि रानी त्रिशला जिस पलंग पर सोई थी वह पलंग रत्नों का था तो वहां कुण्डलपुर के हरेक मकानों पर, महलों पर भी सोने के गुम्बज हों तो बड़ी बात नहीं है, जहां इतने रत्नों की वर्षा होती हो और कुबेर जिसको सुसज्जित करने वाला हो उसकी महिमा से अधिक वैशाली की महिमा को कहना ये हास्यास्पद बात है दिगम्बर जैन मान्यता के अनुसार कथमपि उत्तम नहीं है।

कु.सारिका—माताजी! आपने २५ वर्ष पूर्व चौबीस तीर्थंकर पुस्तक में विदेह देश के कुण्डपुर को भगवान महावीर की जन्मभूमि लिखा है और अब आप नालंदा के कुण्डलपुर को भगवान महावीर की जन्मभूमि लिख रही हैं इसका मतलब है, कि पहले आप कुछ मानती थीं और अब आप कुछ मानने लगी हैं?

पूज्य माताजी—ऐसी बात नहीं है यह एक भ्रम फैलाया जा रहा है। बात यह है कि उत्तरपुराण में विदेहदेश के कुण्डलपुर में भगवान महावीर का जन्म माना है और निर्वाणभक्ति में भी यही पाठ आया है **भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे** और विदेहदेश के इसी कुण्डपुर को ही तिलोयपण्णत्ति, धवला, जयधवला में कुण्डलपुर नाम आया है धवला में कहीं कुण्डपुर नाम भी आया है तो कुण्डपुर और कुण्डलपुर दोनों ही नाम चलते हैं और विदेहदेश में चल रहे हैं तो अभी जो यह चर्चा का विषय बन गया है कि वैशाली में एक क्षत्रियकुण्ड है, वासोकुण्ड है या ब्राह्मणकुण्ड है वह भगवान महावीर की जन्मभूमि है कोई कुण्डग्राम को जन्मभूमि मान रहे हैं इसलिए कुण्डलपुर नाम को ज्यादा अधिक महत्व देना पड़ा। वैशाली में कुण्डग्राम, क्षत्रियकुण्ड, वासोकुण्ड आदि ये भगवान की जन्मभूमि क्यों नहीं हो सकती है इस बात को समझो! सिन्धुदेश में वैशाली नगरी है ऐसा उत्तरपुराण में लिखा है तो देश अलग उसकी राजधानी अलग। वैशाली सिन्धुदेश की राजधानी है और विदेहदेश में कुण्डपुर या कुण्डलपुर नाम आया है तो वो भी एक महत्वपूर्ण एवं समृद्धिशाली राजधानी थी तो दोनों देश स्वतंत्र हैं दोनों राजधानियां स्वतंत्र हैं तो वैशाली में एक छोटे से स्थान को या छोटे से मोहल्ले को

कुण्डपुर या कुण्डग्राम कह देना यह समझ में नहीं आया। रही बात जिला नालंदा की, तो जिला तो बदलते रहते हैं। नालंदा के समीप है अतः हम तो यहां तक समझते हैं कि नालंदा ही कभी नंद्यावर्त महल था हमें अनेक विद्वानों ने भी इस बात को बताया है।

देखो! अभी सम्मेदशिखर बिहार में था अब झारखंड में हो गया। आज वर्तमान में नालंदा जिले से कुण्डलपुर को जाना जा रहा है इसलिए मैंने नालंदा कह दिया। हमारा अभिप्राय तब भी इसी कुण्डलपुर से था और आज भी वही अभिप्राय है विदेहदेश के कुण्डलपुर का। कुण्डलपुर शब्द अभी मैंने इसलिए जोर-शोर से उठाया है कि कुण्डपुर को कुण्डग्राम कहकर छोटे से क्षत्रियकुण्ड या वासोकुण्ड को जन्मभूमि मान रहे हैं इसलिए ये चर्चा का विषय बन गया है लेकिन मेरी मान्यता जो तब थी वही आज है न तब वैशाली में कुण्डपुर को मानने की थी और न आज है।

धवला पु. ९ में पृष्ठ २१ पर लिखा हुआ है कि—**आसाढजोण्हपक्खछट्ठीएकुण्डलपुरणगराहिवणाहवंस सिद्धत्थणरिंदस्सतिसिलादेवीएगब्भमागंतूण** अर्थात् आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन कुण्डलपुर के राजा नाथवंशशिरोमणि सिद्धार्थनरेन्द्र, उनकी महारानी त्रिशलादेवी के गर्भ में आए तो इसलिए कुण्डलपुर शब्द धवला, जयधवला, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में आया है इससे मेरी समझ में आता है कि कुण्डपुर और कुण्डलपुर दोनों एक ही हैं और ये वैशाली का कुण्डग्राम और इधर के कुण्डलपुर दोनों को अलग-अलग करना और इसको जन्मभूमि न मानकर वैशाली के कुण्डग्राम को जन्मभूमि मानना ये तो दिगम्बर जैन परम्परा से सर्वथा विरुद्ध है। कुछ वर्ष पूर्व भगवती सूत्र श्वेताम्बर परम्परा से यह बात चर्चा में आई थी ऐसा पं. सुमेरुचंद दिवाकर जी ने अपनी **महाश्रमण महावीर** पुस्तक में भी लिखा है और उसी से वह मान्यता प्राप्त करके कुछ शोधकारों के द्वारा ही वह कुण्डग्राम जन्मभूमि माना जाने लगा है जो कि वैशाली के अंतर्गत होने से हम लोगों को मान्य नहीं है।

कु. सारिका—माताजी! कुछ विद्वानों का कहना है कि राजा सिद्धार्थ राजा ही नहीं थे वे गणतंत्र शासन के एक सदस्य थे इस विषय में आपका क्या कहना है?

पूज्य माताजी—बात यह है कि तीर्थंकर के पिता को इस तरह से राजा नहीं मानना उनका बहुत बड़ा अवर्णवाद है। ऐसा तो वे ही कह सकते हैं जिन्हें पाप का कोई भय ही नहीं है।

देखो! धवला की पंक्ति में भी आया है कि-**कुण्डलपुरणगराहिव** अर्थात् कुण्डलपुर नगर के अधिप यानि राजा **णाहवंससिद्धत्थणरिंदस्स** नाथवंश के राजा सिद्धार्थ नरेन्द्र-तो इस प्रकार विचार करके देखा जाए तो उनको गणतंत्र का सदस्य और राजा चेटक को गणतंत्र का शासक मानना ये तो एक बहुत ही दुःखप्रद बात है ऐसा नहीं करना चाहिए। वास्तव में विचार करके देखा जाये तो

पहली बात, तो उस समय गणतंत्र शासन ही नहीं था तथा दूसरी बात, जितने अधिक समृद्धिशाली राजा चेटक थे उनसे कहीं अधिक समृद्धिशाली राजा सर्वार्थ और उनके पुत्र सिद्धार्थ थे। राजा सिद्धार्थ इन्द्रों के द्वारा पूज्य बहुत महान राजा थे। जिनकी इन्द्र आकर पूजा करे, जिनके माता-पिता को इन्द्र आकर नमस्कार करे और जिनकी इतनी महिमा का बखान करे वह राजा चेटक से छोटे हों यह बात मैं नहीं स्वीकार कर सकती मैं तो कहूंगी कि उस समय इस मध्यलोकस्थ जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखंड में उनके समकक्ष कोई राजा नहीं थे। जिनके यहाँ इस प्रकार १५-१५ महीनों तक रत्नों की वर्षा हुई हो, इन्द्रों ने जिनके पंचकल्याणक महोत्सवों को मनाया हो वो किसी से छोटे थे यह बात मैं कथमपि स्वीकार नहीं कर सकती जो इस बात को स्वीकार करते हैं वे दिगम्बर जैन ग्रंथों का बहुत बड़ा अपलाप करते हैं।

कु.सारिका — माताजी! आज आपसे इतनी जानकारी प्राप्त करके बहुत प्रसन्नता हुई। इसका मतलब यह रहा कि वे आधुनिक विद्वान् दिगम्बर जैन आगम की अनदेखी करके अपने लेखों को लिखते हैं इसी कारण ये सब अनर्थ हो रहे हैं। आपके इन समाधानों से यह सारांश निकला है कि दिगम्बर जैन धर्मावलम्बियों को उत्तरपुराण, महावीरपुराण आदि ग्रंथों का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए और उसी के आधार से भगवान महावीर के जीवन चरित्र को प्रस्तुत करना चाहिए।

वंदामि माताजी!

पूज्य माताजी — बोधिलाभोस्तु।

दया के देवता का अवतरण

-स्व. पं. सुमेचंद जैन दिवाकर

भव्यात्माओं! २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन पर दिगम्बर जैन समाज के आगमनिष्ठ वरिष्ठ विद्वान पण्डितप्रवर श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर (B.A.L.L.B.) सिवनी-म.प्र. द्वारा लिखित सन् १९६८ में प्रकाशित "महाश्रमण महावीर" नामक ग्रंथ (४५० पृष्ठों का) अत्यन्त सुन्दर पठनीय एवं मननीय है। उसी ग्रंथ का कुछ प्रकरण यहाँ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है- सम्पादक

कुण्डपुर का भाग्य—

ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरों के स्वर्गावतरण के समय जिस प्रकार नभोमंडल से वैभव और विभूति की विपुल वृष्टि द्वारा दारिद्य का दुःख जनता को नहीं उठाना पड़ा था, ऐसा ही सौभाग्य विदेह देश के कुण्डपुर वासियों को प्राप्त हुआ था, जब चौबीसवें तीर्थंकर की अवतरण बेला आई थी। कुण्डपुर अत्यन्त समृद्ध नगर था। हरिवंशपुराण में उसे सुख रूपी जल से परिपूर्ण कुण्ड तुल्य कहा है—

सुखांभः कुंडमाभाति नाम्ना कुंडपुरं पुरम्।।५-सर्ग२।।

कुण्डलपुर—तिलोय पण्णत्ति में कुंडलपुर नाम आया है—

सिद्धत्थराय-पियकारिणीहिं णयरम्मि कुंडले वीरो। उत्तर-फग्गुणिरिक्खे चित्तसिया-तेरसीए उप्पण्णो।।५४६-४।।

इस प्रकार भगवान के स्वर्ग से अवतार लेने का स्थान कुंडपुर अथवा कुण्डलपुर आगम में बताया गया है। देश का नाम विदेह कहा गया है।

कुण्डलपुर जिस विदेह देश का अंग था, उसके विषय में हरिवंशपुराण में लिखा है—

अथ देशोस्ति विस्तारी जंबूद्वीपस्य भारते। विदेह इति विख्यातः स्वर्गखंडसमः श्रियः।।१-सर्ग२।।

जम्बूद्वीप के भारत वर्ष में विस्तार युक्त विदेह नाम का संदेश है, जो लक्ष्मी से स्वर्ग के खण्ड समान शोभायान होता था।

विदेह देश का कथन वर्धमान चरित्र में आया है, जहां कुण्डपुर नगर था।

श्रीमानथेह भरते स्वयमस्ति धांया। पुंजीकृतो निज इवाखिलकांतिसारः।।

नाम्ना विदेह इति दिग्वलये समस्ते। ख्यातः परं जनपदः पदमुन्नतानाम्।।१-सर्ग १७।।

इस भरत क्षेत्र में संपूर्ण दिग्मंडल में प्रसिद्ध, सत्पुरुषों की उत्कृष्ट निवास भूमि विदेह नाम का देश है, जो संपत्ति से परिपूर्ण था तथा जो स्वयं एकत्रीभूत संपूर्ण कांति का उत्कृष्ट समुदाय रूप शोभायमान था। उस विदेह में विश्व विख्यात कुण्डपुर नगर था "ख्यातं पुरं जगति कुंड-पुराभिधानं" (७-७)

उत्तरपुराण में भी कुण्डपुर को विदेह देश स्थित बताया है। कुंडपुर के राजा सिद्धार्थ के राज भवन के प्रांगण में प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी। ग्रंथकार के शब्द हैं—

तस्मिन् षणमास - शेषायुष्या - नाकादागमिष्यति। भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये विषये भवनांगणे।।२५१।।
राज्ञःकुंडपुरेशस्य वसु धाराप तत्पृथु। सप्तकोटिमणीः सार्द्धा सिद्धार्थस्य दिनं प्रति।।२५२ पर्व ७४।।

जब अच्युतेन्द्र की आयु छह महिने शेष रह गई और वह स्वर्ग से अवतार लेने के सन्मुख हुआ तब इसी भरत क्षेत्र के विदेहदेश में कुंडपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के प्रांगण में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ मणियों की वर्षा होने लगी थी।

वैदिक काल के प्रारम्भ में आर्य लोग छोटे-छोटे राज्यों को जानते थे। जिसे अभी बिहार कहते हैं, उसमें कारुष, मगध, अंग, वैशाली आदि अनेक देश समाविष्ट थे। आर्यों और वैदिक साहित्य का प्रथम प्रवेश विदेह या उत्तर बिहार में हुआ होगा। यह विदेह नाम ब्राह्मण तथा उपनिषद् साहित्य में सर्व प्रथम दृष्टिगोचर होता है। अंग तथा मगध ये नाम प्राचीन वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। वर्तमान तिरहुत डिवीजन में विदेह अंतर्भूत है। विदेह की राजधानी मिथिला थी। वह नेपाल की तराई में विद्यमान जनकपुरी मानी जाती है। कुछ समय के अनंतर दक्षिण विदेह ने स्वतंत्र राज्य का स्वरूप प्राप्त कर लिया। उसकी राजधानी वैशाली हो गई, जो मुजफ्फरपुर से तेवीस मील पर स्थित है।"[1] (पृष्ठ ५१)

[2]शक्ति-संगम-तंत्र नाम की १८वीं शताब्दी की रचना में शैवों की तीर्थयात्रा के योग्य ६६ देशों के नाम दिए हैं, उनमें लिखा है, "गंडक नदी के तट से लेकर चंपारण्य पर्यन्त का स्थान विदेह अथवा तिरुभुक्ति कहा जाता था। उसके पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में कोसी, गंडक तथा गंगा ये तीन बड़ी नदियां हैं तथा हिमालय की तराई उत्तर की ओर है। इस क्षेत्र में मुजफ्फरपुर, दरभंगा, चंपारन, मुंगेर तथा पुरनिया ये वर्तमान जिले शामिल होते हैं। (पृ. ५५)

इस विश्रुत विदेह देश के कुण्डपुर में त्रिशलानन्दन का अवतरण हुआ था। कुछ लोग कुण्डपुर को

---

1 - In the early Vedic period, the Aryans knew only of small states. Several kingdoms like the Karusha, Magadha, Anga, Vaisali existed in this part of the country now known as Bihar. Aryans and Vedic literature may have first entered 'Videh' or northern Bihar. This name Videh appears first in the Brahman and Upanisadic literature. The names Anga and Magadha occur, however, in early Vedic literature.
Videh corresponds mostly with the modern Tirhut division. The Capital of Videh was Mithila, usually indentified with Janakpuri in the Nepal Tarai. In the course of time Southern Videh developed a new kingdom with its capital of Vaisali, about 23 miles from Muzaffarpur. (Bihar through the Ages, Page 51.)

2. An early 18th century work entitled Sakti Sangama Tantra which gives an account of some 66 countries (areas) considered holy by Shaivite pilgrims, have given the following brief account of this area. From the bank of Gandak to the forest of Champaranya the country was called videh or Tirubhukti." It was bounded on the east, west and south by three big rivers, the Kosi, Gandak and Gangas while the Tarai regions formed its northern boundary. (Bihar through the Ages. P.55.)

वैशाली नगरी का एक अंश कहते हैं। वे मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर सब-डिवीजन में स्थित बसाढ को वैशाली मानते हैं और उसके अन्तर्गत वर्तमान वासुकुण्ड को कुण्डग्राम कहते हैं।

दिगम्बर जैन आगम में महावीर का नहीं, उनकी जननी प्रियकारिणी—त्रिशला का भी वैशाली से सम्बन्ध पाया जाता है। हरिषेणाचार्यकृत वृहत्कथाकोष में लिखा है कि—

वज्रविदे देशे विशाली नगरी नृपः अस्यां केकोस्य भार्यासीत् यशोमतिरिनप्रभा।।१६५।।

विशाली नगरी वज्र देश में कही गई है। वहाँ के राजा केक और उनकी रानी यशोमति थी। उनका पुत्र चेटक था। 'अभूत! साधुकृतानंदश्चेटकाख्यः सुतोऽनयोः'। उनकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। उनकी सुरूप संपन्न सात पुत्रियां हुईं।

भद्रभावा सुभद्रास्य बभूव वनितोत्तमा। अस्या दुहितरः सप्त बभूवु रूपराजिताः।।१६७।।

उनमें सबसे बड़ी कन्या प्रियकारिणी थी। शेष के नाम सुप्रभा, प्रभावती, प्रियावती, ज्येष्ठा, चेलना तथा चंदना थे।

तन्मध्ये प्रथमा प्रोक्ता परमा प्रियकारिणी। द्वितीया सुप्रभाज्ञेया तृतीया च प्रभावती।।१६८।।

प्रियावती चतुर्थी स्यात् सुज्येष्ठा पंचमी परा। षष्ठी च चेलना दिव्या सप्तमी चंदना मता।।१६९।।

वे सातों ही पुत्रियाँ स्वर्ग लोक से चलकर आई थीं। उनका चरित्र विद्वानों के चित्त को हरण करेगा—

त्रिदिवादवतीर्णानां सप्तानामपि पुण्यतः। भविष्यंति चरित्राणि बुधचित्तहराणि वै।।१७०।। पृ. ८३।।

वैशाली का वैंभव — वैशालीपुरी अत्यन्त समृद्ध थी। उसके तीन भाग थे। प्रथम भाग में सात हजार सोने के गुम्बद वाले भवन थे। मध्य में १४ हजार चाँदी के शिखरयुक्त घर थे और अंतिम भाग में २१ हजार ताँबे के गुम्बद वाले भवन थे। (Life of Buddha पृष्ठ ६२)

श्वेताम्बर साहित्य में भगवान को वैशालीय और वैशालिक कहा है (भगवती सूत्र पृ. २३१) ऐसे श्वे. शास्त्रीय उल्लेखों ने अनेक जैनेतर लेखकों तथा विद्वानों को यह कल्पना करने में सहायता दी कि भगवान का जन्म वैशाली में होना चाहिए। इस विषय में शासन का सहयोग मिलने से वैशाली को जन्म स्थान मानने की विशिष्ट परिस्थिति मजबूत बन रही है।

बिहार शासन के द्वारा प्रकाशित 'वैशाली' अंग्रेजी रचना से ज्ञात होता है कि मार्च १९४५ से प्रति वर्ष वैशाली महोत्सव का मनाना प्रारम्भ हो गया है। उस रचना में महावीर भगवान को वैशाली का नागरिक कहा है।[1] इस प्रकार सर्वत्र यह प्रचार हो गया है कि भगवान वैशालेय थे।

भगवान की माता अवश्य विशाला पुरी की पुत्री थीं, किन्तु दिगम्बर आगमानुसार भगवान का जन्म स्थान कुण्डपुर नगर था।

यह सुभाषित गंभीर तथा अर्थपूर्ण है।

---

1 - In March 1945...a cultural festival known as the Vaisali Mahotsava was organised in order to pay homage to the ancient cultural traditions of Vaisali. See Bihar-Vaisali Pages 16-17.

उत्तमा आत्मना ख्याताः पितुः ख्याताश्च मध्यमाः। अधमा मातुलात्ख्याताः श्वशुराच्चाधमाधमाः।।

उत्तम पुरुष अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध होते हैं, मध्यम पुरुष पिता के कारण प्रसिद्धि पाते हैं, अधम श्रेणी के व्यक्ति अपने मामा के कारण विख्यात होते हैं, अपने श्वशुर के कारण जो प्रतिष्ठा पाते हैं वे महा अधम श्रेणी के व्यक्ति हैं।

तीर्थंकर श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ पुरुष होते हैं। उनका जन्म स्थान ही पूज्य नहीं होता, वह काल भी मंगल हो जाता है, जब उनके पंचकल्याणक हुए हों। ऐसी स्थिति में महावीर भगवान की कुण्डपुरवासी होने से भी प्रसिद्धि नहीं थी, उनके कारण उस स्थान को गौरव मिला। मान सरोवर के कारण हंस को गौरव नहीं मिलता है, हंस के कारण मानसरोवर सन्मान का पात्र बनता है[1] हंस जहाँ भी रहता है, वही स्थल महत्वपूर्ण बनता है।

वंश-परंपरा—भगवान महावीर के पिता महाराज सिद्धार्थ राजा थे तथा भगवान राजपुत्र थे। भगवान का मातृपक्ष भी राजवंश था। इस प्रकार जाति तथा कुल की दृष्टि से वे महान थे। भगवान के पितामह का नाम था सर्वार्थ तथा सर्वार्थ महाराज की महारानी का नाम श्रीमती था। हरिवंशपुराण में लिखा है—

सर्वार्थ-श्रीमती-जन्मा तस्मिन् सर्वार्थदर्शनः। सिद्धार्थोऽभवदर्काभो भूपः सिद्धार्थ-पौरुषः।।१३-२।।

कुण्डपुर के स्वामी राजा सर्वार्थ तथा रानी श्रीमती से उत्पन्न समस्त पदार्थों का दर्शन करने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी तथा समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला राजा सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ राजा आदर्श शासक थे। जिनसेन आचार्य कहते हैं।

यत्र पाति धरित्रीय - मभूदेकत्र - दोषिणी। धर्मार्थिन्योपि यंयक्त-परलोकभयाः प्रजा।।१४-२।।

जिस समय सिद्धार्थ नरेश ने पृथ्वी की रक्षा की थी, उस समय प्रजा में कोई दोष नहीं था, हाँ! एक दोष अवश्य था, कि प्रजा परलोक से डरती थी अर्थात् वह आगामी जीवन सुधार के विषय में पूर्ण सावधान थी।

महाकवि के ये शब्द यथार्थ और महत्वपूर्ण हैं—

कस्तस्य तान् गुणानुद्यान्नारस्तुलयितुं क्षमः। वर्धमान-गुरुत्वं यः प्रापितः स नराधिपः।।१५-२।।

ऐसी सामर्थ्य किस पुरुष में है जो राजा सिद्धार्थ के उन्नत गुणों की तुलना कर सके, क्योंकि अपने गुणों की महिमा से राजा सिद्धार्थ त्रिलोकीनाथ वर्धमान महावीर के पिता बन गए थे। त्रिशलादेवी के पिता चेटक समृद्ध नरेश थे।'

भगवान के पिता का हृदय उस क्षण के लिए अत्यंत उत्कण्ठित था कि अब महारानी प्रियकारिणी की कुक्षि से प्रसूत त्रिलोक में अद्वितीय तीर्थंकर स्वरूप पुत्र रत्न का अपने नेत्रों द्वारा दर्शन कर अपने जीवन को कृतार्थ करूं। कुण्डलपुर की जनता भी उस बेला की प्रतीक्षा करती थी जब दया के देवता, पवित्रता की साकार मूर्ति, अप्रतिम पुण्य की विभूति से समलंकृत बाल जिनेन्द्र का मांगलिक जन्मोत्सव होगा।

धीरे-धीरे वह चिरस्मरणीय पवित्र दिवस आ गया जिसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के नाम से भव्य जीव कालमंगल मानकर अत्यन्त आदर भाव से स्मरण करते हैं।

1- यत्रापि कुत्रापि भवंति हंसा, हंसाः मही-मंडलभंडनानि। हानिस्तु तेषां हि सरोवराणां येषां मरालैः सह विप्रयोगः।।

महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर थी, है और रहेगी

-प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन
अध्यक्ष- अ.भा.दि. जैन शास्त्री परिषद

इतिहास अतीत के अवलोकन का एक माध्यम है। अतीत का स्वरूप परोक्ष और वर्तमान का प्रत्यक्ष है। परोक्ष की प्रत्यक्ष के रूप में प्रस्तुति एक कठिन कार्य है। वक्त के साथ लोगों के नजरिए बदल जाते हैं। देश की सीमायें भी बदलती रहती हैं। इस बदलाव को जब कोई भी छद्मस्थ प्रत्यक्ष की तरह नहीं देख पाता है तो अनुमानों का सहारा लेता है। चूंकि अनुमान सबके अलग-अलग होते हैं, इसलिए इतिहास ग्रन्थों में मत-भिन्नतायें पाई जाती है। कबीर को कोई हिन्दू मानता है तो कोई मुसलमान। इस तरह के मतभेद ही खोज के विषय बन जाते हैं और लोग अपनी-अपनी अटकलों के आधार पर उन्हें हिन्दू या मुसलमान घोषित करते रहते हैं।

इतिहास लेखन में धर्म एवं सम्प्रदाय धारणायें भी भ्रम उत्पन्न करती हैं। भगवान महावीर को ही लें। श्वेताम्बरों के महावीर दिगम्बरों को कभी स्वीकार्य नहीं हो सकते। दोनों में कोई साम्य नहीं है। भ्रम से बचने का एक ही उपाय है कि हम सब सिद्धान्तरूप में यह स्वीकार करें कि इतिहासज्ञों को जिस धर्म या सम्प्रदाय के विषय में लिखना हो, वे उसके प्रामाणिक ग्रन्थों को गहन अध्ययन अवश्य करें। दूसरे-दूसरे धर्म ग्रन्थों से उद्धरण देकर या कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़कर यदि इतिहास की इमारत खड़ी की जायेगी तो उसमें अनेक विसंगतियाँ तो रह ही जायेंगी।

जब सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज के साथ ही बिहार सरकार के सभी प्रकाशनों में भी कुण्डलपुर को ही भगवान महावीर की जन्मभूमि के रूप में उल्लिखित किया जाता रहा है, तब हमें किसी नई खोज को मान्यता प्रदान करने के पचड़े में पड़ना ही नहीं चाहिए था। लोगों की आस्थाओं के साथ इस तरह खिलवाड़ नहीं की जा सकती। इस तरह यदि हम नई-नई खोजों को मानते रहेंगे तो हमें कई तीर्थस्थान बदलने पड़ सकते हैं। एक ही उदाहरण काफी है। हम सभी दिगम्बर जैन यह मानते हैं कि भगवान महावीर का प्रथम धर्मोपदेश श्रावण कृष्णा १ को विपुलाचल पर्वत पर हुआ था। ख्यातिलब्ध साहू परिवार ने वहाँ एक भव्य देशना-स्मारक भी स्थापित कर दिया है, किन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार उनकी प्रथम देशना वैशाख शुक्ला ११ को मध्यमा पावा में हुई थी। क्या हम उनके अनुसार विपुलाचल पर स्थित देशना-स्मारक को मध्यमा पावा में स्थानान्तरित

करेंगे? वीर शासन जयन्ती की तिथि में बदलाव भी क्या हमें इष्ट होगा? ऐसे ही विवाद कुछ अन्य स्थानों के बारे में भी हैं। यदि हम किसी एक ही तीर्थ को दो-दो स्थानों पर मानने के फेर में पड़ गए तो यह समाज भी उसी हिसाब से बंटता चला जायेगा। हमें इससे बचना चाहिए।

हमारे तीर्थंकरों की किसी कल्याणक भूमि के बारे में किसी नई खोज को मान्यता प्रदान करने की कोई बाध्यता ही यदि हमारे सामने हो तो सर्वप्रथम हमें यह देखना होगा कि वह खोज दिगम्बर जैनागम के अनुसार है या नहीं? ग्रन्थराज षट्खण्डागम, तिलोयपण्णति, वर्धमानचरित, उत्तरपुराण आदि सभी ग्रन्थों में भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ को विदेह देश की राजधानी कुण्डलपुर तथा उनके नाना चेटक को सिन्धुदेश की राजधानी वैशाली का गणनायक/अधिपति बताया गया है। दोनों के वंश भी भिन्न कहे गए हैं। महाराज सिद्धार्थ नाथवंशी थे तो महाराजा चेटक थे सोमवंशी। नई खोज का मूल बिन्दु यही होना चाहिए था, किन्तु सभी इतिहासकारों ने वैशाली की खोज करते समय इस दिगम्बर जैन पक्ष की घोर उपेक्षा की है। उन्होंने वैशाली को विदेह में और कुण्डलपुर को मगध में मान लिया है। दिगम्बर जैनागम से समर्थित न होने के कारण ही यह हमें अस्वीकार्य है। हमारे आचार्यों के कथनानुसार मगध भी विदेह देश का ही अंग रहा है।

भगवान महावीर की भाषा के आधार पर कुछ श्वेताम्बर विद्वानों के भी मगध प्रान्त तथा उससे सटे हुए भू-भाग को विदेह देश के अन्तर्गत माना है। एक श्वेताम्बर ग्रन्थ "निशीथचूर्णि" में लिखा है—' गगहद्ध सिय भासा, निबद्धं अद्धमागहां अहवा अट्ठारह देसी भाष णियतं अद्धमागहं' अर्थात् जिसका अर्धांश मागधी अर्थात् मगध के अर्ध भाग में बोली जाने वाली भाषा हो तथा शेष भाषा आधे भाग में बोली जाने वाली अन्य अट्ठारह देशी भाषाओं में नियत शब्दों से बनी हो, वह कहलाती है "अर्द्धमागधी भाषा। समवायांगसूत्र में भी 'अर्ध मागध्या' कहकर अर्धमागधी शब्द की यही व्युत्पत्ति की गई है। इसी आधार पर कुछ श्वेताम्बर विद्वानों ने माना है कि भगवान महावीर का कार्यक्षेत्र मुख्यतः मगध ही रहा है। पुरातत्व विभाग, बिहार के निदेशक श्री अजय कुमार सिन्हा के इन शब्दों में से भी यही ध्वनि निकलती है—'भगवान महावीर यदि वैशाली से सम्बन्धित होते तो उनकी भाषा वैगई होती।" पं० हरगोविन्दस और पं० बेचरदास भी मगध को ही उनकी जन्मभूमि मानते हैं।

मगध की माटी बड़ी पावन है। राजगृह के अपने यात्रा-विवरण में मुनि दुलहराज द्वारा व्यक्त ये उद्‌गार कितने मार्मिक है—"जिस प्रांत में महावीर जन्मे, जिन धूलि-कणों में खेले, जिन वृक्षों और लताओं के समीप से उनका विहार हुआ, जहाँ वे वर्द्धमान से महावीर बने, वहाँ आकर हमें अपूर्व गौरव का अनुभव हो रहा है। हम अनिकते अवश्य हैं, किन्तु भगवान महावीर का यह

तपोवन हमें अपना घर सा लगता है।' (शब्दों की वेदी : अनुभव के दीप : पृष्ठ २२६)

'विदेह' शब्द को कुछ विद्वान जनपदसूचक नहीं मानते। "कल्पसूत्र' के बंगला अनुवादक श्री बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने विदेह का अर्थ 'देह में श्रेष्ठ' होना माना है। डा० शारदानन्द प्रसाद के अनुसार यह शब्द भगवान महावीर की आत्मस्थ या देहातीत अवस्था का सूचक है। कुछ लोगों का कहना है कि जिस प्रदेश में तीर्थंकरों का विचरण हुआ, उसका नाम पड़ गया बिहार और चूंकि इसी प्रदेश से अधिकांश तीर्थंकर और मुनिगण देह-त्यागपूर्वक देहातीत अवस्था को प्राप्त करते रहे, इसलिय यह 'विदेह' नाम से प्रसिद्ध हो गया। जो भी हो, यदि 'विदेह' को जनपदसूचक भी मानें तो भी इसी सन्दर्भ में मतैक्य का अभाव है - 'कुण्डलपुर या कुण्डग्राम के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ इसे मगध देश में मानते हैं तो कुछ इसे अन्यत्र' उनका यह कथन दिगम्बर जैनागम की मान्यता के परिप्रेक्ष्य में ही है। वैशाली नगरी भगवान महावीर की जन्मभूमि नहीं हो सकती, इस बारे में दि० जैनागम स्पष्ट है। श्वेताम्बरों या बौद्धों की दृष्टि में वह 'विदेह देश' का अंग हो सकती है, किन्तु दिगम्बर जैन शास्त्रों के आधार पर वह 'सिन्धुदेश' में थी।

कल्पना के आकाश में विचरण करने के लिए विद्याधर होने की आवश्यकता नहीं है। कोई सामान्य मनुष्य भी बुद्धि के पंख लगाकर कल्पना-लोक में उड़ सकता है। उदाहरणस्वरूप महापण्डित राहुल सांकृत्यायन सरीखे मनीषी की कल्पना का आनन्द लीजिए। वह लिखते हैं कि वसाढ़ (वैशाली) के आसपास आज भी एक प्रभावशाली जाति रहती है, जिसे 'जथारिया' कहते हैं। उन्होंने जथारिया शब्द की व्युत्पत्ति करते समय उसे भगवान महावीर के ज्ञातृवंश से जोड़ दिया है। वह लिखते हैं— ज्ञातृ से ज्ञातर, फिर जातर, उपरान्त जतारिया और अन्त में जथारिया।' लिखने को तो वह लिख गए किन्तु स्वयं जथारिया जाति के लोग अपने को महावीर का वंशज नहीं मानते। महावीर क्षत्रिय-कुलभूषण थे और ये सभी भूमिहार ब्राह्मण हैं। इस तरह की कल्पनाओं से इतिहास नहीं गढ़े जाने चाहिए।

कल्पना करने में डा० याकोबी भी किसी से पीछे नहीं रहे। श्वेताम्बरों की गर्भापहरण की घटना का खण्डन करने के लिए उन्होनें नई कहानी बनाई। वह लिखते हैं—'मेरा अनुमान है कि सिद्धार्थ की दो पत्नियाँ थीं- एक ब्राह्मणी देवानन्दा, जो महावीर की वास्तविक माता थीं और दूसरी क्षत्रियाणी त्रिशला। महान प्रभुताशाली महाराजा चेटक के उच्च सम्पर्कों का लाभ उठाने के लिए महावीर को त्रिशला का दत्तक पुत्र न मानकर, औरस पुत्र कहना अधिक लाभदायक समझा गया, क्योंकि इससे महावीर मातृकुल के सम्बन्धों का उत्तराधिकार प्राप्त कर सकते थे।' धन्य हैं याकोबी साहब, जो न तो महावीर के अतुल बल से परिचित हैं और न लोकोत्तम तीर्थंकर प्रकृति की महत्ता

से ही। श्रद्धाहीन लोग जब कुछ लिखेंगे तो कुछ ऐसा ही लिखेंगे। निर्ग्रन्थ महावीर के सम्बन्ध में कुछ भी अनुमान लगाने से पूर्व दिगम्बर जैन साहित्य की भागीरथी में अवगाहन किए बिना उसके प्रति न्याय नहीं किया जा सकता।

कुण्डलपुर ही भगवान महावीर की जन्मभूमि है, वैशाली तो हर्गिज-हर्गिज नहीं। वैशाली भगवान महावीर की विहारभूमि रही है, इससे हम इंकार नहीं करते। कुछ श्वेताम्बर आचार्यों ने जहां क्षत्रिय कुण्डग्राम को महाराज सिद्धार्थ का निवासस्थान माना है, वहां श्वेताम्बर अंगसाहित्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शीलांक ने "चउपन्नमहापुरिसचरियं" का एक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए उसे सिद्धार्थ का विहारस्थल लिखा है। पृ. २७८ पर अंकित मूलपाठ इस प्रकार है— 'अण्या य गामाणुगामं गच्छमाणो, कीलाणिमित्तमागओं णियभत्ति परिसठियं कुण्डपुर णाम णयरं।' आचार्य शीलांक जैसे शास्त्रज्ञ मुनि द्वारा ऐसा लिखने के पीछे कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इतने बड़े विद्वान बिना सोचे-समझे कुछ लिख डालें, इस पर भला कौन विश्वास करेगा? हमें पूर्ण आशा और अपेक्षा है कि दिगम्बर जैनकुल में उत्पन्न कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति वैशाली को भगवान महावीर की जन्मभूमि स्वीकार नहीं कर सकता। तीर्थक्षेत्र कमेटी को भी जैनागम को ही बहुमान देना चाहिए। वैशाली में महावीर का कोई स्मारक खड़ा करो तो करो, पर उसे उनकी जन्मभूमि मत कहो। जन्मभूमि तो सदियों से कुण्डलपुर थी है और रहेगी।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

कुण्डलपुर या वैशाली: एक अनुचिन्तन

लेखक-प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद,
(अध्यक्ष अ.भा.दि. जैन शास्त्री परिषद)

यह युग नई-नई खोजों का है। प्रतिवर्ष देश में कुछ नये अतिशय क्षेत्र खोज लिए जाते हैं। वैसे भी अतिशय क्षेत्रों की किसी सीमा का उल्लेख आगम में नहीं मिलता। वे असंख्य हो सकते हैं और गांव-गांव में हो सकते हैं। खोज अतिशय क्षेत्रों तक सीमित रहे तो भी गनीमत है, किन्तु क्या किसी एक ही महापुरुष के कल्याणक क्षेत्र या सिद्धक्षेत्र भी एक से अधिक हो सकते हैं, यह विचारणीय है। दुख है कि आज हमारे कुछ समर्थ महानुभावों ने अपने बुद्धि-कौशल से यह कमाल भी कर दिखाया है। हमारे जैन भाई यह नहीं समझा पा रहे हैं कि महावीर का जन्म कहां हुआ था—कुण्डलपुर नालंदा में अथवा वासुकुण्ड या कुण्डग्राम (वैशाली) में? वह मोक्ष कहां से गये थे—पावापुरी (बिहार शरीफ) या सठियाव गांव (गोरखपुर) से? क्या एक ही व्यक्ति दो स्थानों पर एक साथ जन्म ले सकता है या दो स्थानों से एक साथ प्रयाण कर सकता है? जब अपने अंतिम तीर्थंकर के बारे में यह भ्रान्ति है, तब उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के बारे में तो न जाने ऐसी कितनी नई बातें गढ़ी जा सकती हैं और गढ़ी भी जा चुकी हैं। हम किसी निर्दोष व्यक्तित्व का निर्माण तो नहीं कर पा रहे हैं, किन्तु नई-नई पवित्र भूमियों को खोज निकालने में जरूर माहिर हैं। इन्सानियत का ढ़ांचा तैयार करने की अपेक्षा किसी भूमि या भूमिखण्ड का नक्शा बदलना आज हमारे लिए ज्यादा आसान हो गया है।

बात सन् १९६३ की है। हम लोग बंगलौर जा रहे थे। हमें श्रवणबेलगोल के महामस्तकाभिषेक महोत्सव में सम्मिलित होना था। कर्नाटक एक्सप्रेस गुण्टकल स्टेशन से आगे बढ़ी तो एक स्टेशन आया अनन्तपुर जौन उससे आगे पड़ा एक दूसरा स्टेश धर्मपुरम्। इंदौर के एक जैन सहयात्री ने हमसे कहा कि इधर के स्टेशनों के नाम बडे प्यारे हैं। हम बोले—क्यों नहीं होंगे? इनका संबंध हमारे पन्द्रहवें और चौदहवें तीर्थंकर भगवन्तों से जो है। जरूर यहां कभी न कभी उनका प्रवास या विहार हुआ होगा। लोग हमारा मुंह देखने लगे। कुछ ने तो रेल की खिड़की से अपने सिर और हाथ निकालकर इन स्टेशनों को प्रणाम भी किया। कितने भोले हैं हमारे ये जैन भाई! विनोद में कही गई पंडित की बात पर कितना भरोसा करते हैं। आज जैनियों के इसी भोलेपन का लाभ थोड़े से बौद्धिक आयाम से समर्थ कुछ लोग उठाने में सफल हो रहे हैं। महावीर की जन्मभूमि की नई खोज में तो कोई नामसाम्य भी नहीं है। भाषा विज्ञान के किस नियम से बसाढ़ को वैशाली अथवा

वासुकुण्ड या कुण्डग्राम में बदला जा सकता है, क्या इस पर विचार नहीं होना चाहिए था? इस नई खोज के बारे में राष्ट्रीय स्तर पर बहस का आयोजन किए बिना ही चंद लोगों द्वारा फतवा जारी करना कथमपि उचित नहीं था।

अंग्रेजी व्याकरण का एक नियम है कि किसी प्रसिद्ध व्यक्ति या स्थान के नाम (Proper Noun) में प्रायः बदलाव नहीं होता। जो जिस नाम से प्रसिद्ध है, उसे उसी नाम से पुकारा जाता है। न तो उसके लिए पर्यायवाची शब्द का प्रयोग होता है और न उसका अनुवाद ही किया जा सकता है। यदि किसी गांव का नाम मक्खनपुर है तो उसे मक्खनग्राम कहना या नवनीतपुर कहना त्रुटिपूर्ण तो है ही, भ्रमोत्पादक भी है। अंग्रेजी में उसे **Butter Villege** कहना भी हास्यास्पद होगा। अंग्रेजों ने लंका का नाम बदलकर 'सीलोन' रख दिया था, पर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वहां के शासकों ने पुनः उसके मूल नाम को पहले से भी अधिक आदरसूचक बनाकर 'श्रीलंका' कर दिया। यह तो हम ही लोग इतने लचीले हैं कि हमारे संविधान में भारत आज भी इंडिया के रूप में दर्ज है और हमें आज तक इस पर कोई आपत्ति नहीं है।

बसाढ़ को वैशाली और पुर को ग्राम कहना भी व्याकरणसम्मत नहीं है। सभी जैनग्रंथों में भगवान की जन्मभूमि को कुण्डपुर या कुण्डलपुर के नाम से ही उल्लिखित किया गया है। किसी एक भी आचार्य ने पुर के स्थान पर ग्राम का प्रयोग नहीं किया।

भारत में अनेक जैन तीर्थ ऐसे हैं, जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही मानते और पूजते हैं तथा कुछ तीर्थों के बारे में दोनों में मतभिन्नता भी है। महावीर का जन्म कुण्डपुर या कुण्डलपुर में हुआ था, इस विषय में दोनों ही सम्प्रदाय एकमत हैं, किन्तु यह नगर कहां पर अवस्थित है, उसको लेकर दोनों में मतभेद है। वैशाली को वीर-जन्मभूमि के रूप में मान्यता प्रदान करने के लिए तो अधिकांश श्वेताम्बर भाई भी तैयार नहीं हैं। यह तो हमारे चंद नेताओं का उतावलापन ही था, जो उन्होंने कुछ पाश्चात्य और कुछ जैनेतर विद्वानों की इस खोज पर आनन-फानन में अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी।

वैशाली को जन्मभूमि मानना आगमसम्मत तो है ही नहीं, युक्तिसंगत भी नहीं है। आज से ५४ वर्ष पूर्व तक तो वैशाली का नाम पुराणों में पढ़ने को अवश्य मिलता था, किन्तु धरती पर उसका कहीं अस्तित्व ही नहीं था। १४वीं सदी में मदनकीर्ति ने अपनी कृति 'शासन चतुश्त्रिंशका' में अनेक तीर्थों का वर्णन किया है किन्तु वैशाली कुण्डग्राम का कोई उल्लेख नहीं किया। दूर की बात छोड़िए, गत बीसवीं सदी के प्रथम दशक में प्रकाशित 'प्रसिद्ध-जैनतीर्थ स्थलों का वृत्तान्त' नामक पुस्तक में भी वैशाली का नाम नहीं है। सन् १९६१ में प्रकाशित दिल्ली जैन डायरेक्टरी में

पृ. २२५ से २५६ तक भारत के प्रमुख जैनतीर्थों का विवरण संकलित किया गया है। उसमें नालंदा और कुण्डलपुर का उल्लेख तो है परन्तु वैशाली का नहीं। उसमें लिखा है कि नालंदा का पार्श्ववर्ती यह कुण्डलपुर नगर कई बार बना और कई बार नष्ट हुआ। यहां हुए **Acreological servey** के फलस्वरूप यहां अनेक बौद्ध और जैन मंदिरों के अवशेष और मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। एक नगर बड़गांव का भी उल्लेख है, जहां कभी महावीर के समवसरण के आने की बात कही जाती है। यह गांव आज भी यहां है।

बताया जाता है कि विशाल अट्टालिकाओं से सुशोभित यह वैशाली नगर ५वीं या ६वीं शताब्दी में पूर्णतया नष्ट हो चुका था। आजादी से पूर्व की किसी भी पुस्तक में वैशाली को भगवान की जन्मभूमि नहीं बताया गया है। सदियों से नालंदा के निकट स्थित कुण्डलपुर को ही यह गौरव प्राप्त होता रहा है। इसकी पुष्टि भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'भारत के जैन तीर्थ' पुस्तकमाला के बिहार, बंगाल, उड़ीसा से संबंधित द्वितीय भाग से होती है। यहां शताधिक वर्षों से चैत्र सुदी १२ से १४ तक भगवान महावीर स्वामी का जन्मकल्याणक महोत्सव मनाने के लिए भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी की ओर से मेला भी आयोजित किया जाता रहा है। बाद में सन् १९५१ में स्व. श्रीमान् साहू शांतिप्रसाद जी द्वारा अचानक वैशाली को जन्मभूमि के रूप में मान्यता दिये जाने के बाद जानबूझकर कुण्डलपुर की उपेक्षा करने का एक सोचा-समझा सिलसिला शुरू हुआ, जो चिंतनीय है। इस अविचारित खोज के बाद भी ग्रंथमाला के विद्वान् सम्पादक स्व. पं. बलभद्रजी द्वारा यह लिखा जाना बहुत महत्वपूर्ण है—'शताब्दियों से जिस कुण्डलपुर की एक जैनतीर्थ के रूप में मान्यता रही है, उसको भविष्य में भी तीर्थ माना जाता रहेगा।

तीर्थक्षेत्र कमेटी में अचानक यह बदलाव केन्द्र सरकार से आर्थिक अनुदान पाने के लालच में आया अथवा अपनी एक नई खोज से मिलने वाली नामवरी की लालसा ने उन्हें इसके लिए प्रेरित किया, अब इस पर भी खोज की आवश्यकता है। पुराने तीर्थों की उपेक्षा और नई तीर्थों के निर्माण के प्रति जागा मोह हमारी परम्परा बन गई है। स्व. पं. नाथूराम प्रेमी ने ठीक ही लिखा था—'प्राचीनता की रक्षा करने में जैनसमाज उतना ही असावधान रहा है, जितना नवीन निर्माण करने में कटीबद्ध। जहां जैनत्व का कोई चिन्ह तक कभी नहीं पाया गया, वहां भी नए-नए तीर्थ बनते हुए देखने से उनकी यह बात प्रमाणित भी हो रही है।

कुण्डलपुर के जैन मंदिर और मूर्तियों के दर्शन हमने सर्वप्रथम सन् १९४४ या ४५ में अपने पूज्य पिताजी के साथ किए थे। तब हमारी उम्र लगभग १२ वर्ष की रही होगी। उसके बाद भी दो-तीन बार हमारा वहां जाना हुआ है। तभी से निरन्तर भगवान महावीर की जन्मभूमि के रूप

में हम उसका परिचय प्राप्त करते रहे हैं। अ.भा.दि. जैन परिषद पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'जैनतीर्थ दर्शन' का सन् १९९८ का नया संस्करण हमारे पास है। उसमें लिखा है—

'कुण्डलपुर नालंदा को ही भगवान महावीर की जन्मभूमि माना जाता रहा है, किन्तु अब यह श्रेय वैशाली के कुण्डग्राम को प्राप्त हो गया है।' यह श्रेय वैशाली के कुण्डग्राम को प्राप्त हो गया है के स्थान पर यह श्रेय चंद लोगों ने उसे दे दिया है, यह लिखना ज्यादा उचित होता।

कुण्डलपुर को जन्मभूमि मानने की अपनी पुरानी धारणा को बट्टे खाते में डालने के पीछे क्या कारण था? क्या तीर्थक्षेत्र कमेटी को पूरे समाज को यह नहीं बताना चाहिए था? खैर, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। कमेटी को अपनी इस नई खोज का यथाशीघ्र पुनर्मूल्याकंन करते हुए 'जब जागो, तभी सवेरा' की कहावत को चरितार्थ करना चाहिए।

इतिहास को बदलने की चेष्टा एक बड़ी भूल है। यह निर्विवाद है कि महावीर का जन्म वैशाली में नहीं हुआ था। उनकी माता प्रियकारिणी अवश्य विशाला नगरी वैशाली के महाराजा चेटक के यहां जन्मी थीं। इस तरह वैशाली महावीर की ननिहाल थी। उन्हें वैशाली का राजकुमार कहना या लिखना असंगत ही नहीं, अक्षम्य भी है। महाराजा चेटक के दस पुत्र थे। योग्य पुत्रों के रहते हुए (धेवले) पुत्री के पुत्र को राजकुमार कहने की प्रथा तो कहीं भी देखने में नहीं आती। महावीर जैसा प्रतापी पुत्र उत्तमा आत्मनाख्याताः की श्रेणी में गणनीय रहा है, उन्हें 'मातुलात्ख्याताः' की अधम श्रेणी में रखने की भूल का हमें तुरंत परिष्कार करना चाहिए।

सभी पुराणों में लिखा है कि कुण्डलपुर एक स्वतंत्र और प्रभावशाली गणराज्य था, उसके वैभव का प्रचुर वर्णन भी जैनशास्त्रों में पाया जाता है। उसके अधिपति महाराजा सिद्धार्थ भी एक शक्तिशाली प्रतापी और स्वतंत्र राजा थे। कुण्डलपुर को वैशाली के एक सन्निवेश के रूप में स्वीकार करने से तो उसके स्वतंत्र राज्य होने पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाएगा तथा लोगों को लगेगा कि महाराजा सिद्धार्थ अवश्य ही कोई साधारण राजा थे और उनका अपना कोई आभामण्डल भी नहीं था। वैशाली के राजा के कारण ही उनका मान-सम्मान था। हमें तो स्वप्न में भी ऐसा सोचना इष्ट नहीं है। पौराणिक वर्णन भी हमें इसकी अनुमति नहीं देते।

श्वेताम्बर ग्रंथ 'सूत्रकृतांग' आदि में महावीर को वैशालिक कहा गया है। इसका यह अर्थ निकालना ठीक नहीं होगा कि वह वैशाली के निवासी थे। श्वेताम्बर अंग-साहित्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शीलांक ने महावीर को वैशालिक कहे जाने के पीछे जो तर्क दिये हैं, वे विचारणीय हैं। वे लिखते हैं—

'विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा। विशालं वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः।।'

अर्थात—१. जिनकी माँ विशाला नगरी की थीं, २. जिनका कुल विशाल था तथा ३. जिनके वचन भी विशाल थे, वह कहलाते थे वैशालिक जिन।

वाह रे बुद्धि- प्रवण दिगम्बरों! तुमने तो उन्हें वैशाली का निवासी ही बना दिया। वैशाली का राजकुमार कहकर उनके मामाओं के अधिकार पर भी पानी फेर दिया। क्या महावीर जैसे उदात्त पुरुष से भी ऐसी अनधिकृत चेष्टा की उम्मीद या कल्पना की जा सकती है? नहीं, कभी नहीं। वह वैशाली के नहीं थे, इसे स्वीकार करना ही इस ऐतिहासिक भूल का प्रायश्चित्त होगा।

महावीर की जन्मभूमि के संदर्भ में यदि बौद्ध ग्रंथों या श्वेताम्बर साहित्य के आधार पर निर्णय लिया जाएगा तो फिर अनेक नई उलझनें उत्पन्न होंगी। अनेक आगमविरुद्ध प्रसंगों को मानने की विवशता भी हमारे सामने उपस्थित हो सकती है। उनके अनुसार माता त्रिशला महाराज चेटक की बहन थी, जबकि हमारे अनुसार वह उनकी पुत्री थीं। हमारी मान्यता है कि महावीर अपने पिता सिद्धार्थ के अकेले पुत्र थे, जबकि उनके अनुसार उनका एक भाई नंदिवर्धन भी था। श्वेताम्बर यशोदा से उनका विवाह होना मानते हैं और कहते हैं कि उनकी एक पुत्री भी थी, किन्तु हम इसे सिरे से नकारते हैं। श्वेताम्बर ग्रंथों में लिखा है कि बसाढ़ के निकट दो कुण्डग्राम थे एक ब्राह्मण कुण्डग्राम और दूसरा क्षत्रिय कुण्डग्राम। उनके अनुसार महावीर का जीव स्वर्ग से प्रथम ब्राह्मण कुण्डग्राम के ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानंदा की कोख में आया और बाद में ब्यासी रात्रियों के बाद एक देव द्वारा उन्हें क्षत्रिय कुण्ड के महाराज सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला के कोख में स्थापित किया गया। क्या गर्भापहरण की इस बेतुकी बात का भी हम समर्थन करेंगे? हमारे युगपुरुष महापुरुष के वास्तविक पिता कौन थे? इस प्रश्न का क्या उत्तर हमारे पास होगा? कोई निर्णय करने से पहले इन सब बातों पर भी विचार करना चाहिए था।

महावीर की जन्मभूमि का निर्णय दिगम्बर शास्त्रों के अनुसार ही हो सकता है और होना भी चाहिए। सभी दिगम्बर शास्त्र और पुराण उनकी जन्मभूमि कुण्डपुर या कुण्डलपुर को ही मानते हैं। कहीं कोई विवाद नहीं है। विवाद तो नए अनुसंधानकर्ताओं ने अपनी-अपनी बौद्धिक अटकलों से उत्पन्न कर दिया है। जहां तक दो कुण्डग्रामों की बात है, भगवती सूत्र का यह उल्लेख महत्वपूर्ण है—

'तीसेणं णालिंदा वाहिरियाए अदूरसामंते एत्थणं कोल्लाए णामं सण्णिवेसे होत्था सण्णिवेस वज्जओ। तत्थणं कोल्लाए सण्णिवेसे बहुलेणाम माहणे परिवयई।"

इस कथन से स्पष्ट है कि वैशाली और नालंदा दोनों ही स्थानों के समीप कोल्लाग सन्निवेश और दो-दो कुण्डग्राम थे। इस उल्लेख के आधार पर कुण्डग्राम नालंदा को जन्मभूमि मानने में कोई अड़चन शेष ही नहीं रहती। वैशाली को महावीर की जन्मभूमि तो माना ही नहीं जा सकता। यह

धारणा सर्वथा अस्वीकार्य एवं निर्मूल है। श्री पी.सी. राय चौधरी ने अपनी एक पुस्तक 'Jainism in Bihar'' में लिखा है—दिगम्बर सम्प्रदाय वालों ने नालंदा से दो मील दूर कुण्डलपुर नामक स्थान को महावीर की जन्मभूमि माना है।' श्री राधाकृष्ण चौधरी और श्री नरेशचंद मिश्र भी वैशाली को जन्मभूमि मानने को तैयार नहीं हैं। ये विद्वान् इस संदर्भ में पुनर्मूल्याकंन किए जाने पर जोर देते हैं।

सर्वश्री हर्मन जैकोबी, हार्नले और बिसेंट स्मिथ जैसे पाश्चात्य विचारकों ने प्राचीन वैशाली के कोटिग्राम से कुण्डग्राम के विकास की बात कही है, जो भाषा विज्ञान की दृष्टि से ठीक नहीं है। प्रो. रघुवीर प्रसाद सिंह ने लिखा है-'कोटि शब्द से कुण्डग्राम का विकास किसी भी प्रकार संभव नहीं है।'

के.के. एम. कॉलेज, जमुई के प्रोफेसर डॉ. श्यामानन्द प्रसाद ने अपनी शोधपरक पुस्तिका 'महावीर का जन्मस्थान' में लिखा है—'महात्मा बुद्ध ने कोटिग्राम में निवास करते समय दस सुत्तों का उपदेश दिया था, ऐसा उल्लेख संयुक्त निकाय में आता है। इससे स्पष्ट है कि यदि महावीर के समकालीन बुद्ध के समय में इस स्थान का नाम कोटिग्राम ही था तो महावीर के लिए यह कुण्डग्राम नहीं हो सकता है।'

एक तथ्य यह भी है कि लगभग आधी सदी तक वैशाली को महावीर की जन्मभूमि के रूप में प्रचारित और प्रसारित किए जाने के बाद भी जैनों का उसके साथ जुड़ाव नहीं हो सका है। वहां हर वर्ष महावीर जयन्ती का आयोजन भी सरकार की वैशाखी के द्वारा होता आ रहा है। जैनसमाज स्वतंत्ररूप से वहां कोई आयोजन नहीं करता है। इसके विपरीत बिहार के तीर्थों की यात्रा करते समय सभी जैन बन्धु कुण्डलपुर अवश्य जाते ही हैं। भगवान महावीर एवं उनके साथ जुड़ी विभूतियों से संबंधित अनेक तीर्थ राजगृही, पावापुरी, गुणावा, नवादा आदि कुण्डलपुर के निकट ही हैं। वैशाली के आस-पास ऐसे धार्मिक महत्व के स्थानों एवं वातावरण का नितान्त अभाव है, जो लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर आकर्षित कर सके। यदि महावीर ३० वर्ष तक वैशाली में रहे होते हो वहां अनेक नए पुण्यक्षेत्र विकसित होने चाहिए थे। इसलिए वैशाली आज तक उपेक्षित रही और कुण्डलपुर की तुलना में भविष्य में भी उपेक्षित रहेगी।

पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने देर से ही सही, कुण्डलपुर के विकास की प्रेरणा देकर एक सामयिक महत्व का कदम उठाया है। पहले तो हम भी चौंके थे कि यह एक नया विवाद क्यों खड़ा किया जा रहा है? किन्तु जब हमने उनके और प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी के विचार पढ़े तथा इस संदर्भ में उनके साथ विचार-विमर्श हुआ तो हमें लगा कि उनका यह मिशन उपेक्षणीय नहीं है। जैनागम के कुण्डलपुर के पक्ष में यदि प्रमाण देखना हो तो पाठकों को त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर द्वारा प्रकाशित 'महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर' शीर्षक पुस्तक

मंगाकर पढ़नी चाहिए। वासुकुण्ड, कुण्डग्राम, बसाढ़ जैसे शब्दों की जन्मभूमि के साथ संगति बिठाने के द्राविणी प्राणायाम का परिचय उन्हें स्वयं ही मिल जायेगा। पुनरावृत्ति से बचने के लिए हम उन्हें यहां दोहराना उचित नहीं समझते।

आगम और युक्ति दोनों से ही यह सिद्ध होता है कि वैशाली एक इतिहासप्रसिद्ध महानगर रहा है, किन्तु महावीर की जन्मभूमि होने का एक भी प्रमाण हमें अपने आर्षग्रन्थों में नहीं मिलता। वैशाली में कुछ बनाना ही हो तो कोई शानदार स्मारक बनाएं, किन्तु उसे महावीर-जन्मभूमि के रूप में प्रचारित न करें। जब जीव सोवे तब समझे सुपन सत्य, वही झूठ लागैं जब जागे नींद खाई कैं- पं. प्रवर बनारसीदास की इन पंक्तियों के अनुसार वैशाली के संदर्भ में कुछ लोगों द्वारा देखे गये स्वप्न की असलियत अब हमारे सामने आ चुकी है। अब पुनः कोई चूक हमसे नहीं होनी चाहिए।

प्रसिद्ध नाटककार 'गैलीलियो' की इन पंक्तियों के साथ हम अपनी बात समाप्त करते हैं-

"जो जब तक सच्चाई नहीं जानता, तब तक केवल अज्ञानी कहलाता है, किन्तु जानने के बाद भी जो सत्य को स्वीकार नहीं करता, वह अपराधी है।"

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

मानचित्र में परिवर्तन- एक बचकाना प्रयास

कम नहीं होगा इससे कुण्डलपुर का गौरव

लेखक—प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद,
(अध्यक्ष अ.भा.दि. जैन शास्त्री परिषद)

जैन समाज में कोई या कैसा भी विवाद, चाहे वह सैद्धान्तिक हो या भौगोलिक, एक बार उत्पन्न हो जाए तो उसका समाधान नहीं निकल पाता। आज तक मूल आम्नाय या सोनगढ़ पक्ष अथवा तेरह या बीस पंथ का कई दशकों तक चली लम्बी बहस के बाद भी कोई हल नहीं निकल सका है। आज भी लोग खेमों में बँटे हुए हैं। अब एक नया विवाद भगवान महावीर की जन्मभूमि को लेकर उत्पन्न हो गया है। इसका भी कोई सर्वसम्मत हल निकल पायेगा, कुछ लोगों की हठधर्मी को देखते हुए इसकी संभावना कम ही लगती है। गत आधी सदी पूर्व दिगम्बरेतर शास्त्रों के आधार पर कुछ पाश्चात्य और कुछ जैनेतर विद्वानों द्वारा की गई खोज से प्रभावित होकर हमारे कुछ मुट्ठी भर प्रगतिशील जैन श्रीमंतों और विद्वानों ने समाज की श्रद्धा और भावनाओं का ख्याल किए बिना वैशाली को भगवान महावीर की जन्मभूमि घोषित कर दिया था। उनके कुछ पक्षधर आज भी सक्रिय हैं और उन्होंने इस प्रकरण को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया लगता है वे नहीं चाहते कि इस बिन्दु पर पुनः कोई ठोस चर्चा शुरू हो। ध्यान रहे कि चर्चा से कतराना भी कमजोरी की ही निशानी होती है।

सदियों से नालंदा के निकटवर्ती कुण्डलपुर को महावीर की जन्मभूमि माना जाता रहा है। आजादी से पूर्व तक किसी ने इस पर उंगली नहीं उठाई, किन्तु नई जन्मभूमि वैशाली को मान्यता दिए जाने के साथ ही कुण्डलपुर के कुछ स्वनामधन्य पदाधिकारियों ने ही उसकी उपेक्षा करना शुरू कर दिया। उपेक्षा का पहला उदाहरण सन् १९४७ में हमारे सामने आया। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित भारत के जैन तीर्थ-पुस्तक-श्रृंखला में संलग्न जैन तीर्थों के मानचित्र में वैशाली को जन्मभूमि के रूप में दिखाया जाने लगा, किन्तु संतोष की बात यह रही कि धर्मतीर्थ के रूप में कुण्डलपुर भी नक्शे में बना रहा। यह मानचित्र भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी ने जारी किया था।

पटना संग्रहालय के डॉ. अरविन्द महाजन ने जन्मभूमि के रूप में वैशाली का पुरजोर समर्थन करते हुए भी लिखा है—कुण्डलपुर (नालंदा) और लछुआड़ (जमुई) भी जैन तीर्थ हो सकते हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।' पटना के ही एक पत्रकार श्री विजय कुमार ने इसका कारण बताते हुए लिखा है कि बिहार प्रदेश में घूमते हुए भगवान महावीर ने इन दोनों स्थानों की भी यात्रा

की होगी और यहाँ पर उनका धर्मोपदेश हुआ होगा। धन्यवाद के पात्र हैं ये दोनों विद्वान्, किन्तु भा. दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के वर्तमान पदाधिकारियों के बारे में हम क्या कहें, जिन्होंने अब जो नया नक्शा पारित किया है, उसमें वैशाली को तो मोटे अक्षरों में दिखाया गया है, किन्तु कुण्डलपुर को इस नए नक्शे में से जड़मूल से ही गायब कर दिया गया है। इधर कई पत्रों (दि. जैन मित्र मण्डल, नई दिल्ली की स्मारिका, मासिक 'जैन प्रचारक' आदि) में इसे छपवाकर यह दिखाने की कोशिश की गई है कि मानो कुण्डलपुर नामक किसी स्थान का खरगोश के सींगों की तरह कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं है।

हमारे ये स्वयंभू नेता शायद यह सोचते हैं कि नक्शे में से कुण्डलपुर को यदि हटा देंगे तो धरती पर उसका वजूद ही समाप्त हो जायेगा। उनकी इस खामख्याली पर हमें दया आती है। वे यह भूल रहे हैं कि जिस वस्तु को मिटाने की कोशिश की जाती है, वह और अधिक मजबूत होकर तेजी से उभरने लगती है।

हमने तो पढ़ा है कि कहीं किसी सुनसान स्थान पर रखी यदि किसी प्राचीन जिन प्रतिमा की सौ वर्षों तक पूजा होती रहे तो वह प्रतिमा प्रतिष्ठित मान ली जाती है। खेद है कि जहाँ सदियों से भगवान महावीर की जन्मकल्याणक की पूजा होती रही है, उसे ये अब स्थापना निक्षेप से भी तीर्थ मानने के लिए तैयार नहीं हैं। मानचित्र में से कुण्डलपुर को निकालना एक अक्षम्य दुःसाहस ही कहा जाएगा। ऐसा करने से तीर्थक्षेत्र कमेटी के पदाधिकारियों की छवि में कोई इजाफा नहीं हुआ है। कहीं अब उनका इरादा 'भारत के जैन तीर्थ' ग्रंथमाला के द्वितीय खण्ड से भी कुण्डलपुर के नाम और तत्संबंधी विवरण को भी निकालने का तो नहीं है।

कुण्डलपुर के गौरव को कम करने का दूसरा बचकाना प्रयास जैन कॉलिज, आरा की संस्कृत विभाग की उपाचार्या डा. शांति जैन द्वारा एक नई आरती गढ़वाकर किया गया है। चूँकि दिगम्बर जैन समाज के ख्यातिबद्ध कवियों द्वारा समय-समय पर रचित पूजाओं, भजनों, पदों, आरतियों आदि में कहीं वैशाली का नाम नहीं आया है। इसलिए अब इस नई आरती को गढ़कर उस कमी के पूरा हो जाने का सपना संजोया गया है। इस मनगढ़न्त नई आरती के कुछ बोल हैं—

'सिद्धारथ गृह जनमें वैशाली नगरी।
हरषित त्रिशला माता जिनकी गोद भरी।। स्वामी जय सन्मति देवा
वैशाली के ललना, त्रिशला के नन्दन।
गायें आरती इनकी, करें चरणवन्दन।। स्वामी जय सन्मति देवा।

डा. शांति जैन ने अपने इस बुद्धि-चातुर्य से दिगम्बर जैनागम विरुद्ध इस नई आरती को गढ़कर क्या हमारे पूर्वज कविवृन्दों सर्वश्री वृन्दावन, बुध, महाचन्द, हरप्रसाद आदि की समझ का

उपहास उड़ाने की ही कोशिश नहीं की है? हमें संदेह है कि महावीर स्मारक समिति या तीर्थक्षेत्र कमेटी आगे चलकर हमारे यहाँ प्रचलित जिनवाणी-संग्रहों में ऐसी नई-नई पूजा-आरतियों को गढ़वाकर सम्मिलित करने की कोशिश कर सकती है। समाज के प्रबुद्धजनों, संतों, श्रीमन्तों और विद्वानों को सावधानी बनाए रखकर इस पर दृष्टि रखनी होगी। इतिहास को विकृत करने की ऐसे कोशिशों को सहन नहीं किया जाना चाहिए।

जहाँ एक ओर ये दोनों बचकानी कोशिशें हमारी दृष्टि में अत्यन्त आपत्तिजनक हैं, वहाँ महावीर स्मारक समिति, पटना द्वारा इस वर्ष 'जन्मस्थलीः वैशाली' शीर्षक से एक पत्रिका के प्रकाशन का हम स्वागत करते हैं। हमने इसे बहुत ध्यान से पढ़ा है। भले ही इस पत्रिका में व्यक्त निष्पत्तियों से हम कतई सहमत नहीं हैं, फिर भी किसी निर्णयात्मक स्थिति तक पहुँचने के लिए इस तरह के वैचारिक प्रयासों को हम एक सही तरीका मानते हैं। इस पत्रिका में वैशाली को जन्मभूमि सिद्ध करने वाले अनेक जैन-जैनेतर विद्वानों के आलेख संकलित हैं। उनके शोध, सर्वेषणों को हम एकांगी मानते हैं। उन्होंने दावा तो यह किया है कि उनके इस नये शोध का आधार जैनागम है, किन्तु जैनागम के नाम पर उन्होंने प्रमाण प्रायः श्वेताम्बर ग्रंथों के ही दिए हैं। जन्मभूमि के भूगोल के निर्धारण में बौद्ध ग्रंथों की भी सहायता ली गई है। इस शोधकार्य में दिगम्बर जैनागम की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। उनके द्वारा प्रस्तुत निष्कर्षों से कुछ श्वेताम्बर एवं कुछ जैनेतर विद्वान भी सहमत नहीं हैं। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

दिगम्बर जैन समाज के कुछ नेताओं द्वारा वैशाली को जन्मभूमि के रूप में मान्यता दिए जाने के पीछे दादुर-रट की प्रवृत्ति काम करती रही है। किसी एक समर्थ ने एक बार कोई फतवा दे दिया तो शेष सभी उसकी कार्बन कापी करते रहे। नियम भी है कि तेज हवा का रुख जिस ओर होता है, धुआँ उसी ओर मुड़ जाता है। हमारे आगमनिष्ठ संतों और विद्वानों का इस समय का मौन अखरने वाला है। अब यह भूल हमें नहीं करनी चाहिए। इस समय की तटस्थता भविष्य के लिए घातक होगी।

वैशाली की ताबड़तोड़ मान्यता के पीछे एक कारण सरकार से भारी आर्थिक अनुदान पाने की उम्मीद भी रही है। आखिर पैसा ही तो वह कील है, जिस पर सारा ग्लोब घूमता है। आज भी सही को सही मानने में नेताओं की हिचकिचाहट के पीछे भी सरकार से मिलने वाली दो-चार करोड़ की सहायता को पाने की लालसा या आशा ही तो है। अकबर ने लिखा भी है—

"भाईजी का फकत ये मतलब है,
जिसमें रुपया मिले वो काम करो।"

चलिए, पचास साल बाद ही सही, पूज्य आर्यिका द्वय (गणिनी ज्ञानमती एवं प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती माताजी) तथा कुछ भक्तजनों को इस भूल का अहसास तो हुआ। भूल की याद

भी जागृति का लक्षण है। अन्य सभी आगमनिष्ठ पूज्य संतों एवं विद्वज्जनों को भी दिगम्बर जैनागम की प्रामाणिकता को चुनौती देने वाले इन प्रयासों को नाकाम करने की पहल करनी चाहिए।

'जो अक्ल का गुलाम हो, वो दिल न कबूल कर' की उक्ति पर हमारा पूरा विश्वास है। तर्क और बुद्धि की जगह श्रद्धा और लगाव का अधिक महत्व है। जहाँ श्रद्धा का आधार न हो और निकटता तथा अपनेपन का अहसास न हो, वहाँ जन-भावनाएं नहीं जुड़ सकतीं। किसी भी नई खोज को तभी स्थायित्व प्राप्त हो सकता है, जबकि वह श्रद्धामूलक परम्परा की गहरी नींव पर आधारित हो।

कुछ लोग भले ही रुढ़िवादी होने का आरोप हम पर जड़ें, पर हम इस चर्चा को आगे अवश्य बढ़ायेंगे। जैन समाज के भले और भोले लोगों के सामने सच्चाई तो आनी ही चाहिए।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

दिगम्बर जैनों की श्रद्धा का केन्द्र कुण्डलपुर है, वैशाली नहीं

-*उमेश जैन*, फिरोजाबाद

वैशाली को महिमामण्डित करने के लिए जिस प्रकार तथ्यों को तोड़ामरोड़ा जा रहा है, तथा साथ ही दिगम्बर आचार्यों के कथन की उपेक्षा और अनदेखी की जा रही है, यह एक विचारणीय बिन्दु है। आश्चर्य इस बात का है कि यह सब कार्य स्वयं दिगम्बरों के द्वारा हो रहा है। वैशाली भगवान महावीर की माता त्रिशला का जन्म स्थान था, इस में किसी को कैसा भी कोई विरोध नहीं है। किन्तु यह वैशाली कहाँ थी, इसका निर्णय कल्पित अनुमानों के आधार पर नहीं हो सकता। दिगम्बर आचार्यों ने वैशाली की बात सिन्धु देश की राजधानी के रूप में की है। वैशाली-नरेश महाराज चेटक भगवान महावीर की माँ त्रिशला (प्रियकारिणी) के पिता थे, इस कथन पर भी सभी दिगम्बर आचार्य एक मत हैं। सिन्धु देश की इस वैशाली की कल्पना आज के विद्वान और इतिहासवेत्ता बिहार के पूर्ववर्ती मुजफ्फरपुर वर्तमान में वैशाली जनपद के बसाढ़ ग्राम में कर रहे हैं, और इसके लिये तर्क गूढ़े जा रहे हैं कि इस क्षेत्र में गंगा, सौन और गण्डकी नदियाँ बहती हैं, इसलिए यही क्षेत्र सिन्धु देश था। अगर यह सिन्धु देश था, तब बिहार का विदेह देश कहाँ था? यहाँ जरा विचार करें कि वैशाली नगर तो सिन्धु देश की राजधानी था, क्षत्रिय कुण्ड विदेह देश की राजधानी कुण्डपुर, कुण्डग्राम या कुण्डलपुर था, तब क्या दो देशों की राजधानियाँ एक ही जगह पर थीं? आजतक किसी इतिहासकार ने सिन्धु देश की कल्पना बिहार में नहीं की है। ईसापूर्व और ईसा के सैकड़ों वर्षों बाद तक आज का बिहार उस समय प्रायः तीन भागों में विभाजित था, जिसकी राजधानी मिथिला थी। काशी राज्य के बाद बिहार का क्षेत्र जिसमें पश्चिमी, मध्य व दक्षिणी बिहार का भूभाग था, मगध कहलाता था, जिसकी राजधानी राजगृही थी। पूर्व बिहार अंग देश के नाम से जाना जाता था, जिसकी राजधानी चम्पापुर थी। यहाँ किसी इतिहासकार ने सिन्धु देश की चर्चा नहीं की है।

हमारे आज के तर्कदार इतिहास के इस सत्य को क्यों नकार रहे हैं कि आर्यावर्त (भारत) की इस भूमि पर पहले भी सिन्धु देश या सिन्धु प्रांत था, आज भी है, भले ही वह अब देश के विभाजन के बाद पाकिस्तान का भाग है। क्या आज भी वहाँ सिन्धु व अन्य पाँच विशाल नदियाँ

नहीं बहती? अतीत का भारत मात्र सिन्धु प्रदेश तक ही नहीं, पाकिस्तान के पश्चिमी किनारे पेशावर तक का भू भाग था। विशाल साम्राज्यों की सीमाऐं नगर ग्राम के मुहल्लों में समाहित नहीं होतीं। ईसा से करीब २५० वर्ष पूर्व स्थापित मौर्य साम्राज्य की सीमाऐं इतनी विशाल थीं कि इस सम्पूर्ण साम्राज्य को संचालित करने के लिये राजधानी पाटलीपुत्र के अतिरिक्त मौर्य सम्राटों की दो उपराजधानियाँ क्रमशः उज्जैन व तक्षशिला थीं। तक्षशिला आज पाकिस्तान के अवैध रूप से हथियाऐ गये कश्मीर में है। इसी तक्षशिला से सिन्धु से लेकर अफगानिस्तान तक के उस विशाल साम्राज्य का संचालन होता था। पता नहीं आज भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ के राज्य को वैशाली के एक मुहल्ले तक सीमित करके क्यों बताया और स्वीकारा जा रहा है?

आज एक तरफ सभी प्रकार के तर्क-कुतर्कों के साथ वैशाली को बिहार में बताकर उसे महिमामण्डित करने का प्रयास चल रहा है, तो दूसरी तरफ महावीर का जन्मस्थान वैशाली बताकर कुण्डलपुर को नकारने की नाकाम कोशिश की जा रही है। प्रश्न कुण्डलपुर को नकारने का नहीं है। यहाँ तो महावीर को वैशाली के ग्राम, मुहल्ले के भाग में जन्मा बताकर उनके पिता, दादा या पूरी वंश-परम्परा को एक सामान्य क्षत्रिय परिवार बताने का प्रयास हो रहा है। महावीर को वैशाली के एक मुहल्ले में जन्मा बताने या स्वीकारने पर क्या उनके तीर्थंकर सर्वज्ञता और अर्हंतता पर प्रश्न खड़े नहीं होंगे। क्योंकि अगर महाराज सिद्धार्थ वैशाली के किसी मुहल्ले या उपनगर के निवासी थे तो वह एक स्वतंत्र और सर्वमौन शासक हो ही नहीं सकते। जैनागम में तीर्थंकरों के गर्भजन्म आदि सभी क्रियाओं को किसी सामान्य घटना में नहीं, काल की विशेष घटनाओं के रूप में दर्शाया गया है, जिसे नकारा नहीं जा सकता।

कुण्डलपुर को नकारने का ही एक प्रयास है भगवान महावीर स्मारक समिति पटना से प्रकाशित भगवान महावीर स्मृति तीर्थ जन्मस्थली वैशाली। प्रकाशित पत्रिका में विद्वान लेखकों के आलेख देखकर लगता है कि तीर्थंकर महावीर वैशाली में जन्म लेने के कारण ही इस प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। पत्रिका के लेखक विद्वान हिन्दी साहित्य पुरातत्व आदि विधाओं के विद्वान तो हैं किन्तु वह दिगम्बर जैनागम, उसकी मान्यताओं आदि के मर्मज्ञ विद्वान भी हैं ऐसा आभास उनके आलेखों से नहीं मिलता। हालांकि उन्होंने दिगम्बर जैन आचार्यों के कथनों का अवलम्बन अपने आलेखों में लिया है किन्तु दिगम्बर जैन आचार्यों ने कहीं वैशाली को महावीर की जन्मस्थली नहीं बताया। प्रायः सभी लेखों के तर्क श्वेताम्बर और बौद्ध मतों के आसपास ही भटकते दिखाई देते हैं।

उक्त पत्रिका में श्वेताम्बर आचार्य विजयेन्द्र सूरी जी से लेकर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डा० योगेन्द्र मिश्र, डा० ऋषभचन्द्र जैन, फौजदार, डा० अरबिन्द महाजन, डा० जयदेव मिश्र,

प्रो० राजाराम जैन, विद्यावाचस्पति, डा० श्री रंजन सुरी देव, डा० शान्ति जैन, डा० राजेन्द्र राम जैन के आलेख समाहित हैं। यहाँ हम प्रथम आ० विजयेन्द्र सूरी जी के आलेख की एक पंक्ति दे रहे हैं। "भगवान महावीर जी की जन्मभूमि डा० हार्नले के अनुसार कोल्लाग सन्निवेश है, क्योंकि वह कोल्लाग को वैशाली का एक मुहल्ला मानते हैं, इसलिए वैशाली को ही जन्मभूमि मानते हैं।" आचार्य विजयेन्द्र सूरी जी को डा० हार्नले के कथन में इसलिये विश्वास है कि श्वेताम्बर ग्रन्थ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित में वर्णित है कि वैशाली के ब्राह्मण कुण्ड और क्षत्रिय कुण्ड गण्डकी के पूर्वी तट पर थे, और कर्मारग्राम, कोल्लाग सन्निवेश, वाणिज्य ग्राम तथा द्विपलाश चैत्य पश्चिमी तट पर। उक्त ग्रन्थ में कथन है कि भगवान को वैशाली से वाणिज्य ग्राम जाते समय गहरी गण्डकी नदी पार करनी पड़ी। यहाँ एक अन्तर स्पष्ट है डा० हार्नले के अनुसार कोल्लाग सन्निवेश वैशाली का एक मुहल्ला है और श्वेताम्बर कथनानुसार वैशाली, ब्राह्मण कुण्ड, क्षत्रिय कुण्ड, गण्डकी के पूर्वी तट पर और कोल्लाग सन्निवेश, कर्मारग्राम आदि पश्चिमी तट पर। फिर महावीर का जन्म कहाँ हुआ कोल्लाग सन्निवेश में या क्षत्रिय कुण्ड, कुण्डग्राम या वैशाली में?

भगवान महावीर के तीर्थंकरत्व का इससे बड़ा मजाक भला और क्या हो सकता है? कि तीर्थंकर नाम प्रकृति का बंध लेकर जन्म लेने वाला जीव अपने नाना के नगर के मुहल्ले में जन्मा। पता नहीं हम दिगम्बरों को क्या हो गया है कि हम अपनी आस्थाओं अपने पूज्य पुरुषों तीर्थंकरों के प्रति चाहे जैसी खोजों को स्वीकार करते जा रहे हैं? हम यहाँ श्वेताम्बर मान्यताओं के प्रति कुछ नहीं कहना चाहेंगे क्योंकि श्वेताम्बर मतानुसार दिगम्बरों की तुलना में महावीर की जीवन-घटनाओं में इतनी असमानता है कि उनमें कहीं एकाकार दिखाई नहीं देता। यहाँ एक प्रश्न और भी उभरता है कि जब श्वेताम्बर आचार्य विद्वान भगवान महावीर को वैशालिक या वैशाली में जन्मा मानते हैं, तब वह अपने अनुयाईयों को महावीर का जन्मस्थान लछुआड़ में स्थापित करने से क्यों नहीं रोक सके? या उनके ही समाज ने उनके शोधों को क्यों नकार दिया?

यहाँ हम प्रो० श्री राजाराज जी के आलेख के उस कथन की चर्चा कर रहे हैं जिसमें उन्होंने भगवान महावीर की माँ त्रिशला को महाराज चेटक की बहिन कहा गया है। प्रोफेसर साहब दिगम्बर जैन समाज के एक मान्य विद्वान ही नहीं, वह वर्तमान में कुंद कुन्द भारती जैसे संस्थान के निर्देशक भी हैं। पता नहीं कैसे प्रोफेसर साहब ने दिगम्बर मान्यताओं को नकार दिया त्रिशला महाराज चेटक की बहिन थी, यह श्वेताम्बर मान्यता है, दिगम्बर आचार्यों ने तो उन्हें उनकी पुत्री ही माना है। क्या आदरणीय प्रोफेसर साहब महावीर भगवान के प्रति अन्य श्वेताम्बर मान्यताओं को भी स्वीकृति प्रदान करेंगे? अगर ऐसा प्रयास हमारे दिगम्बर विद्वानों द्वारा किया जाने लगा तो यह हमारी

श्रद्धाओं पर कुठाराघात ही नहीं, हमारी मान्य परम्पराओं के लिए भी एक अशुभ संकेत होगा।

भगवान महावीर का जन्म कुण्डलपुर नगर में ही हुआ, वह कुण्डलपुर एक सार्वभौम शक्ति सम्पन्न राज्य की राजधानी था, यह एक अकाट्य सत्य है। वह कुण्डलपुर किसी नगर का मुहल्ला या उप नगर नहीं था। कुण्डलपुर के भूगोल पर कुछ प्रश्नों के उत्तर अनुत्तर हो सकते हैं, किन्तु कुण्डलपुर वैशाली का मुहल्ला या उपनगर था, यह तीन काल में स्वीकारने योग्य कथन नहीं है। बिहार सरकार के गजेटियर में कुण्डलपुर (नालन्दा) को महावीर भगवान के जन्मस्थान के रूप में मान्यता प्राप्त रही है, साथ ही जनमानस की श्रद्धा भी वहाँ सदियों से नत होती रही है, उसे कुछ लोगों द्वारा बदला नहीं जा सकता है और न बदलना चाहिए। व्यक्तियों के व्यक्तिगत स्वार्थवश या सम्मान का प्रश्न बताकर श्रद्धाओं और मान्यताओं से खिलवाड़ नहीं होना चाहिए। श्रद्धाएँ स्वार्थ से नहीं विश्वास से बलवती होती हैं हमें इस सत्य को स्वीकारना होगा।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

भगवान महावीर जन्मभूमि-प्रकरण

भगवान महावीर के जन्मस्थान का निर्णय दिगम्बर मतानुसार हो

-उमेश चन्द्र जैन, फिरोजाबाद

हमारे दिगम्बर जैन समाज की यह मान्यता ही नहीं अपितु अटूट आस्था है कि हमारी जिनवाणी का हर कथन और प्रत्येक शब्द चाहे वह सिद्धान्त विषयक हो या फिर व्याकरण, न्यायशास्त्र, या त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों के जीवन चरित्र के रूप में हो, वह पूर्णतः अर्हन्तप्रभु, सर्वज्ञ केवली भगवन्तों का ही कथन है। समवसरण में सर्वज्ञ प्रणीत कहे गये यह शब्द क्रमशः गणधर देवों, श्रुतकेवलियों और अंगधारक उन महान आचार्यों से प्राप्त होने वाले ज्ञानाधार से ग्रहण कर हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा लिपिबद्ध किये गये हैं और यही ज्ञानाधार सदियों से जिन परम्परा में जिनवाणी या जिनागम कहलाता है। भगवान महावीर के निर्वाण को आज २५ सौ वर्षों से भी अधिक समय पूर्ण होने जा रहा है। इन ढाई हजार वर्षों से हमारी श्रद्धा, आस्था पूर्वाचार्यों के कथन से जुड़ी रही है। जब किसी सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण या अन्य कथानकों, विषयों पर अगर हम डगमगाऐ या दिशाभ्रमित हुए, तब- तब हमें हमारी इस जिनवाणी से ही समाधान प्राप्त होता रहा है। हजारों हजार वर्षों से यह जिनवाणी ही हमारी मार्गदर्शक रही है, इस जिनवाणी के महत्व का वर्णन करते हुये आचार्य पद्मनंदी जी ने कहा है—

सम्प्रत्यस्ति न केवली कल कलौ त्रैलोक्य चूड़ामणि,
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रै जगद्योतिका।
सदरत्नत्रय धारिणो यतिवरा स्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः।।

अर्थात् इस वर्तमान काल में हमारे क्षीण पुण्य के कारण हमें साक्षात् अर्हन्त केवली भगवन्तों का चरण सानिध्य प्राप्त नहीं है, किन्तु उनकी वाणी आज भी हमारे इस भरत क्षेत्र को आलोकित किये हुये है। इस जिनवाणी के कारण ही तो यह रत्नत्रय धारक मुनिराज हमारे बीच में विद्यमान हैं, इन रत्नत्रय धारक मुनिराजों का पूजन ही जिनवाणी का पूजन है, और जिनवाणी का पूजन ही साक्षात् अर्हन्तों का पूजन है। जिनवाणी के प्रति विश्वास का यह अटल और अटूट रिश्ता ही विश्व भर में संख्या में नगण्य इस जैन वीतराग संस्कृति को जीवंत किये हुए है। अपनी शोधपूर्ण दर्शन

धारा के चलते ही वीतराग जैन दर्शन को विश्व की अन्य दर्शन धाराओं पर श्रेष्ठता प्राप्त है।

सर्वज्ञ प्रणीत इस वीतराग जैन चिन्तन की मान्यता है कि इस अनंत संसार सागर में प्रत्येक जीव पुरुषार्थ से स्वयं के कर्मबंधों को नष्ट कर इस भव सागर से मुक्त हो सकता है। नियम है कि मोक्षमार्ग का यह पुरुषार्थ भव्यजीव कर्मभूमियों में ही कर पाता है। ऐसे पुण्यशाली पुरुषार्थी जीव कर्मभूमि में उत्तम कुल परिवार में मनुष्य (पुरुष) जन्म लेकर अपना लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त करते हैं। जिन कर्मभूमियों से उन भव्यात्माओं के मोक्षद्वार खुलते हैं, जिनागम में ऐसी यह पंद्रह कर्मभूमियाँ ढाईद्वीपों में वर्णित हैं। इन ढाई द्वीपों में यह कर्मभूमियाँ क्रमशः पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह क्षेत्रों के नाम से जानी जाती हैं। पाँच विदेहक्षेत्रों में काल आदि की सदैव अपरिवर्तित स्थिति रहती है और यहाँ मोक्षमार्ग सदैव सर्वकाल नियमित रहता है, इसके विपरीत पाँच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रों में कालचक्र समान रूप से परिवर्तन-शील है। इन क्षेत्रों के काल परिवर्तन के छः विभाजन कालों में से एक विशेष कालखंड में भव्य पुण्यात्मा जीव अपनी संयम साधना से अपना लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त करते हैं। उस काल विशेष में प्राणियों की शरीर संरचना, संहनन, संस्थान आदि सब कुछ विशेष होते हैं। भरत- ऐरावत के इन सभी दशों क्षेत्रों में उस कालविशेष में जहां अनन्त जीव अपने कर्मबंधों को काटकर मोक्षगामी बनते हैं वहीं इन दश क्षेत्रों में उस काल में त्रेषठ विशिष्ठ शलाका पुरुषों का जन्म होता है। इन त्रिषष्ठि शलाका पुरुषों में तीर्थ धर्मचक्र के प्रणेता २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण होते हैं। जैनागम में तीर्थंकरों का जन्म उस काल की विशेष घटना होती है। आगम कथन है कि मोक्षमार्ग का कोई भव्य पुरुषार्थी जीव अपने पुरुषार्थ क्रम में पूर्व भव में केवली भगवन्त के पादमूल में नामकर्म की तीर्थंकर नाम प्रकृति के महान पुण्य का बंध करता है, ऐसा पुण्यशाली जीव जब अपने तीर्थंकर जन्म से पूर्व की अपनी आयु को पूर्ण कर अपनी तीर्थंकर पर्याय की मां के गर्भ में आता है, तब गर्भ में आने के ६ माह पूर्व ही सौधर्म इन्द्र को अपने अवधिज्ञान से यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक पुण्यात्मा जीव ६ माह बाद अपनी वर्तमान आयुपूर्ण कर कर्मभूमि के अमुक भरत या ऐरावत क्षेत्र के इन नगर विशेष के अमुक राजपरिवार में जन्म लेने वाला है। सौधर्म इन्द्र अपने ज्ञानबल से भविष्य के उस घटनाक्रम को प्रत्यक्ष जान लेता है और यहीं से तीर्थंकर मां के सोलह स्वप्नों से लेकर उनके गर्भ, जन्म काल की वह सब विशेषताएं प्रारम्भ हो जाती हैं, जिन्हें हम जिनागम में पढ़ते या सुनते आये हैं। हमारे नित्य नियम पूजन पाठ की क्रिया ही इन पंचमंगल पाठ से प्रारम्भ होती है। इन पांचों कल्याणकों को हमारे सभी आचार्यों ने एकमत से मंगल घटनाएं कहा है। पंच कल्याणकों की यह तिथियां मंगल तिथियां मानी जाती हैं, मंगलाटक पाठ में इन पंच मंगलों को नमन करते हुये

निज-घर के मंगलमय जीवन की कामना करते हैं। यहां यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि तीर्थंकर भगवन्तों के गर्भकाल में पूर्व से लेकर उनके महानिर्वाण तक का इतिहास क्या है, इसे प्रत्येक जैन भलीभांति जानता है।

यह जैनागम (यहां जैनागम का तात्पर्य हमारा वीतराग दिगम्बर आचार्यों के कथन से है) हमारी मान्य परम्पराओं, आस्थाओं, जीवन दर्शन की सूक्ष्म विवेचनाओं का एक प्रमाणित दस्तावेज है। आज हजारों हजार सालों से हमारे आचार्यों, विद्वानों और मनीषियों के साथ ही आस्थावान देव, शास्त्र, गुरू ने इसे सहेज कर रखा है। इसके साथ न तो उन्होंने कोई छेड़छाड़ की और न किसी छेड़छाड़ के प्रयास को स्वीकार किया। पिछले ढाई हजार वर्षों में लोगों ने इसमें अपने निजी विचार स्थापित करने के प्रयास किये, उन्हें उनके विचारों को समर्थन देने वाले कुछ लोग भी मिलते रहे किन्तु मूलधारा उससे कहीं प्रभावित नहीं हुयी। बदलाव की विचारधारा ने तेरहपंथ, बीसपंथ, तारणपंथ से लेकर काष्ठासंघ, द्राविड़ संघ आदि के रूप में समय-समय पर अनेक विचारधाराओं को जन्म दिया। यहीं तक नहीं कुछ लोगों ने वस्त्रधारक विचारकों में सद्गुरूदेव और भावी तीर्थंकरों, गणधरों की कल्पनाएं भी गढ़ लीं, किन्तु उन्होंने भी तीर्थंकरों की महत्ता, महानता और उनकी विशिष्टताओं पर कहीं कोई शंका या प्रश्न खड़े नहीं किये। पर आधुनिकता से जुड़ा हमारा आज का बदलाव अब अपने पूर्वाचार्यों के कथन से हटकर आधुनिक इतिहासकारों, शोधकर्ताओं पर अधिक विश्वास करने लगा है। आज हमारा विश्वास सात समुन्दर पार के लोगों पर सहज भरोसा करने लगता है। दिगम्बर जैनाचार्यों से अधिक हमें आज याकोबी, डा. हार्नले या श्वेताम्बर व बौद्ध ग्रंथकारों पर आस्था होने लगी है। आज हमारे लिए आचार्य वीरसेन, जिनसेन, पूज्यपाद, गुणभद्र आदि सभी अप्रमाणित और महत्वहीन से होने लगे हैं। हम यह भी भूल जाना चाहते हैं कि भगवान महावीर इस वर्तमान चौबीसी के अंतिम तीर्थंकर अरिहंत परमेष्ठी थे। तीर्थंकर भगवन्तों की अपनी श्रेष्ठ कुलपरम्परा होती है। वह अपने मातृकुल या किसी अन्य की उधार ली गयी कुल परंम्परा का मुखान्पेशी नहीं होता है। उसका स्वयं का तेज, बल और प्रताप इस समस्त भूमण्डल को आलोकित करने वाला होता है। अगर हमने इन सब कथनों को न भुलाया होता तो हम आज भगवान महावीर के जन्मस्थान की खोज, उनके मातृकुल नगर वैशाली में या उसके किसी मुहल्ले, उपनगर में नहीं कर रहे होते। क्या कहीं हम महावीर को वैशाली में जन्मा स्वीकार करके दिगम्बर आचार्यों के कथन को अस्वीकार करने की भूमिका का सूत्रपात तो नहीं कर रहे हैं? भगवान महावीर के नाना महाराज चेटक की राजधानी वैशाली या उसके उपनगर मुहल्ले में महावीर के जन्म को स्वीकारने का अर्थ है महावीर की कुल परम्परा को अस्वीकार कर देना। क्या ऐसा कर देने पर महावीर की सर्वज्ञता,

अर्हंतता पर प्रश्न चिन्ह खड़े नही होंगे? अभी तक तो हम अपने पूर्वाचार्यों के हर कथन को यह कह कर ही स्वीकार करते आए हैं कि यह भगवान महावीर की दिव्यध्वनि से निकले हुये शब्द हैं। इनमें बदलाव करने से पूर्व क्या हमने कभी यह विचार किया कि आस्था की बुनियाद से निकाली गयी एक ईंट विश्वास के भवन को धराशायी करने में निमित्त बन सकती है? आस्था या विश्वास के आधार को जब चोट पहुंचाई जाती है, तब कोई धर्म, समाज या चिन्तन अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाता। कुछ भी कहने या करने से पहले सभी को तीर्थंकरों के सम्पूर्ण जीवन परिवेश को संज्ञान में रखना होगा, जो तीर्थंकरों को सामान्य जनों से अलग और अतिविशिष्ट दर्शाता है।

प्रथमानुयोग हमारी आस्था की बुनियाद है, अगर हम उसे ही शंका और अविश्वास के घेरे में लाकर खड़ा कर देंगे, तब हमारे पास करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग की प्रमाणिकता का क्या आधार होगा? हमारे सभी पूर्वाचार्यों ने तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियों की चर्चा उनके चरित्र ग्रन्थों में की है, उन्हें तीर्थ की संज्ञा दी है। भगवान महावीर के जन्मस्थान कुण्डलपुर का विस्तार से कथन है। कहीं उसे वैशाली से जोड़कर नहीं कहा गया है। यदि महावीर वैशाली में जन्मे थे जैसा आज प्रचारित किया जा रहा है तब हमारे आचार्यों ने वैशाली के साथ यह अन्याय क्यों किया? किसी भी आचार्य या ग्रन्थकार द्वारा उसकी चर्चा तक न करना एक विचारणीय प्रश्न है। इसके साथ यह भी विचारणीय होना चाहिए कि आज बिहार के जिस बसाढ़ ग्राम को वैशाली कहा जाता है, उस क्षेत्र के लोगों को यह याद नहीं रहा कि यह बसाढ़ नहीं वैशाली है। इस इतिहास प्रसिद्ध नान की याद विदेशी खोजकर्ताओं के द्वारा दिलाने पर उन्हें याद आया कि यह बसाढ़ नहीं वैशाली है। न ही उन्हें यह याद रहा कि भगवान महावीर का जन्म किस स्थान पर हुआ? उस स्थान को स्थानीय लोगों ने २६ सौ वर्षों से हल चलाकर जोता या बोया तक नहीं है। क्या यह दोनों ही कथन आपस में विरोधाभास नहीं रखते?

हमारी पांच दशाब्दी की उदासीनता ने हमारी दिगम्बर मान्यता तथा हमारे वीतराग चिन्तन को बहुत हानि पहुंचाई है। इस बीच हमारे कुछ मान्य विद्वानों ने महावीर का श्वेताम्बरीकरण ही कर दिया। महावीर के लिए लिखे इस नव साहित्य के लेखकों ने यह विचार ही नहीं किया कि यह घालमेल वाला साहित्य हमारी नई पीढ़ी को कितना भ्रमित कर देगा। दिगम्बर साहित्य में इस बाहरी मिलावट का ही परिणाम है कि आज हमें वैशाली और कुण्डलपुर में कोई अन्तर ही दिखाई नहीं देता। इस घालमेल के प्रति हमारे पूज्य आचार्यों, मुनिराजों और विद्वानों का मौन भी अखरने वाला है। यह एक शुभ संकेत है कि अभी हाल में इन्दौर से नेमावर गये कुछ पत्रकार बंधुओं से चर्चा करते हुये पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने इस विषय को

गंभीरता से अनुभव किया और कहा कि हमारे तीर्थस्थानों आदि का निर्णय हमारे दिगम्बर आचार्यों के कथनानुसार होना चाहिए।

पूज्य आचार्य श्री ने कहा कि धवला, जयधवला के टीकाकार पूज्य आचार्य वीरसेन महाराज का कथन ही हमारे लिए प्रामाणिक होना चाहिए। इसी चर्चा में पूज्यमुनि योगसागर जी ने कहा कि आचार्य पूज्यपादस्वामी ने भी निर्वाणभक्ति में कुण्डलपुर ही महावीर का जन्म स्थान कहा है। इस आलेख में हमारा आशयमात्र भी इतना ही है कि हम अपने तीर्थस्थानों या अन्य किसी विषय पर उत्पन्न हुयी शंका का समाधान अपने दिगम्बर आगमानुसार और अपने पूर्वाचार्यों के कथनानुसार ही करें। श्वेताम्बर, बौद्ध या अन्य इतिहासकारों के कथन हमारी वीतराग अवधारणा में विसंगतियां तो उत्पन्न करेंगे ही, साथ ही हमारी भविष्य की पीढ़ी को भ्रमित भी करेंगे। हमें पूरा विश्वास है कि हमारे आचार्य, मुनिराज, मनीषीविद्वान इस जन्मभूमि प्रकरण का सम्यक् समाधान भी अपनी श्रेष्ठतम श्रुत परम्परा के आधार पर करने में सफल और समर्थ होंगे।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

मनोकामना सिद्धि भगवान महावीर व्रतविधि

द्वारा-गणिनीप्रमुख ज्ञानमती माताजी

जैनशासन में पर्वों की भांति ही अनादिकाल से व्रतों की परम्परा भी चली आ रही है जिनमें दो प्रकार के व्रत प्रचलित हैं – १. सोलहकारण, दशलक्षण, पंचमेरु, आष्टान्हिका, रत्नत्रय आदि पर्वों में किए जाने वाले व्रत अनादि कहलाते हैं तथा रोहिणी, रविव्रत, पंचकल्याणक आदि व्रत सादि कहलाते हैं। इनमें ही अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के नाम से मनोकामना सिद्धि महावीर व्रत भी विशेष महिमाशाली व्रत है। पुत्रप्राप्ति तथा अन्य इच्छित फल की प्राप्ति हेतु इस व्रत को किया जाता है। इस व्रत में १०८ उपवास किये जाते हैं तथा व्रत वाले दिन १-१ मंत्र की जाप की जाती है। व्रत की उत्तम विधि उपवासपूर्वक है, मध्यम में जल आदि पेय वस्तु दिन में एक बार ली जाती है तथा दिन में एक बार शुद्ध भोजन करना एकाशन कहलाता है यह जघन्यविधि है।

इस व्रत को करने में तिथि का कोई बन्धन नहीं है, अपनी सुविधा के अनुसार महिने में कम से कम एक व्रत अवश्य करें तथा अधिक से अधिक जितने व्रत चाहें, कर सकते हैं।

व्रत को स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाएँ सभी को अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए। व्रत वाले दिन भगवान महावीर का अभिषेक -पूजन करें तथा भगवान महावीर का संक्षिप्त जीवनदर्शन आदि पढ़कर धर्मध्यान में दिन को व्यतीत करना चाहिए।

व्रत के उद्यापन में भगवान महावीर की प्रतिमा बनवाकर मंदिर में विराजमान करें, विश्वशांति महावीर विधान का आयोजन करें, मंदिर में यथोचित उपकरण आदि दान दें, भगवान महावीर से सम्बन्धित साहित्य छपाकर वितरित करें तथा १०८ लोगों को या कम से कम २४ लोगों को ३-३ फल वितरित करें।

इस व्रत की समुच्चय जाप्य निम्न प्रकार है–

ॐ ह्रीं अर्हं श्रीमहावीरजिनेन्द्राय विश्वशांतिकराय सर्वसौख्यं कुरु कुरु ह्रीं नमः।

(व्रत वाले दिन भगवान महावीर की पूजन करें)

महावीरव्रत मंत्र

(प्रत्येक व्रत में निम्न मंत्रों की क्रम-क्रम से १-१ जाप्य करें।)

१. ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धिभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२. ॐ ह्रीं विनयसंपन्नताभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३. ॐ ह्रीं शीलव्रतेषु अनतिचारभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४. ॐ ह्रीं अभीक्ष्णज्ञानोपयोगभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५. ॐ ह्रीं संवेगभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६. ॐ ह्रीं शक्तितस्त्यागभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७. ॐ ह्रीं शक्तितस्तपोभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८. ॐ ह्रीं साधुसमाधिभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९. ॐ ह्रीं वैयावृत्यकरणभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१०. ॐ ह्रीं अर्हद्भक्तिभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
११. ॐ ह्रीं आचार्यभक्तिभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१२. ॐ ह्रीं बहुश्रुतभक्तिभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१३. ॐ ह्रीं प्रवचनभक्तिभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१४. ॐ ह्रीं आवश्यक-अपरिहाणिभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१५. ॐ ह्रीं मार्गप्रभावनाभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१६. ॐ ह्रीं प्रवचनवत्सलत्वभावनाबलेन तीर्थंकरपदप्राप्त श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१७. ॐ ह्रीं मातुः ऐरावतहस्तिस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१८. ॐ ह्रीं मातुः महावृषभस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१९. ॐ ह्रीं मातुः सिंहस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२०. ॐ ह्रीं मातुः मालायुगलस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।

२१. ॐ ह्रीं मातुः लक्ष्मीस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२२. ॐ ह्रीं मातुः चन्द्रस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२३. ॐ ह्रीं मातुः सूर्यस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२४. ॐ ह्रीं मातुः कलशयुगलस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२५. ॐ ह्रीं मातुः मीनयुगलस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२६. ॐ ह्रीं मातुः सरोवरस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२७. ॐ ह्रीं मातुः समुद्रस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२८. ॐ ह्रीं मातुः सिंहासनस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
२९. ॐ ह्रीं मातुः देवविमानस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३०. ॐ ह्रीं मातुः धरणेंद्रभवनस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३१. ॐ ह्रीं मातुः रत्नराशिस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३२. ॐ ह्रीं मातुः निर्धूम-अग्निस्वप्नप्रदर्शकाय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३३. ॐ ह्रीं स्वेदरहितजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३४. ॐ ह्रीं मलरहितजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३५. ॐ ह्रीं क्षीरसमरुधिरजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३६. ॐ ह्रीं वज्रऋषभनाराचसंहननजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३७. ॐ ह्रीं समचतुरस्रसंस्थानजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३८. ॐ ह्रीं अनुपमरूपजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
३९. ॐ ह्रीं सुगंधशरीरजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४०. ॐ ह्रीं अष्टोत्तरसहस्रलक्षणजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४१. ॐ ह्रीं अनंतबलजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४२. ॐ ह्रीं प्रियहितमधुरवचनजन्मातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४३. ॐ ह्रीं गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षताकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४४. ॐ ह्रीं आकाशगमनकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।

४५. ॐ ह्रीं प्राणिवधाभावकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४६. ॐ ह्रीं कवलाहाराभावकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४७. ॐ ह्रीं उपसर्गाभावकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४८. ॐ ह्रीं चतुर्मुखकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
४९. ॐ ह्रीं छायारहितकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५०. ॐ ह्रीं नेत्रनिमीलनरहितकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५१. ॐ ह्रीं सर्वविद्यास्वामिकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५२. ॐ ह्रीं नखकेशवृद्धिरहितकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५३. ॐ ह्रीं दिव्यध्वनिकेवलज्ञानातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५४. ॐ ह्रीं सर्व-ऋतुफलपुष्पादिदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५५. ॐ ह्रीं धूलिकंटकादिनिवारणदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५६. ॐ ह्रीं सर्वजनमैत्रीभावदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५७. ॐ ह्रीं रत्नमयीभूमिदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५८. ॐ ह्रीं गंधोदकवृष्टिदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
५९. ॐ ह्रीं फलभारनम्रशालिदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६०. ॐ ह्री सर्वजनपरमानंददेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६१. ॐ ह्रीं अनुकूलवायुदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६२. ॐ ह्रीं जलभरितकूपादिदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६३. ॐ ह्रीं निर्मलाकाशदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६४. ॐ ह्रीं सर्वजनरोगशोकबाधारहितदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६५. ॐ ह्रीं धर्मचक्रचतुष्टयदेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६६. ॐ ह्रीं चरणकमलतलस्वर्णकमलरचनादेवकृतातिशयसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६७. ॐ ह्रीं अशोकवृक्षप्रातिहार्यसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
६८. ॐ ह्रीं छत्रत्रयप्रातिहार्यसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।

६६. ॐ ह्रीं सिंहासनप्रातिहार्यसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७०. ॐ ह्रीं द्वादशगणवेष्टितप्रातिहार्यसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७१. ॐ ह्रीं देवदुंदुभिप्रातिहार्यसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७२. ॐ ह्रीं सुरपुष्पवृष्टिप्रातिहार्यसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७३. ॐ ह्रीं भामंडलप्रातिहार्यसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७४. ॐ ह्रीं चतुःषष्टिचामरप्रातिहार्यसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७५. ॐ ह्रीं अनंतज्ञानगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७६. ॐ ह्रीं अनंतदर्शनगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७७. ॐ ह्रीं अनंतसौख्यगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७८. ॐ ह्रीं अनंतवीर्यगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
७९. ॐ ह्रीं क्षुधामहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८०. ॐ ह्रीं तृषामहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८१. ॐ ह्रीं भयमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८२. ॐ ह्रीं क्रोधमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८३. ॐ ह्रीं चिंतामहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८४. ॐ ह्रीं जरामहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८५. ॐ ह्रीं रागमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८६. ॐ ह्रीं मोहमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८७. ॐ ह्रीं रोगमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८८. ॐ ह्रीं मृत्युमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
८९. ॐ ह्रीं स्वेदमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९०. ॐ ह्रीं विषादमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९१. ॐ ह्रीं मदमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९२. ॐ ह्रीं रतिमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।

९३. ॐ ह्रीं विस्मयमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९४. ॐ ह्रीं निद्रामहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९५. ॐ ह्रीं जन्ममहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९६. ॐ ह्रीं अरतिमहादोषरहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९७. ॐ ह्रीं इन्द्रकृतवीर-वर्द्धमाननामप्राप्ताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९८. ॐ ह्रीं मुनिद्वयकृतसन्मतिनामप्राप्ताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
९९. ॐ ह्रीं संगमदेवकृतमहावीरनामप्राप्ताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१००. ॐ ह्रीं रूद्रकृतमहतिमहावीरनामप्राप्ताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१०१. ॐ ह्रीं महायोगीश्वरगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१०२. ॐ ह्रीं द्रव्यसिद्धगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१०३. ॐ ह्रीं अदेहगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१०४. ॐ ह्रीं अपुनर्भवगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१०५. ॐ ह्रीं ज्ञानैकचिद्गुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१०६. ॐ ह्रीं जीवघनगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१०७. ॐ ह्रीं स्वात्मोपलब्धिरूपसिद्धनामसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।
१०८. ॐ ह्रीं लोकाग्रगामुकगुणसहिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय नमः।

इस प्रकार "भगवान महावीर देशना" ग्रंथ में
जन्मभूमि कुण्डलपुर का विस्तृत
वर्णन करने वाला
नवम अधिकार
पूर्ण हुआ।